सर्वागमोत्तमोत्तम ऊर्ध्वाम्नाय रहस्यमयं

श्रीकुलार्णवतन्त्रम्

'नीर-क्षीर-विवेक' भाषाभाष्यसंवलितम्

डॉ० परमहंसमिश्रः

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला
३५३

सर्वागमोत्तमोत्तम महारहस्यमय उर्ध्वाम्नाय

कुलार्णवतन्त्रम्

'नीरक्षीरविवेक'-भाषाभाष्यसमन्वितम्

व्याख्याकार
डा. परमहंस मिश्र

धार्मिक पुस्तक भण्डार
त्रिवेणी घाट ऋषिकेश उत्तराखण्ड
9897274427, 9897520609
धार्मिक पुस्तकें फोटो फ्रेमिंग एवं संस्कृत साहित्य

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी

प्रकाशक
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
के. 37/117 गोपालमन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001
दूरभाष { 335263
333371

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन
प्रथम संस्करण 2002 ई०
मूल्य 250.00

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर
पो. बा. नं. 2113
दिल्ली 110007
दूरभाष : 3956391

❖

चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001
दूरभाष : 420404

कम्पोजिंग टाइप सेटर्स
वी.वी. कम्प्यूटर्स
वाराणसी

मुद्रक
ए.के. लिथोग्राफर्स
दिल्ली

कुलविमर्श

भारतवर्ष की सभी प्रमुख नदियाँ और ब्रह्मपुत्र सदृश नद कैलाशशिखर पर विराजमान मानसरोवर से निकलकर भारतीय भूमि को अभिसिञ्चित करते हैं। इससे भी महत्त्वपूर्ण सुधास्रोत के उद्गम से प्रायः अधिकतम लोग अपरिचित हैं।

कैलाश के शिखर पर आसीन परमेश्वर शिव के मानस सरोवर से समुच्छलित परा, पश्यन्ती और मध्यमा की मार्मिकताओं से ओत-प्रोत सारस्वतसुधा की तरङ्गिणी जब वैखरी वाग्धारा में बह चली थी और उसने समग्र भारतीय अस्तित्व को अभिषिञ्चित कर दिया था, वह एक अलौकिक क्रियाशक्ति की सक्रियता का शुभारम्भ था। मानस सरोवर से कुलदर्शन समुद्र ही समुद्भूत हुआ था। कैलाशशिखर से यह कुल का अर्णव आज भी विश्वात्मा के महाभिषेक में चरितार्थ हो रहा है और अनन्तकाल तक होता रहेगा।

सचमुच यह तन्त्र शिखर पर तरङ्गित होने वाला रत्नाकर है। इसकी गहराइयों में आकाश, पाताल और मर्त्यलोक सभी समहित हैं। वर्णों, मन्त्रों और पदों के मणिद्वीपों में शैवसद्भाव सामरस्य के साम शाश्वत सुने जाते हैं। कला, तत्त्व और भुवनों की भव्यता से यह ओत-प्रोत है।

मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त इसमें धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य का उच्छलन है। एक ओर इसमें चेतना के ज्वालामुखी फूटते हैं, तो दूसरी ओर माया, कला, विद्या, राग, काल और नियति द्वारा नियोजित संकोच की ससीमता में चेतना को जमाकर बर्फ बना देने वाली अणुता और पशुता से धारणाओं द्वारा उत्तरोत्तर उबर जाने के अध्यवसायों के उपदेश भी इसमें तरङ्गित अनुभूत होते हैं।

ऐसे तन्त्र का मुख्य कथ्य कुल है। अतः इसे कुलार्णवतन्त्र की संज्ञा से विभूषित कर देवीपुत्र कार्त्तिकेय ने भारतीयता का सम्मान किया था। ऊर्ध्वशिखर भैरवीय शरीर की ऊर्ध्वभूमि है। ईशान इस ऊर्ध्वता के अधिष्ठाता हैं। ईशान से जिस आम्नाय का प्रवर्त्तन हुआ, उसे ऊर्ध्वाम्नाय कहते हैं। यह सभी आगमों में आगमोत्तम महारहस्य-समन्वित श्रीकुलार्णवतन्त्र ऊर्ध्वाम्नाय है। इससे महत्त्वपूर्ण कोई दूसरा आम्नाय नहीं है।

श्रीकुलार्णवतन्त्र कुलदर्शन का महत्त्वपूर्ण आकर ग्रन्थ है। महामाहेश्वर श्रीमदभिनव-गुप्तपादाचार्य द्वारा विरचित तन्त्रशास्त्र के सर्वागमोपनिषद्रूप श्रीतन्त्रालोकनामक ग्रन्थ में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि, अनुत्तर परमेश्वर की विसर्जन क्रिया में आनन्द, इच्छा, ज्ञान आदि के क्रम से उत्पन्न भिन्नावभासता क्रियाशक्ति का ही परिणाम है। यही विसर्जन क्रिया कौलिकी शक्ति के रूप में जानी जाती है। यही इसकी कुलप्रथनक्रिया का रहस्य है।

अकुलस्यास्य देवस्य कुलप्रथनशालिनी।
कौलिकी सा पराशक्तिरवियुक्तो यया प्रभुः॥[१]

---

१. श्रीतन्त्रालोक-भाग १ आ. ३।३७।

इस श्लोक में अकुल और कुल दोनों शब्दों का एक साथ प्रयोग किया गया है। कुल को प्रथित करने वाली कौलिकी नामक पराशक्ति अकुल परमेश्वर की ही शक्ति है, इसकी उद्घोषणा की गयी है। प्रभु से अवियुक्त इस पराशक्ति और अकुलरूप अनुत्तर परमशिव के सामरस्य में उतर कर उस समय इस रहस्य साधना में प्रवेश पाने की मेरी लालसा प्रबल से प्रबल होती गयी थी।

यद्यपि श्रीतन्त्रालोक के भाष्य की प्रक्रिया में दृढता के साथ मैं संलग्न था। उसी क्रम में कुल शब्द की व्यापक अर्थवत्ता और उसके निहितार्थ का मुझे सामान्य ज्ञान हो चुका था। श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य ने यह स्पष्ट कर दिया है कि, इन्द्रियरूप करणेश्वरी देवियों की विविध वृत्तियों के व्यापक प्रभाव के संबोध के माध्यम से, स्वात्म संस्कार से, तपस्या के प्रभाव से, ध्यान, योग, जप, ज्ञान, मन्त्रों की आराधना और व्रतचर्या से कौलिक सिद्धि प्रदान करने वाले कुलक्रम का सामान्यज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और इससे तत्त्व-ज्ञानात्मक साध्य का सर्वत्र दर्शन भी किया जा सकता है—

मातृमण्डलसंबोधात् संस्कारात् तपसः प्रिये।
ध्यानात्, योगात्, जपात्, ज्ञानात्, मन्त्राराधनतः, व्रतात्॥
सम्प्राप्य कुलसामान्यं ज्ञानं कौलिक-सिद्धिदम्।
तत्त्वज्ञानात्मकं साध्यं यत्र तत्रैव दृश्यते॥[१]

इतने महत्त्वपूर्ण सम्बोध से मेरा अन्तर एक छटपटाहट से भरा था। व्यस्तता में भी मैंने कुलार्णवतन्त्र के कई सम्पादित अंश पढ़े। इनमें आर्थर एवलिन और श्री रामकुमार राय द्वारा सम्पादित ग्रन्थ भी थे। लोगों ने मुझसे यह भी कहा कि, श्रीमद-भिनवगुप्तपादाचार्य भी कौल थे। मैं उनको अपना परमेष्ठी गुरु मानता हूँ। मेरी प्रवृत्ति में बल पड़ते रहे और कुल शब्द की गहराइयाँ मुझे शिखर छूने के लिये उद्वेलित करती रहीं।

आचार्य जयरथ, जिन्हें मैं अपना परमगुरु मानता हूँ, उन्होंने मेरे विमर्श में प्रकाश की ऊर्जा भर दी। वे कहते हैं कि, कुल क्या है ? इस पर विचार करने के लिये एकान्त में बैठो। सोचो—'मत्त एवोदितमिदम्'। मैं शिव हूँ। यह सारा विश्वोल्लास मुझसे ही उदित है। यद्यपि यह मुझसे, मेरे स्वरूप से अनतिरिक्त है, पर अतिरिक्त प्रतीत हो रहा है, अतिरेकायमाण है। उन्मिषितव्य, उन्मिषत् और उन्मिष्ट क्रम से यह प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमारूप से प्रस्फुरित हो गया है। मेरी ही शक्ति से इसका मान भी हो रहा है। कुल मिलाकर यही कुल है। कुल रूप ही मेरी प्रथा है। यही कुलदर्शन है। इसका ज्ञान स्वात्म में ही परप्रमातृरूप से स्फुरित परात्पर का परमज्ञान है।

मेरी इस धारणा ने मुझे कुलार्णवतन्त्र की नीर-क्षीर-विवेक व्याख्या के लिये प्रेरित किया। श्रीतन्त्रालोक के पूर्ण प्रकाशन के उपरान्त मैंने तीन-तीन देवियों की कृपादृष्टि के लिये तीनों कौलिकी, मालिनी और श्रीविद्या की साथ-साथ लेखनात्मक आराधना प्रारम्भ की। उनमें, श्रीविद्या का प्रतिनिधि ग्रन्थ परशुरामकल्पसूत्र का प्रकाशन हो गया है।

१. श्रीतन्त्रालोक-भाग २, ४।५७-५९

मालिनीविजयोत्तरतन्त्र भी प्रकाशित हो गया है और श्रीकुलार्णवतन्त्र का नीर-क्षीर-विवेक भाष्य भी आपके सम्मुख प्रस्तुत है। यह मेरे ऊपर अकुल का अनुग्रह है, मालिनी की कृपा है और श्रीसाधना से मेरी ऊर्जा परिपूर्ण है। मेरे लेखन में इन तीनों का सामरस्य है।

श्रीकुलार्णव में तरङ्गायित होने के सन्दर्भ में मेरे सामने विविध प्रकार के चक्रवात आये, चक्रावर्त्त आये। तलस्पर्शी गहराइयों में आवर्त्तों ने डुबोया भी, उठाया भी। चक्रवातों ने ऊपर भी उड़ाया, पर मुझे मणिद्वीप के गर्भगृह से कोई अलग नहीं कर सका।

हमारी यह दृढ धारणा है कि, जो कुछ भी उत्पन्न है और जो दृष्टिगोचर हो रहा है, जिसकी कलना की जा सकती है, जो अकुल का उल्लास है, सभी कुल हैं। ब्रह्मयामल की यह उक्ति 'कुलमुत्पत्तिगोचरम्' इस सम्बन्ध में एक निश्चयात्मक सिद्धान्त का ही प्रतिपादन करती है।

कैलाशशिखरासीन परमेश्वर शिव के समक्ष अपनी जिज्ञासा व्यक्त करते हुए पार्वती उन्हें 'कुलेश्वर' रूप से सम्बोधित करती हैं। स्वयं परमेश्वर शिव उन्हें कुलेश्वरी कहते हैं। यही कुलेश्वर और कुलेश्वरी कुलाचार या कुलमार्ग में दीक्षित कौलिकों के परमाराध्य हैं।

कुलमार्ग की मान्यता है कि, सभी सामान्य धर्मों से वैदिक धर्म श्रेष्ठ है। वेदों से भी उत्तममार्ग वैष्णवमार्ग है। वैष्णव मत से उत्तम शैव मत है। शैवमार्ग में दक्षमार्ग उत्तम है किन्तु दक्षमार्ग से भी उत्तम वाममार्ग है। वाम से भी सिद्धान्तमत उत्तम है। सिद्धान्तमत से भी उत्तम कौलमार्ग है। कौलमार्ग से उत्तम कोई मार्ग नहीं है।[१]

सार-मर्मज्ञ महादेव ने स्वयं वेदों और आगमों के महार्णव का ज्ञानदण्ड से मन्थन कर इस कुलधर्म का समुद्धार किया था।[२] एक ओर सारे धर्म, यज्ञ, तीर्थ, व्रतादि रखे जाँय और दूसरी ओर कुलधर्म रखे जाँय, तो तराजू का कुलधर्म वाला पलड़ा ही भारी पड़ता है।

'मेरु और सरसों में, सूर्य और जुगनू में जितना अन्तर है, उतना ही अन्तर कुलधर्म और अन्य धर्मों में है।' यह स्वयं देवाधिदेव महादेव की ही उक्ति है। इस धर्म में भोग भी योग बन जाता है।

भोगो योगायते साक्षात् पातकं सुकृतायते।
मोक्षायते च संसारः कुलधर्मे महेश्वरि !॥[३]

इस भगवदुक्तिमयी निष्ठा में कौलिक अपनी आचार प्रक्रिया को निकषायित करता है। कुलधर्म महान् धर्म है। शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर, गाणपत्य और चान्द्र सम्प्रदायों

---

१. श्रीकुलार्णवतन्त्र-२।७८।

२. तदेव-२।१०।

३. तदेव-२।२४।

की तप:साधना से विशुद्ध-चित्त साधकों के उत्कर्ष के प्रमाण स्वरूप उनके हृदय में कुलज्ञान प्रवर्त्तित होता है—

"शैववैष्णवदौर्गार्कगाणपत्येन्दुसम्भवैः ।
मन्त्रैर्विशुद्धचित्तस्य कुलज्ञानं प्रवर्त्तते" ॥[१]

भगवान् शङ्कर ने पार्वती से कुलज्ञान के सम्बन्ध में यहाँ तक कहा है कि, वे लोग मनुष्यों में श्रेष्ठ हैं, वे वन्दनीय हैं, महात्मा हैं और पूर्णतया कृतार्थ हैं, जिनके चित्त में कुलज्ञान प्रवर्त्तित होता है।[२]

कुलधर्म ऊर्ध्वाम्नाय माना जाता है। भगवान् के पाँच मुखों से पाँच आम्नायों का प्रवर्त्तन हुआ है—१. पूर्ववक्त्र से पूर्वाम्नाय, २. पश्चिमवक्त्र से पश्चिमाम्नाय, ३. दक्षिणवक्त्र से दक्षिणाम्नाय, ४. उत्तरवक्त्र से उत्तराम्नाय और ऊर्ध्वमुख से ५. ऊर्ध्वाम्नाय। ये सभी मोक्षमार्ग माने जाते हैं। नाम से ही यह प्रमाणित हो जाता है कि, यह सर्वोत्तम आम्नाय है।[३] इसे गुरुमुखारविन्द से ही प्राप्त करना चाहिये। इन आम्नायों के विषय में कुछ मुख्य सङ्केत ज्ञातव्य हैं—

सं.	वक्त्र	पञ्चब्रह्म	आम्नाय	वर्ण	तत्त्वरूप	साधना	सङ्केत संख्या
१.	पूर्ववक्त्र,	तत्पुरुष,	पूर्वाम्नाय,	(रक्त)	सृष्टिरूप,	मन्त्रप्रयोग साधना	२४
२.	पश्चिमवक्त्र,	सद्योजात,	पश्चिमाम्नाय	(शुक्ल)	संहाररूप	कर्मयोग	३२
३.	दक्षवक्त्र,	अघोर,	दक्षिणाम्नाय	(कृष्ण)	स्थितिरूप	भक्तियोग	२५
४.	उत्तरवक्त्र,	वामदेव,	उत्तराम्नाय	(पीत)	अनुग्रहरूप	ज्ञानयोग	३६
५.	ऊर्ध्ववक्त्र,	ईशान,	ऊर्ध्वाम्नाय	(श्याम)	साक्षात्शिवरूप	शिवयोग	भेद निषेध

ऊर्ध्वाम्नाय का परमोपास्य बीज 'श्रीप्रासादपरा मन्त्र' माना जाता है। विराट् वटवृक्ष जैसे लघुतम वटबीज में सदा उल्लसित रहता है, उसी तरह सारा ब्रह्माण्ड मण्डल श्रीप्रासादपरा मन्त्र में रहता है। इस मन्त्र के जपकर्त्ता मन्त्री के गृह में चिन्तामणि, कामधेनु और कल्पवृक्ष स्वयं निवास करते हैं। कुबेर भी किङ्कर के समान आज्ञाकारी हो जाता है।[४]

कुल परमेश्वर की शक्ति है, उनकी सामर्थ्य है, उनकी ऊर्ध्वता है। स्वातन्त्र्य, ओज, वीर्य, पिण्ड और संविदात्मक परमात्मा का शरीर भी कुल है—

कुल परमशक्ति है। लयोदय का चित्स्वरूप, स्वभाव का अमल बोध, सर्वकर्त्तृत्व विभूषित विभु, सर्वेश्वर का विस्तार आत्मस्वरूप है। यहाँ तक कि, यह शरीर भी कुल

---

१. श्रीकुलार्णवतन्त्र-२।२९।
२. तदेव-२।७०।
३. तदेव-३।७-४५।
४. तदेव-३।७१।

ही है।[१] कुल की इस व्यापक दृष्टि के अनुसार इस अनुभूति को आत्मसात् करने वाला साधक मन, वाणी और कर्म से उक्त रूढ़ियों की मर्यादा में रहकर जो कुछ करता है, वही कुलयाग माना जाता है।[२]

त्रैशिरसदर्शन के अनुसार ज्ञानज्ञेयमय दर्शन का प्रतीक कुलदर्शन है। यह शिवशक्तिसामरस्यात्मक ज्ञान से शाश्वत प्रकाशमय विज्ञान माना जाता है। अन्य शास्त्रों में निषिद्ध द्रव्य भी इस कुलयाग प्रक्रिया में शुद्ध माने जाते हैं। क्योंकि, वे सभी वामामृतपरिप्लुत होते हैं। श्रीतन्त्रालोक में २९वें आह्निक में कुलयाग का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।[३]

शक्ति को सभी शास्त्र मातृसद्भावरूपिणी मानते हैं। कुलदर्शन मन्त्रसिद्ध प्राणसंवित् और करणेश्वरी देवियों के इस प्रज्ञाचक्र में विराजमान प्रभावी शक्ति को ही कुलेश्वरी की संज्ञा से विभूषित करता है।

इस दर्शन की मान्यता के अनुसार इसका मननीय और महत्त्वपूर्ण मन्त्र श्रीप्रासाद-परा मन्त्र माना जाता है। तृतीय, चतुर्थ उल्लासों में इसको विस्तारपूर्वक वर्णित किया गया है और इसके महत्त्व का भी प्रतिपादन किया गया है।[४]

कुलद्रव्य के रूप में सुरा का सर्वाधिक महत्त्व है। इसके अतिरिक्त पञ्चमकार पूजन क्रम में मांस, मुद्रा, मैथुन, मत्स्य की गणना की गयी है। ये सभी द्रव्यशुद्धि अशुद्धि का विचार रखने वाले दर्शनों में वर्जित हैं किन्तु कुलाचार की दृष्टि से कुलमार्ग में इनका महत्त्व है।

मद्य के आधार, पात्र, निर्मिति, भेद-प्रभेद के साथ इसका एक दार्शनिक रूप भी इस ग्रन्थ में प्रदर्शित है—

आमूलाधारमाब्रह्मरन्ध्रं मत्वा पुनः पुनः।
चिच्चन्द्रकुण्डलीशक्तिसामरस्यसुखोदयः॥
व्योमपङ्कजनिःष्यन्दसुधापानरतो नरः।
सुधापानमिदं प्रोक्तमितरे मद्यपायिनः॥[५]

अर्थात् मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र की चक्रचारिता में चैतन्य चन्द्र का चमत्कार अनुभूति का विषय है। कुण्डलिनी योग द्वारा शिवशक्तिसामरस्यरूप कुलरसामृत का पान ही वास्तविक सुरापान माना जाता है। इसके अतिरिक्त पान करने वाले मात्र मद्यप ही हो सकते हैं।

---

१. श्रीतन्त्रालोक-भाग ७।२९।४-५।
२. तदेव-२९।६।
३. तदेव-२९।६-४६।
४. श्रीकुलार्णवतन्त्र-३।४९-११७, ४।१-१३०।
५. तदेव-५।१०७-१०८।

कुलपूजन का अधिकारी शुद्धात्मा, प्रसन्नचित्त, क्रोध और लौल्य आदि दुर्गुणों से रहित, पशुव्रताचरण से विमुख विज्ञ पुरुष ही हो सकता है।[१] मद्य को परामृत बनाने की विधि के सन्दर्भ में भगवान् शिव ने स्वर की १६ कलाओं, सूर्य की बारह, अग्नि की दश, सृष्टि की १०, स्थिति की दश, संहार (रुद्र) की दश, तिरोधान की चार और अनुग्रह की १६, कुल ८८ कलाओं के साथ चौरानबे मन्त्रों के प्रयोग, अमृतेशी, दीपनी और मूलमन्त्रों के जप, आत्म, गुरुपंक्ति दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ, पीठ पूजा के अनन्तर सुरा सुरा नहीं रह जाती। इनको अर्पित करने के बाद शेष यज्ञशेष के रूप में स्वीकार करना इसके आचार में स्वीकृत धर्म माना जाता है।

सुरापान से उत्पन्न सात—१. आरम्भ, २. तरुण, ३. यौवन, ४. प्रौढ, ५. प्रौढान्त, ६. उन्मना और उन्मनान्तोल्लासरूप उल्लास माने जाते हैं। इनके विषय में जो जानता है, वस्तुत: वही कौलिक माना जाता है—

सप्तोल्लासञ्च यो वेत्ति स मुक्तः स च कौलिकः।[२]

भैरवीचक्र से समयाचाररूप से वर्णित इसके आचार ध्यातव्य हैं—

कुलार्णवतन्त्र के अनुसार ज्ञान ही ब्रह्म है। स्वरूपशून्य ध्यान ही समाधि है। तन्मयता की विधि में उतरने का सबसे सरल उपाय अकिञ्चित् चिन्तन है। इस अवस्था में प्रकाशरूप शिव स्वयं प्रकाशित हो जाते हैं। उसी समय तन्मय होना चाहिये।

अकिञ्चिच्चिन्तनादेव स्वयं देवः प्रकाशते।
स्वयं प्रकाशिते देवे तत्क्षणं तन्मयो भवेत्।

जिस साधक की इन्द्रियाँ निष्पन्द हो जाती हैं, मन स्वात्म में विलीन हो जाता है, वही श्वासजित् साधक जीवन्मुक्त माना जाता है।

परमात्मतत्त्व ज्ञात हो जाय, देह का अभिमान गलित हो जाय, तो जहाँ जहाँ मन जाता है, वहीं समाधि हो जाती है। जीवात्म ऐक्य ही योग है। सहज अवस्था उत्तम, जपचिन्ता मध्यम, शास्त्रचिन्ता अधम और लोकचिन्ता अधमाधम अवस्था मानी जाती है। अक्रियता परापूजा, मौन सर्वोत्तम जप, अचिन्तन सबसे बड़ा ध्यान और अनिच्छा सर्वोत्तम फल माना जाता है। पाशबद्ध शिव ही जीव है और पाशमुक्त जीव ही शिव है। पञ्चमकार को देवता प्रीतिकर मानते हैं—

मद्यं मांसञ्च मत्स्यं च मुद्रा मैथुनमेव च।
मकारपञ्चकं देवि! देवताप्रीतिकारकम्॥

इन पञ्च मकारों के सम्बन्ध में शास्त्रों में विविध विचार व्यक्त किये गये हैं। इनके द्वारा पञ्च मकारों के गूढार्थ का उद्भावन होता है। इनके कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत करना प्रासङ्गिक और आवश्यक प्रतीत होता है। वे क्रमश: इस प्रकार हैं—

---

१. श्रीकुलार्णवतन्त्र-६।६।
२. तदेव-८।९५।

१. मद्य—

सर्वप्रथम यहाँ इसी तन्त्र में सत्रहवें उल्लास श्लोक ६४ के अनुसार 'म' अक्षर से महत्त्वपूर्ण, 'द्' से दानरूप शक्तिपात और 'य' अक्षर से यागभूमिरूप अर्थ के सन्दर्भ गृहीत होते हैं। वस्तुत: भगवत्तादात्म्यमय वरदान की प्राप्ति से पूरा जीवन यागभूमि बन जाता है। श्लोक इस प्रकार है—

महादानार्थरूपत्वाद् यागभूम्योककारणात्।
मद्भावजननाद्देवि ! मद्यमित्यभिधीयते ॥

इससे महत्त्वपूर्ण मद्यविषयक एक उक्ति यहाँ देना आवश्यक प्रतीत हो रहा है। इस उक्ति में साधना की पराकाष्ठा की उस अवस्था का वर्णन है, जब साधक ब्रह्मरन्ध्र के सहस्रार क्षेत्र में प्राणसूर्य की ऊष्मा से सोमतत्त्व की सुधा द्रवित होकर साधक के पूरे अस्तित्व को आनन्द के अमृत से आमोदमय बना देती है। बहुत से सिद्ध साधक उस सुधाधारा का पान कर मदमत्त हो जाते हैं और होते रहते हैं। श्लोक कहता है—

सोमधारा क्षरेद् या तु ब्रह्मरन्ध्राद् वरानने।
पीत्वानन्दमयस्तां यः स एव मद्यसाधकः ॥

ब्रह्मरन्ध्र से क्षरित होने वाली सोमधारा ही मद्य है, जिसे पीकर साधक ब्रह्मानन्द की मादकता की अनुभूतियों से भर जाता है। मद्य का यही स्वरूप तन्त्र में गृहीत है। कौल सम्प्रदाय श्रीविद्या साधना में भी जिस मद्य की चर्चा की गयी है, उसके पीने में भी मद्य की उतनी ही उपयोगिता है, जितने से साधना बाधित न हो सके। नशे से पागल होने की सदा निन्दा की गयी है।

परशुरामकल्पसूत्र में इस सम्बन्ध में यह उल्लेख है कि, मद्य सेवन के सन्दर्भ में उसके औचित्य पर विचार कर लेना चाहिये। इसकी मुख्य विचारणीय बातें निम्नलिखित हैं—

१. यदि मद्य किसी पेड़ या पौधे, वनस्पति आदि से निर्मित हो।
२. गुड़ से निर्मित हो।
३. ओषधियों या अन्नों को पीस कर बनायी गयी हो।
४. वृक्षों की छाल से निर्मित हो।
५. फूलों से या महुवा के फूलों से बनी हो।
६. देखते और पीते ही मन प्रसन्न हो जाय।
७. मदमत्त न कर आनन्दविह्वल बनाने में सक्षम हो।

इन अवस्थाओं में मद्य का परिग्रह शास्त्रसम्मत है।[१] मद्य का विकल्परूप प्रतिनिधि द्रव्य अष्टगन्ध है। कांस्यपात्र में नारिकेल जल, ताम्रपात्र में दूध या गुड़ मिला हुआ तक्र।

वस्तुत: पञ्चमकार आनन्द के व्यञ्जक माने जाते हैं। आनन्द स्वयं ब्रह्मरूप ही होता है। उसी आनन्द के जनक पञ्चमकार हैं। लिखा है कि,

---

१. परशुरामकल्पसूत्र—सर्वसाधरणक्रम, सू. ६२।

'आनन्दोब्रह्मणो रूपम्। तत्तु देहे व्यवस्थितम्। तस्याभिव्यञ्जकाः पञ्चमकाराः, तैरर्चनं गुप्त्या। प्राकट्यात् निरयः'।[१]

२. मांस—

मांस के विषय में आगमिक दृष्टि रहस्य से भरी हुई है। शास्त्र कहता है कि,

मां सनोति हि यत्कर्म तन्मांसं परिकीर्त्तितम्।
न च कायप्रतीकं तु योगिभिर्मांसमुच्यते॥

इसके अनुसार बन्धप्रद कर्म ही मांस हैं। इनको ही ग्रास बनाना चाहिये। मांस का प्रतिनिधि द्रव्य मालपूआ माना जाता है।

३. मत्स्य—

मत्स्य जलचर जीव है। शास्त्र कहता है—

गंगायमुनयोर्मध्ये द्वौ मत्स्यौ चरतः सदा।
तौ मत्स्यौ भक्षयेद्यस्तु स भवेन्मांसभक्षकः॥

मानव शरीर में इडा नाडी गंगा और पिङ्गला नाडी यमुना मानी जाती है। इन्हीं दोनों से श्वास-प्रश्वास हमेशा चलते हैं। योगी इन्हीं दोनों का भक्षण करते हैं। कुछ लोग भूचरी, खेचरी क्रिया को ही मत्स्यमूला मानते हैं।

मत्स्य की आकृति का घृतपक्व अनुकल्प ही मत्स्य का प्रतिनिधि माना जाता है।

४. मुद्रा—मुद्रा के सम्बन्ध में आगम का दृष्टिकोण निम्नवत् है—

सहस्रारे महापद्मे कर्णिका मुद्रिता भवेत्।
आत्मा तत्रैव देवेशि केवलः पारदोपमः॥
सूर्यकोटिप्रतीकाशः चन्द्रकोटिसुशीतलः।
अतीवकमनीयश्च महाकुण्डलिनीयुतः॥
यस्य ज्ञानोदयस्तत्र मुद्रासाधक उच्यते॥

सहस्रार साधना का यह महारहस्यमय सन्दर्भ मुद्रा के महत्त्व का संज्ञापक है। यों विशिष्ट अंगुलि मुद्रायें भी मुद्राश्रेणी में ही आती हैं।

५. मैथुन—मैथुनतत्त्व का भी अपना विशिष्ट महत्त्व है—

मैथुनं परमं तत्त्वं सृष्टिस्थित्यन्तकारणम्।
कुलकुण्डलिनीशक्तिः देहिनां देहधारिणी।
तया शिवस्य संयोगः मिथुनं परिकीर्त्तितम्॥

तान्त्रिक साधना की यह सबसे महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। जीवधारियों के चर्मादि धातुओं के प्रत्येक कण दृढ़ मैथुनभाव से आपस में जुटे हैं। इनमें सूई जैसी पतली चीज चुभाने में अपार कष्ट का मिथुनभाव ही कारण है।

इस पञ्चमकार की रहस्यप्रक्रिया का अधिकारी ही इन्हें सम्पादित कर सकता है।

---

१. परशुरामकल्पसूत्र सू. १२ (दीक्षाविधिः)।

कुलमार्ग में कुलाचार का विशिष्ट महत्त्व है। कुछ मुख्य आचार निम्नलिखित हैं—

गुरु का महत्त्व सर्वोपरि माना जाता है। श्रीचक्र की पूजा सर्वोत्तम पूजा है। चक्रस्थ कौलिकों को शिवशक्तिमय मानना चाहिये। कुलद्रव्य का सेवन नियमानुसार पूजा के रूप में करना चाहिये। श्री गुरुदेव, शिव, पूजा स्थान नित्य प्रणम्य हैं, गुरुमुख से प्राप्त मन्त्र का जप करना चाहिये। गुरु की पाँच प्रकार की पत्नियाँ—१. ऊढा, २. धृता, ३. क्रीता, ४. समादृता और ५. कामरता गुरुवत् पूज्य हैं। कुमारी, नग्न, उन्मत्त, कुरूपा, कृष्णा, प्रकटस्तनी स्त्री भी पूज्य हैं। स्त्री के दोषदर्शन नहीं, गुण का दर्शन वर्णन करना चाहिये। कुलयोगिनी, कुलवृक्ष (श्लेष्मातक, करञ्ज, नीम, पीपल, कदम्ब, बिल्व, वट, गूलर और इमली को देखकर श्रद्धा व्यक्त करनी चाहिये।

वीरहत्या, वृथापान, वीरपत्नीसंभोग, वीरद्रव्यापहरण ये महापातक हैं। गुरु-प्रकाशन और मन्त्र-गोपन उचित है। गुरुपादुका का पूजन आवश्यक माना जाता है।

गुरु के घर, वाहन, चरणपादुका, छत्र-चामर, ताम्बूल और काजल आदि शृङ्गार करके नहीं जाना चाहिये। गुरु के घर पादप्रक्षालन, स्नान, उबटन, दातौन, मूत्रोत्सर्ग, क्षौर, पैर फैलाकर बैठना, यौतुक, युद्ध आदि कार्य न करें। जाति, विद्या, धन का अभिमान कभी नहीं करे। शक्तिच्छाया देवच्छाया गुरुच्छाया का लङ्घन नहीं करना चाहिये। सर्वलक्षणहीन होने पर भी ज्ञानवान् गुरु ही उत्तम माना जाता है। सबसे बड़ा मन्त्र श्रीप्रासादपरा मन्त्र माना जाता है। विभिन्न काम्य कर्मों में इसका प्रयोग करने से अत्यन्त लाभ होता है।

कौलिक की परिभाषा करते हुए कुलार्णवतन्त्र कहता है कि, कुल गोत्र को कहते हैं। यह शिवशक्ति से उत्पन्न होता है। इसके ज्ञानवान् को कौलिक कहते हैं। अकुल शिव हैं। कुल शक्ति है। कुलाकुल का अनुसन्धाता कौलिक कहलाता है।

यह कुलार्णवशास्त्र योगिनी शक्तियों के हृदय में विराजमान था। उसे भगवान् शङ्कर ने ही सर्वप्रथम प्राप्त किया था। इस सम्प्रदाय का शैव सम्बन्ध ही नहीं, अपितु जहाँ तक रहस्यात्मक मेलजोल का प्रश्न है, यह पर्याप्त रूप से समान प्रतीत होता है। इस दर्शन को सर्वागमोत्तम कहते हैं। यह ऊर्ध्वाम्नाय ईशानमुख से प्रवर्त्तित शास्त्र रहस्यगर्भ शास्त्र है। इसका स्वाध्याय अत्यन्त आवश्यक है। संक्षिप्त परिचयात्मक इस स्वात्म-विमर्श और इस नीर-क्षीर-विवेक भाष्य की रचना के प्रेरक कुलेश्वर शिव हैं। यह कृति उन्हीं को अर्पित है।

शिवरात्रि
२०५७

विनयावनत:
परमहंस मिश्र 'हंस'
ए ३६, बादशाहबाग
वाराणसी

श्रीकुलार्णवतन्त्रम्

विषयानुक्रमः

प्रथम उल्लास

जीवजातिस्थिति

विषयाः	पृष्ठ सं.
१. कुलविमर्शः	१-९
२. (अ) कुलार्णवतन्त्र के प्रवर्तक कैलाशशिखरासीन पार्वतीपरमेश्वर	१
(आ) देवी के प्रश्न	१-२
३. परमेश्वर के द्वारा प्रश्नों के समाधान का आश्वासन, निर्विकार निष्कल शिव और अनादिविद्योपहित जीव	३
४. देह, आयु, कर्मज भोग, संसृति एवं विभिन्न योनियों में जन्म, मानुष्य का महत्त्व, आत्मघात, जीवों के स्वभाव, इसी जन्म में नरक व्याधि-चिकित्सा की आवश्यकता, व्याघ्रीजरा, आत्महितसाधन, मोहसुराविष्ट लोक और इसके माया विमोहित अनन्त अनर्थों से उत्पन्न विघ्नों के प्रति जीव लोक की उदासीनता	५-८
५. स्वप्नवत् सम्पत्ति, कुसुम समान यौवन और तडिच्चञ्चल आयु, जीवन के निष्फल बीतने का भय, घातकों के भय, जीवन में निर्भय निवास, असम्भव, मृत्यु का अज्ञान	८-१०
६. काल सागर में डूबता जीवन, कच्चे घड़े में जल रखने के परिणाम का अज्ञान, आयु के प्रति आस्था का निषेध, कालवृक और मृत्यु की करतूत और उससे सावधानी की आवश्यकता	११-१२
७. आयुक्षय के कारण, देहान्तर प्राप्ति, कर्म भोग आत्मापराध वृक्ष के फल, सङ्ग और मोक्ष, शोकशङ्कु, देहत्याग की विवशता, दुःखमूल संसार	१२-१५
८. संसार के वर्जन का सुझाव, इन्द्रिय तस्करों से सावधानी आवश्यक, यमबाधा भयानक	१५-१७
९. अबुध और नारकीयों की पहचान, जन्म-मरण, क्रियायास, क्रतु विस्तार आदि में पड़े मायाविमोहित मूढ जीव, मुक्ति के लिए देहपीड़ा अनावश्यक	१७-१९
१०. वेषधारी दाम्भिक उपदेशकों से सावधानी अपेक्षित, योगी, व्रती, विबुध होने की योग्यता, मोक्ष का कारण तत्त्वज्ञान	१९-२१
११. षडदर्शनमहाकूप में पतित पशुओं की स्थिति, कुतार्किक, विडम्बक आदिकों की परतत्त्वपराङ्मुखता, पाक के आस्वादरस से अपरिचित दर्वी की तरह बहुज्ञों की दशा, संसार मोहनाश प्रक्रिया में शाब्दबोध असमर्थ, शास्त्रान्त में आयु असमर्थ	२२-२४

१२. सार रहस्यज्ञान के लिए नीर-क्षीर-विवेक आवश्यक, तत्त्वज्ञान का महत्त्व, ज्ञान से मुक्ति, ज्ञान ही मुक्ति का हेतु, मुक्तिप्रद गुरु का एक वाक्य, गुरु से अद्वैतज्ञान, आगमोत्थ और विवेकोत्थ द्विविध ज्ञान, ममनिर्ममानुभूति, विद्या से ही विमुक्ति, तत्त्वकथा की स्थिति, तत्त्वनिष्ठता से लाभ २४-२७

१३. मोक्षतरु के आश्रय का निर्देश, कुलधर्म का मुक्तिप्रदत्त्व, गुरु-मुखारविन्दविनि:सृत ज्ञान से मुक्ति, उपसंहार २८

द्वितीय उल्लास

कुलधर्ममाहात्म्य

१. देवी का कुलधर्ममाहात्म्य विषयक प्रश्न, परमेश्वर कुलेश द्वारा उत्तर, परमार्थतः अकथ्य के कथन की प्रतिज्ञा, गोपन का निर्देश, कौलमत की सर्वोत्कृष्टता २९-३०

२. ज्ञानदण्ड से मथित वेदागममहार्णव का सार ही कुलधर्म, विभिन्न नहीं, हस्तिपद, जाम्बूनद, मेरुसर्षप, कुलधर्म, प्रवहण आदि उदाहरणों द्वारा कुलधर्म की श्रेष्ठता का निरूपण ३१-३२

३. भोगयोगात्मक कौल धर्म, देव और मुनिपुङ्गवों की कुलधर्म परायणता, सिद्धि हेतु कुलधर्म, उपदेश निरर्थक, कुलज्ञान प्रकाश के हेतु, योगिनीवीरमेलन, कौलसमाश्रयण का निर्देश, पूर्वजन्म के अभ्यास से कुलज्ञान का प्रकाश, इसके अन्य हेतु ३३-३५

४. अयोग्य के प्रतिकुलज्ञान कथन का निषेध, कुलज्ञान से मुक्ति, कुलधर्म छोड़कर पशुशास्त्र पठन का निषेध, कुलज्ञान के बिना मुक्ति असम्भव, भुक्ति मुक्ति का एकमात्र कारण कुलधर्म ३५-३८

५. किसी प्रकार की कठिनाई में भी अपरित्याज्य कुलधर्म, कुलधर्म की विमुखता के दोष, कुलधर्मपरायण का जीवन ३८-४१

६. कुलज्ञानी श्वपच नामतः ब्राह्मण से उत्कृष्ट, कौल का महत्त्व, भाग्यवश कुलज्ञान का प्रकाश, कुलधर्म महत्त्व ४१-४३

७. कुलज्ञ ही देवीभक्त, सारवेदी कौलिक, सर्वाधिक श्रेष्ठ कौल, षड्दर्शन शिव के ही छः अङ्ग, कौलशास्त्र वेदानुकूल, सिद्धयोगीश्वरीमत, प्रत्यक्ष प्रमाण साक्ष्य, प्रत्यक्ष फलप्रद ही उत्तम दर्शन, अकौल का विगर्हण और कौल की भगवत्प्रियदर्शनता ४३-४६

८. कुलधर्म न जानने के विभिन्न कारण, कुलधर्म से ही देवत्त्वसिद्धि, कौलसेवन का महत्त्व, देवी की कृपा से रहित व्यक्ति कुलधर्म में प्रवेश के अयोग्य, कस्तूरी, कर्पूर और शर्करा आदि में विपरीत बुद्धि की तरह कौल में भी अज्ञता, मोह ४६-४९

९. कौल मत में जाप्य, गुरु कारुण्य लभ्य कुलधर्म, विडम्बकों द्वारा कौल मत को विपरीत परिभाषित करना, मद्य और मुक्ति, पंचमकार और कौल, कौलिक आचार, कुलवर्त्तन तलवार की धार पर धावन, मद्य मांसादि की महाफलवत्ता, सुरापान का निषेध ४९-५२
१०. मद्यादि सेवन की प्रायश्चित्त विधि, विधि और अविधिपूर्वक सुरादि सेवन के पुण्य और पाप, अविधिपूर्वक तृणछेदन का भी निषेध, जीवन्मुक्ति का सुखोपाय, शिवोक्त कुलशास्त्र ५२-५४
११. 'मधुव्वाता ऋतायते' आदि श्रुतिमन्त्रों के प्रमाण द्वारा मधुपान का समर्थन, उपसंहार ५५

तृतीय उल्लास

ऊर्ध्वाम्नाय और श्रीप्रासाद परामन्त्र महत्त्व

१. देवी का सर्वधर्मोत्तमोत्तम ऊर्ध्वाम्नाय विषयक प्रश्न, भगवान् द्वारा उत्तर की प्रतिज्ञा, रहस्यशास्त्र, कुलशास्त्र रहस्यातिरहस्य शास्त्र, ऊर्ध्वाम्नाय पूर्णब्रह्मात्मक शास्त्र, पाँचमुखों से पाँच आम्नाय, सभी मोक्षमार्ग के प्रवर्त्तक, सर्वातिशायी ऊर्ध्वाम्नाय के तत्त्वज्ञ विरल, असंख्य मन्त्र ५६-५७
२. उपमन्त्र, सर्वमन्त्रज्ञ केवल शिव, चतुराम्नायश्रेष्ठ ऊर्ध्वाम्नाय, महत्त्व, गुरुमुख विना इसकी अप्राप्ति, सद्गुरु का अन्वेषण कर्त्तव्य ५७-६०
३. ऊर्ध्वाम्नायज्ञ का महत्त्व, गुरुप्रसाद से ऊर्ध्वाम्नायज्ञ ही मेरा प्रिय ६१-६२
४. पूर्वाम्नाय सृष्टिरूप, दक्षिणाम्नाय स्थितिरूप, पश्चिमाम्नाय संहाररूप, उत्तराम्नाय अनुग्रहरूप, मन्त्र, भक्ति, कर्म और ज्ञानयोगमय चतुराम्नाय क्रम, आम्नायों के सङ्केत, ऊर्ध्वाम्नाय माहात्म्य, उपसंहार ६२-६३
५. मन्त्रमाहात्म्यकथन, श्रीप्रासादपरा मन्त्र, ऊर्ध्वाम्नाय का सर्वातिशायी मन्त्र, मन्त्रज्ञ शिवशिवारूप स्वयं, विभिन्न उदाहरणों द्वारा इस मन्त्र की व्याप्ति का कथन, वटबीज में वृक्ष की तरह इस मन्त्र में ब्रह्माण्ड की व्याप्ति, इससे असंगत मन्त्र अफलप्रद ६३-६५
६. प्रासादपरा मन्त्रमहत्त्व, सभी देवों द्वारा जप, प्रासादपराजपकर्त्ता की सामर्थ्यादि समृद्धि, मन्त्रजपकर्त्ता के घर चिन्तामणि, कामधेनु और कल्पवृक्ष स्वम् उपलब्ध, प्रासादपरामन्त्रज्ञ श्वपच भी प्रतिमादि प्रतिष्ठा में समर्थ, मन्त्रज्ञ का सोचना भी ध्यान और जप ६६-६८
७. प्रासादपरामन्त्रज्ञ साक्षात् शिव, दिव्यक्षेत्र, वही सर्वमन्त्रज्ञ वही मुक्त, यही मन्त्रराजमन्त्र, सर्वकामप्रद ६९-७०
८. सर्वात्मक मन्त्र, मन्त्रार्थानुसन्धान से ब्रह्म का सम्प्रकाशन, सच्चिदानन्द स्वरूप, भुक्ति मुक्ति, फलप्रदत्व, सर्वशिरोमणि मन्त्र, यही परमज्ञानरूप, दीक्षा, जप, व्रत, यज्ञ, फलप्रद और परमश्रेयस्कर ७१-७२

९. अन्य महत्त्वप्रदकथन, दो माला जप के फल, तीन, चार और पाँच माला मन्त्र जपफल, गुरु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व, अन्य सर्वाधिकों का कथन, पूर्ण माहात्म्य वर्णन असम्भव, मेरा माहात्म्य कथन पहाड़ के सामने एक सरसों के समान, उपसंहार ७३-७६

चतुर्थ उल्लास

श्रीप्रासादपरामन्त्रविज्ञान

१. देवी के प्रश्न, परमेश्वर कुलेश का उत्तर, अब तक अनुक्त मन्त्र का प्रथम प्रकाशन, सादि मन्त्र, अनन्त चन्द्र, भुवन, इन्दु और बिन्दुयुगलसमन्वित कूट मन्त्र, प्रासाद संज्ञा का कारण, परासंज्ञा का हेतु, यही कुलमन्त्र ७७-७८
२. न्यास, प्रात: कृत्य, पूजास्थान प्रवेश, अन्य पूजाकर्म, ऋषि, छन्द, देवता, बीज, शक्ति, कीलक और अङ्गों के कथन, पञ्चब्रह्मन्यास, महाषोढा न्यास के अन्तर्गत प्रपञ्चन्यास ७९-८७
३. भुवन न्यास ८७-९०
४. मूर्त्तिन्यास, सर्ववर्गन्यास, मन्त्रन्यास, दैवतन्यास ९०-९९
५. मातृकान्यास ९९-१०१
६. ध्यान, पुं अथवा स्त्री अथवा निष्कल ध्यान १०१-१०३
७. मुद्रा, गुरुध्यान, उक्तन्यासकर्त्ता साक्षात् शिव, महाषोढान्यास का महत्त्व, वज्रपञ्जरन्यास १०३-१०५
८. ऊर्ध्वाम्नाय में प्रवेश, पराप्रासादचिन्तन और महाषोढा का परिज्ञान उत्तम तपस्या के फल, उपसंहार १०५-१०६

पञ्चम उल्लास

कुलद्रव्यदर्शन

१. देवी के कुलद्रव्य विषयक प्रश्न, परमेशकुलेश्वर द्वारा उत्तर, आधार के बिना भ्रंश, विधिवद् आधार का प्रकल्पन, त्रिपद, चतुष्पद, षट्पद या वर्त्तुल चार प्रकार के आधार, पात्र १०७-१०९
२. कुलद्रव्य, पैष्टी, गौडी, माध्वी, मदिरा, ग्यारह अन्य भेद, सर्वदेवप्रिय द्रव्य १२९-११३
३. सुरादर्शन पुण्यप्रद, इच्छाशक्ति, सुरा की सुगन्धि, ज्ञानशक्ति रस, क्रियाशक्ति उल्लास, मद्याभाव में 'वटिका' प्रयोग, गुडमिश्रित तक्र ११३-११५
४. त्रिविध मांस, हिंसा वैध-अवैध, विना कारण तृण तोड़ना भी निषिद्ध, शिवार्थ पाप भी पुण्य, कौल दर्शन की द्रव्य विषयक दृष्टि, पशुवध में मन्त्र प्रयोग ११५-११६

५. पलल की सेव्यता का समर्थन, मांस के अभाव में लशुन आदि के प्रयोग, तिलमात्र मांस और तिलार्द्ध सुरा से भी तर्पण का महत्त्व, कुलपूजा महत्त्व, क्रमार्चन और श्री चक्रदर्शन के पुण्य ११६-११९
६. कुलद्रव्यमाहात्म्य, बाह्ययाग और अन्तर्याग दृष्टि, मद्यमहिमा, ब्रह्मा, विष्णु और महेश के कमण्डलु, शङ्ख और कपाल भी मधुपात्र— ११९-१२२
७. वारुणी अवश्यपेय, क्रतु में सोमपान की तरह मद्यपान, कुलद्रव्य और पञ्चमुद्रा महत्त्व १२२-१२४
८. नरकगामी वीर, कौलिकाचार अनिवार्य, कुलज्ञानविहीन के लिये कुल-द्रव्य निषिद्ध, समयाचारज्ञान आवश्यक, शास्त्रविधि का माहात्म्य १२४-१२६
९. दीक्षाहीन की असद्‌गति, रौरव के तीन कारण, पक्षद्वयविखण्डक को भी रौरव, अन्य दर्शनसिद्ध के लिए कुलद्रव्यनिषिद्ध, नशेड़ी का पतन, अक्षय नरक के हेतु, असंस्कारी पंचमुद्रासेवी ब्रह्मनिष्ठ भी निन्द्य १२६-१२८
१०. महापद्मवन का अधिकारी, सामरस्यसुखोदय का महत्त्व, वास्तविक सुधापान, पलाशी का लक्षण, पंचमुद्रास्वरूप १२८-१२९
११. उपसंहार १३०

षष्ठ उल्लास

द्रव्यसंस्कार

१. देवी के प्रश्न और परमेश्वर के उत्तर, दृढव्रत कुलज्ञानी, नियतात्म-भाव से अर्चन, पूजन, यजन गुरूपदेशविधि से तर्पण, मन्त्रयोग से चक्रपूजन 'भैरवोऽहं' भाव से कुलपूजन, नियतव्रत कौलिक भुक्ति-मुक्ति का अधिकारी, मण्डपस्थान में कुल पूजा की व्यवस्था १३१-१३३
२. पंचशुद्धि, पंचवर्ण रजश्चित्रता, स्थानशुद्धि, मन्त्रशुद्धि, द्रव्यशुद्धि, देवशुद्धि, पशुशुद्धि, मण्डलध्यान, पूजन, पंचधा द्विधा, त्रिधा, एकधा पात्र, पूजाविधान, निष्कल-सकल तर्पण, असंस्कृत और संस्कृत-सुरा के फल, अधिवास के विना पूजा निषिद्ध, आसव और पूजा १३४-१३७
३. देवताप्रीतिकारक द्रव्य, चौबीस मन्त्रों से सुराशुद्धि, स्वर की सोलह कलाएँ, व्यञ्जनों की कलाएँ, अग्निकलाएँ, ब्रह्मा की सृष्टि कलाएँ, स्थिति-तिरोधान, नादानुग्रह कलाएँ, वैदिक सांकेतिक और छान्दसिक मन्त्रों से पूजन १३८-१४१
४. आत्मस्तव और पाँच मन्त्रों के प्रयोगपूर्वक पूजनक्रम १४१-१४४
५. दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघक्रम, देवी-आवाहन, अरूपा शिवा रूपिणी पूजा, प्रतिमा में देवत्व, देवतासान्निध्य, उपासना का महत्त्व, सकलीकरण, क्षमापन १४५-१४७

६. पूजा के तात्त्विक रहस्य, मन्त्र और यन्त्र, एकपीठ में आवाहित देव की पूजा, अन्य का आवाहन और अन्य का पूजन निषिद्ध, गुरु और शास्त्र से जान कर ही पूजन उचित, तर्पण प्रयोग १४८-१५१
७. ध्यान और उपसंहार

सप्तम उल्लास

बटुकशक्त्यादि पूजन

१. देवी के प्रश्न और ईश्वर के उत्तर, बटुकपूजन का महत्त्व, पूजा द्रव्य, भक्तिपूर्वक समर्पण, ४४ अक्षर का बटुक मन्त्र, बलिपूजामन्त्र, योगिनी मन्त्र, क्षेत्रपाल बटुक बलिमन्त्र, पश्चिम में बटुक और उत्तर में योगिनी बलि का विधान १५३-१५८
२. बटुकादि पूजा के बाद कुलदीप प्रदर्शन, आरती सुरापान विधान, असंस्कृत स्त्री की वहीं दीक्षा का नियम, कुलाष्टक और अकुलाष्टक सहजा, चातुर्वण्याङ्गनाशक्ति, यज्ञ में स्वीकार्य, शक्तिरूपा अन्य स्त्रियों के लक्षण १५९-१६२
३. अस्वीकार्य स्त्रीशक्तियों के लक्षण, ७३ अक्षरों का गुर्वर्थ समर्पण-मन्त्र, क्षमा प्रार्थना, सावरण देवीपूजन, 'शेषिका मन्त्र', उच्छिष्ट-मातङ्गी ध्यान, तदनन्तर कुलद्रव्यपान, तरुणोल्लाससहित गुरुद्वारा तत्त्वत्रय समर्पण १६२-१६६
४. उपायन अर्पण और गुरुचरणों में प्रणिपात, कृपालु गुरुदेव द्वारा मालिनी बीजों द्वारा शिष्य के आत्मतत्त्व का शोधन, सूक्ष्मशरीरशोधन, बीज शोधन, शिष्य के शुद्ध देह का चिन्तन, तत्त्वत्रयमय जगत् १६६-१६९
५. कुलद्रव्यपान विधि, अलिपान का यज्ञीयरूप प्रकल्पन, अहन्ता-पात्र में इदन्तामृत भरकर पराहन्ता की अग्नि ज्वाला में हवन १६९-१७१
६. उल्लासपर्यन्त मधुपान का निर्देश, गुरुदैवतमन्त्रैक्य भावन, मधुपान त्रिविध, चर्वण, सुरा के साथ भोजन अमृत, दिव्य, वीर और पशुविधि से त्रिविध मधुपान और इनकी परिभाषाएँ, आगलान्त द्रव्यपान १७१-१७४
७. पशुपान का एक चित्र, त्रिविधपानफल, दिव्यपानानन्द के समक्ष सार्वभौम साम्राज्य का आनन्द भी अधूरा, कुलद्रव्यपान का सुख ही मोक्ष सुख, उपसंहार १७४-१७५

अष्टम उल्लास

तत्त्वत्रयादि भेद

१. देवी के उल्लास, द्रव्यपात्रादि सङ्गति, रत्युद्वासन काल, श्रीचक्र तथा कौलिक शक्तियों की चेष्टा विषयक प्रश्न, परमेश्वर कुलेश के उत्तर, सात उल्लास, पात्रमेलन, द्रव्य सङ्गति, सङ्गपरित्याग, उच्छिष्ट ग्राह्य, स्त्री का उच्छिष्ट ग्राह्य, प्रौढोल्लास में करणीय, मन्त्र प्रयोग १७६-१८२

२. बल्युद्वासन, शान्तिस्तव, प्रसाद, योगिनी मण्डल, 'इच्छैवशास्त्र-सम्पत्तिः' (५७), उल्लास की चेष्टाएँ ही सत्क्रिया, योग की कौल परिभाषा, प्रौढान्तोल्लास की परावासनात्मक दशाएँ, सारी चेष्टाएँ ही देवता भावात्मिका १८२-१९३
३. कौलिक (भैरवावेशसमाविष्ट) की निन्दा का निषेध, उनमें देव-बुद्धि का निर्देश, उन्मनान्तोल्लास, समवस्था की परिभाषा, मूर्च्छना परामन्त्रस्वरूप १९३-१९५
४. अन्तर्लक्ष्य बहिर्दृष्टि का सिद्धान्त, शाम्भवीमुद्रा, सामरस्य समाकृति दशा, ब्रह्मध्यानवत् उल्लास की दशा, सप्तमोल्लासदशा का महत्त्व, आठ प्रत्यय, आठ अवस्थाएँ और अष्टसिद्धियों की सिद्धि १९६-१९७
५. कुलतत्त्वज्ञ में परमेश्वर के तात्त्विक गुण, कौलिक की परिभाषा, भैरवी चक्र में सभी वर्ण द्विजाति, चक्र में सभी शिवरूप, श्रीचक्रमहत्त्व १९७-२००
६. भगलिङ्गामृत का महत्त्व, शिवशक्तिसमायोग ही सन्ध्या, समाधि की परिभाषा, उपसंहार २००-२०२

नवम उल्लास

योगसंस्थापन

१. योग, योगीश लक्षण और कुलचक्रार्चन विषयक देवी के प्रश्न, ईश्वर के उत्तर का प्रवर्त्तन, ध्यान, निष्कल ध्यान, ब्रह्मज्ञान, योगविद् परिभाषा, समाधि तन्मयता की विधि, मुक्त पुरुष, जीवन्मुक्त, समाधिस्थ, ब्रह्मभूत साधक, निमीलनोन्मीलन गतध्यान २०३-२०६
२. अपने शरीर की खुजली की जानकारी की तरह ब्रह्माण्ड के व्यापार को जान लेने वाला परमयोगी, मन्त्रों का किङ्करत्व, आत्मस्थ की चेष्टाएँ ही पूजा, उसका जल्प ही मन्त्र, निरीक्षण ध्यान, समाधि दशा, परात्मा के दर्शन के फल, परमपद के समक्ष देवपद तुच्छ, अव्यय परमात्म दर्शन के फल, योग और धारणा भी महत्त्वहीन, परब्रह्मज्ञान का महत्त्व, योग की परिभाषा, परमध्यान महत्त्व, ब्रह्मा-हमस्मि चिन्तन का फल, तत्त्ववित् की उपलब्धि, उत्तम, मध्यम और अधम स्थितियाँ, लय का महत्त्व २०७-२१०
३. पूजा, ध्यान, मन्त्र, सङ्ग-विसङ्ग के स्तर, देह, जीव, शिव, सदाशिव और योगीन्द्र के स्वरूप, परतत्त्ववित् योगी, मोक्ष, कुलयोगी, कुलद्रव्यप्रशंसा २११-२१४
४. कुलमार्ग, कुल की मान्यताएँ, उनके कृत्य के रूप और स्तरीय दृष्टि, आत्मविज्ञानी कुलमार्गी का जीवनक्रम, कौलिक वृत्त, कौलिकाचार, नाना-वेश, नानारूप, सदा शुचित्व, कुलमार्ग ही मार्ग, कौलिक परिभाषा २१५-२२०

५. कौलिकोत्तम आचार, कौलिक चाण्डाल भी पवित्र, कुलज्ञानी का शिवसान्निध्य, कौलिक ही सभी तरह उत्कृष्ट, शिव द्वारा भक्त के जिह्वाग्र से पाकरस ग्रहण, सुर कुलप्रिय, पूजा के रहस्य, कुलधर्मज्ञान आवश्यक २२१-२२५

६. कुल निष्ठ को ही दान, कुलनिष्ठ का सत्कार, दान, वीरचक्रार्पित मधु, कुलदेश, कौलिक के भोजन का पुण्य, कुलधर्मरत होना आवश्यक, ज्ञान से अज्ञान का विनाश, कर्मनिष्ठ ही सदासुखी, कर्मफलत्यागी वास्तविक त्यागी २२६-२२८

७. अलिप्त रहने का निर्देश, तत्त्वज्ञ की स्थिति, वही विद्वान्, कर्मकाण्ड विमर्श, निःस्पृहता, ब्रह्म हृदय में जाके ? पुण्य-पाप नहि ताके, जिह्वोपस्थनिमित्त कर्म, उपसंहार २२९-२३०

दशम उल्लास

विशेषदिवसार्चन

१. देवी के विशेष दिवसार्चन विषयक प्रश्न, भगवान् द्वारा उत्तर, उत्तम, मध्यम और अधम पूजा, इसके अभाव में पशुभाव, पुनः-दीक्षा, पञ्चमकार महत्त्व, पाँच पर्व, विशेष दिवसों के आचार्य द्वारा चक्रपूजन, पूजन फल, गुरुपूजन क्रम, योगिनीवृन्दपूजन, श्रीचक्र परिभाषा, कुमारी पूजन २३१-२३४

२. कन्याओं के वर्णानुसार नाम, पूजन मन्त्र, वटुक पूजन, नवरात्र पूजा समर्पण, यौवनारूढ नव प्रमदापूजन, आयुक्रम से इनके नाम, काला-नुकूलपूजन और प्रति शुक्रवार प्रमदापूजन, जप, फल, नवमी में प्रमदा-पूजन, कर्क, मकर, तुला, सिंह, मेष राशियों में पूजन व फल २३५-२४१

३. नवमिथुन पूजन, वैशाखशुक्ल प्रतिपदा का पूजन, जप, इस तरह कृष्ण चतुर्दशी पर्यन्त पूजनक्रम, एक मास क्रमिक पूजन फल, शुक्लपक्षार्चन और फल २४१-२४५

४. कार्त्तिक मास शुक्ल प्रतिपदा से कृष्ण चर्दुश्यन्त पूजन व फल, मूलाष्टक पूजन, चौंसठ अक्षोभ्य मिथुन पूजन क्रम और फल, इससे बढ़कर कोई पूजा नहीं २४५-२४९

५. श्रीकण्ठादि ५ मिथुन पूजन, केशवादि, गणेशादि डाकिन्यादिपूजन, दूतीयाग, वर्ष वर्ष चतुःषष्टि पीठार्चन, त्रिकपूजा, अकर्त्ता योगिनीपशु, कौलिक परिभाषा २४९-२५३

६. कुलपूजा का महत्त्व, न करने की हानि २५३-२५५

७. पादुका मन्त्र, पादुका पूजन फल वित्तशाठ्य का निषेध, छः अनुग्रह (श्लोक १३१), निर्माल्य अर्पण, शरीरस्थ चक्रों की डाकिनी से हाकिनी तक की देवियों के स्वरूप, उपसंहार २५५-२५९

एकादश उल्लास

कुलाचार क्रम

१. देवी के कुलाचारक्रम की जिज्ञासा और ईश्वर का समाधान की प्रतिज्ञा, कुलपूजादि रहित जेष्ठ के रहते भी कुलक्रमज्ञ कनिष्ठ ही पूजन का अधिकारी, कनिष्ठ का कर्त्तव्य, पूजा के बीच में ही श्रेष्ठजन के पहुँचने पर शिष्टाचार आवश्यक, अज्ञात कौलिक के प्रति आचार, कुलपूजा के नियम, निष्कल पूजन, श्रीचक्रविधि, चक्र में प्रदेश, श्रीचक्रदर्शनफल, श्रीचक्रस्थितों का अपमान वर्जित, प्रात्रग्रहण, कुलद्रव्यसेवन विधि २६०-२६३

२. कुलद्रव्य सेवन विधि, मत्त के कृत्य, पात्रहस्त कौलिक का कर्त्तव्य, सशब्द मद्यपान निषेध, पात्र के आधार, पात्र का लङ्घन वर्जित, संदीपितोल्लास, कौलिक के आचार, श्रीचक्र में पशु को कुलद्रव्य देने का निषेध, कौलिक को प्रिय की तरह देखने का निर्देश, शिवशक्ति के प्रिय, गुरु आदि, गुरु पादुका, गुरुमुख के मन्त्र, कुल पुस्तक, शास्त्र सम्बन्धी आचार २६६-२६९

३. पशुमुख से धर्मश्रवण निषिद्ध, कुलधर्म ही श्रद्धेय, पाँच प्रकार की गुरुपत्नियाँ, निषिद्ध स्त्रियाँ, कुलयोगिनी और कच्चे मांस आदि को देखकर नमस्कार, अनिंद्य प्रेरक आदि भी अनिन्द्य, भक्तों की परीक्षा का निषेध, शतापराधा स्त्री को पुष्प से भी ताडित नहीं करना चाहिए, कुलवृक्षों और कुलयोगिनियों का आदर २६९-२७२

४. नौ कुलवृक्ष, महापातक, कौल निग्रहानुग्रवान्, ब्रह्मराक्षसत्व के अधिकारी, चाण्डालत्व प्राप्ति, कुलनिन्दक हन्तव्य, बहुलाभी एकका वध पुण्य, अकथ्य कुलधर्म, पशु के समक्ष अश्राव्य, पशु से कुलधर्म अकथ्य एवं रक्ष्य, सुगोप्य कौल, शाम्भवी विद्या कुलवधू, कुलशास्त्र का महत्त्व २७२-२७६

५. गुरु का प्रचार, कुलाचार-परिभ्रष्ट नारकीय, कुलधर्म का समाश्रयण, आचार का परित्याग दुःखप्रद, आचारवान् योगिनीप्रिय, अनाचार से विनाश, कुलधर्म का आधार सदाचार २७६-२७८

६. समयी और कौलिक, पतितकौलिक, पाप के गुरु-लाघव सन्दर्भ, प्रायश्चित्त आचरणीय २७९-२८०

७. अनाचार के मालिन्य का शोधन, सर्वगतिप्रद आचार, गुरु के तीन बार सचेत करने पर भी न मानने वाले शिष्य का दोष, गुरु शिष्य के पाप के सन्दर्भ, उपसंहार १८०-२८१

द्वादश उल्लास

पादुका भक्ति

१. पादुका भक्ति विषयक जिज्ञासा का ईश्वर द्वारा समाधान, पादुका महत्त्व, पादुका स्मृति, पादुका शक्ति, श्रीनाथचरण कमल की दिशा में स्मृति, पादुकामन्त्र सर्वातिशायी, ध्यान-पूजा-मन्त्र और मोक्ष के मूल, गुरुमूल क्रिया, गुरुशरण महत्त्व, सद्गुरु भक्ति, गुरुमहत्त्वक्रम, गुरुतुष्टि से त्रिदेव भी तुष्ट २८२-२८६
२. शिष्य का गुरु के प्रति कर्त्तव्य, गुरूक्ति में निहित मुक्ति, गुरुरूप ईश्वर द्वारा पशुपाश विमोचन, श्वपच भक्त ही प्रिय, भक्तिमान् शिष्य, गुरुभक्तिअग्नि, स्थिरा गुरुभक्ति का फल, शिव गुरुरूप से मुक्ति २८६-२८७
३. देववत् गुरुभक्ति, गुरुभक्ति के अन्य उपमान, गुरुभक्ति से सिद्धियों की प्राप्ति, भक्ति-निर्व्याज सेवा, भक्ति का महत्त्व, विश्वास, भक्तिका वैशिष्ट्य, गुरु में मर्त्यबुद्धि का निषेध, अप्राकृत गुरु, धर्माधर्म प्रदर्शक गुरु, शिव के रुष्ट होने पर गुरुरक्षक, गुरु का हित आचरण, गुरुत्याग का कुफल २८८-२९१
४. गुर्वर्थशरीरधारण, गुरु का ताडन भी प्रसाद, गुरु के लिए देववत् भोज्य अर्पण, गुरु के समक्ष अकरणीय, रहस्य का सर्वत्र प्रकाश निषिद्ध, अद्वैत का भावन, चतुर्विधा शुश्रूषा, पदे पदे अश्वमेध का फल, महत्फलदायिनी शुश्रूषा, आत्महितवत् आचरण, भक्ति महत्त्व २९२-२९४
५. भक्तिविहीन दान निष्फल, गुरुद्रव्य अग्राह्य, गुरुद्रोह निषिद्ध, गुरुदेव का अनिष्ट भयावह, गुर्वपराधी का जीवन, गुरुकोप से विनाश, गुरुनिन्दाश्रवण निषेध २९४-२९६
६. गुरुजनों के अपमान का निषेध, वेदादि की निन्दा का निषेध भूषा, जप, कृत्य और भजन के रूप, देशिक के आवास-प्रवेश के आचार, गुरु द्रव्यों का नमन, गुरु आश्रम के आचार, उक्तानुक्त कार्य की समझ, निग्रहानुग्रह के कारण गुरुदेव, गुरुकार्य स्वयं करणीय, गुर्वाज्ञापालन, गुरु के प्रति व्यवहार में सावधानी, गुरु वाक्य का अनादर, उसके सामने झूठ बोलना पाप, विशिष्ट व्यवहार २९६-३००
७. गुरु की आज्ञा के अनुसार कृत्य, अन्य व्यवहार, प्रणाम और प्रदक्षिणा, गुरु नमस्कार के प्रसङ्ग, प्रणाम के अयोग्य लोग, गुरु से दूरी के समुदाचार, उपायन, गुरुकल्प को भी प्रणाम, चार ज्येष्ठ गुरु कल्पवृक्ष वन्दनीय, विशेष व्यवहार, उपसंहार ३०१-३०५

त्रयोदश उल्लास

गुरुशिष्यलक्षण

१. देवी के प्रश्नात्मक निवेदन और भगवान् के उत्तर, शिष्य के दुर्लक्षण और ऐसे शिष्य को वर्जित करने का निर्देश ३०६-३०९

२. सत् शिष्य लक्षण और गुरु द्वारा इनके परिग्रह का निर्देश ३०९-३१२
३. सद्गुरु लक्षण ३१२-३१९
४. वेधकर गुरु, षडध्वाशोधक, जाग्रतादि पंचकज्ञ गुरु, पिण्डचतुष्टज्ञ, वाक्चतुष्टयज्ञ, तत्त्वचतुष्टयज्ञ, त्रिविधदीक्षक, पद, पाश और पशुज्ञ, त्रितय संकेतज्ञ, लिङ्गत्रितयज्ञ मलत्रयज्ञ, चरणत्रयवासनाविज्ञ और मुद्राबन्धविज्ञ गुरु ही गुरु कहलाने योग्य ३१९-३२२
५. षट्त्रिंशत्तत्त्वज्ञ, द्विविधयाग, पिण्डब्रह्माण्ड, आसन और योगाङ्गविज्ञ, ८ पाश, पाशहर गुरु, यन्त्र मन्त्रस्वरूपज्ञ, मूलादिचक्रफलज्ञ, तत्त्वज्ञ तन्मयत्वप्रद, सहजानन्दप्रद और नियमादिनियन्ता ही गुरु ३२२-३२४
६. मोक्षलक्ष्मीप्रद, स्वसामर्थ्यप्रद, सद्यः प्रत्ययकर, उपदेश मात्र से ज्ञानप्रद, सर्वदीपक, तत्त्वार्थपारङ्गत, आत्मप्रकाशक गुरु ३२४-३२५
७. दुर्लभ गुरु ३२६
८. जैसे के उदाहरणों के सन्दर्भसिद्ध गुरु ३२७
९. सर्वोपायविधानज्ञ तत्त्वज्ञानी ३२७
१०. तत्त्वहीन कैसे मोक्ष और ज्ञान दे सकते हैं ? अतः तत्त्वज्ञ और पशु में अन्तर द्रष्टव्य ३२८
११. विद्ध, वेधक, मुक्त-मोचकभाव-अभिज्ञ, मूर्खोद्धारक, तत्त्वहीन गुरु से मोक्ष असम्भव, कुलान्वय में एक गुरु, छः प्रकार के गुरु, इनमें पाँच कार्यरूप किन्तु बोधक गुरु ही कारण, पूर्णाभिषेककर्त्ता गुरु की पादुका ही पूज्य, गुरु से गुर्वन्तर स्वीकृति का औचित्य और अनौचित्य, उपसंहार ३२८-३३०

चतुर्दश उल्लास

गुरु-शिष्यपरीक्षा

१. देवी के प्रश्न का भगवान् द्वारा सुन्दर समाधान, दीक्षा के बिना मोक्ष का अभाव, आचार्य परम्परा, सम्प्रदाय और सिद्धान्त, परमार्थ प्रवर्त्तक गुरु, शिष्य को गुरुत्व का अधिकार, परिणाम, अविच्छिन्न सम्प्रदाय आवश्यक, शिष्य की परीक्षा के बाद ही दीक्षा, मन्त्र ग्रहण न्यायपूर्ण, गुरुशिष्य की परस्पर परीक्षा अनिवार्य ३३१-३३२
२. शास्त्रीय उपदेश ही दातव्य-श्रोतव्य, दीक्षा में समय पादुका का महत्त्व, गुरु से प्राप्त ज्ञान अखण्ड रखना श्रेयस्कर, गोक्षीर और श्वाघृत की तुलना, शिष्य के प्रति गुरु की सजगता, दीक्षा योग्य शिष्य के लक्षण, गुरु की परीक्षा, उत्तम, मध्यम और अधम शिष्य ३३२-३३६
३. पिपीलिका और ८ कर्मोपदेश, कपि और उपदेश, त्रिधादीक्षा, स्पर्शदीक्षा का उदाहरण, वीक्षणदीक्षा और मत्स्य, कूर्म और वेधदीक्षा, शक्तिपात व शिष्य, सप्तधा दीक्षा, क्रियादीक्षा अष्टधा, त्रिधावर्णदीक्षा, त्रिधाकलादीक्षा, स्पर्शदीक्षा ३३६-३४०

४. वाग्दीक्षा, दृग्दीक्षा, शाम्भवीदीक्षा, मनोदीक्षा, वेधकरण तीव्रदीक्षा, तीव्रतरा शिवभावप्रदा ३४१-३४२

५. वेध की छ: अवस्थाएँ, कौलिकीदीक्षा, मण्डूषादीक्षा, सिद्धाभिषेक, आठ आचार, साधक की पाँच अवस्थाएँ, पूर्णाभिषेक पवित्रशिष्य, बाह्यदीक्षा, आभ्यन्तरी दीक्षा, दीक्षा मोक्षदीप, अनादिकुलकुण्डली, मन्त्रौषध से विष की तरह दीक्षा से पशुपाशध्वस्त, दीक्षा का महत्त्व, पशुपाशविमोचिका दीक्षा ३४३-३४६

६. मोक्षदा दीक्षा, रसेन्द्र से स्वर्ण की तरह दीक्षा से आत्मा का शिवत्त्व, दीक्षा से जातिभेद समाप्त, दीक्षित के विभिन्न कृत्य और अदीक्षित की गति ३४७-३४८

७. दीक्षा में ज्येष्ठ कनिष्ठ, गुरु की मृत्यु के उपरान्त शिष्य ही एक सन्तान, दीक्षित मुक्त, दीक्षा में अधिवास और चक्रपूजा का महत्त्व, वर्णों की शुद्धता की समय-सीमा, नारीदीक्षा और अधिकार, दीक्षोपरान्त शूद्र को भी वेदपाठादि का अधिकार, दीक्षित द्वारा गुरुसत्कार, उपसंहार ३४९-३५१

पञ्चदश उल्लास

पुरश्चरणादि

१. पुरश्चरण विषयक प्रश्न का भववान् भव द्वारा समाधान, जप यज्ञ, मन्त्रपाद, जपध्यानमय योग, जप से दोषनाश, पञ्चाङ्गोपासनापूर्वक मन्त्रजप, पुरश्चरण की परिभाषा, पुरश्चरण के पाँच अंग, किसी अंग के छूटने पर पँचगुना जप से प्रायश्चित्त ३५२-३५३

२. विप्रभोज का महत्त्व, मन्त्रसिद्धि के उपाय ३५४-३५५

३. तिरसठवर्णी मन्त्र को मातृकाक्षरों से सम्पुट, करोड़ों मन्त्र गुरुमन्त्र के समक्ष महत्त्वहीन, अनर्थकारी जप, पुस्तकस्थ मन्त्र जप अनर्थकारी, मन्त्रजपार्थ पावन भूमि ३५५-३५६

४. मन्त्र के रहने व न रहने योग्य स्थान, आसन, जप विधि, शोषण, दाहन, प्लावन, प्राणायाम, महत्त्व ३५६-३६०

५. मन्त्रसिद्धि, न्यासकवच छन्दों का जप में महत्त्व, विना न्यास मन्त्र जप विघ्नकारक, अक्षमाला, जप की संख्या का ध्यान, मन्त्र का सोदक अर्पण, जप त्रिविध, शीघ्री, दीर्घी दोनों जप निष्फल ३६१-३६२

६. मानससस्तोत्रपाठ और वाचा मनुजाप निष्फल सूतकद्वसंयुक्तमन्त्र असिद्ध, सूतकरहित मन्त्रसिद्धि, मन्त्रार्थ, मन्त्रचैतन्य, योनिमुद्रा मन्त्रसिद्धि के लिए आवश्यक, अचेतनमन्त्र वर्णमात्र, मन्त्रजप की अनुभूतियाँ, प्रत्यय दर्शन, साठ प्रकार के मन्त्र दोष, दश संस्कार, संस्कृत मन्त्र स्फूर्त्त, मन्त्रजपकर्ता के लिए पवित्र खाद्य ३६३-३६७

७. अन्नदाता को मन्त्र का आधा फल, परान्नवर्जन, कार्यसिद्धि के उपाय (जिह्वा, हाथ और मन की शुद्धि) सोलह कोष्ठक के वर्ण और उनकी संख्याएँ, अकथह चक्र, सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध और अरि के चार-चार रूप और तदनुकूल फल ३६७-३६९
८. अकडम चक्र, नक्षत्रचक्र, इनके उपयोग, फल, शशिचक्र, जन्मचक्र, गणना बनाने का चक्र, ऋणधनि-चक्र, पंचमहाभूत और मातृका चक्र, गणना में ठीक मन्त्र ही जप्य, अन्य मन्त्र, मालामन्त्र, मन, शिव, शक्ति और मरुत् की एकाग्रता अशोध्य मन्त्र, असिद्धि के कारण ३६९-३७६
९. मन्त्रजप के पाँच अनुसन्धान, उपसंहार ३७७

षोडशउल्लास

काम्यकर्मविधान

१. देवी के प्रश्न और ईश्वर के उत्तर, प्रासाद परामन्त्र का तत्त्वसंख्य जप, दशांश हवन, विभिन्न आंगिक कर्म, सिद्धमन के षट्कर्मों की सिद्धि, काम्य प्रयोगकर्त्ता को परलोक नहीं, एक विधान का एक फल, देवता का निष्काम जप, होम, तर्पण, मन्त्र न्यास, ध्यान आदि सभी याग समानरूप से आचरणीय ३७८-७९
२. प्रयोगान्त में चक्रपूजा, एक लाख स्वात्मरक्षार्थ जप ३८०
३. तिथि, वार, नक्षत्र आदि के ज्ञान के बाद ही काम्यकर्म ३८०
४. ऋषि, छन्द देवतादि के बाद ही मन्त्र जप ३८०
५. कर्मसाधक अन्यज्ञान ३८०-३८१
६. ज्ञात्वाकर्माणि साधयेत्—शक्तिपरिग्रह, कुलसुधापान, कौलिक होने की शर्त्त ३८१-३८४
७. विभिन्न निर्दिष्टज्ञान से कार्यसिद्धि, मन्त्रपुरुषदेव, विद्याएँ, स्त्रीदेव, हुंफडन्त मन्त्र ३८४
८. विद्या स्त्री देवता, वामप्राण में सिद्धि, दोनों नाडियों के समान गमन में सर्वकार्य सिद्धि, मन्त्रों के परिचय, फट् पुष्टि, बषट्वश्य, हुंफट् मारण, स्तम्भन में नमः, स्वाहा शान्ति, होमतर्पण में स्वाहा, न्यासपूजा में नमः प्रयोग ३८४-३८५
९. मूलाधार में प्रासादपरा सूर्य, बीज और सहस्त्रार चन्द्र में पराबीज ३८६
१०. अजरामर होने की विधि, ध्यानभेद, स्थान चयन, मन्त्रजप का सर्वारिष्ट विलापक विधान, तरुणोल्लास निर्भर जप का फल ३८७-३८९
११. सर्व रोग निवारक विधान, मूर्धा में चिन्तन का फल, सर्वातिशायी-ध्यान, द्वादश आधार पद्मों में द्वादश स्वर संवलित बीज का प्रयोग एवं फल, हत्कर्णिका में ध्यान, विधि और फल, सर्ववश्यकर प्रयोग ३८९-३९१

१२. विचित्र मन्त्र प्रयोग ३९१-३९४
१३. स्तम्भन प्रयोग, ग्रहादि विनाशक प्रयोग, सर्वरोगहर प्रयोग, विभिन्न समिधा होम के विभिन्न फल, वशीकरण, स्त्रीवशीकरण ३९४-३९८
१४. ऊर्ध्वाम्नायैकनिष्णात जीवन्मुक्त, उच्चाटन, मारणप्रयोग
१५. शान्तिक में सात्त्विक, वश्य में राजस, क्रूरकार्य में तामस, पहले अपनी रक्षा बाद में दूसरे का प्रयोग ३९९
१६. श्वास को कालानल सदृश बनाने के प्रयोग, अन्य प्रयोग, उपसंहार ४००-४०१

सप्तदश उल्लास

गुरुनामादिवासना

१. देवी के प्रश्न और ईश्वर के उत्तर का कथन, गुरुस्तुति, 'गु' और 'रु' के अर्थ, गकार, रेफ और उकार, आचार्य परिभाषा ४०२-४०४
२. आराध्य, स्वामी, महेश्वर, श्रीनाथ, देव, भट्टारक, प्रभु, योगी, संयमी, तपस्वी, अवधूत, वीर, कौलिक साधक शब्दों की नैरुक्तिक परिभाषाएँ ४०४-४०६
३. भक्त, शिष्य, योगिनी, शक्ति, पादुका, जप ४०७
४. स्तोत्र, चिन्तन, चरण, वेद, पुराण, शास्त्र की परिभाषाएँ ४०८
५. स्मृति, इतिहास, आगम, शाक्त शब्दों की गुरुवासना ४०९
६. कौल, पारम्पर्य, सम्प्रदाय, आम्नाय, श्रौत और आचार शब्दों की निरुक्ति ४१०
७. दीक्षा, अभिषेक, उपदेश, मन्त्र, देवता और न्यास के अर्थ ४११
८. मुद्रा, अक्षमालिका, मण्डल, कलश, यन्त्र और आसन रूप शब्दों की निरुक्तियाँ ४१२
९. मद्य, सुरा, अमृत, पात्र, आधार, मांस, पूजा, अर्चन, तर्पण, गन्ध, आमोद-अक्षत, पुष्प, धूप, दीप, मोक्ष, नैवेद्य और बलि शब्दों की निरुक्तियाँ ४१३-४१५
१०. तत्त्वत्रय, चलुक, प्रसाद, पान, उपास्ति, पुरश्चरण, उपहार, मुद्रासन, स्थापन, सन्निरोधन, अवगण्ठन, अमृतीकरण, परमीकरण, स्वागत आदि शब्दनिर्वचन ४१६-४१७
११. पाद्य, आचमनीयक, अर्घ्य, अष्टाङ्गर्घ्य, मधुपर्क वन्दन, क्षेत्रपाल शब्दों की परिभाषाएँ ४१८
१२. उपसंहार, ऊर्ध्वाम्नाय कुलार्णवशास्त्र, ग्रन्थ का समादर, पाठ माहात्म्य, अवसर महत्त्व

❖

॥ श्रीः ॥

श्रीकुलार्णवतन्त्रम्

प्रथम उल्लासः

कैलासशिखरासीनं देवदेवं जगद्गुरुम्।
पप्रच्छेशं परानन्दं पार्वती परमेश्वरम् ॥१॥

कैलास भारतीय संस्कृति का शिखर शब्द है। महाकवि कालिदास ने भारतवर्ष की उत्तर दिशा में देवतात्मा हिमालय नामक नगाधिराज का सुन्दर वर्णन किया है। उसी दिव्य देवतात्मा पर्वतेश्वर का यह दिव्य शिखर है। यह वह शिखर है जहाँ मानस सरोवर की सुधा शाश्वत लहरा रही है। भारत की धरणी को अपनी अमृतधारा से सींचने वाली सारी स्रोतस्विनी सरितायें इसी मानसर से विनि:सृत होती हैं।

वहाँ पार्वती और परमेश्वर का सनातन निवास है। मानस के 'क' अर्थात् जल में नित्य उल्लसित और प्रतिबिम्बित तथा 'के लास: दीप्तिर्यस्य' इस व्युत्पत्ति से विभूषित कैलास शिखर कुलार्णवतन्त्ररूपी तरङ्गिणी का भी आदि स्रोत है।

कितना पावन और दिव्यतम वह पार्वती के हृदय का इच्छात्मक उल्लास रहा होगा, जो मानसर की ऊर्मियों की तरह स्पन्दित हुआ होगा और उसी से प्रेरित पार्वती ने परमेश्वर से सरोवर के समक्ष समुद्र की बात की होगी। वह मानस सरोवर है और यह कुलरूपी अर्णव अर्थात् समुद्र के समान तन्त्र है। कुल समुद्र का उद्गम उसी कैलास शिखर के सरोवर से हुआ, यह आनन्द का विषय है।

परमेश्वर शिव वहाँ आसीन थे। वे देवाधिदेव हैं। वे संसारी प्राणियों के आदि-गुरु जगद्गुरु हैं। निरन्तर परानन्दसन्दोह में निमग्न आनन्दविग्रह परमेश्वर से पार्वती का प्रश्न आध्यात्मिक जगत् के दीपस्तम्भ के समान प्रकाश प्रदान करता है। समस्त ऐश्वर्यों के अधीश्वर के समक्ष उन्हीं की हृदयसाम्राज्ञी शक्ति का प्रश्न विश्व के श्रेयस् को सिद्ध करने के उद्देश्य से प्रस्तुत हुआ था। पार्वती ने परमेश्वर के समक्ष अपनी जिज्ञासा को विश्वकल्याण के उद्देश्य से ही प्रस्तुत किया था ॥१॥

श्रीदेव्युवाच

भगवन् देवदेवेश पञ्चकृतुविधायक।
सर्वज्ञ भक्तिसुलभ शरणागतवत्सल ॥२॥
कुलेश परमेशान करुणामृतवारिधे।
असारे घोरसंसारे सर्वदुःखमलीमसाः ॥३॥

दिव्यता की प्रतिमूर्ति देवी पार्वती ने कहा—भगवन्! आप देवाधिदेव परमेश्वर शिव हैं। आप ही पाँच प्रकार के यज्ञों के प्रवर्तक हैं। क्रतु यज्ञ के अर्थ में प्रयुक्त शब्द है। इसके अन्य कई अर्थ होते हैं; जैसे—यश, प्रज्ञा और प्रतिष्ठा आदि। किन्तु यज्ञ अर्थ में ही यहाँ प्रयुक्त है। यज्ञ मुख्य रूप से पाँच ही माने जाते हैं—१. पाठ, २. होम, ३. आतिथ्य, ४. तर्पण और ५. बलिकर्म। ये भारतीय संस्कृति के पाँच महत्त्वपूर्ण बिन्दु हैं, जिनके आधार पर यह महान् संस्कृति विकसित हुई है[१]। इन पाँचों के प्रवर्त्तक भगवान् शिव ही हैं।

पार्वती आगे कहती हैं—भगवन्! आप सर्वज्ञ हैं। केवल भक्ति द्वारा ही सुलभ हैं। शरण में आने वालों के प्रति आपका वात्सल्य प्रसिद्ध है। उन्हें आप पुत्रवत् प्यार देते हैं। आप देह, इन्द्रिय और भुवनात्मक विश्वविलास रूप कुल[२] तथा छः अध्वाओं में व्याप्त वेद्य उल्लासरूप कुल के अधीश्वर हैं। आप को ही परमेश्वर शिव भी कहते हैं। आप ही करुणारूप अमृत के समुद्र हैं। आपके समक्ष मैं कुछ ऐसी समस्यायें रखना चाहती हूँ, जिनको लेकर मेरे मन में बड़ा ऊहापोह है।

भगवन्! यह संसार नितान्त असार है। कहने के लिये तो यह सं-सार है। सं उपसर्ग द्वारा इसमें अच्छाइयाँ होनी चाहिये किन्तु यह वस्तुतः बड़ा ही घोर है। इसकी भयङ्कर भीषणता बड़ी डरावनी है। इसमें दुःख ही दुःख दीख पड़ता है। इसमें रहने वाले इसके परिताप से तप्त होकर सर्वदा उदासी एवं निराशा का अनुभव करते हैं ॥२-३॥

नानाविधशरीरस्था अनन्ता जीवराशयः।
जायन्ते च म्रियन्ते च तेषां मोक्षो न विद्यते ॥४॥

इसमें रहने वाले जीवधारियों के शरीरों में किसी प्रकार का साम्य नहीं। अनेक प्रकार के शरीरों में रहने वाले जीव एक नये विस्मय को जन्म देते हैं। इनकी कोई गिनती भी नहीं की जा सकती। ये अनन्त हैं। अनन्त रूप, अनन्त शरीर और उनके आधार पर विचरण करती अनन्तानन्त जीवराशि। सृष्टि का यह स्वरूप बड़ा ही आश्चर्यजनक है। इसमें जीव जन्म लेते हैं। वहीं मृत्यु का अभिशाप भी प्राप्त करते हैं। इस जन्म-मरण के चक्र में पड़े, संसृतिचक्र में बार-बार पिसते इनके छुटकारे का, इनके मोक्ष का कोई लक्षण भी नहीं दीख पड़ता ॥४॥

सदा दुःखातुरा देव न सुखी विद्यते क्वचित्।
केनोपायेन देवेश मुच्यते वद मे प्रभो ॥५॥

पार्वती वात्सल्यमयी माँ हैं। उन्हें संसार के जीवपुत्रों के दुःख से बड़ा दुःख है।

---

१. अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः, पितृयज्ञस्तु तर्पणम्। होमो दैवो, बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥ इस तरह १. ब्रह्मयज्ञ, २. पितृयज्ञ, ३. दैवयज्ञ, ४. भौतयज्ञ और ५. नृयज्ञ—ये पाँच प्रकार के ही यज्ञ माने जाते हैं।

२. महार्थमञ्जरी, कारिका ४,४६,५८,६८ के भाष्य। श्रीतन्त्रालोक आ. २९:४-५।

वे कहती हैं, भगवन् ! विश्व के ये प्राणी दुःखों से आतुर हैं। ये दया के पात्र हैं। भगवन् ! मैं तो देखती हूँ, मुझे कोई भी सुखी नहीं दिखलायी पड़ता। कहीं भी सुख का स्रोत उपलब्ध नहीं है। हे देवेश्वर ! आप मुझे बताकर अनुगृहीत करें कि, इस संसृतिचक्र के भीषण अभिशाप से यह जीव जगत् कैसे मुक्त हो सकता है? इनकी मुक्ति का उपाय क्या है? परम दयामय प्रभो ! मेरे ऊपर दया कर उस उपाय को मुझे बताने की कृपा करें ॥५॥

श्रीईश्वर उवाच

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
तस्य श्रवणमात्रेण संसारान् मुच्यते नरः ॥६॥

परमेश्वर ने कहा—देवि ! तुमने मेरे सामने जिस जिज्ञासा का प्रस्तुतीकरण किया है ? जिसका समाधान तुम चाहती हो, उस उपाय को तुम सुनो। इस उपाय के सुनने मात्र से श्रद्धालु मनुष्य इस भीषण संसार से अवश्य ही मुक्त हो जाता है। यहाँ श्रवण मात्र से मुक्ति में श्रवणा भक्ति का महत्त्व प्रतिपादित है। बिना भक्ति और श्रद्धा के सुनना न सुनने के ही बराबर होता है ॥६॥

अस्ति देवि परब्रह्मस्वरूपी निष्कलः शिवः।
सर्वज्ञः सर्वकर्त्ता च सर्वेशो निर्मलोऽद्वयः ॥७॥

ईश्वर कहते हैं कि देवि पार्वति ! जिसे वेद परमब्रह्म कहता है, उसे ही शैवदर्शन के विशेषज्ञ शिव कहते हैं। वही निष्कल ब्रह्म है। उसके पाँच गुण विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं; यथा—१. वह सर्वज्ञ है अर्थात् सब कुछ जानता है। २. सर्वकर्तृत्वसम्पन्न है। कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थ है। ३. वह सर्वेश्वर है। इन तीन विशेषणों द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया कि, परमेश्वर इच्छा, क्रिया और ज्ञान शक्तियों का अधीश्वर है। ४. वह मलरहित है। जीव मलरूप कंचुक से ग्रस्त होता है। परमेश्वर कंचुकरूप मल से ग्रस्त नहीं होता। ५. परमेश्वर अद्वय है। वहाँ भेदप्रथा का पार्थक्य नहीं है। ऐसा यह चिन्मय ब्रह्म ही शिव है ॥७॥

स्वयं ज्योतिरनाद्यन्तो निर्विकारः परात्परः।
निर्गुणः सच्चिदानन्दस्तदंशा जीवसंज्ञकाः ॥८॥

वह स्वयंप्रकाश है, परप्रकाश्य नहीं, अर्थात् वह दूसरे के माध्यम से प्रकाशित नहीं होता। उसी से सारा विश्व प्रकाशित होता है। उसके आदि और अन्त का प्रकल्पन नहीं किया जा सकता। उसमें कोई विकार नहीं होता। वही परात्पर परमात्मा है। निर्गुण, निर्विकार, सच्चित् और आनन्दस्वरूप है। सारे जीव उसी परमेश्वर के अंश मात्र हैं ॥८॥

अनाद्यविद्योपहिता यथाग्नौ विस्फुलिङ्गकाः।
गर्भाद्युपाधिसंभिन्नाः कर्मभिः करणादिभिः ॥९॥

जीवों को परिभाषित करते हुए ईश्वर आगे कहते हैं कि, जैसे ज्वाला से जाज्वल्यमान अग्नि से वे कण रूप विस्फुलिङ्ग अत्यन्त लघु रूप में अपने मूल रूप से पृथक् प्रतिभासित होते हैं, उसी तरह ये जीव भी सर्वव्याप्त स्वप्रकाश परमेश्वर से विनि:सृत होते और पृथक् प्रतिभासित होते हैं। ये अनादि अविद्या से उपहत अभिभूत अर्थात् अपने मूल रूप को विस्मृत कर अणुत्व से अभिशप्त हो जाते हैं। इसका बड़ा ही भयङ्कर परिणाम उसे भोगना पड़ता है। वह जन्म-मरण की साँसत भरी चक्की में पिसने का साधन बन जाता है। गर्भ आदि प्रक्रिया में पड़कर अनेक उपाधियों से अभिभूत होकर शिवरूप आदि कारण से पृथक् होकर पार्थक्य प्रथा से प्रथित हो जाता है। कर्म बन्धन में बँधकर बीजाङ्कुर न्याय के अनुसार कार्य-कारणवाद के सिद्धान्त का आधार बन जाता है ॥९॥

सर्वः दुःखप्रदैः स्वीयपुण्यपापैर्नियन्त्रिताः।
तत्तज्जातियुतं देहम् आयुर्भोगश्च कर्मजम् ॥१०॥

इस तरह उत्पन्न ये सारे जीव सभी दुःखप्रद अपने द्वारा आचरित पुण्य और पाप रूप कर्मों से ही नियन्त्रित होने को बाध्य हो जाते हैं। इसे ही कर्मबन्ध कहते हैं, जिससे वे बँधने को विवश हो जाते हैं। परिणामस्वरूप वे विभिन्न अण्डज, पिण्डज, जरायुज और स्वेदज आदि जातियों में जन्म लेते और तदनुसार शरीर धारण करते हैं। कर्मों के अनुसार ही उनके आयुष्य और कर्मज भोग भी प्राप्त होते हैं ॥१०॥

प्रतिजन्म प्रपद्यन्ते मानुषा मूढचेतसः।
सूक्ष्मलिङ्गशरीरन्तदामोक्षादक्षयं प्रिये ॥११॥

यह क्रम उनके जन्म-जन्मान्तर तक चलता रहता है। अपने कर्म और उनके परिपाक के परिणामस्वरूप मनुष्य योनि में उत्पन्न होकर भी अपनी चेतना से वञ्चित रह जाते हैं। ऐसे मनुष्यों को मूढचेता कहते हैं। इस स्थूल शरीर के अतिरिक्त एक सूक्ष्म लिङ्ग शरीर भी प्राणी को प्राप्त होता है, जो इस नश्वर शरीर का अविनश्वर कारण माना जाता है। प्रति जन्मानुसार उसी शरीर के आधार पर नया शरीर इन मूढचेता मनुष्यों को मिलता है। यह अक्षय मोक्ष के विपरीत अक्षय आवागमन ही अभिशाप रूप से मूढ मनुष्यों को मिलता रहता है। मोक्ष की दशा में लिङ्ग शरीर भी नहीं रहता और अक्षय मोक्ष उपलब्ध हो जाता है ॥११॥

स्थावराः कृमयश्चाब्जाः पक्षिणः पशवो नराः।
धार्मिकास्त्रिदशास्तद्वन्मोक्षिणश्च यथाक्रमम् ॥१२॥

स्थावर, जङ्गम जैसे कृमि-जलचर, पशु-पक्षी, मानव सनातन धर्माचरण के स्थान पर वही स्थूल शरीर धारण करते हैं। इसी तरह क्रमशः इस अभिशाप से मुक्त भी हो सकते हैं। इसमें शर्त्त धर्मकार्यों का सम्पादन है। देवों की तरह ये भी मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं ॥१२॥

चतुर्विधशरीराणि धृत्वा धृत्वा सहस्रशः ।
सुकृतान्मानवो भूत्वा ज्ञानी चेन्मोक्षमाप्नुयात् ॥१३॥

इन चार प्रकार के शरीरों को ही इस संसृति चक्र में फँसकर बारम्बार धारण करते, मरते, पुन: धारण करते रहते हैं। जन्म-जन्मान्तर से यही क्रम उनका चलता रहता है। इस क्रम में सौभाग्यवश कभी यदि किसी जीव को सुकृत अर्थात् पुण्य कार्य करने का अवसर मिल जाता है और मानव शरीर मिल जाता है, तो तभी मोक्ष मिल जाता है। मोक्ष-प्राप्ति में शर्त्त यह है कि, वह मनुष्य ज्ञानवान् हो। ज्ञान ही मोक्ष का कारण माना जाता है ॥१३॥

चतुरशीतिलक्षेषु शरीरेषु शरीरिणाम् ।
न मानुष्यं विनान्यत्र तत्त्वज्ञानन्तु लभ्यते ॥१४॥

शरीर धारण करने वाले जितने प्राणी हैं, उन्हें ८४ लाख प्रकार के शरीर प्रकृति द्वारा निर्धारित हैं। इतने प्रकार के शरीरधारी जीवों में मनुष्य की योनि ही महत्त्वपूर्ण योनि है। बिना इस शरीर के तत्त्वज्ञान की उपलब्धि असम्भव है। मनुष्य योनि में तत्त्वज्ञान मिल सकता है और तभी मोक्ष भी उपलब्ध होता है ॥१४॥

अत्र जन्मसहस्रेषु सहस्रैरपि पार्वति ।
कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्यसञ्चयात् ॥१५॥

भगवान् कह रहे हैं कि, पार्वति ! मर्त्त्यलोक में हजारों हजार वर्षों के बाद बड़े पुण्यों के सञ्चय और उनके प्रभाव से ही कदाचित् जीव मनुष्य योनि में जन्म ग्रहण करता है। मानव योनि में जन्म हो जाना बड़े ही सौभाग्य का विषय माना जाता है ॥१५॥

सोपानभूतं मोक्षस्य मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम् ।
यस्तारयति नात्मानं तस्मात् पापतरोऽत्र कः ॥१६॥

मनुष्य योनि में जन्म अत्यन्त ही दुर्लभ है। यह ध्रुव सत्य है और शास्त्र का वचन है कि, मानव योनि ही मोक्ष की एक मात्र सीढ़ी है। यह मोक्ष का सोपान है। इसमें सौभाग्यवश जन्म मिल जाने के बाद भी जो मनुष्य अपने आत्मा पर पड़े आवरण को निराकृत कर आत्मोत्थान नहीं करता, अपने को इस मर्त्त्य वैतरणी से तार लेने का प्रयत्न नहीं करता, उस व्यक्ति से अधम और पापतर कोई दूसरा नहीं माना जा सकता ॥१६॥

ततश्चाप्युत्तमं जन्म लब्ध्वा चेन्द्रियसौष्ठवम् ।
न वेत्त्यात्महितं यस्तु स भवेद् आत्मघातकः ॥१७॥

एक तो मनुष्य जन्म ही दुर्लभ है। मान लीजिये यह सौभाग्यवश मिल भी गया, तो इससे भी अच्छा यह माना जाता है कि, वह पुरुष सुबुद्ध हो। सुन्दर बुद्धि के साथ ही उसका अङ्ग-प्रत्यङ्ग सुडौल, समस्त इन्द्रियों के प्रतीक अवयव सौष्ठवपूर्ण और आकर्षक भी हों, तो इस अवस्था में भी अर्थात् इतने कलित कान्त कलेवर के प्राप्त होने

के उपरान्त भी यदि वह मनुष्य आत्मकल्याण रूप श्रेयान् के रहस्य की बात नहीं जानता, माया के दारुण आवरण से आत्मा को पार कर लेने की बात नहीं जानता, ऐसा व्यक्ति ही आत्मघाती माना जाता है। आत्मकल्याण की बात न जानने वाला व्यक्ति ही उपनिषद् की भाषा में आत्महन माना जाता है ॥१७॥

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता:।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जना: ॥

विना देहेन कस्यापि पुरुषार्थो न विद्यते।
तस्माद्देहधनं प्राप्य पुण्यकर्माणि साधयेत् ॥१८॥

यह सोचने की बात है कि, शरीर न रहने पर, विना शरीर के किसी पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। शरीर के विना पुरुषार्थ की कल्पना भी नहीं की जा सकती। संसार में जितने भी धन हैं, उनमें सर्वोत्तम धन देह-धन है। इतना महत्त्वपूर्ण धन प्राप्त करने पर मनुष्य का यह परमकर्त्तव्य हो जाता है कि, वह पुण्य कर्मों का सम्पादन करे ॥१८॥

रक्षेत् सर्वात्मनात्मानम् आत्मा सर्वस्य भाजनम्।
रक्षणे यत्नमातिष्ठेद् यावत्तत्त्वं न पश्यति ॥१९॥

यह सबसे बड़ा पुण्यकर्म है कि, वह सर्वात्मना अर्थात् समस्त साधनों के द्वारा उत्तमोत्तम आचरण द्वारा अपने आत्मा की रक्षा करे। आत्मा के माया, कला, अविद्या, राग, काल और नियति रूप छः शत्रु से आत्मा को बचाये। आत्मा सभी कल्याणों का भाजन है। इसकी रक्षा प्रयत्नपूर्वक करे। यह महा अध्यवसाय तब तक सक्रियतापूर्वक सन्नद्ध होकर करे, जब तक तत्त्व का साक्षात्कार न हो जाय। तत्त्वदर्शन से मनुष्य तत्त्वद्रष्टा और साक्षी हो जाता है। इसलिये आत्मा की रक्षा करते हुये तत्त्वसाक्षात्कार में लग जाय ॥१९॥

पुनर्ग्रामाः पुनः क्षेत्रं पुनर्वित्तं पुनर्गृहम्।
पुनः शुभाशुभं कर्म न शरीरं पुनः पुनः ॥२०॥

ये ग्राम जिनमें हम रहते हैं, ये घर जिनमें हमारा आवास है, ये क्षेत्र जिनमें हम अपनी सामाजिकता का निर्वाह करते हैं और ये धन, जिनके उपार्जन में हम सारा जीवन खपा देते हैं, ये तो बारम्बार मिलने वाले हैं। पुनः-पुनः इनकी उपलब्धि सम्भव है। हम शुभ और अशुभ कर्म और इनके फल भी बार-बार प्राप्त कर सकते हैं; किन्तु यह शरीर बार-बार नहीं मिल सकता। अतः इसका सदुपयोग सबसे बड़ा कर्त्तव्य है, यह सभी शास्त्र कहते हैं ॥२०॥

शरीररक्षणायासः क्रियते सर्वदा जनैः।
न हीच्छन्ति तनुत्यागमपि कुष्ठादिरोगतः ॥२१॥

यह एक व्यावहारिक सत्य है कि, सभी मनुष्य सदैव शरीर-रक्षा का उपाय करते हैं और ऐसा आयास करते हैं, जिससे रक्षा पूरी तरह हो, उसमें कोई कमी न रह जाय। कोई यह नहीं चाहता कि, यह प्राप्त शरीर छूट जाय। यहाँ तक कि भयङ्कर राजरोगों से, कुष्ठादि असाध्य रोगों से ग्रस्त भी यह शरीर छोड़ना नहीं चाहते। यद्यपि भयङ्कर कष्ट और सामाजिक अपमान झेलते हैं; किन्तु शरीर के प्रति मोह बना रहता है ॥२१॥

तद्गोपितं स्याद् यत्नेन धर्मो ज्ञानार्थमेव च।
ज्ञानञ्च ध्यानयोगार्थं सोऽचिरात् परिमुच्यते ॥२२॥

इस शरीर-रक्षण का उद्देश्य क्या है? मात्र कष्ट सहन करने के लिये इसकी रक्षा नहीं की जाती, वरन् इसकी रक्षा का लक्ष्य सक्षम स्वस्थ रहते हुए धर्म का आचरण करना है। इसीलिये शरीर-रक्षा भी धर्म माना जाता है। इसका दूसरा लक्ष्य ज्ञानार्जन है। शरीर स्वस्थ रहने पर ही ज्ञान की प्राप्ति की जा सकती है। ज्ञान की उपयोगिता ध्यानयोग में पारङ्गत होना है। ज्ञान द्वारा उपलब्ध ध्यानयोग की पूर्णता प्राप्त हो जाने पर मुक्ति अविलम्ब उपलब्ध हो जाती है ॥२२॥

आत्मैव यदि नात्मानमहितेभ्यो निवारयेत्।
कोऽन्यो हितकरस्तस्मादात्मानं तारयिष्यति ॥२३॥

जीवन को अहित अर्थात् विनाशकारी कार्यों से रोकने का उपदेश सभी शास्त्र करते हैं। प्रश्न है कि, ऐसे अकल्याणकारी दुष्कृत्यों से रोके कौन? भगवान् कहते हैं कि, अहित से निवारण का सबसे बड़ा उत्तरदायित्व आत्मा का ही है। आत्मा ही यदि स्वात्म को बुराई से नहीं रोकेगा तो यह सोचने की बात है कि, भला वह दूसरा आत्मा से बढ़कर कौन हो सकता है, जो स्वयं को इस भवसागर से पार लगा सकेगा, अर्थात् दूसरा कोई नहीं ॥२३॥

इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः।
गत्वा निरौषधं स्थानं व्याधिस्थः किं करिष्यति ॥२४॥

नरक एक प्रकार की महाव्याधि है, जो मृत्यु के उपरान्त प्राप्त होती है। उस महाव्याधि की चिकित्सा इसी जीवन में की जा सकती है। जो व्यक्ति ऐसा नहीं करता, वह बुद्धिमान् नहीं कहा जा सकता। भला महारोगी वहाँ जाकर क्या कर सकता है, जहाँ चिकित्सा का कोई उपचार ही न किया जा सकता हो ? अत: निरन्तर स्वात्म को स्व में स्थित रहने का प्रयत्न अनिवार्यत: आवश्यक है ॥२४॥

सुदीप्तभवने को वा कूपं खनति दुर्म्मतिः।
यावत्तिष्ठति देहोऽयं तावत्तत्त्वं समभ्यसेत् ॥२५॥

भवन में आग लग गयी है। धू-धू कर घर जल रहा है। ऐसी अवस्था में आग बुझाने के लिये तत्काल जल की आवश्यकता होती है, जिससे आग बुझायी जा सके। अफरातफरी में यदि कोई गृहस्वामी कुँआ खोदने की बात करने लगे, तो उसे बुद्धिमान्

नहीं कहा जा सकता । खोजने पर भी ऐसा कोई दुर्मति मूर्ख मिलना कठिन और असम्भव है । तात्पर्य यह कि, घर में आग लगने पर तुरन्त पानी का प्रबन्ध करना ही बुद्धिमानी है । ठीक इसी तरह हमें यह देह मिला हुआ है । इसमें ईर्ष्या, मद, मोह, मात्सर्य, द्वेष इत्यादि दुर्भाव हमेशा आग लगाने में व्यस्त हैं । इसमें बुद्धिमानी यही है कि, इनका तुरन्त निराकरण करते हुए देह रहते ही तत्त्वसाक्षात्कार का अभ्यास कर लिया जाय ॥२५॥

व्याघ्रीवास्ते जरा चायुर्याति भिन्नघटाम्बुवत् ।
निघ्नन्ति रिपुवद्रोगास्तस्माच्छ्रेयः समाचरेत् ॥२६॥

जरा अर्थात् वृद्धावस्था व्याघ्री के समान क्रूर आक्रमण द्वारा प्रतिक्षण शरीर का क्षरण करने में संलग्न है । हमें जो आयु मिली है, उसकी दशा दरक चुके घड़े के समान है, तनिक भी आघात लगा कि, काम तमाम । यह प्रतिक्षण जाने वाली है । इसका कोई ठिकाना नहीं ।

शरीर में रोगों का जाल बिछा है । शत्रु के समान वे निरन्तर जीवदेह को ध्वस्त करने में संलग्न हैं । ऐसी स्थिति में बुद्धिमानी का यही कार्य है कि, जब तक देह सक्षम है, हम श्रेय अर्थात् परमकल्याण का आचरण करें । इस जीवन की तभी सफलता मानी जा सकती है ॥२६॥

यावन्नाश्रयते दुःखं यावन्नायान्ति चापदः ।
यावन्नेन्द्रियवैकल्यं तावच्छ्रेयः समाचरेत् ॥२७॥

दुःख और शोक जीवन में वज्रवत् भयप्रद हैं । ये जब तक नहीं आते; विपत्तियाँ मुँह बाये खड़ी हैं । ये जब तक हमें ग्रास नहीं बनातीं और इन्द्रियाँ प्रतिक्षण विषयव्यामोह से जीव को विकल बना रही हैं । जब तक ये देह को शिथिल नहीं बना देतीं; तभी तक कुछ किया जा सकता है । बुद्धिमानी यही है और शास्त्र भी यही निर्देश देते हैं कि, इसी अन्तराल में श्रेयःसाधन को सम्पन्न कर लिया जाय ॥२७॥

कालो न ज्ञायते नानाकार्य्यैः संसारसम्भवैः ।
सुखदुःखरतो जन्तुर्न वेत्ति हितमात्मनः ॥२८॥

संसार की विभिन्न विसंगतियों से ग्रस्त मानव को सांसारिकता से विनिःसृत समस्यायें सर्वदा व्यस्त रखती हैं । अनेकानेक प्रकार के कार्यों में मनुष्य व्यापृत रहता है । परिणामस्वरूप समय की मार से वह विभ्रान्त ही रह जाता है । उसी में आयु समाप्त होने को आती है । यह जान ही नहीं पड़ता कि, अरे ! इतना कालखण्ड कैसे इतना शीघ्र व्यतीत हो गया । सुख के आकर्षण और दुःखों की विक्लवता में मनुष्य इतना खो जाता है कि, हमारा हित कैसे सिद्ध हो सकता है, यही भूल जाता है । जन्तु का यही दुर्भाग्य है । इससे सावधानता आवश्यक है । आत्मकल्याण की बात अवश्य सोचनी चाहिये ॥२८॥

जडानार्त्तान्मृतानापद्गतान् दृष्ट्वाऽतिदुःखितान् ।
लोको मोहसुरां पीत्वा न बिभेति कदाचन ॥२९॥

संसार आश्चर्यों का पिटारा है। यहाँ जिस डाल पर बैठे हैं, उसी को काटने में मूर्खों और जड़ों का जमावड़ा है। यहाँ आर्त्त प्राणियों की पीड़ा है, यह विपत्तियों से बिलबिलाते लोग हैं, यहाँ अत्यन्त दु:खों का खाण्डव वन है, जिसमें जले-झुलसे लोगों का अम्बार है; किन्तु यही तो विस्मय है कि, मोह की मदिरा से मदमत्त जीव जगत् की इस नारकीयता का अनुभव भी उसे नहीं होता। इससे वह तनिक भी भयभीत नहीं होता ॥२९॥

सम्पदः स्वप्नसङ्काशा यौवनं कुसुमोपमम्।
तडिच्चञ्चलमायुश्च कस्य स्याज्जानतो धृतिः ॥३०॥

सांसारिक सम्पत्तियाँ, जिनका इतना आकर्षण है, क्या हैं? यह सोचने की बात है। वस्तुत: वे स्वप्न हैं, आती हैं और सपने की तरह अदृश्य हो जाती हैं। यह फूल के समान खिली जवानी क्या है? उसी की तरह मुर्झा कर झड़ जाने वाली कहानी है। यह आयुष्य? यह तो जन्म, स्थिति और संहार के त्रित्व का तिकड़म है। बिजली की कौंध-सी चमकी और अदृश्य! शास्त्र कहता है—ऐ जन्म लेकर आत्मविस्मृत पड़े प्रिय आत्मन्! ऐसी अवस्था में किस विचारक जीव को धैर्य रह सकता है? अर्थात् इस क्षणभङ्गुर नश्वरता में अविनश्वर का आत्मदर्शन ही श्रेयस्कर है, यह सोचो ॥३०॥

शतं जीवितमत्यल्पं निद्रा स्यादर्द्धहारिणी।
बाल्यरोगजरादुःखैरर्द्धं तदपि निष्फलम् ॥३१॥

वेद कहता है—'शतं जीवेम शरद: शतम्' इत्यादि। मान लीजिये यदि यही पूर्णायु की सीमा है, तो भी यह समयसीमा अत्यन्त संकुचित है। सोचने की बात है। इसकी आधी सीमा अर्थात् पूरे पचास वर्ष मनुष्य नींद में व्यतीत करने के लिये विवश है। बचे ५० वर्ष, इसमें बालकपन, पौगण्ड, कौमार तो २० वर्ष तक अबोधता में बीत जाते हैं। देखते ही यौवन आता है। इसमें मोह की महामारी, रोगों के भीषण आक्रमण और इसके बाद जीर्ण-शीर्ण बना देने वाली जरा! अब आप पूरी गणना कर लें। कितना बचता है समय? एक तरह यह पूरा जीवन ही निष्फल व्यतीत हो जाने का भय है। प्रिय आत्मन्! सावधान! इस संकुचित आयुसीमा के सदुपयोग के लिये सन्नद्ध हो जाइये, इसी में कल्याण है ॥३१॥

प्रारब्धव्ये निरुद्वेगो जागर्त्तव्ये सुषुप्तकः।
विश्वस्तव्यो भयस्थाने घातकैः किं न हन्यते ॥३२॥

कार्य के प्रारम्भ में उत्साहसम्पन्न रहने के स्थान पर पुरुष उद्वेगशून्य हो जाय, उसमें कार्य सम्पन्न करने की तीव्रता का ही अभाव हो जाय और इसी तरह जहाँ लक्ष्य-पूर्ति के लिये सतत जागरूकता और सन्नद्धता अपेक्षित हो, वहाँ वह न केवल तन्द्रिल हो जाय, वरन् सब कुछ छोड़ सुषुप्ति का आश्रय ग्रहण कर ले और इसी तरह भय की जगह जहाँ सन्नद्ध और कटिबद्ध होकर उसका निराकरण करना चाहिये, वहीं वह शत्रु पर ही विश्वास कर ले और हाथ पर हाथ रख बैठा रहे तो कोई कारण नहीं कि, वह शत्रुओं द्वारा जान से ही हाथ न धो बैठे, अर्थात् ऐसे मनुष्य का विनाश अवश्यम्भावी है ॥३२॥

तोयफेनसमे देहे जीवे शकुनिवत् स्थिते ।
अनित्येऽप्रियसंसारे कथं तिष्ठन्ति निर्भयाः ॥३३॥

जल में फेन पैदा होते हैं और हवा के थपेडों से फूटते तथा ध्वस्त होते हैं। यह फेन की नियति है। यह शरीर भी ऐसा ही है। जल के विकार से पार्थिवता और पार्थिवता का विकार यह शरीर है। इस शरीररूपी घोंसले में पक्षी की तरह जीव को अपना आवास बना बनाया मिल गया है। एक तो संसार ही अनित्य है। फलतः यहाँ की सारी वस्तुएँ भी अनित्य मानी जाती हैं। दूसरे इसमें प्रियता की झलक पाना भी दुष्कर कार्य है। ऐसी दशा में जीव यहाँ कैसे निर्भय होकर निवास कर सकता है? अर्थात् निर्भय निवास करना असम्भव है ॥३३॥

अहिते हितबुद्धिः स्यादध्रुवे ध्रुवचिन्तकः ।
अनर्थे चार्थविज्ञानी स्वमृत्युं यो न वेत्ति च ॥३४॥

अहित में हित की बुद्धि मूर्खता का लक्षण है। जो पदार्थ ध्रुव नहीं, अर्थात् अनित्य है, उसमें ध्रुव की भावना रखना भी जड़ता की ही पहचान है। जिससे निश्चय ही अनर्थ की सम्भावना है, उससे अपने अर्थ और उद्देश्य सिद्धि की बात करना भी शून्य बुद्धि मनुष्य का ही लक्षण है। ऐसे परले सिरे के मूर्ख वही होते हैं, जिन्हें अपने विनाश की भी खबर नहीं, वे अवश्य ही मृत्यु के शिकार होते हैं। यह दुर्भाग्य ही है कि, वे अपनी मृत्यु को भी नहीं पहचानते ॥३४॥

पश्यन्नपि न पश्येत् स शृण्वन्नपि न बुध्यति ।
पठन्नपि न जानाति तव मायाविमोहितः ॥३५॥

देखते हुए भी जो देख न सके, सुनकर भी जो गुनता नहीं और अबोध बना बैठा रहता है और स्वाध्यायशील रहते हुए भी रहस्य की जानकारी से वंचित रहता है, उसके विषय में यही कहा जा सकता है कि, हे प्रभु, यह आपकी दुरत्यया माया के महाप्रभाव से ही विमुग्ध है ॥३५॥

सन्निमज्जज्जगदिदं गम्भीरे कालसागरे ।
मृत्युरोगजराग्राहे न किञ्चिदपि बुध्यति ॥३६॥

समय का सागर बड़ा गहरा है। इसका थाह नहीं। यह सारा संसार इसी काले सागर में उभ-चुभ हो रहा है, डूब रहा है। इसके साथ एक और धोखे की बात खल रही है। इसमें मृत्यु, रोग और जरा के ग्राह जीव को उसी दशा में निगल जाने को आकुल हैं। ऐसी दशा में भी जीव इस भयावह विपत्ति से बचाव के उपाय से उदास है। अपने सर्वनाश को भी कुछ नहीं जानता ॥३६॥

प्रतिक्षणमयं कायो जीर्यमाणो न लक्ष्यते ।
आमकुम्भ इवाम्भःस्थो विशीर्णो नैव भाव्यते ॥३७॥

यह कलित कलेवर प्रतिक्षण कण-कण कर क्षीण होता चला जा रहा है। अन्त में जरा से जीर्यमाण हो रहा है, फिर भी जड़ मनुष्य को कुछ सूझ नहीं रहा है। घड़ा अभी कच्चा ही रखा गया है। उसमें किसी ने जल डाल दिया है। वह घुल-घुल कर समाप्त हो रहा है। यह दु:ख की ही बात है कि, उसकी अन्तिम परिणति का आभास भी इसे नहीं हो रहा है ॥३७॥

युज्यते वेष्टनं वायोराकाशस्य च खण्डनम्।
ग्रथनञ्च तरङ्गाणामास्था नायुषि युज्यते ॥३८॥

वायु को आवृत कर लेना सम्भव है। अखण्ड आकाश का खण्डन भी संभावित माना जा सकता है। तरंगमाला को एक सूत्र में ग्रथित करने की बात मानी जा सकती है। ऐसे असम्भव की संभाव्यता पर विश्वास किया जा सकता है; किन्तु आयुष्य शाश्वत है। इस पर विश्वास नहीं किया जा सकता ॥३८॥

पृथिवी दह्यते येन मेरुश्चापि विशीर्यते।
शुष्यते सागरजलं शरीरे देवि का कथा ॥३९॥

प्रिये पार्वति ! जिस महाप्रलयकालीन अकाण्ड ताण्डव में पृथ्वी जलकर राख हो जाती है। मेरु पर्वत भी टूट-टूट कर बिखर जाता है और इस अपरंपार उर्मिल उदन्वान् अर्णव को भी सूख जाना पड़ता है, तो इस क्षुद्र शरीर के सम्बन्ध में क्या कहा जा सकता है? ॥३९॥

अपत्यं मे कलत्रं मे धनं मे बान्धवाश्च मे।
लपन्तमिति मर्त्त्यं हि हन्ति कालवृको बलात् ॥४०॥

यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है और इतना धनोपार्जन मैंने किया है, अत: यह धन मेरा है, ये लोग मेरे बन्धु-बान्धव हैं, इस तरह की ममतामयी मायात्मक विकृतियों से ग्रस्त मानव अपने महत्त्व का चतुर्दिक् प्रचार करता है। यह अनुभूत सत्य है कि, इस प्रकार के बखान करने वाले मर्त्यधर्मा मनुष्यों को काल का खूंखार भेड़िया घात लगाकर आक्रमण कर मार डालता है। अत: विचारकों को इस सत्य के प्रति सावधान रहना चाहिये ॥४०॥

इदं कृतमिदं कार्य्यमिदमन्यत् कृताकृतम्।
एवमीहासमायुक्तं मृत्युरत्ति जनं प्रिये ॥४१॥

मैंने इतना कार्य सम्पन्न कर लिया। अब आगे यह मेरा उद्देश्यरूप करणीय कार्य है, जिसे करना है। अभी तक इतनी मंजिल पार कर ली गयी। आगे अभी इतना अधूरा पड़ा काम भी पूरा करना है। इस प्रकार के अभिलाषों के ऊहापोह में पड़े मनुष्य को प्रिये पार्वति ! मृत्यु अपना ग्रास बना लेती है ॥४१॥

श्व:कार्य्यमद्य कर्त्तव्यं पूर्वाह्णे चापराह्णिकम्।
न हि प्रतीक्षते मृत्यु: कृतं वाऽस्य न वा कृतम् ॥४२॥

आज मैं यह कार्य करने जा रहा हूँ। यह आवश्यक कर्त्तव्य है। कल मुझे यह करना है। इसी प्रकार कार्यक्रम के साथ मोहग्रस्त प्राणी पूर्वार्द्ध और दिन के उत्तरार्द्ध का भाग कर भी कार्यक्रम निर्धारित करता है। यह प्राणी तो काल की खण्डात्मक कलाओं की कलना में ही व्याकुल है। उधर मृत्यु भी खड़ी है। इससे,बेखबर वह खप रहा है। वह यह नहीं जानता कि, मृत्यु कभी काल की प्रतीक्षा नहीं करती। वह यह नहीं देखती कि, इस मनुष्य के कितने कार्य हो चुके हैं और कौन भविष्य में करणीय शेष हैं ॥४२॥

जरादर्शितपन्थानं प्रचण्डव्याधिसैनिकम्।
मृत्युशत्रुमभिज्ञोऽसि आयान्तं किं न पश्यसि ॥४३॥

प्रचण्ड और राजरोगरूप विख्यात असाध्य व्याधियाँ मृत्यु के सैनिक हैं। उनका मार्गदर्शन जरावस्था करती है। शास्त्र सावधान कर रहा है कि, प्रिय आत्मन्! तुम्हें तो बुद्धि का वरदान प्राप्त है। क्या तुम मृत्यु के सैनिक अभियान को अर्थात् तेजी से आक्रमण कर आने वाले इस शत्रुरूप आक्रान्ता मृत्यु को नहीं देख रहे हो? अर्थात् यदि अब तक इस पर विचार नहीं किया है, तो अब भी समय है, सावधान हो जाओ ॥४३॥

आशासूचीविनिर्भिन्नं सिक्तं विषयसर्पिषा।
रागद्वेषानले पक्वं मृत्युरश्नाति मानवम् ॥४४॥

मृत्यु मानव को अपना खाद्य पदार्थ मानती है। खाद्य पदार्थ टुकड़े-टुकड़े कर काट-पीट कर घी में छौंक लगा और आग में भूनकर खाने की प्रथा है। उसी तरह आशा की नुकीली कर्त्तरी मानव को पहले विनिर्भिन्न करती है, उसे खण्डित कर देती है। फिर विषय राशि रूपी सर्पिष् (घी) से छौंक लगाती है। राग-द्वेष की आग में उसे पकाती है। ऐसे सुन्दर और स्वादिष्ट पक्वान्न का मृत्यु स्वयं भोग लगा लेती है ॥४४॥

बालांश्च यौवनस्थांश्च वृद्धान् गर्भगतानपि।
सर्वान् संविशते मृत्युरेवम्भूतमिदं जगत् ॥४५॥

मृत्यु अपने शिकार पर कभी कृपा नहीं करती। उसकी भयंकर भूख बालक, युवा, वृद्ध, गर्भस्थ शिशु और डिम्भों का भेद नहीं करती। समान रूप से सबका ग्रास बनाती और हिंसापूर्वक इन्हें अपना शिकार बना डालती है। इस दृष्टि से विचार करने पर यह ज्ञान होता है कि, इस मृत्यु की डाढ़ में फँसे इस विश्व की यही नियति है ॥४५॥

ब्रह्मविष्णुमहेशादिदेवता भूतजातयः।
नाशमेवानुधावन्ति तस्माच्छ्रेयः समाचरेत् ॥४६॥

शास्त्र कहता है—मेरे प्रिय आत्मन्! आप भूत, प्रेत, पिशाचों, यक्षों, गन्धर्वों आदि की बात तो कीजिये ही मत। यहाँ तो ब्रह्मा, विष्णु और महेश जैसे सृष्टि, स्थिति और संहार के अधिकारी भी अपनी निर्धारित कालसीमा के साथ सर्वनाश के, प्रलय के आलिङ्गन के लिये आकुल और विह्वल भाव से धावमान हैं। ऐसी दशा में हमारा यह कर्त्तव्य बनता है कि, हम जीवित काल-कला में कालकवलित होने के पहले जो समय

बचा है, इसमें अपने कल्याण के कार्य में लग जाँय। आत्मोत्कर्षसाधक आचरण करें ॥४६॥

स्वस्ववर्णाश्रमाचारलङ्घनाद्दुष्प्रतिग्रहात् ।
परस्त्रीधनलोभाच्च नृणामायुःक्षयो भवेत् ॥४७॥

मनुष्य की आयुसीमा तो स्वयं सीमित है। कुछ ऐसे कारण हैं, जिनसे आयुष्य के विनाश में सहायता मिलती है। इनसे अनिवार्यत: बचना चाहिये। वे कारण हैं—१. अपने-अपने वर्ण आश्रम के निर्धारित कार्यों का उल्लङ्घन, २. दुष्प्रतिग्रह (किसी वस्तु को हठपूर्वक हड़प लेना) और ३. दूसरे की स्त्री और दूसरे के कमाये धन का लोभ। इनसे बचकर जीवन में उत्कृष्ट आचरण करना ही श्रेयस्कर है ॥४७॥

वेदशास्त्राद्यनभ्यासात्तथैव गुर्वनर्चनात् ।
नृणामायुःक्षयो भूयादिन्द्रियाणामनिग्रहात् ॥४८॥

इनके अतिरिक्त भी आयुष्यक्षयकारक बहुत ऐसे कार्य हैं, जिनकी ओर शास्त्र हमारा ध्यान आकृष्ट कर रहा है। जैसे १. वेदों और शास्त्रों का अनभ्यास। इनके अनभ्यास से मानव जीवन-विज्ञान के ज्ञान से वंचित रहकर दुष्कर्म में प्रवृत्त हो जाता है। २. जिनसे ज्ञान की प्राप्ति होती है, ऐसे आचार्य और गुरु की अवहेलना और ३. इन्द्रियों का अनिग्रह। इन्द्रियों को खुली छूट देने से व्यक्ति आचरणभ्रष्ट हो जाता है और दुराचारी मनुष्य की आयु का क्षय होना स्वाभाविक है ॥४८॥

व्याधिराधिर्विषं शस्त्रं ना सर्पः पशवो मृगाः ।
मरणं येन निर्दिष्टं तेन गच्छन्ति जन्तवः ॥४९॥

जीवों की मृत्यु निर्धारित है। शास्त्र भी इसे निर्दिष्ट करते हैं। जिन कारणों से मृत्यु का निर्देश शास्त्र करते हैं, उनमें प्रधानतया इन कारणों की गणना की जाती है। जैसे १. व्याधि (रोग), २. आधि (प्राकृतिक विपत्ति), ३. विष (जहर), ४. मनुष्य (घातक); ५. सर्प, ६. पशु (हिंसक आदि; पालतू पशुओं से भी खतरा रहता ही है), ७. मृग (वन्य जीव)। मृत्यु अपने निर्धारित कारण से ही होती है। प्राणी उसी पथ से प्रयाण करते हैं ॥४९॥

जीवस्तृणजलौकेव देहाद्देहान्तरं व्रजेत् ।
सम्प्राप्य परमंशेन देहं त्यजति पूर्वजम् ॥५०॥

प्राय: देखा जाता है कि, घास और खरपतवार की हरी पत्तियों पर एक विशेष प्रकार के जीव जो कीट जाति के होते हैं और जिन्हें तृणजलौका कहते हैं। वे आगे बढ़कर पीछे से सरककर गोलपृष्ठ हो जाते हैं, वे एक पत्र से दूसरे पर, एक पौधे से दूसरे पर चलते रहते हैं।

उसी तरह यह जीव भी एक देह का परित्याग कर देहान्तर का आश्रय लेता रहता है। अंशरूप से अन्य शरीर को पाकर पूर्वप्राप्त देह का यह परित्याग कर देता है। यही इसकी नियति है ॥५०॥

बाल्ययौवनवृद्धत्वं यथा देहान्तरादिकम् ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्गृहाद्गृहमिवागतः ॥५१॥

पहले शैशव, बालकपन, पौगण्ड, कौमार, यौवनादि अवस्थाओं को पार कर जीवदेह जरा को और इसके बाद मृत्यु और पुनः देहान्तर को प्राप्त करता है, यह देहान्तरप्राप्ति वैसी ही है, जैसे मनुष्य एक घर छोड़कर दूसरे घर में प्रवेश करता है और वहीं रहने लगता है ॥५१॥

जनाः कृत्वेह कर्माणि सुखदुखा:नि भुञ्जते ।
परत्राज्ञानिनो देवि यान्त्यायान्ति पुनः पुनः ॥५२॥

मनुष्य यहाँ कर्म करता है। वह उसका क्रियमाण कर्म है। वही कर्म संचित होते रहते हैं। ये प्रारब्ध बनकर फल देना प्रारम्भ करते हैं। उन्हीं के अनुसार प्राणी सुख और दु:खों का अनुभव करते रहते हैं। कर्म का यही रहस्य है। (इस कर्म फल जाल से ज्ञानी तो मुक्त हो जाते हैं किन्तु) अज्ञानी मोहग्रस्त कर्म करने वाले लोग एक देह से परत्र अर्थात् दूसरे देह में जाने के अभिशाप से अभिशप्त हो जाते हैं ॥५२॥

इह यत् क्रियते कर्म तत् परत्रोपभुज्यते ।
सिक्तमूलस्य वृक्षस्य फलं शाखासु दृश्यते ॥५३॥

मर्त्यलोक में जो कर्म किये जाते हैं, परलोक में उन्हीं कर्मों के फल भोगने पड़ते हैं। उदाहरण रूप में यह देखा जाता है कि जिस अंकुर को और उसके पौधे को सींच-सींच कर वृक्ष के रूप में विकसित किया जाता है, उनके फल, मूल बीज के पास नहीं वरन् शाखाओं में ही लगते हैं। अर्थात् मर्त्यलोक के कर्मबीजों की शाखायें ही परलोक-रूप हैं ॥५३॥

दारिद्र्यदुःखरोगाश्च बन्धनव्यसनानि च ।
आत्मापराधवृक्षस्य फलान्येतानि देहिनाम् ॥५४॥

मानव द्वारा स्वयं किये हुए प्रज्ञापराध, देवापराध और कर्मापराध रूप पाप ही बढ़कर वृक्ष बन जाते हैं। इन वृक्षों से प्राणियों को जो फल मिलते हैं, उन्हें नीचे लिखे अनुसार पहचानना चाहिये। जैसे—१. दरिद्रता, २. अनेकानेक प्रकार के भयंकर रोग, ३. अनेक प्रकार के बन्धन और अनेक प्रकार के ४. दुर्व्यसन। ये चार प्रकार के फल आत्मापराध वृक्ष से ही उत्पन्न होते हैं ॥५४॥

निःसङ्ग एव मोक्षः स्याद्दोषाः सर्वे च सङ्गजाः ।
तस्मात् सङ्गं परित्यज्य तत्त्वनिष्ठः सुखी भवेत् ॥
सङ्गाच्च चलते ज्ञानी चावश्यं किमुताल्पवित् ॥५५॥

वास्तव में संगरूप आसक्ति से ही दोषों की उत्पत्ति और तदनुकूल-प्रतिकूल फलों की प्राप्ति होती है। इसलिये यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि, अनासक्तिरूप

नि:संग भाव ही मोक्ष है। इसलिये संग का परित्याग आवश्यक है। नि:संग पुरुष ही तत्त्वनिष्ठ होता है और तत्त्वनिष्ठ पुरुष ही वस्तुतः सुखी माना जाता है। इसमें सावधानी और जागरूकता आवश्यक है। ज्ञानी व्यक्ति भी संग से चलायमान हो जाते हैं। ऐसी दशा में अल्पज्ञ सामान्य जनों की क्या स्थिति हो सकती है, यह विचारणीय विषय है ॥५५॥

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्त्यक्तुं न शक्यते।
सद्भिः सह स कर्त्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम् ॥५६॥

इसलिये शास्त्र यह निर्देश देता है कि, संग का सर्वतोभावेन परित्याग करना चाहिये। यदि यह परित्यक्त नहीं किया जा सकता, तो इसका एकमात्र उपाय यही है कि, यह सज्जनों के साथ ही करे। "सन्त और सज्जन पुरुषों की संगति संसाररूपी रोग की महौषधि है।" यह ध्रुव सत्य सिद्धान्त है ॥५६॥

सत्सङ्गश्च विवेकश्च निर्मलं नयनद्वयम्।
यस्य नास्ति नरः सोऽन्धः कथं न स्यादमार्गगः ॥५७॥

सत्संग और विवेक ये दोनों व्यक्ति की दो आँखों के समान हैं। ये दोनों जिसके पास हैं, वही तत्त्वदर्शन कर सकता है। जिसके पास ये दोनों आँखें नहीं हैं, सच पूछा जाय तो वही अन्धा है। अन्धा व्यक्ति कुमार्गगामी हो जाय, यह तो स्वाभाविक ही है ॥५७॥

यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान्मनसः प्रियान्।
तावन्तोऽस्य विशन्त्येते हृदये शोकशङ्कवः ॥५८॥

संसार में रहते हुए प्राणी जितना ही मन को प्रिय लगने वाली बातों से सम्बन्धों को बढ़ाता जाता है, उतना ही विषयजन्य कर्कश कीलें उसके हृदय में गहरायी में घुसते हुए घाव करती जाती हैं। अतः शोक-शंकुओं से बचने का एकमात्र उपाय मन को नियन्त्रित करना है। अर्थात् मनोनिग्रह से ही शाश्वत शान्ति मिलती है ॥५८॥

स्वदेहमपि जीवोऽयं त्यक्त्वा याति कुलेश्वरि।
स्त्रीमातृपितृपुत्रादिसम्बन्धः केन हेतुना ॥५९॥

भगवान् कहते हैं कि—कुलरूप विश्वप्रसार की स्वामिनी प्रिये पार्वति ! जब जीव स्वयं, जो शरीर उसे स्वतः उपलब्ध है, उसे ही छोड़कर यहाँ से महाप्रयाण करने को विवश है, फिर यह पूछा जा सकता है कि, ये स्त्री, पुत्र, माता, पिता आदि सम्बन्धों को किस हेतु पालता और आजीवन निभाता ही जाता है? ॥५९॥

दुःखमूलो हि संसारः स यस्यास्ति स दुःखितः।
तस्य त्यागः कृतो येन स सुखी नापरः प्रिये ॥६०॥

संसार की बनावट ही ऐसी है। इसकी जड़ में ही दु:ख के बीज विद्यमान हैं। जिसके पास जितनी मात्रा में संसार है, उतनी ही मात्रा में उसके पास दु:ख है। वह उतना ही दु:खित है। यह अनुभूत सत्य है कि, जो पुरुष जितनी मात्रा में ही इसका त्याग करता है, वह उतना ही सुखी होता है। भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! संसार का त्याग सर्वोत्तम सुख है। जिसने इसका त्याग कर दिया है, वस्तुत: वही सुखी है। दूसरा अत्यागी सुखी नहीं कहा जा सकता ॥६०॥

प्रभवं सर्वदुःखानामाश्रयं सकलापदाम्।
आलयं सर्वपापानां संसारं वर्जयेत् प्रिये ॥६१॥

संसार को परिभाषित करते हुए भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, प्रिये ! यह संसार ही समस्त दु:खों का उत्पत्ति-स्थान है। सकल प्रकारक भीषणतम आपदाओं का यही आश्रय स्थल है। सभी पापों का यह आगार है। इसलिये प्राणी का पावन कर्त्तव्य है कि, वह सजग रहते हुए इसका हृदय से परित्याग करे, जिससे परमार्थ सुख ही सुख मिल सके ॥६१॥

अबन्धबन्धनं घोरं मिश्रीकृतमहाविषम्।
अशस्त्रखण्डनं देवि संसारासक्तचेतसाम् ॥६२॥

संसार में जिनका चित्त आसक्त है, उन प्राणियों की दशा अत्यन्त सोचनीय हो जाती है। व्याध की रस्सी को अपने ही चंगुल में दबाकर उस पर बैठा पक्षी सोचता है, मैं तो बुरी तरह फँसा। उसे छोड़कर उड़ नहीं पाता और व्याध का शिकार हो जाता है। यह उसका अबन्ध बन्धन है। उसी तरह जगत् का जीव बिना बन्धन के ही बँधा हुआ मूर्ख पक्षी है।

उसके जीवन का एक दूसरा पक्ष और भी दयनीय होता है। उसके अमृत जीवन में जहर घुल जाता है और इस जहर से वह बेखबर रहता हुआ घुल-घुलकर मरने के लिये लाचार हो जाता है।

एक और दर्दभरी कहानी राज़ बनकर उसकी जिन्दगी को तबाह करती रहती है। उसकी तकदीर के टुकड़े-टुकड़े होने से कोई तदबीर नहीं बचा पाती, मगर अचरज तो इस बात का है कि, इस बदहवाली का सबब कोई हथियार नहीं, उसकी दुनियावी दस्तूर होती है। इसलिये अपना बचाव ही शख्स के लिये जरूरी है ॥६२॥

आदिमध्यावसानेषु सर्वं दु:खमिदं यतः।
तस्मात् सन्त्यज्य संसारं तत्त्वनिष्ठः सुखी भवेत् ॥६३॥

जागतिक जीवन के प्रारम्भिक काल को यदि देखें तो वहाँ भी दु:खों की छाया का आभास मिलता है। इस मध्य का अर्थात् जीवन के उत्कर्ष काल के रूप में मिले यौवन को लें तो वहाँ यह देखने को मिलता है कि, आशाओं, चिन्ताओं और विघ्न-बाधाओं के अभिशाप इस मध्यकाल को भी दु:खमय बना रहे हैं। अवसान की तो बात ही अलग

है। जराजीर्ण शरीर पराश्रय पर निर्भर करता है। परमुखापेक्षी होकर जीने को जीव विवश हो जाता है। इसलिये तत्त्वनिष्ठ भाग्यशाली पुरुष इसका परित्याग कर सुखी हो जाये, यही शास्त्र का उपदेश, आदेश और निर्देश है ॥६३॥

लौहदारुमयैः पाशैर्दृढबन्धोऽपि मुच्यते ।
स्त्रीधनादिषु संसक्तो मुच्यते न कदाचन ॥६४॥

लोहे की बेड़ियों और हथकड़ियों का बन्धन हो, किसी लकड़ी से निर्मित दारुबन्ध हो, ये सभी महाभीषण बन्धन हैं। ऐसे पाश भी खुल जाते हैं और इनकी जकड़ ढीली पड़ते ही पाशबद्ध पुरुष मुक्त हो जाता है।

भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! किन्तु स्त्री और पुत्र आदि के व्यामोह से मुग्ध और धन आदि नश्वर वस्तुओं के लोभ से लुब्ध मनुष्य का यह मोह और लोभ आदि रूप पाश कभी ढीला नहीं पड़ता। अत: इन बन्धनों से बँधा मनुष्य कभी मुक्त नहीं हो पाता ॥६४॥

कुटुम्बचिन्तायुक्तस्य श्रुतशीलादयो गुणाः ।
अपक्वकुम्भजलवद् नश्यन्त्यङ्गेन केवलम् ॥६५॥

कुटुम्ब और परिवार आदि की चिन्ता में संलग्न रहने वाले पुरुष के श्रुत को ग्रहण करने की ग्राहिका शक्ति के और सदाचारादि गुणों के मूलभूत गुण शील आदि गुण उसी प्रकार विगलित हो जाते हैं जैसे अपक्व अर्थात् कच्चे मिट्टी के घड़े में जल डाल देने पर वह कच्चा घड़ा अपने पूरे रूप और आकार के प्रतीक अंगों के साथ ही विगलित हो जाता है और मिट्टी का मिट्टी ही बना रह जाता है ॥६५॥

वञ्चिताशेषवित्तैस्तैर्नित्यं लोको विनाशितः ।
हा हन्त विषयाहारैर्देहस्थेन्द्रियतस्करैः ॥६६॥

इस शरीर में ही रहने वाले कुछ तस्करों के प्रति भगवान् संसार को सावधान कर रहे हैं। प्राणी का शरीर आत्मा की उपलब्धि का साधन है। पर दुर्भाग्य यह है कि, इसमें कुछ ऐसे चोर घर कर गये हैं, जिनसे पूरा लोक ही विनाश का शिकार हो रहा है। उन चोरों को इन्द्रिय-तस्कर कहते हैं। देह की दश इन्द्रियाँ ही वे चोर हैं। इनका आहार विषयराशि है। पञ्चमहाभूत और पञ्चतन्मात्रायें ही इनकी भोजन हैं, जिनको खाकर ये जी रही हैं। इन्होंने मर्त्त्य प्राणियों के समग्र चित्त समुदाय को अपने वश में कर लिया है। यह चिन्त्य और शोक का विषय है कि, चिन्तन के सारे मार्गों के अवरुद्ध हो जाने के कारण सारा लोक विनाशलीला का कलङ्क भोग रहा है ॥६६॥

मांसलुब्धो यथा मत्स्यो लौहशङ्कुं न पश्यति ।
सुखलुब्धस्तथा देही यमबाधां न पश्यति ॥६७॥

मछली पकड़ने वाले वंशी के अंकुश में केंचुए सदृश कीड़ों को फँसा देते हैं।

उनके मांस को खाने की लालच में पड़ी मछलियाँ लौहशंकु के धोखे को भाँप नहीं पातीं और उन्हें पूरी तरह निगल कर फँस जाती हैं। फलतः प्राणों से हाथ धोना पड़ता है।

उसी तरह मनुष्य भी ऐन्द्रियिक सुखभोग की लालच में फँस जाता है। वह यह सोच भी नहीं पाता कि, यम का मृत्युरूप लौहशंकु उसमें पड़ा हुआ है। परिणामतः प्राणी भी जमडाढ़ के जकड़नभरे जबड़े में पड़कर मरण का ही वरण करने को विवश हो जाता है ॥६७॥

हिताहितं न जानन्तो नित्यमुन्मार्गगामिनः।
कुक्षिपूरणनिष्ठा ये तेऽबुधा नारकाः प्रिये ॥६८॥

भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! नारकीय प्राणियों की यही पहचान है—१. वे हित-अहित की बात जानते ही नहीं। २. नित्य उन्मार्गगामी ये पुरुष सन्मार्ग की ओर ताकते तक नहीं। ३. ये सभी अपने पापी पेट को भरने के फेर में पापाचरण से भी दूर नहीं रहते। ये सचमुच मूर्ख और अबोध होते हैं ॥६८॥

निद्रादिमैथुनाहाराः सर्वेषां प्राणिनां समाः।
ज्ञानवान् मानवः प्रोक्तो ज्ञानहीनः पशुः प्रिये ॥६९॥

विश्व में सभी प्राणी आहार, निद्रा, भय और मैथुन इन चार दृष्टियों से समान माने जाते हैं। ज्ञानी और अज्ञानी पशु-पक्षी और मनुष्य आदि इन चारों बातों में एक रूप से ही व्यवहार करते हैं। इसमें इन चारों के मूल रहस्य का जानकार मानव ही ज्ञानवान् कहलाता है। जो व्यक्ति या प्राणी इस रहस्यज्ञान से शून्य है, वही अज्ञानी पशु माना जाता है ॥६९॥

प्रभाते मलमूत्राभ्यां क्षुत्तृड्भ्यां मध्यगे रवौ।
रात्रौ मदननिद्राभ्यां बाध्यन्ते मानवाः प्रिये ॥७०॥

मनुष्यों में कुछ ऐसी विशेषतायें हैं, जिनके कारण उनकी साधना बाधित होती रहती है। जैसे प्रातःकाल उन्हें सब कुछ छोड़कर मल-मूत्रोत्सर्ग में लगना ही पड़ता है। दिन चढ़ते उसे भूख और प्यास सताने को तैयार रहते है। जहाँ तक रात का प्रश्न है, उसे कामवासना की शान्ति की चिन्ता और नींद, ये दोनों दबोच लेते हैं। भगवान् कहते हैं—प्रिये ! बताओ ये बिचार चिन्तन कब करें? इन बाधाओं पर विजय करना ही साधना का आधार है ॥७०॥

स्वदेहधर्म्मदारादिनिरताः सर्वजन्तवः।
जायन्ते च म्रियन्ते च हा हन्ताज्ञानमोहिताः ॥७१॥

विश्वप्रसार में प्रसृत सारी जीवराशि १. अपने शरीर, २. अपने-अपने धर्म और ३. स्त्री आदि के फेर में ही पड़े रह जाते हैं। इसी क्रम में वे जन्म लेते, सोचते, खाते-पीते और जराजीर्ण होकर मरण के शरण में समा जाने को विवश हैं। यह शोक का विषय है कि, वे अज्ञान के आवरण से आवृत और मोहमुग्ध ही रह जाते हैं ॥७१॥

स्वस्ववर्णाश्रमाचारनिरताः सर्वमानवाः ।
न जानन्ति परं तत्त्वं मूढा नश्यन्ति पार्वति ॥७२॥

सब के अपने-अपने वर्ण हैं। अपने-अपने आश्रम हैं। इनके पृथक्-पृथक् आचार हैं। सभी मानव इसमें ही निरत हैं। यह कष्ट की बात है कि, ये परमतत्त्व को जान ही नहीं पाते। भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! तत्त्वसाक्षात्कार से वंचित इन प्राणियों का जीवन भी मृत्युतुल्य ही है। इसी में ये मरते रहते हैं ॥७२॥

क्रियायासपराः केचित् क्रतुचर्य्यादिसंयुताः ।
अज्ञानसंयुतात्मानः सञ्चरन्ति प्रतारकाः ॥७३॥

कुछ ऐसे लोग हैं, जो क्रियायोग के विविध प्रकार के तत्त्व को समझने के पहले ही अपने आयास का प्रदर्शन कर लोगों को प्रवंचित करने में लीन रहते हैं। कुछ ऐसे भी हैं, जो क्रतु अर्थात् देवयाग, नृयाग आदि की चर्या का ही आडम्बर करने में निरत हैं। दुःख तो इस बात का है कि, वे स्वयं अज्ञानी होते हैं। उन्हें तत्त्वसाक्षात्कार नहीं होता। उनकी आत्मा अज्ञान के आवरण से संयुत अर्थात् आवृत होती है। भोले-भाले लोगों की प्रतारणा में निरत वे इसी उद्देश्य के लिये इधर-उधर संचार करते रहते हैं ॥७३॥

नाममात्रेण सन्तुष्टाः कर्म्मकाण्डरता नराः ।
मन्त्रोच्चारणहोमाद्यैर्भ्रामिताः क्रतुविस्तरैः ॥७४॥

उनका बड़ा नाम है। वे कविराज हैं—इसी प्रसिद्धि में वे आनन्द का अनुभव करते हैं। रात-दिन कर्मकाण्ड अर्थात् बाह्य पूजा में समय का यापन करने में लगे हैं। तरह-तरह के क्रतुओं के विस्तार में निरत ऐसे लोग मन्त्रों का सस्वर पाठ करते, कराते और तन्निमित्तक होम, आरार्त्तिक्य, दक्षिणा आदि में ही वे विभ्रान्त और माया द्वारा भ्रामित रह जाते हैं ॥७४॥

एकभक्तोपवासाद्यैर्नियमैः कायशोषणैः ।
मूढाः परोक्षमिच्छन्ति तव मायाविमोहिताः ॥७५॥

भगवान् कहते हैं, शक्ति की प्रतीक प्रिये पार्वति, तुम्हारी माया भी बड़ी विचित्र है। उसी से विमुग्ध होकर वे प्रत्यक्ष रूप से बड़ा प्रदर्शन करते हैं। जैसे कुछ ऐसे हैं, जो यह प्रचारित करते रहते हैं कि, मैं तो दिन में एक बार ही कुछ प्रसाद पाता हूँ और कुछ अपने उपवास का प्रचार करते हैं। कुछ ऐसे भी हैं, जो अपने को ऐसे नियमों के परिवेश में प्रचारित करते हैं कि, उनका प्रचार हो। कुछ अपने शरीर को सुखाकर ही नाम कमा लेना चाहते हैं। ऐसे मूर्ख प्रतारक इन प्रत्यक्ष कार्यों से परोक्ष तत्त्वज्ञान को पा लेने का आडम्बर रचते हैं। शायद भीतर ही भीतर यह भी सोचते हों कि, हमें इन्हीं चर्याओं से चिन्मय चेतना मिल जाय ॥७५॥

देहदण्डनमात्रेण का मुक्तिरविवेकिनाम् ।
वल्मीकताडनाद्देवि मृतः किन्नु महोरगः ॥७६॥

भला देह को यन्त्रणा देने से ही उन्हें कौन मुक्ति मिल सकती है। यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि, ऐसे लोग नितान्त अविवेकी हैं। उन्हें विवेक-बोध का प्रकाश मिल नहीं सका है। यह सोचने की बात है कि, वल्मीकरूप मिट्टी के ढूहे को पीटने से क्या मृत्यु का कालसर्प मर सकता है। देह वल्मीकरूप है। इसको पीडित करने से मृत्युजित कोई नहीं हो सकता ॥७६॥

धनाहारार्जने युक्ता दाम्भिका वेषधारिणः।
भ्रमन्ति ज्ञानिवल्लोके भ्रामयन्ति जनानपि ॥७७॥

कुछ ऐसे दाम्भिक छद्म साधुवेषधारी यहाँ विचरण करते हैं, जो दूसरों के धनापहरण की ही कमाई पर जीवन-यापन करते हैं। ये लोक के कलंक हैं। लोक में ज्ञानी के समान होने का ढोङ रचते हैं। अपने तो विभ्रान्त हैं ही, लोगों को भी विभ्रान्त करते हैं ॥७७॥

सांसारिकसुखासक्तं ब्रह्मज्ञोऽस्मीति वादिनम्।
कर्मब्रह्मोभयभ्रष्टं तं त्यजेदन्त्यजं यथा ॥७८॥

स्वयं सांसारिक सुखों में आसक्त रहते हैं। सर्वत्र यह प्रचारित करते हैं कि, वे ही वस्तुतः ब्रह्मवेत्ता हैं। प्रथमतः तो वे कर्म से भ्रष्ट होते हैं, इस प्रकार असत्य प्रदर्शन के कारण ब्रह्म के स्तर से भी भ्रष्ट हो जाते हैं। ऐसे ढोङियों का उसी प्रकार बहिष्कार करना चाहिये, जैसे कर्महीन नीच का बहिष्कार किया जाता है ॥७८॥

गृहारण्यसमा लोके गतव्रीडा दिगम्बराः।
चरन्ति गर्दभाद्याश्च योगिनस्ते भवन्ति किम् ॥७९॥

पशुओं की स्थिति पर विचार करें। गर्दभ आदि जड़ पशु जैसे जंगलों में, उसी तरह घर में निर्लज्ज और नग्न रूप में दिगम्बर बने अश्लील आचरण भी करते ही हैं। ऐसे ही यदि कोई दिगम्बर निर्लज्जतापूर्वक नग्न रहता है और जंगली जीवों की तरह घर-गृहस्थी में भी आचरण करता है, तो क्या वह इससे योगी कहा जा सकता है ? हरगिज नहीं ॥७९॥

मृद्भस्मप्रक्षणाद्देवि मुक्ताः स्युर्यदि मानवाः।
मृद्भस्मवासिनो ग्राम्याः किन्ते मुक्ता भवन्ति हि ॥८०॥

मिट्टी और भस्म को शरीर पर मल लेने मात्र से क्या कोई मनुष्य मुक्त हो सकता है ? बहुत से मैले-कुचैले गवँईगिराँव के गरीब तो मिट्टी से ही सने होते हैं। क्या इन्हें मुक्त कहा जा सकता है ?॥८०॥

तृणपर्णोदकाहाराः सततं वनवासिनः।
हरिणादिमृगा देवि योगिनस्ते भवन्ति किम् ॥८१॥

घास खाकर जीवन-यापन करने वाले, कभी पत्तों के भोजन पर ही व्रत रखने

आदि का प्रदर्शन करने वाले, जल पीकर ही रहने का व्रत लेने वाले और जंगलों के एक कोने में सबसे अलग-थलग रहकर जीने वाले यदि योगी कहलाने के अधिकारी हैं, तो वे हरिण आदि मृग भी जो तृण, घास और पानी पीकर ही जी रहे हैं, वे भी योगी क्यों नहीं कहे जा सकते ? किन्तु ये योगी नहीं होते ॥८१॥

आजन्ममरणान्तञ्च गङ्गादितटिनीस्थिताः ।
मण्डूकमत्स्यप्रमुखा व्रतिनस्ते भवन्ति किम् ॥८२॥

जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त गंगा आदि नदियों में निवास करने वाले मेढक और मत्स्य आदि जीव क्या किसी प्रकार के व्रताचार के पालन करने वाले माने जा सकते हैं ? नहीं। इसी तरह ऐसी पवित्र और पावनतम सरिताओं के तीर पर कुटी आदि बनाकर परमुखापेक्षी लोग व्रती कहे जा सकते हैं ? अर्थात् नहीं ॥८२॥

वदन्ति हृदयानन्दं पठन्ति शुकसारिकाः ।
जनानां पुरतो देवि विबुधाः किं भवन्ति हि ॥८३॥

शुक और सारिकायें जिन्हें साधारण भाषा में तोता और मैना कहते हैं, पालने और सिखाने के बाद लोगों के समक्ष सुभाषितों का पाठ करते हैं और हृदयानन्दप्रद श्लोकों का उच्चारण करते हैं। प्रश्न है कि, क्या इस कार्य से उनकी गणना पण्डित वर्ग में की जा सकती है ? अर्थात् नहीं ॥८३॥

पारावताः शिलाहाराः परमेश्वरि चातकाः ।
न पिबन्ति महीतोयं योगिनस्ते भवन्ति किम् ॥८४॥

पारावत (कबूतर) पत्थर और कंकड़ों की सर्षप सदृश घिसी लघु लघु कणिकाओं का ही भोजन करते हैं। भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! इसी तरह चातक पृथ्वी के जल का पान नहीं करते। क्या इनको और इनके जैसे व्रतियों को योगी कहा जा सकता है ? अर्थात् नहीं ॥८४॥

शीतवातातपसहा भक्ष्याभक्ष्यसमाः प्रिये ।
तिष्ठन्ति शूकराद्याश्च योगिनस्ते भवन्ति किम् ॥८५॥

शीत, वात और आतप को समान रूप से सहने वाले, भक्ष्य और अभक्ष्य का विचार न करने वाले ये सूकर आदि प्राणी व्रताचारपरायण योगी कहे जा सकते हैं ? अर्थात् नहीं।

इसलिये लोक को प्रवञ्चित कर आडम्बरपूर्ण प्रदर्शन के कार्य नितान्त हेय हैं। ये कार्य तो हेय माने ही जाते हैं। इनके करने वाले तो नितान्त हेय होते हैं। उन्हें योगी या व्रती कदापि नहीं कहा जा सकता ॥८५॥

तस्मादित्यादिकं कर्म लोकवञ्चनकारकम् ।
मोक्षस्य कारणं साक्षात्तत्त्वज्ञानं कुलेश्वरि ॥८६॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, विश्वप्रसाररूपी 'कुल' की स्वामिनी प्रिये ! उपर्युक्त सारे कर्म मोक्ष के विपरीत माने जाते हैं। वास्तव में मोक्ष का एकमात्र कारण तत्त्वज्ञान है। तत्त्वसाक्षात्कार ही मोक्ष है—यही शास्त्र का निर्देश है ॥८६॥

षड्दर्शनमहाकूपे पतिताः पशवः प्रिये ।
परमार्थं न जानन्ति पशुपाशनियन्त्रिताः ॥८७॥

छः दर्शनों की बड़ी-बड़ी बातें लोग करते हैं। वे यह नहीं जानते कि, ये महाकूप हैं। इसमें पशु अर्थात् सामान्य अणु-साधारण पुरुष पतित हो जाते हैं। वे परमार्थ के तत्त्व को जानते ही नहीं। पाशवभाव में सन्ताप करने वाले घृणा, शंका, भय, लज्जा, जुगुप्सा, कुल, शील और जाति रूप पाशों से वे नियन्त्रित होते हैं। वे दार्शनिक रहस्य को न जानकर कूपमण्डूक ही रह जाते हैं ॥८७॥

वेदशास्त्रार्णवे घोरे ताड्यमाना इतस्ततः ।
कालोर्मिग्राहग्रस्ताश्च तिष्ठन्ति हि कुतार्किकाः ॥८८॥

वेद और शास्त्र एक प्रकार के तूफानभरे सागर हैं। उनकी लहरों के थपेड़ों से सामान्य लोग चोट खाकर किनारे लग जाते हैं। अचानक कर्कश ऊर्मियों और उनमें ही रहने वाले मगर-घड़ियालों के जबड़ों में वे समा जाते हैं। यही दशा कुतार्किकों की भी होती है ॥८८॥

वेदागमपुराणज्ञः परमार्थं न वेत्ति यः ।
विडम्बकस्य तस्यापि तत् सर्वं काकभाषितम् ॥८९॥

वेद पढ़ते हैं, सस्वर उच्चारण भी करते हैं, पर परमार्थ नहीं जानते। इसी तरह आगम और पुराणशास्त्रों को पढ़ते हैं, किन्तु उनके तत्त्वज्ञानरूपी परमार्थ से रहित हैं। ऐसे लोगों को क्या कहा जाय ? ये सभी विडम्बक हैं और इनका सारा बोलना काकभाषित के समान ही माना जा सकता है ॥८९॥

इदं ज्ञानमिदं ज्ञेयमिति चिन्तासमाकुलाः ।
पठन्त्यहर्निशं देवि परतत्त्वपराङ्मुखाः ॥९०॥

यह ज्ञान है और यह जानने योग्य है, जिसे ज्ञेय कहते हैं। इस प्रकार के व्यर्थ चिन्तन में समाकुल रहने वाले लोग पढ़ते तो रहते ही हैं; किन्तु भगवान् शंकर कहते हैं कि, देवि ! यह निश्चय है कि उक्त चिन्ता में ही लगे ये लोग परमतत्त्व के साक्षात्कार से वंचित ही रह जाते हैं ॥९०॥

वाक्यच्छन्दोनिबन्धेन काव्यालङ्कारशोभिना ।
चिन्तया दुःखिता मूढास्तिष्ठन्ति व्याकुलेन्द्रियाः ॥९१॥

वाक्य रचना में प्रवीणता के दर्प में दृप्त, छन्दज्ञान की गरिमा से ग्रस्त और निबन्धों के बन्धन से बँधे, स्वात्म को काव्यालंकार के अलंकरण से आकर्षक मानने वाले

व्यर्थ की चिन्ता में तनावग्रस्त रहते हैं। अपनी दर्पमयी निर्मिति की व्याकुलता में आकुल ये लोग मूढ की ही श्रेणी में गणनीय हैं। अर्थात् तत्त्वसाक्षात्कार से पूरी तरह ये दूर ही रह जाते हैं ॥९१॥

अन्यथा परमं तत्त्वं जनाः क्लिश्यन्ति चान्यथा।
अन्यथा शास्त्रसद्भावो व्याख्यां कुर्वन्ति चान्यथा ॥९२॥

परमतत्त्व का पथ दूसरी ओर जाता है और उपर्युक्त प्रकार के जन उसके विपरीत दूसरा पक्ष ही चुनते हैं और पराङ्मुख रह जाते हैं। इसी तरह शास्त्र के सुन्दर भाव कुछ दूसरा ही व्यक्त करना चाहते हैं; किन्तु निहितार्थी लोग अपनी ही व्याख्या उस पर थोपने का प्रयत्न करते हैं ॥९२॥

कथयन्त्युन्मनीभावं स्वयं नानुभवन्ति हि।
अहङ्कारहताः केचिदुपदेशविवर्जिताः ॥९३॥

बात तो करते हैं उन्मनी भाव की, किन्तु वास्तविकता यह होती है कि, उसका इन्हें तनिक भी अनुभव नहीं होता। कुछ तो ऐसे होते हैं, जिन्हें उन्हीं का अहंकार आहत करता रहता है। उन्हें उस विषय का गुरूपदेश वास्तव में मिला ही नहीं होता। अर्थात् रहस्यानुभूति से ऐसे लोग शून्य ही होते हैं ॥९३॥

पठन्ति वेदशास्त्राणि विवदन्ति परस्परम्।
न जानन्ति परं तत्त्वं दर्वी पाकरसं यथा ॥९४॥

वेद, शास्त्रों का पठन-पाठन करते हैं। परस्पर सभी एतद्विषयक वाद-विवादों में उलझे ही रह जाते हैं। वास्तविकता यह होती है कि, ये परमतत्त्व से वंचित ही रह जाते हैं। ठीक उसी तरह जैसे पाकरस में रहने वाली दर्वी (करछी) स्वयं पाकरस से पूरी तरह वंचित ही रहती है ॥९४॥

शिरो वहति पुष्पाणि गन्धं जानाति नासिका।
पठन्ति वेदशास्त्राणि दुर्लभो भाववेदकः ॥९५॥

प्रकृति की लीला भी विचित्र है। पुष्प शिर पर ही अर्पित किये जाते हैं। पुष्पों के मुकुट का भार शिर ही वहन करता है; किन्तु इन पुष्पों की गन्ध से शिर अभिज्ञ नहीं हो पाता। उसे तो नासिका ही ग्रहण करती है। वही जानती है कि, इस कुसुम की सुरभि इस प्रकार की है। वही दशा वेदों और शास्त्रों के पढ़ने वालों की है। पढ़ते दूसरे लोग हैं। उनके भाव अर्थात् रहस्यार्थ के वेदक कुछ दूसरे लोग ही होते हैं ॥९५॥

तत्त्वमात्मस्थमज्ञात्वा मूढः शास्त्रेषु मुह्यति।
गोपः कक्षगतं छागं कूपे पश्यति दुर्म्मतिः ॥९६॥

यह ध्रुव सत्य है कि, वास्तविक तत्त्वज्ञान स्वात्मनिष्ठ है। इसे जानने का प्रयत्न होना या करना चाहिये। वे लोग मूढ ही कहे जा सकते हैं, जो शास्त्रों के अनन्त विस्तार में ही अपने को खपा देते हैं और स्वात्मनिष्ठ तत्त्वसाक्षात्कार से वंचित रह जाते हैं। यह

कथा प्रसिद्ध है कि, एक गोपालक गोष्ठ में बँधी बकरी को कातर भाव से गाँव के कुओं में खोज रहा था। इसे उसकी बुद्धि की बलिहारी ही माना गया था ॥९६॥

संसारमोहनाशाय शाब्दबोधो न हि क्षमः।
न निवर्त्तेत तिमिरं कदाचिद्दीपवार्त्तया ॥९७॥

वैयाकरण विद्वन्मन्य शाब्दबोध के शास्त्रार्थ में ही रह जाते हैं और तब तक प्राण-पखेरू के पंख परलोक के लिये उड़ान भरने लग जाते हैं। यह निश्चय है कि, संसार के मोहनाश में शाब्दबोध सर्वथा असमर्थ रहता है। यह सोचने की बात है कि, दीपक के विषय में वार्त्तालाप करने से क्या अन्धकार का निवर्त्तन सम्भव है ? अर्थात् कभी नहीं ॥९७॥

प्रज्ञाहीनस्य पठनम् अन्धस्यादर्शदर्शनम्।
देवि प्रज्ञावतः शास्त्रं तत्त्वज्ञानस्य कारणम् ॥९८॥

भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! प्रज्ञा से ज्ञान होता है। प्रज्ञाहीन पुरुष का शास्त्र-स्वाध्याय ठीक उसी तरह का काम है, जैसे जन्मान्ध या आँख का अन्धा दर्पण में प्रतिबिम्ब का दर्शन करना चाहता है। वस्तुतः शास्त्र वे दर्पण हैं, जिनमें गहराई से पैठ कर तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया जाता है। इसके लिये प्रज्ञा आवश्यक है। शास्त्र भी तत्त्वज्ञान के कारण माने जा सकते हैं, किन्तु सबके लिये नहीं। प्रज्ञावान् को ही यह सौभाग्य मिल सकता है ॥९८॥

अग्रतः पृष्ठतः केचित् पार्श्वयोरपि केचन।
तत्त्वमीदृक् तादृगिति विवदन्ति परस्परम् ॥
सद्विद्यादानशूराद्यैर्गुणैर्विख्यातमानवाः ॥९९॥

तत्त्व क्या है ? यह विवाद का विषय नहीं। यह मात्र अनुभूति का विषय है। यह आगे है या पीछे मुड़ने पर प्राप्य है अथवा अगल-बगल में ही है अथवा ऐसा है या वैसा है—इस प्रकार का विवाद मूर्ख लोग ही किया करते हैं। ऐसे विवादों में सद्विद्यादान में अपने को मूर्द्धन्य मानने वाले लोग भी पड़े रहते हैं अथवा अपने विभिन्न गुणों से प्रसिद्ध लोग भी यही करते रहते हैं और तत्त्वज्ञान से दूर ही रह जाते हैं ॥९९॥

प्रत्यक्षग्रहणं नास्ति वार्त्तया ग्रहणं कुतः।
एवं ये शास्त्रसम्मूढास्ते दूरस्था न संशयः ॥१००॥

जैसे किसी ग्राह्य पदार्थ का प्रत्यक्ष ग्रहण होता है, उस प्रकार तत्त्वज्ञान का प्रत्यक्ष ग्रहण नहीं किया जा सकता। बातों-बातों में इसका ग्रहण तो और भी असम्भव है। इस प्रकार की ज्ञानग्राह्यता की बात करने वाले लोग वस्तुतः शास्त्रसंमूढ ही कहे जा सकते हैं। तत्त्वज्ञान से वे दूर ही हैं, इसमें सन्देह नहीं ॥१००॥

इदं ज्ञानमिदं ज्ञेयं सर्वतः श्रोतुमिच्छति।
देवि वर्षसहस्रायुः शास्त्रान्तं नैव गच्छति ॥१०१॥

सामान्य पाठक शास्त्रों को पढ़ते हुए इसी चक्कर में पड़ा रहता है कि, यही ज्ञान है और यही ज्ञेय है। यही बात वह शास्त्रज्ञों से सुनना भी चाहता है। किन्तु वह यह नहीं जानता है कि, यदि उसकी हजारों वर्ष की भी आयु निर्धारित कर दी जाय, तो शास्त्रों के विस्तार का अन्त उसे नहीं ज्ञात हो सकता। इसलिये भगवान् कहते हैं कि, देवि ! शास्त्रविस्तार की चिन्ता छोड़ तत्त्वसाक्षात्कार की बात सोचनी चाहिये ॥१०१॥

वेदाद्यनेकशास्त्राणि स्वल्पायुर्विघ्नकोटयः।
तस्मात् सारं विजानीयात् क्षीरं हंस इवाम्भसः ॥१०२॥

इधर वेद आदि अनन्त शास्त्र और उधर पाठक वर्ग के आयु की स्वल्प सीमा ! साथ ही जीवन के करोड़ों विघ्न। इसलिये शास्त्रविस्तार का पार पाने की चाह की अपेक्षा सार रहस्य की जानकारी प्राप्त करने में लगना चाहिये। उसी तरह जैसे 'हंस' जल से दूध का आविष्कार कर लेता है। यही नीरक्षीरविवेक कहलाता है ॥१०२॥

अभ्यस्य सर्वशास्त्राणि तत्त्वं ज्ञात्वा हि बुद्धिमान्।
पलालमिव धान्यार्थी सर्वशास्त्रं परित्यजेत् ॥१०३॥

शास्त्रों का स्वाध्याय करे, उसमें बतायी विधियों का अभ्यास भी करे। बुद्धिमान् मनुष्य उसी क्रम में रहस्यदर्शन के लिये भी सचेष्ट रहे। तभी तत्त्वज्ञान हो सकता है। तत्त्वज्ञान हो जाने के बाद जैसे धान पक जाने पर धान को और पलाल को अलग कर धान्य का सेवन करते हैं और पलाल को पशुओं के लिये छोड़ देते हैं, उसी तरह तत्त्वज्ञान का उपयोग करे और शास्त्रों को छोड़ दें। अर्थात् तत्त्वज्ञान ही महत्त्व की वस्तु है ॥१०३॥

यथामृतेन तृप्तस्य नाहारेण प्रयोजनम्।
तत्त्वज्ञस्य तथा देवि न शास्त्रेण प्रयोजनम् ॥१०४॥

जैसे अमृत पीकर परमतृप्त पुरुष को आहार से कोई प्रयोजन नहीं रह जाता, उसी तरह तत्त्वज्ञ व्यक्ति को शास्त्र से कुछ भी प्रयोजन शेष नहीं रहता ॥१०४॥

न वेदाध्ययनान्मुक्तिर्न शास्त्रपठनादपि।
ज्ञानादेव हि मुक्तिः स्यान्नान्यथा वीरवन्दिते ॥१०५॥

वेदों का आप कितना भी स्वाध्याय कर लें। इससे मुक्ति नहीं मिल सकती। इसी तरह शास्त्रों के स्वाध्याय से भी मुक्ति उपलब्ध नहीं होती। भगवान् शंकर कहते हैं कि, हे वीरों (विश्वोत्तीर्ण साधकों) के द्वारा वन्दनीय सर्वेश्वरी देवि ! मुक्ति केवल ज्ञान से ही उपलब्ध होती है। किसी दूसरी तरह मोक्ष नहीं हो सकता ॥१०५॥

नाश्रमाः कारणं मुक्तेर्दर्शनानि न कारणम्।
तथैव सर्वशास्त्राणि ज्ञानमेव हि कारणम् ॥१०६॥

मुक्ति में आश्रम कारण नहीं माने जाते। दर्शन भी मुक्ति के हेतु नहीं माने जा सकते। उसी तरह सारे शास्त्र भी मुक्ति के कारण नहीं हो सकते। वास्तव में तत्त्वज्ञान ही मुक्ति का हेतु माना जाता है ॥१०६॥

मुक्तिदा गुरुवागेका विद्याः सर्वा विडम्बकाः ।
काष्ठभारश्रमादस्मादेकं सञ्जीवनं परम् ॥१०७॥

मुक्ति देने में पूर्णतया समर्थ गुरुदेव के मुखारविन्द-मकरन्द-सुधा से समन्वित एक वाक्य ही, एक बीजाक्षर ही पर्याप्त है। इसके अतिरिक्त सारी विद्यायें आडम्बर और विडम्बना मात्र मानी जा सकती हैं। यह सोचने की बात है कि, एक तरफ काष्ठभार सम्भृत लकड़ियों का गट्ठर हो और दूसरी ओर संजीवनी जड़ी की एक छोटी सी जड़। इन दोनों में यह निश्चय है कि, सभी संजीवन औषध को ही महत्त्व प्रदान करते हैं ॥१०७॥

अद्वैतन्तु शिवेनोक्तं क्रियायासविवर्जितम् ।
गुरुवक्त्रेण लभ्येत नान्यथागमकोटिभिः ॥१०८॥

जिस अद्वैत तत्त्व का दर्शन भगवान् शंकर द्वारा व्यक्त किया गया है, इसमें क्रिया-विषयक किसी आयास की आवश्यकता नहीं। यह तत्त्वज्ञान यदि कहीं से मिल सकता है, तो वह केवल गुरुदेव के मुखारविन्द से ही उपलब्ध हो सकता है। करोड़ों आगमिक ग्रन्थों के स्वाध्याय से मुक्ति मिलना असम्भव ही है ॥१०८॥

आगमोत्थं विवेकोत्थं द्विधा ज्ञानं प्रचक्षते ।
शब्दब्रह्मागममयं परं ब्रह्म विवेकजम् ॥१०९॥

ज्ञान दो प्रकार के कहे जाते हैं—१. आगमोत्थ ज्ञान और २. विवेकोत्थ ज्ञान। शब्दब्रह्म का विज्ञान आगमोत्थ ज्ञान श्रेणी में आता है। पर यह निश्चय है कि, परमब्रह्म का ज्ञान विवेक से ही सम्भव है। इसी को विवेकोत्थ ज्ञान कहते हैं ॥१०९॥

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे ।
मम तत्त्वं न जानन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम् ॥११०॥

यह अलग बात है कि, अपने संस्कारों के अनुसार कुछ लोग अद्वैत को ही पसन्द करते हैं। इसी तरह स्वभाववश कुछ लोग द्वैत को प्रधान रूप से स्वीकार करते हैं। इन दोनों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि, शैवतत्त्वदर्शन के विषय में वे कुछ नहीं जानते। भगवान् कहते हैं कि, हमारा तत्त्व तो द्वैत और अद्वैत दोनों दृष्टियों से एकदम अलग है। इसे द्वैताद्वैतविवर्जित माना जाता है ॥११०॥

द्वे पदे बन्धमोक्षाय ममेति निर्ममेति च ।
ममेति बाध्यते जन्तुर्न ममेति विमुच्यते ॥१११॥

बन्ध और मोक्ष दो पद हैं। इन दोनों के लिये दो विशिष्ट शब्दों का प्रयोग किया जा सकता है। जहाँ 'मम' पद का प्राधान्य है वहाँ बन्ध है। इसी तरह जहाँ 'न मम' शब्द का आचार प्राधान्य है, वहीं मोक्ष है। मम के प्रभाव से जीव बन्धन प्राप्त करता है और 'न मम' के अनुसार आचरण से मुक्ति की ओर अग्रसर हो जाता है ॥१११॥

तत् कर्म यन्न बन्धाय विद्या सा या विमुक्तये ।
आयासायापरं कर्म विद्यान्या शिल्पनैपुणम् ॥११२॥

वस्तुतः कर्म वही है, जो बन्ध का कारण न बने। विद्या वही है, जिससे विमुक्ति का मार्ग प्रशस्त हो जाय। अन्य प्रकार के दूसरे सारे कर्म तो केवल मनुष्य को आयास ही देते हैं। इसी तरह दूसरी विद्याओं को शिल्प सम्बन्धी नैपुण्य ही माना जा सकता है ॥११२॥

यावत् कामादि दीप्येत यावत् संसारवासना।
यावदिन्द्रियचापल्यं तावत्तत्त्वकथा कुतः ॥११३॥

यह याद रखने की बात है कि, जब तक काम-क्रोध आदि वासनात्मक उत्तेजना मनुष्य को प्रभावित करती हैं, इसी तरह जब तक मनुष्य में सांसारिक वासनायें जागृत हैं और जब तक इन्द्रियों की चंचलता से व्यक्ति बेचैन होता रहता है, तब तक तत्त्वविषयक चर्चा के लिये अवकाश ही कहाँ ? अर्थात् तब तक मनुष्य तात्त्विकता की दृष्टि नहीं अपना सकता ॥११३॥

यावत् प्रयत्नवेगोऽस्ति यावत् सङ्कल्पकल्पना।
यावन्न मनसः स्थैर्य्यं तावत्तत्त्वकथा कुतः ॥११४॥

जब तक मनुष्य में प्रयत्न करने का संवेग है, जब तक वह विभिन्न प्रकार की कल्पनाओं के प्रकल्पन में अर्थात् संकल्प-विकल्पों के व्यामोह से मुग्ध है और जब तक मन में स्थिरता नहीं आ जाती, तब तक तत्त्वविषयक चर्चा भी व्यर्थ ही है ॥११४॥

यावद्देहाभिमानश्च ममता यावदस्ति हि।
यावन्न गुरुकारुण्यं तावत्तत्त्वकथा कुतः ॥११५॥

जब तक देहाभिमान का भाव मन में है, जब तक विश्वविषयक ममत्व मन में शेष है और जब तक शिष्य की दशा देखकर गुरु का हृदय करुणा से द्रवित नहीं हो जाता अथवा पुरुष का मन ही गम्भीर शिववियोगात्मक कारुण्य से विगलित नहीं होता, तब तक तत्त्वचर्चा नहीं की जा सकती ॥११५॥

तावत्तपो व्रतं तीर्थं जपहोमार्च्चनादिकम्।
वेदशास्त्रागमकथा यावत्तत्त्वं न विन्दते ॥११६॥

व्रत, तीर्थटन, जप, होम और देवार्चन आदि और वेदों, शास्त्रों तथा आगमिक स्वाध्याय का क्रम तभी तक मनुष्य करता है, जब तक उसमें तत्त्वोदय नहीं हो पाता। तत्त्वज्ञान के प्रकाश के उपलब्ध हो जाने पर ये सारे अध्यवसाय निरर्थक हो जाते हैं ॥११६॥

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन सर्वावस्थासु सर्वदा।
तत्त्वनिष्ठो भवेद्देवि यदीच्छेन्मोक्षमात्मनः ॥११७॥

इसलिये सारे प्रयास उपाय और अध्यवसाय के द्वारा सभी अवस्थाओं में हमारा यही लक्ष्य होना चाहिये कि, हम तत्त्वनिष्ठ हो सकें। भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! यदि व्यक्ति मुमुक्षु है और अपना मोक्ष चाहता है, तो उसे तत्त्वनिष्ठ रहना ही पड़ेगा ॥११७॥

धर्मज्ञानसुपुष्पस्य स्वर्गलोकफलस्य च।
तापत्रयार्त्तिसन्तप्तश्छायां मोक्षतरोः श्रयेत् ॥११८॥

आधिदैहिक, आधिभौतिक, आधिदैविक—तीन प्रकार की तपिश से तप्त अतएव सन्तप्त प्राणी को मोक्षरूपी वृक्ष की छाया का ही आश्रय ग्रहण करना चाहिये। इस मोक्ष-रूपी वृक्ष की शाखाओं में ही धर्म और ज्ञान के फूल खिलते हैं। इसी में स्वर्गलोक का मीठा फल भी लगता है ॥११८॥

बहुनात्र किमुक्तेन रहस्यं शृणु पार्वति!
कुलधर्ममृते मुक्तिर्नास्ति सत्यं न संशयः ॥११९॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति! इस सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, वही पर्याप्त है। इससे अधिक क्या कहा जाय? अन्त में मैं एक ही रहस्य तुम्हारे सामने उद्घाटित कर रहा हूँ, इसे तुम ध्यान से सुनो। वह रहस्य यही है कि, कुलधर्म के आचरण के विना मुक्ति असम्भव है। यह ध्रुव सत्य है। इसमें संशय का लेश भी नहीं है ॥११९॥

तस्माद्वदामि तत्त्वन्ते विज्ञाय श्रीगुरोर्मुखात्।
सुखेन मुच्यते देवि घोरसंसारबन्धनात् ॥१२०॥

इसी तरह देवि! मैं तुमसे यह तत्त्व स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि, श्री गुरुदेव के मुखारविन्द से विनिःसृत मन्त्रवाक्यरूप मकरन्द-माधुरी का पान कर कोई व्यक्ति सुखपूर्वक अर्थात् अनायास ही मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इस संसार का बन्धन बड़ा ही घोर अर्थात् कर्कश रूप से कष्टदायक है। इससे मुक्ति का एकमात्र उपाय गुरुमन्त्र ही है ॥१२०॥

इति ते कथिता काचिज्जीवजातिस्थितिः प्रिये।
समासेन कुलेशानि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥१२१॥

भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति! जीवजगत् और जीवभाव में जन्म ग्रहण करने के सम्बन्ध में जीवजाति के विषय में तुमसे मेरे द्वारा इतनी कुछ बातें की गयी हैं। कुल रूप इस विश्वप्रसार की तुम स्वामिनी हो। हे कुल की स्वामिनी कुलेश्वरी देवी पार्वति! इसी बात को विस्तारपूर्वक भी कहा जा सकता है; किन्तु मैंने तुमसे इसे संक्षेप में ही कहा है। मुझे लग रहा है, तुम अन्य भी कई जिज्ञासाओं के साथ यहाँ उपस्थित हुई हो। बताओ इसके अतिरिक्त तुम किन विषयों में रुचि रखती हो?॥१२१॥

सर्वागमोत्तमोत्तम महारहस्यमय ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकुलार्णवतन्त्रान्तर्गत डॉ. परमहंस-मिश्रविरचित नीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्यसमन्वित 'जीवस्थिति-कथन' नामक प्रथम उल्लास परिपूर्ण ॥१॥

॥ शुभं भूयात् ॥

द्वितीय उल्लासः

श्रीदेव्युवाच

कुलेश श्रोतुमिच्छामि सर्वजीवदयानिधे ।
कुलधर्मस्त्वया देव सूचितो न प्रकाशितः ॥१॥

कुलेश्वरी सर्वशक्तिमती देवी ने कहा—समस्त प्राणिमात्र पर करुणा की वर्षा करने वाले परम कृपालु देव कुलेश्वर ! मैं आपसे कुलधर्म ही सुनना चाहती हूँ । आपने पहले इसे सूचित किया है । उतने मात्र से इसका प्रकाशित होना अर्थात् बोध का विषय बनना सम्भव नहीं है । देवेश्वर ! मेरे बोधरूपी प्रकाश में वह कुलधर्म प्रकाशित हो जाय, यही कृपा करें ॥१॥

तस्य धर्मस्य माहात्म्यं सर्वधर्मोत्तमस्य च ।
ऊद्ध्वाम्नायस्य माहात्म्यं तन्मतं वद मे प्रभो ।
वद मे परमेशान यदि तेऽस्ति कृपा मयि ॥२॥

कुलधर्म का माहात्म्य क्या है? सभी धर्मों में इसे उत्तम धर्म किस आधार पर घोषित किया जा सकता है? यह भी प्रसिद्ध है कि, यह ऊर्ध्व आम्नाय है । इसे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानने के लिये इसका माहात्म्य ज्ञान आवश्यक है । हे प्रभो ! ऐसे सर्वातिशायी महत्त्वपूर्ण मत के विषय का ही वर्णन करने की कृपा करें । आपकी मेरे ऊपर अतिशय कृपा है । यह सर्वविदित है । यदि ऐसा है, तो परमेश्वर ! मुझे कुलधर्मविषयक ज्ञान प्रदान करें ॥२॥

श्रीईश्वर उवाच

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
तस्य श्रवणमात्रेण योगिनीनां प्रियो भवेत् ॥३॥

पार्वती की इस विनम्र वाणी को सुनकर दयार्द्र परमेश्वर ने कहना प्रारम्भ किया—देवि पार्वति ! मैं तुम्हारे रहस्य प्रश्न को सुनकर अतीव प्रसन्न हूँ । अवश्य ही तुम्हारी जिज्ञासा की शान्ति मैं करूँगा । मैं कुलधर्म का विश्लेषण करूँगा । यह इतना पावन विषय है, जिसके श्रवण मात्र से ही कोई पुरुष योगिनी शक्तियों का प्रिय हो जाता है ॥३॥

ब्रह्मविष्णुगुहादीनां न मया कथितं पुरा ।
कथयामि तव स्नेहात् शृणुष्वैकाग्रमानसा ॥४॥

आज तक मैंने इसे न तो ब्रह्मा को, न ही विष्णु को और न ही गुह सदृश अपने पुत्र को ही इसे बताया है । इन लोगों के अतिरिक्त किसी प्रियपात्र को भी मैंने इसे नहीं बताया है । मैं तुम्हारे स्वाभाविक स्नेह से प्रभावित हूँ । एकाग्रभाव से इसे सुनकर तुम ग्रहण कर लेने के लिये तत्पर हो जाओ ॥४॥

पारम्पर्य्यक्रमायातं पञ्चवक्त्रेषु संस्थितम्।
अकथ्यं परमार्थेन तथापि कथयामि ते ॥५॥

यह यद्यपि पारम्पर्यक्रम से ही मुझे प्राप्त है। फिर भी मैंने इस परमार्थतः अकथ्य मर्म को पाँच मुखों में ही सुरक्षित रख छोड़ा है। यह वहीं अवस्थित है। फिर भी तुम्हारे स्नेह के महत्त्व को देखते हुए आज उस रहस्यविज्ञान का उद्घाटन तुम्हारे समक्ष अवश्य करूँगा ॥५॥

त्वयापि गोपितव्यं हि न देयं यस्य कस्यचित्।
देयं भक्ताय शिष्याय अन्यथा पतनं भवेत् ॥६॥

इस बात के लिये तुम्हें भी मैं सावधान कर देना चाहता हूँ, कि यह विज्ञान तुम्हारे द्वारा भी गोपितव्य ही रहना चाहिये। जिस किसी को यह ज्ञान प्रदान करने से इसके दुरुपयोग की सम्भावना है। इसलिये अनधिकारी व्यक्ति को इसे नहीं बताना। शिवभक्तियोग के पथ पर अग्रसर शिष्य को यह अवश्य ही प्रदान किया जा सकता है। इसके विपरीत आचरण से पतन होता है ॥६॥

सर्वेभ्यश्चोत्तमा वेदा वेदेभ्यो वैष्णवं परम्।
वैष्णवादुत्तमं शैवं शैवाद्दक्षिणमुत्तमम् ॥७॥
दक्षिणादुत्तमं वामं वामात् सिद्धान्तमुत्तमम्।
सिद्धान्तादुत्तमं कौलं कौलात्परतरं न हि ॥८॥

मैं तुम्हें यह बताना चाहता हूँ कि, यह सबसे महत्त्वपूर्ण क्यों माना जाता है। इसे इस तरह समझो। सभी यह कहते हैं कि, सभी शास्त्रों और विद्याओं में वेद श्रेष्ठ हैं। वेदों से भी वैष्णवमत को उत्तम मानते हैं। वैष्णवमत से श्रेष्ठ शैवमत माना जाता है। शैवमत में दक्षशैव उत्तम माने जाते हैं। दक्षमत से भी उत्तम वाममत होता है। वाम से सिद्धान्तशैवमत भी उत्तम है, यह जनसामान्य कहता है। सिद्धान्तशैवमत से उत्तम कौलधर्म मान्य है। यह मन में बिठा लो कि, वास्तव में कौलमत से उत्तम कोई मत न आज तक कोई है और न भविष्य में इसकी सम्भावना है ॥७-८॥

गुह्याद् गुह्यतरं देवि सारात् सारं परात् परम्।
साक्षात् शिवपदं देवि कर्णाकर्णिगतं कुलम् ॥९॥

हे देवि! जितने भी गुह्यशास्त्र हैं, उनमें सबसे गोपनीय यही मत माना जाता है। यह रहस्यशास्त्रों का भी सार है। यह परात्पर शास्त्र है। यह साक्षात् शिवप्रद है, अर्थात् इसी के ज्ञान से शिव का साक्षात्कार किया जा सकता है। इसके आयातिक्रम के विषय में तुम्हें यह जानना चाहिये कि, इसकी परम्परा शास्त्रीय प्रचारात्मक नहीं है, अपितु यह कर्णाकर्णिगत मत है। गुरु के द्वारा दीक्ष्य को दिये गये उपदेश के माध्यम से ही यह यहाँ तक आ सका है। इसलिये 'कुल' दर्शन का महत्त्व और भी बढ़ जाता है ॥९॥

मथित्वा ज्ञानदण्डेन वेदागममहार्णवम् ।
सारज्ञेन मया देवि कुलधर्मः समुद्धृतः ॥१०॥

वेदों में आगम भाग को आज लोग भूल गये हैं। वेदव्यास ने वेदों को आकार देते समय ऋग्, साम और यजुष् दृष्टि ही अपनायी। यह आगमिक वेदरूपता के साथ अन्याय हुआ। श्रुति तो स्वभावतः आगम होती है। इस रहस्य पर आज लोग ध्यान नहीं देते। उन्हीं वेदागमरूप पारम्परिक ज्ञान समुद्र का मन्थन मनीषियों ने ज्ञानदण्ड द्वारा किया था। उसमें मैं भी था। चूँकि मैं सम्पूर्ण साररहस्य का ज्ञाता था, मैंने मन्थन-समुद्भूत रत्नों में से 'कुलधर्म'रूप ज्ञानरत्न का उद्धार किया ॥१०॥

एकतः सकला धर्मा यज्ञतीर्थव्रतादयः ।
एकतः कुलधर्मश्च तत्र कौलोऽधिकः प्रिये ॥११॥

एक ओर तराजू के पलड़े पर सारे धर्म, सारे यज्ञ, तीर्थ और व्रतों को रख दिया जाय, दूसरी ओर दूसरे पलड़े पर कुलधर्म ही केवल रखा जाय, तो यह निश्चय है कि, सन्तुलन का दण्ड कुलधर्म की ओर ही झुका रह जायेगा और यह सिद्ध कर देगा कि, कुलधर्म ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और गम्भीर धर्म है ॥११॥

प्रविशन्ति यथा नद्यः समुद्रम् ऋजुवक्रगाः ।
तथैव समयाः सर्वे प्रविष्टाः कुलमेव हि ॥१२॥

मैदानी भागों में ढलान के अनुसार कभी सरल और कभी वक्र गति से बहने वाली नदियाँ अन्त में समुद्र में संगम कर उसी में समा जाती हैं, उसी तरह लोक में प्रचलित और प्रचारित सभी धर्म अन्त में कुलधर्मरूप समुद्र में ही समाहित हो जाते हैं ॥१२॥

यथा हस्तिपदे लीनं सर्वप्राणिपदं भवेत् ।
दर्शनानि च सर्वाणि कुल एव तथा प्रिये ॥१३॥

हाथी के पैरों में सारे प्राणियों के पैर समा जाते हैं। 'सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्नाः' यह एक कहावत भी है। भगवान् कहते हैं कि, देवि कुलेश्वरि, उसी तरह सारे दर्शन भी कुलदर्शन में ही समाहित हो जाते हैं ॥१३॥

यदा जाम्बूनदानाञ्च सदृशं लौहमस्ति चेत् ।
तदा च कुलधर्मेण समयोऽन्यः समो भवेत् ॥१४॥

यह कल्पनातीत घटित घटना ही कही जायेगी कि, लौह धातु जैसी कर्कश और श्यामवर्णी वस्तु जाम्बुनद अर्थात् स्वर्णराशि के सदृश आकर्षक और अपेक्षाकृत मसृण हो जाय। यद्यपि यह नितान्त असत्प्रकल्पन और असम्भव है। भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, यह परिवर्तन जब होगा, तो उसी समय यह भी कहा जा सकता है कि, कुलधर्म के समान अन्य कोई धर्म हो सकता है। यह ध्यान देने की बात है कि, ऐसा हो ही नहीं सकता। इसी तरह कुलधर्म के समान कोई धर्म हो ही नहीं सकता ॥१४॥

यथामरतरङ्गिण्या न समाः सकलापगाः ।
तथैव समयाः सर्वे कुलधर्म्मेण नो समाः ॥१५॥

गंगा अमरतरंगिणी है । इसकी समता संसार की कोई सरिता नहीं कर सकती । उसी तरह जितने समयाचाररूप धर्म हैं, वे कभी भी कुलधर्म के समान नहीं हो सकते ॥१५॥

मेरुसर्षपयोर्यद्वत् सूर्य्यखद्योतयोर्यथा ।
तथान्यसमयस्यापि कुलस्य महदन्तरम् ॥१६॥

एक तरफ मेरु का विराट् रूप और आकार, दूसरी ओर एक सर्षप बीज! इन दोनों में क्या साम्य! इसी तरह एक ओर अपनी भासमान प्रभा से विश्व को विभासित करने वाले भास्कर सूर्य और दूसरी ओर अणुता का प्रतीक खद्योत । इनमें कल्पनातीत अन्तर स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है । इसी तरह अन्य समयों और कुल में भी महान् अन्तर है ॥१६॥

अस्ति चेत्त्वत्समा नारी मत्समः पुरुषोऽस्ति चेत् ।
कुलेन समधर्मस्तु तथापि न कदाचन ॥१७॥

यह सम्भव है कि, तुम्हारे समान कोई नारी महत्त्व प्राप्त कर विश्ववन्दनीय हो जाय, यह भी सम्भव है कि, कोई पुरुष मेरी समता प्राप्त कर ले; किन्तु यह कभी नहीं हो सकता कि, कोई धर्म कुलधर्म की समता प्राप्त कर सके ॥१७॥

कुलधर्मं हि नो वेत्ति योऽन्यधर्मेण दुर्मतिः ।
बद्धः संसारपाशेन सोऽन्त्यजानां प्रियो भवेत् ॥१८॥

जो भी कुलधर्म को किसी प्रकार के मोह और ममत्त्व के आधार पर किसी अन्य धर्म की तुलना में रखकर समतोलन का प्रयास करता है, वह सचमुच संसार-पाशबद्ध पशु ही है । वह मानवता से बहिष्कृत व्यक्ति के लिये ही अच्छा हो सकता है ॥१८॥

यो वा कुलाधिकं धर्ममज्ञानाद्वदति प्रिये ।
ब्रह्महत्यासमं पापं स प्राप्नोति न संशयः ॥१९॥

भगवान् कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति ! सम्भव है, अज्ञानता के कारण ही कुलधर्म के समान किसी अन्य धर्म को कोई समान मानने की बात करता हो, उसे ब्रह्महत्या के समान ही पाप का भागी माना जाना चाहिये । इसमें संशय की आवश्यकता नहीं ॥१९॥

कुलधर्मप्रवहणं समारुह्य नरोत्तमः ।
सर्गाद् द्वीपान्तविभवं मोक्षरत्नं समश्नुते ।।२०।।

कुलधर्म के महान् पोत पर सवार होकर कोई भी साधकशिरोमणि स्वर्ग आदि द्वीप-द्वीपान्तरस्थ लोकों में जाकर भी अन्त में मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है । इसमें सन्देह नहीं ॥२०॥

दर्शनेषु च सर्वेषु चिराभ्यासेन मानवाः ।
मोक्षं लभन्ते कौले तु सद्य एव न संशयः ॥२१॥

जितने भी दर्शन हैं, उनके दार्शनिक सिद्धान्तों के स्वाध्याय के लिये अनन्त आयास और अभ्यास की आवश्यकता होती है। इतने कष्टसाध्य स्वाध्याय के बाद ही मनुष्य उससे मोक्ष की प्राप्ति कर सकते हैं; किन्तु कुलदर्शन के स्वाध्याय से तत्काल मुक्ति उपलब्ध होती है, इसमें कोई संशय नहीं ॥२१॥

बहुनात्र किमुक्तेन शृणु मत्प्राणवल्लभे।
न कौलसमधर्मोऽस्ति त्वां शपे कुलनायिके ॥२२॥

मैं इस सम्बन्ध में बहुत क्या कहूँ, मेरी प्राणप्रिये पार्वति ! यह मैं तुमसे स्पष्ट रूप से उद्घोषित करता हूँ कि, कौलधर्म के समान कोई धर्म विश्व में नहीं। कुलोन्नयन में सर्वसमर्थ प्रिये ! यह मैं तुम्हें तुम्हारी ही शपथ लेकर बोल रहा हूँ ॥२२॥

योगी चेन्नैव भोगी स्याद् भोगी चेन्नैव योगवित्।
भोगयोगात्मकं कौलं तस्मात् सर्वाधिकं प्रिये ॥२३॥

योग की साधना में प्रवृत्त मुमुक्षु साधक भोगी नहीं हो सकता। इसी तरह भोग में प्रवृत्त व्यक्ति योगी नहीं हो सकता। प्रिये ! इस कुलधर्म की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि यह कौलधर्म भोगयोगात्मक धर्मदर्शन है। यह विशेषता किसी धर्म में नहीं ॥२३॥

भोगो योगायते साक्षात् पातकं सुकृतायते।
मोक्षायते च संसारः कुलधर्मे कुलेश्वरि ॥२४॥

इस धर्म में परिनिष्ठित व्यक्ति के लिये भोग ही योग बन जाता है। जिसे हम पातक कहकर उपेक्षित कर देते हैं, वही अमृतवत् विश्व को आप्यायित की तरह तृप्त करने लग जाता है। संसार, जिसे सभी मिथ्या और नश्वर कहते हैं, वह मोक्षवत् विश्वतारक बन जाता है। हे कुलेश्वरी पार्वति ! यह कुलधर्म का सर्वातिशायी वैशिष्ट्य है ॥२४॥

ब्रह्मेन्द्राच्युतरुद्रादिदेवता मुनिपुङ्गवाः।
कुलधर्मपरा देवि मानुषेषु च का कथा ॥२५॥

ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु और रुद्र आदि देव और मुनिवृन्द में भी श्रेष्ठ मुनीश्वर सभी कुलधर्म में ही परायण थे, इतिहास इसका साक्षी है। मनुष्यों में इसके आचरण करने वालों की क्या बात ? ॥२५॥

विहाय सर्वधर्मांश्च नानागुरुमतानि च।
कुलमेव विजानीयाद् यदीच्छेत् सिद्धिमात्मनः ॥२६॥

यदि कोई बुद्धिमान् पुरुष तत्काल सिद्धि का अभिलाषी हो, तो उसे समस्त प्रचलित धर्मों और अनेक गुरुओं द्वारा प्रवर्त्तित मत-मतान्तरों का परित्याग कर कुलधर्म विज्ञान की उपलब्धि के लिये ही प्रयत्नशील हो जाना चाहिये ॥२६॥

पूर्वजन्मकृताभ्यासात् कुलज्ञानं प्रकाशते।
स्वप्नोत्थितप्रत्ययवदुपदेशादिकं विना ॥२७॥

यह ध्रुवरूप से सत्य तथ्य है कि, कुलज्ञान का बोधात्मक प्रकाश पूर्वजन्मों में किये हुए अभ्यास से जन्य प्रारब्ध से प्राप्त होता है। जैसे स्वप्न में दृष्ट सभी दृश्यचित्रों में प्रत्यय होता ही है। वहाँ किसी के उपदेश की आवश्यकता नहीं होती कि, तुम स्वप्न में इन्हीं दृश्यों को देखो। स्वप्न में उभरते दृश्यों के लिये उपदेश व्यर्थ ही होते हैं। उसी तरह पूर्वप्रारब्ध के अनुसार बोध स्वयमेव प्रकाश की तरह उपलब्ध हो जाता है। इसमें भी उपदेश अनावश्यक है ॥२७॥

जन्मान्तरसहस्रेषु या बुद्धिर्विहिता नृणाम्।
तामेव लभते जन्तुरुपदेशो निरर्थकः ॥२८॥

जन्म-जन्मान्तरों में मनुष्यों की बुद्धि में सांस्कारिक विकास स्वाभाविक रूप से प्रस्फुटित होता है। वही विकास इस जन्म में भी प्रस्फुटित और प्रकाशमान हो जाता है। इस स्वाभाविक विकासक्रम में उपदेशों की कोई सार्थकता नहीं रह जाती ॥२८॥

शैववैष्णवदौर्गार्कगाणपत्येन्दुसम्भवैः ।
मन्त्रैर्विशुद्धचित्तस्य कुलज्ञानं प्रकाशते ॥२९॥

शैव हो, वैष्णव हो, इसी प्रकार दौर्ग अर्थात् शाक्त, आर्क अर्थात् सौर (सूर्योपासक), गाणपत्य (गणेशोपासक) या चान्द्र (चन्द्रोपासक) ही क्यों न हो, इन परम्पराओं में मान्य मन्त्रों के जप और उनके निहित तत्त्व से जब चित्त विशुद्ध हो जाता है, उसी विशुद्धचित्त पुरुषश्रेष्ठ में कुलज्ञान प्रकाशित होता है ॥२९॥

सर्वधर्माश्च देवेशि पुनरावर्त्तकाः स्मृताः।
कुलधर्मस्थिता ये च ते सर्वेऽप्यनिवर्त्तकाः ॥३०॥

सभी प्रचलित धर्म पुनरावर्त्तक माने जाते हैं। इनसे प्रभावित आचारपरक पुरुष का संसृति-चक्र चलता रहता है। कुलधर्म ही एक ऐसा धर्म है, जिससे सम्बन्धित सभी समयाचार अनिवर्त्तक होते हैं, अर्थात् इनके पालन से आवागमन के बन्धन विनिवृत्त हो जाते हैं ॥३०॥

पुराकृततपोदानयज्ञतीर्थजपव्रतैः ।
क्षीणांहसां नृणां देवि कुलज्ञानं प्रकाशते ॥३१॥

पूर्वजन्मोपार्जित तपस्या, दान, यज्ञ, तीर्थ, जप और व्रताचरण आदि से जब मनुष्यों के पापकर्म क्षीण और विनष्ट हो जाते हैं, भगवान् कह रहे हैं कि, देवि पार्वति! तभी मनुष्यों के हृदय में कुलज्ञान प्रकाशमान होता है ॥३१॥

त्वमहं देवि कल्याणि यस्य तुष्टावुभावपि।
देवतागुरुभक्त्या च कुलज्ञानं प्रकाशते ॥३२॥

देवि कुलेश्वरि! तुम और मैं दोनों ही जिस साधक पर प्रसन्न हो जाते हैं, उसके हृदय में कुलज्ञान प्रकाशित होता है। इसी तरह हे कल्याकारिणी शिवे! देवों, गुरुजनों

और हम दोनों में भी जिनकी भक्ति है, उनके हृदय में भी कुलधर्म दर्शन का प्रकाश अवश्यम्भावी है ॥३२॥

शुद्धचित्तस्य शान्तस्य कर्मिणो गुरुसेविनः ।
अतिभक्तस्य गुह्यस्य कुलज्ञानं प्रकाशते ॥३३॥

जिसका चित्त अत्यन्त शुद्ध हो गया हो, शान्त हो, अपने आचरितव्य कर्म में संलग्न और गुरुभक्ति से समन्वित अत्यन्त भक्तिपरायण हो और गुह्यज्ञान में प्रवृत्त रहता हो, उसके हृदय में कुलज्ञान प्रकाशित होता है ॥३३॥

श्रीगुरौ कुलशास्त्रेषु कौलिकेषु कुलाश्रये ।
यस्य भक्तिर्दृढा तस्य कुलज्ञानं प्रकाशते ॥३४॥

श्रीमत्सद्गुरुदेव, कुलधर्म और दर्शन सम्बन्धी सभी शास्त्रों, कुलपथ के पथिक और अनुयायियों कौलिकों में और कुलाचार-परम्परा के परिचालन के आश्रय स्थानों, व्यक्तियों और पदार्थों में जिस साधक की अनपायिनी निश्चला भक्तिमयी बुद्धि रहती है, उसमें कुलज्ञान का प्रकाश प्रादुर्भूत होता है ॥३४॥

श्रद्धाविनयहर्षाद्यैः सदाचारदृढव्रतैः ।
गुर्वाज्ञापालकैर्धर्मैः कुलज्ञानमवाप्यते ॥३५॥

श्रद्धा से, विनय से, तज्जन्य तृप्ति से उत्पन्न हर्ष अर्थात् प्रसन्न भावना से, सदाचारपालन और अपने व्रत का दृढ़तापूर्वक पालन करने से, गुरु द्वारा निर्दिष्ट विशेष आदेशों के पालनरूप शिष्य धर्म के निर्वाह से कुलदर्शन विज्ञान की उपलब्धि अवश्य हो जाती है ॥३५॥

अनर्हे कुलविज्ञानं न तिष्ठति कदाचन ।
तस्मात् परीक्ष्य वक्तव्यं कुलज्ञानं मयोदितम् ॥३६॥

अर्हता से, योग्यता से रहित व्यक्ति को अनर्ह कहते हैं। ऐसे व्यक्ति में कुल सम्बन्धी विज्ञान कभी पुष्पित, पल्लवित नहीं हो पाता। ठहरने की तो कोई बात ही नहीं। इसलिये मेरे द्वारा कथित-प्रतिपादित विज्ञान किसी को उसी समय दिया जाना चाहिये, जब वह पूरी तरह परीक्षित होकर कसौटी पर खरा उतर जाय ॥३६॥

न ब्रूयात् कुलधर्मं तमयोग्ये कुलशासनम् ।
आज्ञाभङ्गञ्च यः कुर्याद्देवताशापमाप्नुयात् ॥३७॥

अयोग्य व्यक्ति विशेषरूप से परीक्षा में भी अनुत्तीर्ण होने के कारण उस अनधिकृत को कुलशासननिर्दिष्ट सिद्धान्त और कौलाचार विज्ञान का उपदेश नहीं देना चाहिये । यह केवल शास्त्रीय नियम ही नहीं, यह मेरी आज्ञा है। यह निश्चय है कि, आज्ञाभंग देवापराध की श्रेणी में आता है। इससे देवता का अभिशाप मिलता है ॥३७॥

आराध्य समयाचारं कुलज्ञानं वदेद् यदि।
स गुरुश्चापि शिष्यश्च योगिनीनां भवेत् पशुः ॥३८॥

कुलदर्शन और कुलधर्म स्वयं आराध्य की आराधना के उद्देश्य से ही प्रवर्त्तित हैं। इसमें वर्णित समयाचार[1] अधिकारसम्पन्न व्यक्तियों के लिये ही आचरणीय है। इससे ही कुलज्ञान उपबृंहित होता है। ऐसा महत्त्वपूर्ण ज्ञान अनधिकारी और अनर्ह व्यक्तियों को देना भी देवापराध है। इससे गुरु और शिष्य दोनों योगिनियों के कोपभाजन होते हैं। परिणामतः दोनों उनके पाशबद्ध पशु हो जाते हैं। इनकी कभी भी बलि चढ़ायी जा सकती है ॥३८॥

बोधयित्वा गुरुः शिष्यं कुलज्ञानं प्रकाशयेत्।
लभेते तावुभौ साक्षाद् योगिनीवीरमेलनम् ॥३९॥

गुरु का भी यह कर्त्तव्य है कि, पहले शिष्य को इस विषय के योग्य बनाये। योग्य होने पर उसके समक्ष कुछ ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करे, जिससे उसमें बोध का पहले उन्मेष हो। बोध के अंकुरित होने पर ही उसमें कुलज्ञानरूपी खाद-पानी दे और सुरक्षा की व्यवस्था करे। इसके बाद ही पूर्णज्ञान का प्रकाश करे। ऐसा करने पर दोनों गुरु और शिष्य योगिनियों और जीवन्मुक्त कौलिक 'वीरों' के आशीर्वाद के अधिकारी होते हैं और सम्पर्क प्राप्त करते हैं ॥३९॥

अनायासेन संसारसागरं यस्तितीर्षति।
कुलधर्ममिमं ज्ञात्वा मुच्यते नात्र संशयः ॥४०॥

विश्वतितीर्षु इस कुलधर्म विज्ञान का वेत्ता साधक पुरुष अनायास ही संसार सागर को पार कर लेता है। परिणामतः वह जीवन्मुक्त हो जाता है। उसकी मुक्ति ध्रुव होती है। इसमें सन्देह नहीं। यह कुलधर्म विज्ञान का सर्वातिशायी महत्त्व है ॥४०॥

कुलधर्ममहामार्गगन्ता मुक्तिपुरीं व्रजेत्।
अचिरान्नात्र सन्देहस्तस्मात् कौलं समाश्रयेत् ॥४१॥

कुलधर्म को महामार्ग भी कहते हैं। इस पथ का पथिक निश्चितरूप से मुक्तिधाम में यात्रा का अधिकारी होता है, अर्थात् मुक्त हो जाता है। मुक्त होने में उसे देर नहीं होती। इसमें किसी प्रकार के सन्देह के लिये स्थान नहीं होता। इसलिये विश्वसमुद्र को पार कर मुक्ति क़ो चाहने वाला मुमुक्षु साधक कौलमत का आश्रय ग्रहण करे। उसके लिये यही मार्ग सर्वथा श्रेयस्कर है ॥४१॥

कुलशास्त्रमनादृत्य पशुशास्त्राणि योऽभ्यसेत्।
स्वगृहे पायसं त्यक्त्वा भिक्षामटति पार्वति ॥४२॥

कुलशास्त्र की उपेक्षा से उसका अनादर होता है। उसका अनादर कर जो साधक

१. समयाचार समयमत, कौलमत और मिश्रमत के अनुसार त्रिधा प्रचलित था।

अधराम्नाय के अधर शास्त्रों के अभ्यास में लग जाता है, उसके लिये यही कहा जा सकता है कि, वह अपने घर के पय:पक्वान्न रूप क्षीर (खीर) का परित्याग कर भिक्षा की सूखी रोटी पर गुजर करने का अधम कार्य ही कर रहा है ॥४२॥

विहाय कुलधर्मं यः परधर्मपरो भवेत्।
करस्थं रत्नमुत्सृज्य दूरस्थं काचमीहते ॥४३॥

श्रीभगवान् कह रहे हैं कि, कुलधर्म को छोड़कर जो दूसरा धर्म अपनाता है, उसके लिये यही कहना उचित है कि, उसको हाथ में रखे रत्न की पहचान नहीं है। वह बाह्य चकाचौंध वाले काँच को ही महत्त्व देने वाला बुद्धिहीन मात्र है ॥४३॥

सन्त्यज्य कुलमन्त्राणि पशुमन्त्राणि यो जपेत्।
स धान्यराशिमुत्सृज्य पांसुराशिं जिघृक्षति ॥४४॥

ऊर्ध्वाम्नाय आविष्कृत मन्त्रों का परित्याग कर जो व्यक्ति अधराम्नाय-प्रवर्त्तित पाशबद्धताप्रदायक पशु मन्त्रों का जप करते हैं, वे लोग धान्यराशि का परित्याग कर भूसा को ग्रहण करने की इच्छा वाले बुद्धिहीन स्तर के ही माने जा सकते हैं ॥४४॥

कुलान्वयं समुत्सृज्य योऽन्यमन्वयमीक्षते।
तडागादिव तृष्णार्त्तो मृगतृष्णां प्रधावति ॥४५॥

कुलधर्म और इसके अन्वय अर्थात् सन्तति-क्रम से चली आ रही गुरु-शिष्य परम्परा का परित्याग कर जो अन्य सम्प्रदायनिष्ठ सन्ततिक्रम को स्वीकार करते हैं, वे ऐसे लोगों की श्रेणी में गिने जाने योग्य होते हैं, जो स्वयं तृषार्त्त हैं—प्यास से पीड़ित हैं। प्यास बुझाने के लिये सामने ही सुन्दर जल से भरा सरोवर है। उसमें अपनी प्यास नहीं बुझाते। वरन् प्यास बुझाने के लिये मृगतृष्णा अर्थात् रेगिस्तान की दुपहरी में तपिश की अधिकता से चाँदी की धार के समान हवा में बहने वाली ऊष्मा को ही अपनाते और दम तोड़ देते हैं ॥४५॥

यथेन्द्रजालजा मायाः क्षणमेव सुखावहाः।
श्रीकौलादन्यसमयास्तादृशाः कुलनायिके ॥४६॥

भगवान् शंकर कहते हैं कि, कुलाधीश्वरी पार्वति ! कौलमत के अतिरिक्त जितने भी समय या मत हैं, उनकी गणना उच्चश्रेणी के मतों में नहीं होती। ये उस ऐन्द्रजालिक मनोरंजन के समान होते हैं, जो थोड़ी देर के लिये तो आकर्षण के केन्द्र होते हैं; किन्तु तमाशा खत्म होते ही उनका आकर्षण भी समाप्त हो जाता है। फिर उनका कोई महत्त्व नहीं रह जाता ॥४६॥

कुलधर्ममजानन् यः संसारान्मोक्षमिच्छति।
पारावारमपारं स पाणिभ्यां तर्त्तुमिच्छति ॥४७॥

कुलधर्म को न जानने वाला जो पुरुष यह चाहता है कि, मुझे भी मुक्ति अवश्य

ही मिले, उसकी वही दशा होती है, जैसे एक सामान्य व्यक्ति है। उसके समक्ष अनन्त ऊर्मिल अपरम्पार पारावार लहरा रहा है; किन्तु वह अज्ञानतावश उसे हाथों के सहारे ही तैरकर पार जाने की इच्छा करता है। अर्थात् जैसे हाथों के सहारे तैरकर अपार सागर पार करना असम्भव है, उसी तरह कुलधर्म के विना मोक्ष भी असम्भव है ॥४७॥

यो वान्यदर्शनेभ्यश्च भुक्तिं मुक्तिञ्च काङ्क्षति।
स्वप्नलब्धधनेनैव धनवान् स भवेत्तदा ॥४८॥

सपने में धन की उपलब्धि का आनन्द मना लेना एक ऐसी प्रक्रिया है, जो जागने पर वास्तविकता की सच्चाई खोल देती है। यह दशा अन्य अधर दर्शनों की है। उनके अनुसरण से भी कुछ दिवास्वप्न देखने वाले भुक्ति और मुक्ति की कल्पना का आनन्द लेते हैं; किन्तु समय उनकी पोल खोल ही देता है ॥४८॥

शुक्तौ रजतविभ्रान्तिर्यथा जायेत पार्वति।
तथान्यसमयेभ्यश्च भुक्तिर्मुक्तिः प्रकाशते ॥४९॥

भगवान् कहते हैं कि, पार्वति ! विभ्रान्ति यदा-कदा हो ही जाती है। जैसे देखी गयी सीपी की चमक से चाँदी की भ्रान्ति सहजतया हो जाती है। यही भ्रान्ति अन्य दर्शनों में प्रवर्त्तित समयाचार से भुक्ति और मुक्ति की आकांक्षा करने वाले लोगों को भी होती है ॥४९॥

सर्वकर्मविहीनोऽपि वर्णाश्रमविवर्जितः।
कुलनिष्ठः कुलेशानि भुक्तिमुक्त्योः स भाजनम् ॥५०॥

भगवान् कहते हैं कि, कुलेश्वरि पार्वति ! मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि, व्यक्ति समस्त कर्मों से हीन हो, वह वर्ण और आश्रम की व्यवस्था से विवर्जित हो, तो भी कुछ अन्तर नहीं पड़ता। हाँ उसे कुलनिष्ठ होना चाहिये। कुलनिष्ठ पुरुष भुक्ति और मुक्ति का समानरूप से भाजन होता है ॥५०॥

कुलज्ञानविहीनोऽपि कुलभक्त्याश्रयो भवेत्।
सोऽपि सद्गतिमाप्नोति किमुतास्य परायणः ॥५१॥

यह सम्भव है कि, कुलनिष्ठ पुरुष कुलप्रतिपादित विज्ञान का वेत्ता न हो, केवल कुलमत में निर्दिष्ट भक्ति का ही आश्रय लेता हुआ जीवन-यापन कर रहा हो, तो वह भी सद्गति को प्राप्त करता है। वह व्यक्ति जो शास्त्रानुसार कुलधर्म में परायण होता है, उसकी तो कोई समस्या ही नहीं। वह तो भुक्ति-मुक्ति का अधिकारी होता ही है ॥५१॥

कुलधर्मो हतो हन्ति रक्षितो रक्षति प्रिये।
पूजितः पूजयत्याशु तस्मात्तं न परित्यजेत् ॥५२॥

कुलधर्म का विनाश करने वाले पुरुष का विनाश कुलधर्म कर देता है। यह भी सत्य है कि, जो इसकी रक्षा करता है, कुलधर्म उसकी रक्षा भी करता है। भगवान् कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति ! पूजित कुलधर्म उसे भी पूज्य बना देता है। इसलिये कुलधर्म का परित्याग कभी नहीं करना चाहिये ॥५२॥

निन्दन्तु बान्धवाः सर्वे त्यजन्तु स्त्रीसुतादयः।
जना हसन्तु मां दृष्ट्वा राजानो दण्डयन्तु वा ॥५३॥
सेवे सेवे पुनः सेवे त्वामेव परदेवते।
त्वद्धर्मं नैव मुञ्चामि मनोवाक्कायकर्मभिः ॥५४॥
एवमापद्गतस्यापि यस्य भक्तिः सुनिश्चला।
स तु सम्पूज्यते देवैरमुत्र स शिवो भवेत् ॥५५॥

परिस्थितियाँ ऐसी आ सकती हैं कि, सभी बन्धु-बान्धव कुलधर्मनिष्ठ पुरुष की निन्दा करने लगें, सम्भव है कि, कुलधर्मनिष्ठ का उसकी स्त्री, उसके पुत्र आदि भी परित्याग कर दें तथा इसी तरह दूसरे लोग हँसी उड़ाने लगें। यह भी सम्भव है कि, राजकोप भी हो जाय और राजा दण्ड का प्रयोग भी उसके ऊपर करके उसे कुलधर्म से विरत करने की चेष्टा करे।

इन स्थितियों में भी कुलधर्मनिष्ठ को इतनी दृढ़ता का प्रदर्शन करना चाहिये कि, वह डंके की चोट पर यह कहे कि, 'मैं कुलधर्मनिष्ठ हूँ'। मैं कुलधर्म का सेवन करता हूँ। हाँ मैं निश्चित ही उसका अनुयायी हूँ। मैं बारम्बार मना करने पर भी इससे विरत नहीं हूँ। हे कुलस्वामिनी कौलिकी देवि, तुम्हीं परदेवता हो। मैं तुम्हारे धर्म को कभी छोड़ने वाला नहीं हूँ। मन, वचन और कर्म से पूरी निष्ठापूर्वक मैं इसे सम्पन्न करता हूँ।

भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! उक्त सारी विषम परिस्थितियाँ उसके लिये आपदाओं की तरह पीड़ित करने के लिये पर्याप्त हैं। ऐसी दशा में भी जिस दृढ़ कुल-निष्ठ पुरुष की कुलधर्म के प्रति सुनिश्चला भक्ति होती है और वह इतने दबाव के बाद भी इसका परित्याग नहीं करता, वह देवों द्वारा भी पूज्य हो जाता है। परलोक में वह शिव होकर ही चिन्मयानन्दमय हो जाता है ॥५३-५५॥

रोगदारिद्र्यदुःखाद्यैः पीडितोऽप्यनिशं शिवे।
यस्त्वामुपास्ते भक्त्या स नरः सद्गतिमाप्नुयात् ॥५६॥

रोगों से, दारिद्र्य से और अन्य प्रकार के विभिन्न दुःखों से भी दुःखी और व्यथित रहते हुए भी प्रिये ! जो कुलनिष्ठ साधक तुम्हारी उपासना में सन्निहित रहता है, भक्ति से विरत नहीं होता, निश्चित रूप से उसे मोक्ष की प्राप्ति होती ही है, इसमें सन्देह नहीं ॥५६॥

जनाः स्तुवन्तु निन्दन्तु लक्ष्मीर्गच्छतु तिष्ठतु।
मृतिरद्य युगान्ते वा कुलं नैव परित्यजेत् ॥५७॥

समाज उसकी निन्दा करे, लक्ष्मी रहें या अपने स्वभाव के अनुसार चली जाँय, आज ही मृत्यु हो जाय या युगान्त में हो, अर्थात् कितनी ही विपरीत परिस्थितियों का सामना करना पड़े, कुलनिष्ठ पुरुष का यह कर्त्तव्य है कि, वह कुलधर्म का कभी भी परित्याग न करे ॥५७॥

नापि लोभान्न च क्रोधान्न द्वेषान्न च मत्सरात् ।
न कामान्न भयाद्वापि कुलधर्मं परित्यजेत् ॥५८॥

न तो किसी लोभ के वशीभूत होकर, न ही क्रोध से अभिभूत होने पर भी किसी कुलधर्मनिष्ठ से द्वेष हो जाने पर अथवा मात्सर्यवश ही काम की वासनात्मक तृप्ति होने के कारण और किसी के भय के कारण भी कुलधर्म का परित्याग नहीं करना चाहिये ॥५८॥

यो जन्तुर्नार्चयेत्त्वान्तु कुलधर्मसमाश्रितः ।
क्लिश्यते जातमात्रेण भूतारिणात्मशत्रुणा ॥५९॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, कुलाधीश्वरी प्रिये ! प्राणाधिके पार्वति ! कुलधर्म का ही आश्रय लेकर कुलधर्म में निष्ठा रखने वाला कोई कुलधर्मी जीव यदि तुम्हारी पूजा नहीं करता, उसकी बड़ी दुर्गति होती है । वह जन्म से ही भौतिकरूप से स्वात्मशत्रु बने विषयों से ही क्लेश प्राप्त करता है ॥५९॥

पुलाका इव धान्येषु पतङ्गा इव जन्तुषु ।
बुद्बुदा इव तोयेषु ये कौलविमुखा हि ते ॥६०॥

जो व्यक्ति कुलधर्म का आचरण न करते हुए इसके आभिमुख्य के स्थान पर इससे पराङ्मुख ही रहता है, उसकी दशा हेय हो जाती है । जैसे—१. धान्यराशि के समान पुआल का महत्त्व कम आँका जाता है । २. जीवों में कीट-पतंग का महत्त्व नहीं होता और ३. जल में उठने वाले बुद्बुदों का कोई मूल्य नहीं होता ॥६०॥

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः ।
स जीवति मनो यस्य कुलधर्मे व्यवस्थितम् ॥६१॥

जीवन सामान्यरूप से जी लेने की वस्तु नहीं । यों तो पेड़-पौधों और वृक्षों में भी जीवन है । वे जी रहे हैं । इसी तरह पशु-पक्षियों का जीवन भी उनमें उल्लसित दिखता ही है; किन्तु इस प्रकार का जीवन वस्तुतः महत्त्वपूर्ण नहीं माना जा सकता । जीवन तो उसी का महत्त्वपूर्ण है, जिसका मन सर्वतोभावेन कुलधर्म में व्यवस्थित हो गया है ॥६१॥

कुलधर्मविहीनस्य दिनान्यायान्ति यान्ति च ।
स लोहकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति ॥६२॥

कुलधर्म से विहीन व्यक्तियों की जिन्दगी के दिनों की गणना भी गौरवशाली कार्यशैली से सक्रिय महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के दिनों की तरह नहीं होती । उसके जीवन के दिन तो बस आते और जाते रहते ही हैं । वह व्यक्ति जो साँसें लेता है, उनकी तुलना लोहार की भाथी से की जा सकती है, जिसमें जीवन का कोई लक्षण नहीं होता । अर्थात् कुलधर्मविहीन जीते-जी मृत के समान ही होता है ॥६२॥

गच्छतस्तिष्ठतो वापि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा ।
कुलेश्वरि कुलाज्ञस्य तत् पशोरिव जीवितम् ॥६३॥

कुलाधीश्वरि पार्वति ! जो व्यक्ति कुलधर्म से परिचित नहीं है, अज्ञ है, उसका आना-जाना, बैठना-उठना, सोना और जागना सब व्यर्थ है। जैसे पशु का जीवन, जीवन के लक्षणों से सम्पन्न होकर भी जीवन के मूल्यों से रहित है, वही दशा कुलधर्म-विहीन और कुलाज्ञ व्यक्ति की मानी जाती है ॥६३॥

विद्वानपि च मूर्खोऽसौ धार्मिको वाप्यधार्मिकः ।
व्रतस्थोऽप्यव्रतस्थो वा यः कौलविमुखो जनः ॥६४॥

विद्वान् होते हुए भी वह मूर्ख ही है, धार्मिक होते हुए भी वह अधार्मिक है, व्रत-निष्ठ रहते हुए भी वह व्रत निष्ठाविहीन ही माना जाता है, जो कौलधर्म के विमुख आचरण करता है ॥६४॥

जातास्त एव जगति जन्तवः साधुजीविनः ।
कुलधर्मपरा देवि शेषाश्च द्वारगर्दभाः ॥६५॥

इस विश्व में उन्हीं मनुष्यों का उत्पन्न होना सफल है, उन्हीं के जीवन को साधु जीवनसम्पन्न माना जा सकता है, जो कुलाचारचमत्कृत कुलधर्म का आचरण करते हैं। इसके विपरीत जो कुलाचार का पालन नहीं करते, उनका जीवन केवल पारिवारिक बोझ ढोने के लिये होता है। जिस प्रकार धोबी के घर के द्वार पर बँधे गधे का उपयोग वह अपवित्र वस्त्र ढोने के लिये ही करता है, उसी तरह कुलाचारविहीन परिवार के सदस्य से घर वाले घर का बोझ ही ढुलवाते हैं। उसके हीन जीवन का यही उपयोग है ॥६५॥

स पुमानुच्यते सद्भिः कुलधर्मपरायणः ।
अपरस्तु परं सत्यमस्थिकूटत्वचावृतः ॥६६॥

कुलधर्मपरायण पुरुष ही सज्जनों द्वारा समादृत होता है। सज्जन पुरुष प्रसंगवश उसी के पुरुषार्थ की प्रशंसा करते हैं। इसके विपरीत अन्य पुरुष अर्थात् कुलाचाररहित पुरुष एक तरह से चमड़ी से ढके हड्डियों के ढाँचे मात्र हैं। इसमें सन्देह का अवकाश नहीं। यह सत्य तथ्य है ॥६६॥

चतुर्वेदी कुलाज्ञानी श्वपचादधमः प्रिये ।
श्वपचोऽपि कुलज्ञानी ब्राह्मणादतिरिच्यते ॥६७॥

चारों वेदों का ज्ञाता होते हुए भी यदि वह कुलधर्म में अज्ञ है, तो उसे कुत्ते का मांस पकाकर खाने वाले हीनाचार पुरुष के ही सदृश मानना चाहिये। वरन् उससे भी अधम ही मानने योग्य है। यदि श्वानमांसोपजीवी व्यक्ति कुलधर्मनिष्ठ है, तो वह ब्राह्मणों से भी महत्त्वपूर्ण है। अर्थात् कुलज्ञ श्वपच ब्राह्मण को भी महत्त्व में अतिक्रान्त करता है ॥६७॥

गुरुकारुण्ययुक्तस्तु दीक्षानिर्धूतपातकः ।
कुलपूजारतो देवि सोऽयं कौलो न चेतरः ॥६८॥

गुरुदेव जिस शिष्य पर करुणा का अमृत उड़ेल देते हैं, वही गुरुकारुण्ययुक्त माना जाता है। गुरु से दीक्षा प्राप्त कर उसके समस्त पाप ध्वस्त हो जाते हैं, अर्थात् वह दीक्षा से निष्पाप हो जाता है। गुरुदेव के अनुशासन में रहता हुआ वह कुलमतप्रतिपादित विधि से पूजा भी करता है और उसी में निरत रहता है। ऐसे लोग ही 'कौल' होते हैं। इसके विपरीत चलने वाले लोग कौल नहीं कहे जा सकते ॥६८॥

यः कौलिकः कुलज्ञानं न पश्यति न विन्दति।
न पूजयति धिक् तस्य तत् काकस्येव जीवितम्॥६९॥

कौलिक होते हुए भी कुल सम्बन्धी ज्ञान नहीं जानता, न देखने और जानने की चेष्टा करता है, न ही वह तुम्हारी पूजा करता है, उसके जीवन को धिक्कार है। काक पक्षी पक्षियों में अधम माना जाता है। यह व्यक्ति भी उसी तरह अधम होता है ॥६९॥

ते धन्याः पुण्यकर्म्माणस्ते सन्तस्ते च योगिनः।
येषां भाग्यवशाद्देवि कुलज्ञानं प्रकाशते ॥७०॥

वे पुरुष धन्य हैं, वे ही पुण्याचरणकर्त्ता माने जाते हैं, वे ही वास्तव में सज्जन और योगयुक्त कहलाने के अधिकारी होते हैं, भगवान् कहते हैं कि, कुलाधीश्वरी प्राण-प्रिये! तुम्हारी कृपारूप सौभाग्य से जिनके हृदय में कुलज्ञान का स्वतः प्रकाश उत्पन्न हो जाता है ॥७१॥

ते वन्द्यास्ते महात्मानः कृतार्थास्ते नरोत्तमाः।
येषामुत्पद्यते चित्ते कुलज्ञानं मयोदितम् ॥७१॥

वही वन्दनीय हैं, वही महात्मा हैं, वही कृतार्थ और मनुष्यश्रेष्ठ हैं, जिनके चित्त में मेरे द्वारा सम्यक् रूप से प्रतिपादित कुलज्ञान स्वतः समुद्भूत हो जाता है ॥७१॥

सर्वप्रकाशगमनं सर्वतीर्थावगाहनम्।
यत् सर्वयज्ञाचरणं कुलधर्मप्रवेशनम् ॥७२॥

कुलधर्म में प्रवेश पा लेना जीवन की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना मानी जाती है। केवल इतने मात्र से ही सारी प्रकाश यात्रायें पूरी हो जाती हैं। भगवान् स्वयं प्रकाश रूप होते हैं। वह प्रकाश कुलधर्म प्रवेश से ही प्राप्त हो जाता है। सारे तीर्थों के स्नान से उपार्जित पुण्य स्वयं सम्भूत हो जाते हैं। सारे यज्ञों के यजन का सुफल कुलधर्म प्रवेश से ही सिद्ध हो जाता है ॥७२॥

प्रविशन्ति कुलं धर्मं ये वै सुकृतिनो नराः।
ते पुनर्जननीगर्भं न विशन्ति कदाचन ॥७३॥

भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति! वस्तुतः वही सुकृती और पुण्यात्मा पुरुष होते हैं, जो कुलधर्म के पावन परिवेश में प्रवेश प्राप्त करते हैं। यह निश्चित है कि, वे पुनः मातृगर्भ में प्रवेश नहीं कर पाते, अर्थात् उन्हें मोक्ष की उपलब्धि हो जाती है ॥७३॥

प्रसङ्गेनापि यः कश्चित् कुलं कुलमितीरयेत् ।
कुलं तत् पावनं देवि भवति त्वदनुग्रहात् ॥
कुलज्ञस्य कुलेशानि नान्यधर्मैः प्रयोजनम् ॥७४॥

प्रसंगवश ही सही, जिनके मुख से 'कुल' 'कुल' इस तरह शब्दोच्चार हो जाता है, मैं जानता हूँ देवि ! कि, उन पर तुम्हारी कृपादृष्टि हो जाती है और उनका पूरा कुल पवित्र हो जाता है । संसार के अन्य जितने धर्म हैं, उनसे कुलज्ञानमय कुलधर्म का कोई प्रयोजन नहीं, अर्थात् यह सर्वातिशायी धर्म माना जाता है ॥७४॥

कुलेशि कुलनिष्ठानां कौलिकानां महात्मनाम् ।
ददामि परमं ज्ञानं चान्तकाले न संशयः ॥७५॥

कुलाधीश्वरि ! कुलधर्मनिष्ठ कौलिक महात्मा पुरुषों को उनके अन्त समय में मैं स्वयं ज्ञान की दीक्षा देकर तारक मन्त्र द्वारा भवसागर से मुक्त कर देता हूँ । इस मेरे कथन में सन्देह नहीं करना चाहिये ॥७५॥

चिरायासाल्पफलदं काङ्क्षन्ते समयं जनाः ।
सुखेन सर्वफलदं कुलं कोऽपि त्यजत्यहो ॥७६॥

यह ध्यान देने की बात है कि, अकलित कालातिपात के पश्चात् अनन्त आयाससाध्य फल की चाह प्रायः अधिक मनुष्य करते रहते हैं । इसमें दोष यह भी होता है कि, आयास तो बहुत करना पड़ता है; किन्तु फल अत्यन्त अल्प होता है । इसी सन्दर्भ में यह भी सोचने की बात है कि, सुखपूर्वक अर्थात् अनायास ही समस्त सुफल प्रदान करने वाला कुलधर्म ही है । कुछ एक अभागे लोग इसके छोड़ने की बात करते हैं ॥७६॥

कुलज्ञो हि च सर्वज्ञो वेदशास्त्रोज्झितोऽपि वा ।
वेदशास्त्रागमज्ञोऽपि कुलाज्ञस्त्वज्ञ एव हि ॥७७॥

जो कुलज्ञ होता है, वह सर्वज्ञ होता है । कुल का अर्थ ही विश्वविस्तारमय सर्जन का स्वरूप माना जाता है । जो इस विराट् वैराज्य का जानकार होगा, वह स्वभावतः सर्वज्ञ होगा । भले ही वेद-शास्त्र की परम्परा का साधक न हो । जो वेदों और शास्त्रों का ज्ञान रखता है; किन्तु कुलधर्म में अज्ञ है, तो उसे अज्ञ ही कहा और माना जाता है ॥७७॥

जानन्ति कुलमाहात्म्यं त्वद्भक्ता एव नापरे ।
चकोरा एव जानन्ति नान्ये चन्द्रगतां रुचिम् ॥७८॥

हे कुलेश्वरीश्रेष्ठ ! वास्तव में तुम्हारे भक्त ही कुलधर्म के महत्त्व के सच्चे ज्ञाता होते हैं । दूसरे इसके महत्त्व के विषय में नितान्त अज्ञ माने जाते हैं । जैसे चन्द्र की चमत्कारमयी चारुता में जो आन्तरिक रुचि है, जो आकर्षण है, उसे चातक ही गहरायी से जानता है ॥७८॥

कुलज्ञा एव तुष्यन्ति श्रुत्वा कुलकथां प्रिये ।
स्वल्पा नद्यो विवर्द्धन्ते ज्योत्स्नया किं समुद्रवत् ॥७९॥

प्रिये पार्वति ! कुलधर्म सम्बन्धी कथा अर्थात् कुल का आयातिक्रम, उसका तात्कालिक वर्त्तमान क्रम और उसके तत्त्व को सुनकर गुनते और समझते हैं, वे ही तुम्हारे भक्त कुलज्ञ हैं। उनकी रुचि तुम्हारी कथा में होती है। जैसे ज्योत्स्ना के आकर्षक आलोक में समुद्र ही उद्वेलित होता है, छोटी नदियाँ नहीं ॥७९॥

नान्यधर्ममवेक्षन्ते कौलिकाः सारवेदिनः ।
भृङ्गाः पुष्पान्तरं लुब्धा मन्दारामोदसेविनः ॥८०॥

सारसर्वस्व के सर्वतोभावेन विज्ञ केवल कौलिक ही माने जाते हैं। सच्चे कौलिक किसी अन्य धर्म की अपेक्षा नहीं करते। वे वास्तव में नन्दनकुसुमित कलित कल्पतरु के कुसुमों के आमोद सदृश कुलधर्म का सेवन करते हैं। इनके अतिरिक्त वे दूसरे लोग होते हैं, जो मकरन्दरस के लोभ से एक फूल से दूसरे फूल पर भौंरों की तरह मात्र मँडराते ही रह जाते हैं ॥८०॥

मानयन्ते हि सारज्ञाः कुलधर्मं न चेतरे ।
शिवः शिरसि धत्तेऽब्जं सैंहिकेयो गिलत्यहो ॥८१॥

साररहस्य के मर्मज्ञ केवल कुलधर्म को ही मान्यता प्रदान करते हैं। दूसरे इस रहस्य को क्या जानें ? यह सोचने की ही प्रत्यक्ष प्रक्रिया है कि, चन्द्र को जहाँ शिव अपने शिर पर धारण कर उसके महत्त्व का उपबृंहण करते हैं, वहीं सैंहिकेय (राहु) चन्द्र को अपना ग्रास ही बनाने में लगा रहता है ॥८१॥

अभिज्ञा एव जानन्ति नाभिज्ञाः कुलदर्शनम् ।
जलमिश्रपयःपानं बकः किं वेत्ति हंसवत् ॥८२॥

कुलदर्शन को केवल पूर्णतया अभिज्ञ लोग ही पूरी तरह जानते हैं। अज्ञ लोग इसके महत्त्व को नहीं जानते-समझते हैं। जल में मिले दूध को नीर-क्षीर-विवेक के गुण के कारण हंस ही पी सकता है, बक (बगुले) इस रहस्य को क्या समझें ? बक ऐसा कभी नहीं कर सकते ॥८२॥

शिवशक्तिमयो लोको लोके कौलं प्रतिष्ठितम् ।
तस्मात् सर्वाधिकं कौलं सर्वसाधारणं कथम् ॥८३॥

यह लोक शिव-शक्ति के सामरस्यमय आलोक से आलोकित है। ऐसे आलोकमय लोक में कौलिकधर्म प्रतिष्ठित है। इस आधार पर हम कुलधर्म को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। इसे सर्वसाधारण सामान्य धर्मों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता ॥८३॥

षड्दर्शनानि मेऽङ्गानि पादौ कुक्षिः करौ शिरः ।
तेषु भेदन्तु यः कुर्यान्ममाङ्गं छेदयेत्तु सः ॥८४॥

षड्दर्शन मेरे छ: अङ्ग हैं। वे अङ्ग क्रमश: इस प्रकार हैं—१. दक्षपाद, २. वामपाद, ३. कुक्षि, ४. दक्ष कर, ५. वाम हस्त और ६. शिर। मेरी शारीरिक संरचना में ये रचे-पचे हैं। इनमें भेद नहीं। जो इनमें भेद करने की चेष्टा करता है, वस्तुत: मेरे शरीर को खण्डित करने की दुश्चेष्टा करता है। अर्थात् भेदबुद्धि अनुचित है ॥८४॥

एतान्येव कुलस्यापि षडङ्गानि भवन्ति हि।
तस्माद्वेदात्मकं शास्त्रं विद्धि कौलात्मकं प्रिये ॥८५॥

कुलधर्म के भी यही छ: अङ्ग हैं। इस आधार पर वेद और शास्त्र सभी अथवा ये वेदात्मक शास्त्र हे प्रिये पार्वति ! कौलिक दर्शन ही हैं, इनके अतिरिक्त नहीं ॥८५॥

दर्शनेष्वखिलेष्वेव फलदं चैकदैवतम्।
भुक्तिमुक्तिप्रदं नृणां कुलेऽस्मिन् दैवतं प्रिये ॥८६॥

समस्त दर्शनों में पृथक्-पृथक् सारा फल प्रदान करने वाला एक ही दिव्य परमेश्वर एक-एक दैवत के रूप में स्वीकृत है। वहीं कौलिक मत में भुक्ति और मुक्ति रूप उभयविध फल प्रदान करने वाले एकमात्र दैवत शिव ही हैं ॥८६॥

लोकधर्मविरुद्धञ्च सिद्धयोगीश्वरि प्रिये।
कुलं प्रमाणतां याति प्रत्यक्षफलदं यत: ॥८७॥

यह बात सामने आती है कि, कुलधर्म लोकधर्म के विरुद्ध है। लोकाचार से इसमें कुछ विशेषता है। भगवान् कहते हैं कि, सिद्ध योगीश्वरिशिरोमणि प्रिये ! ऐसी स्थिति में भी इसी को प्रामाणिक माना जाता है; क्योंकि यह प्रत्यक्ष फलप्रद शास्त्र है ॥८७॥

प्रत्यक्षञ्च प्रमाणाय सर्वेषां प्राणिनां प्रिये।
उपलब्धिबलात्तस्य हता: सर्वे कुतार्किका: ॥८८॥

प्रिये पार्वति ! सभी प्राणी प्रमाण के रूप में प्रत्यक्ष को सर्वश्रेष्ठ प्रमाण मानते हैं। वस्तुत: प्रत्यक्ष को सिद्ध करने के लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं होती। अत: प्रत्यक्ष साक्षात् प्रमाण स्वयं सिद्ध है। इसमें विषय की प्रत्यक्ष उपलब्धि का बल है। इसके सामने सभी कुतार्किक अपने आप निरुत्तर एवं हत हो जाते हैं ॥८८॥

परोक्षं को नु जानीते कस्य किं वा भविष्यति।
यद्वा प्रत्यक्षफलदं तदेवोत्तमदर्शनम् ॥८९॥

परोक्ष में क्या घटित है या हो रहा है, इसे कोई क्या जानता है ? यह भी कोई नहीं जानता कि, भविष्य में किसी का क्या हो सकता है ? अनुमान भी यहाँ अपास्त हो जाता है। इसलिये जो साक्षात् उपस्थित है, साक्षात् प्रत्यक्षरूप से फल प्रदान करता है, वही उत्तम प्रमाण है। कुलदर्शन भी इसीलिये उत्तम दर्शन है क्योंकि यह प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है ॥८९॥

कुलधर्ममिमं ज्ञात्वा मुच्यन्ते सर्वमानवाः ।
इति मत्वा महेशानि मयाऽकौलं विगर्हितम् ॥९०॥

इस कुलधर्म को जानकर सभी मनुष्य मुक्त हो जाते हैं । हे माहैश्वर्यसम्पन्न परमेश्वरी देवि ! यही जानकर मैं कुलधर्म का प्रतिपादन करने में संलग्न हूँ । इसके साथ ही मैंने अकौल को सर्वदा विगर्हित (निन्दित) कहा है ॥९०॥

त्वत्कारुण्यविहीनानां कुलज्ञानविरोधिनाम् ।
पशूनामनभिज्ञानां कुलधर्मो विगर्हितः ॥९१॥

भगवान् कह रहे हैं कि, इस उत्तमकोटि के कुलज्ञान का विरोध करने वाले लोग तुम्हारी करुणा के महाप्रभाव से वञ्चित हैं । सच्चे अर्थ में वे अनभिज्ञ हैं । उन्हें पशु संज्ञा से ही विभूषित करते हैं । उनका कुलधर्म विगर्हित है । अर्थात् तुम्हारी कृपा से शून्य व्यक्ति तुम्हारे इस प्रिय धर्म के वस्तुतः अनधिकारी ही होते हैं ॥९१॥

यस्य जन्मान्तरे पापकर्मबन्धोऽधिको भवेत् ।
न तस्य गुरुकारुण्यं कुलज्ञानं न जायते ॥९२॥

यह ध्रुव सत्य है कि गुरुकारुण्य के फलस्वरूप प्राप्त होने वाला कुलज्ञान बड़े ही भाग्यशाली लोगों को ही प्रकाशित होता है । पूर्वजन्म में भयंकर अपराधों में लिप्त कर्मविपाक में पकने वाले लोगों और कर्महीन लोगों को यह ज्ञान नितान्त दुर्लभ है ॥९२॥

यथान्धा नैव पश्यन्ति सूर्यं सर्वप्रकाशकम् ।
तथा कुलं न जानन्ति तव मायाविमोहिताः ॥९३॥

जैसे अन्धे लोग विश्वप्रकाशक सूर्य के दर्शन से वंचित रह जाते हैं, अर्थात् सूर्य-दर्शन नहीं कर पाते, उसी तरह प्रिये पार्वति ! तुम्हारी माया से मुग्ध जीव इस ऊर्ध्वाम्नाय में प्रवेश भी नहीं कर पाते । वे कुलज्ञान को जान ही नहीं पाते ॥९३॥

शैववैष्णवसौरादिदर्शनान्यपि भक्तितः ।
भजन्ते मानवा नित्यं वृथायासफलानि च ॥९४॥

लोग शैव, सौर, वैष्णव आदि दर्शनों का भक्ति, आस्था और श्रद्धापूर्वक स्वाध्याय करते हैं । यह उनका नित्य का काम होता है, किन्तु मेरी दृष्टि से यह उनका वृथा आयास ही है । इस कार्य में उन लोगों को आयास तो होता ही है । फल की दृष्टि से भी उनका यह कार्य व्यर्थ है ॥९४॥

वेदशास्त्रागमैः प्रोक्तं भोगमोक्षैकसाधनम् ।
मूढा निन्दन्ति हा हन्त मत्प्रियं तव दर्शनम् ॥९५॥

वेदों, शास्त्रों और आगमों द्वारा भी यह प्रतिपादित और प्रोक्त तथ्य है (पहले इसकी चर्चा की जा चुकी है) कि, कुलधर्म भोग और मोक्ष का एकमात्र साधन है । अर्थात् कुलधर्म से भोग और मोक्ष दोनों की उपलब्धि अवश्य होती है । भगवान् कह रहे हैं कि,

प्रिये पार्वति ! फिर भी यह खेदपूर्वक कहना पड़ता है कि, मेरे लिये अत्यन्त प्रिय तुम्हारे साक्षात्कार में समर्थ इस दर्शन की भी कुछ लोग निन्दा करते हैं। सचमुच ये मूढ लोग हैं, यही कहा जा सकता है ॥९५॥

भ्रामिता हि मया देवि पशवः शास्त्रकोटिषु।
कुलधर्मं न जानन्ति वृथा ज्ञानाभिमानिनः ॥९६॥

इसका एक दूसरा पक्ष भी है। मेरे द्वारा ही विपथ विभ्रान्त पशु सदृश पाशबद्ध अणु पुरुष करोड़ों शास्त्रों के शब्दजाल में समाहित होते रहते हैं। उन्हें अपने ज्ञान का वृथा अभिमान हो जाता है। इसी के फलस्वरूप वे इस कुलधर्म पावन विज्ञान को नहीं जान पाते ॥९६॥

पशुशास्त्राणि सर्वाणि मयैव कथितानि हि।
मूर्त्यन्तरन्तु गत्वैव मोहनाय दुरात्मनाम् ॥९७॥

यह तो ऊर्ध्वाम्नाय है। इसके अतिरिक्त अधर आम्नाय के सभी पशु-शास्त्र भी मेरे द्वारा ही प्रोक्त हैं। उनका यही उद्देश्य भी है कि, मूर्त्यन्तर में प्रवृत्त ये दुरात्मा लोग इसी जाल में पड़े रहें। अर्थात् ऐसे सभी शास्त्र मोहमुग्धकारक ही हैं ॥९७॥

महापापवशान्नृणां तेषु वाञ्छाभिजायते।
तेषाञ्च सद्गतिर्नास्ति कल्पकोटिशतैरपि ॥९८॥

उन शास्त्रों के स्वाध्याय की आकांक्षा उन्हीं लोगों में उन्मिषित होती है, जिनके पूर्वकृत कर्म पापात्मक वासना से इस जन्म पर भी प्रभावी हैं। मैं यह जानता हूँ कि, जब तक इनकी पापात्मिका वासनाओं का संस्कार नहीं होता, कोटि-कोटि कल्पों तक उनकी सद्गति नहीं हो सकती ॥९८॥

प्रेर्यमाणोऽपि पापात्मा कुले नैव प्रवर्त्तते।
वार्यमाणोऽपि पुण्यात्मा कुलमेवाभिलम्बते ॥९९॥

पापात्मा की यह पहचान है कि, कितना भी प्रेरित किया जाय, प्रेर्यमाण होने पर भी वह कुलधर्म क़े स्वाध्याय में प्रवृत्त नहीं होता। वहीं वह पुण्यात्मा पुरुष होता है, जो वार्यमाण होने पर भी अर्थात् मना करने पर भी कुलधर्म के स्वाध्याय में संलग्न हो जाता है। उसी का आश्रय और अवलम्बन ग्रहण करता है ॥९९॥

कुलधर्मेण दैवत्वं देवाः सम्प्रतिपेदिरे।
मुनियोगीश्वराद्याश्च सुसिद्धिं परमां गताः ॥१००॥

देवों को देवत्व कैसे उपलब्ध हुआ, इस रहस्य को कोई नहीं जानता। इसका रहस्यदर्शी मैं हूँ। यह स्पष्ट है कि, उन्हें दैवभाव की उपलब्धि कुलधर्म के आचरण से ही हुई है। इसी तरह मुनियों, ऋषियों और योगीश्वरों की सिद्धि में कुलधर्म ही मूल साधन हैं ॥१००॥

पशुव्रतादिनिरताः सुलभा दाम्भिका भुवि ।
ये कौलमेव सेवन्ते ते महान्तोऽतिदुर्लभाः ॥१०१॥

पाशबद्धता का अभिशाप देने वाले व्रत पशुव्रत कहलाते हैं। ऐसे अनेक व्रत लोक में प्रचलित हैं। भूतल में ऐसे बहुतेरे पशुश्रेणी के मनुष्य हैं, जो इनके करने में ही अपना भला देखते हैं। ऐसे लोग मूढ माने जाते हैं। इन्हें दाम्भिक भी कहा जा सकता है; क्योंकि ये स्वात्म से दम्भ करने में संलग्न हैं। भगवान् कहते हैं कि, जो कुलधर्म और कुलज्ञान रूप कौल महाभाव को उपलब्ध होकर कौलमार्ग का ही अनुसरण करते हैं, वे महात्मा पुरुष हैं। इनका सत्संग भी दुर्लभ है ॥१०१॥

मानवा बहवः सन्ति मिथ्यातत्त्वार्थवेदिनः ।
दुर्लभोऽयं महेशानि कुलतत्त्वविशारदः ॥१०२॥

विश्व में मानवों की संख्या अनन्त है। एक अरब लोग तो इस भारत भूमि में ही हैं। ये सभी प्रायः मिथ्यातत्त्वार्थदर्शी माने जाते हैं। सत्य इनसे नितान्त ओझल है। इसमें कुलतत्त्वविशारद व्यक्ति बड़े ही दुर्लभ हैं। भगवान् कहते हैं कि, महेशानि ! खोजने पर ही ऐसे लोग मिल पाते हैं ॥१०२॥

यथा रोगातुराः केचिन्मानवाः कुलनायिके ।
दिव्यौषधं न सेवन्ते महाव्याधिविनाशनम् ॥१०३॥

उदाहरणरूप से यह कहा जा सकता है कि, प्रिये प्राणाधिके पार्वति ! लोक में रोगियों की कमी नहीं। पर वे दिव्य ओषधियों का सेवन नहीं कर पाते। उनसे वंचित ही रह जाते हैं। यह सभी जानते हैं कि, दिव्य ओषधियाँ महाव्याधियों को विनष्ट करने में पूर्णतया समर्थ होती हैं ॥१०३॥

तद्व्याधिवर्द्धनापथ्यं कुर्वन्ति हि कुभेषजम् ।
तथैव जन्ममरणे कृतां सांसारिकीं क्रियाम् ॥१०४॥

इसके विपरीत व्याधि संवर्द्धन में सहयोग करने वाले अपथ्य कुभेषजों का ही सेवन करते हैं। यही दशा सांसारिकता से बुरी तरह ओत-प्रोत जागतिक जीवों की भी है। वे संसृति-चक्र को पुष्ट करने वाली उन्हीं क्रियाओं का सम्पादन करते हैं, जिनसे जरा और मरण की पहेली कभी सुलझ ही नहीं सकती ॥१०४॥

समाचरन्ति सततं त्वत्कारुण्यविवर्जिताः ।
न भजन्ते कुलं धर्मं भवबन्धविमोचनम् ॥१०५॥

प्रिये पार्वति ! तुम्हारी करुणा से वंचित रहने वाले अभागे तो निरन्तर कदाचरण और अपथ्य परिसेवन में ही परायण हैं। हमेशा वही करते हैं, जिनसे उनका अहित ही होता है, हित नहीं होता। भव के अभिशाप से अनायास मुक्त करने में सक्षम कुलधर्म को न जान पाते हैं और न उसके आचरण में ही रत होते हैं ॥१०५॥

यथा चारण्यजातांस्तु मरिचादीन् वणिग्जनान्।
मोहतो मानवाः प्रीत्या याचन्ते कुलनायिके ॥१०६॥
अनर्घ्याणि च रत्नानि न याचन्ते हि केचन।
तथैव पशुशास्त्राणि कर्मपाशफलानि च ॥१०७॥
इति पृच्छन्ति मूर्खास्ते तव मायाविमोहिताः।
कुलधर्मं न पृच्छन्ति भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ॥१०८॥

भगवान् कहते हैं कि, कुलनायिके पार्वति ! व्यापार कर्म में निरत वणिक् वर्ग से लोग काली मिर्च जैसी तीखी आरण्यक चीजों की माँग तो करते हैं; क्योंकि उनमें उन्हें स्वाद का मोहक आकर्षण होता है। उनसे कभी अमूल्य मणियों और रत्नों की माँग नहीं करते। उसी तरह कर्मपाशरूपी मोहक फल देने वाले पशुशास्त्र का स्वाध्याय बहुतेरे लोग करते हैं। उसी के सम्बन्ध में अपनी जिज्ञासायें रखते हैं। उन्हें ही पूजते हैं, जो उन्हें कर्मबन्ध की ओर ही अग्रसर करते हैं। यह निश्चित है कि, वे तुम्हारी माया से ही विमोहित होते हैं। कभी भी वे कुलधर्म के सम्बन्ध में अपनी जिज्ञासा का समाधान नहीं चाहते या उन्हें इस सम्बन्ध में जानकारी न होने से शून्य में ही विचरण करते हैं। वे यह जानते ही नहीं कि, भुक्ति और मुक्ति रूप उभयप्रकारक फल देने में समर्थ यह कुलधर्म भी स्वाध्यातव्य है ॥१०६-१०८॥

कस्तूरीं कर्दमधिया कर्पूरं लवणेच्छया।
शार्करं शर्कराभ्रान्त्या मणिं काचमनीषया ॥१०९॥
यथादृष्टं न मन्यन्ते करस्थमपि पामराः।
तथा कौलं न जानन्ति त्वत्प्रसादविवर्जिताः ॥११०॥

कस्तूरी को कीचड़ की बुद्धि से, कर्पूर को साधारण नमक की बुद्धि से, चीनी को बालुका बुद्धि से, मणि को काँच (शीशा) की भावना से पामर लोग हमेशा उपेक्षित कर देते हैं। पास रहने पर भी उनके मूल्यवान् होने सम्बन्धी अज्ञता के कारण खो देते हैं। देखकर भी पहचान नहीं पाते, उसी तरह प्रिये ! तुम्हारी कृपा से वंचित लोग कुलधर्म की परख नहीं कर पाते ॥१०९-११०॥

अहो मोहस्य माहात्म्यं त्वन्मायाजनितस्य च।
किमज्ञानपि देवेशि मोहयेदमरानपि ॥१११॥

मोह की यह इस प्रकार की महत्ता आश्चर्यजनक ही मानी जाती है। यह मोह भी तुम्हारी माया का चमत्कार है। यह अज्ञों को मोहमुग्ध बना लेता है, यह सामान्य बात है; किन्तु इसका महासाहस यह है कि, यह अमर कहलाने वाले देवों और अमर सदृश पुरुषों को भी मुग्ध कर लेता है ॥१११॥

पेयं मद्यं पलं खाद्यं समालोक्य प्रियामुखम्।
इत्येवाचरणं जाप्यं परिप्राप्यं परम्पदम् ॥११२॥

गुरुकारुण्यसंलभ्यमीदृशं कुलदर्शनम् ।
त्वद्भक्ता एव जानन्ति नेतरे भुक्तिमुक्तिदम् ॥११३॥

कुलधर्म में मद्य भी पेय माना जाता है। मांस भी खाद्य श्रेणी में परिगणित है। प्रिया का मुख ही परम दर्शनीय है। इस प्रकार के आचरण को जप के सदृश बारम्बार अनुवर्त्तित करना यहाँ विहित है। इस तरह परमपद यहाँ सामान्यरूप से ही परिप्राप्य हो जाता है। इस प्रकार का प्रचार प्रचारमात्र है। इन तथ्यों का ज्ञान गुरुदेव से ही हो सकता है। वस्तुतः गुरुदेव के अनुग्रह से अत्यन्त उच्चकोटि का कुलधर्म सम्यक् रूप से प्राप्त करने योग्य धर्म है। कुलनायिकाओं में श्रेष्ठ पार्वति ! इसके महत्त्व को तुम्हारे भक्त लोग अच्छी तरह जानते हैं। दूसरे लोग इसके महत्त्व से परिचित नहीं हो पाते। यह भोग और मोक्ष दोनों को समानरूप से प्रदान करने वाला विश्व का महान् धर्म है ॥११२-११३॥

गुरूपदेशरहिता महान्त इति केचन ।
मोहयन्ति जनान् सर्वान् स्वयं पूर्वविमोहिताः ॥११४॥

कहने के लिये तो कुछ लोग महान् ही कहे जाते हैं। इनका दुर्भाग्य यह होता है कि, ये गुरुदेव के महान् उपदेशों से पूरी तरह रहित होते हैं। स्वयं पूर्वजन्मों के मोहपाश और इस जन्म के अनुपदेशमय व्यवहार में आमूलचूल डूबे लोग दूसरों को सत्पथ पर जाने से रोक देते हैं। इस प्रकार के अकार्य से ये बाज नहीं आते ॥११४॥

दुराचारपराः केचिद्वाचयन्ति च पामराः ।
कथम्भूतो भवेत् स्वामी सेवकाः स्युस्तथाविधाः ॥११५॥

कुछ तो स्वयं दुराचरण में लिप्त रहते हैं। वे स्वयं पामर हैं किन्तु दूसरों को उपदेशपूर्ण पत्रावलियों का वाचन कर उन्हें भी ठगने का अपराध करते हैं। ऐसे लोगों के चरित्र पर ही प्रश्नचिह्न लग जाता है। वे कैसे हैं ? यह सोचने की बात होती है। जब स्वामी की यह दशा है, तो उसके अनुयायियों कि क्या दशा हो सकती है ? वे भी ऐसे ही वंचनारत हो सकते हैं ॥११५॥

बहवः कौलिकं धर्मं मिथ्याज्ञानविडम्बकाः ।
स्वबुद्ध्या कल्पयन्तीत्थं पारम्पर्यविवर्जिताः ॥११६॥

मिथ्या ज्ञान की विडम्बना में आडम्बरपूर्ण जीवन व्यतीत करने वाले बहुत सारे लोग कौलिक धर्म की मनगढन्त परिभाषा बनाकर उसी का प्रचार करते रहते हैं। उन्हें पारम्पर्यमयी मर्यादा का ज्ञान भी नहीं रहता। केवल बौद्धिक प्रकल्पन के वे शिकार होते हैं ॥११६॥

मद्यपानेन मनुजो यदि सिद्धिं लभेत वै ।
मद्यपानरताः सर्वे सिद्धिं गच्छन्तु पामराः ॥११७॥

भला मद्यपान करने मात्र से ही मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर ले, तो अन्य रहस्यों का

महत्त्व ही क्या रह जायेगा ? इस तरह तो सारे मद्यप जो शराबी और पामर श्रेणी के लोग हैं, वे भी सिद्ध ही हो जायेंगे। इसलिये मद्यपान सिद्धि का कारण नहीं कहा जा सकता। इसके रहस्य को गुरु से जानना ही उचित है ॥११७॥

मांसभक्षणमात्रेण यदि पुण्या गतिर्भवेत्।
लोके मांसाशिनः सर्वे पुण्यभाजो भवन्ति हि ॥११८॥

इसी तरह मांस भक्षण मात्र से यदि उत्तम गति की, सद्गति की उपलब्धि हो जाय, तो लोक में अधिकतर मांस का आहार करने वाले मांसाहारी भी मुक्त और पुण्यात्मा कहलाने के अधिकारी हो सकते हैं ॥११८॥

शक्तिसम्भोगमात्रेण यदि मोक्षो भवेत वै।
सर्वेऽपि जन्तवो लोके मुक्ताः स्युः स्त्रीनिषेवनात् ॥११९॥

यदि प्रियामुखदर्शन और शक्तिरूपा स्त्रियों के सम्भोग से ही मुक्ति इतने सस्ते रूप में मिलने लगे, तो स्वभावतः सारे कामुक ही मुक्त हो जाँय। इस प्रकार श्लोक ११२ में कही तीनों दुष्प्रचारात्मक बातों का यहाँ तीन श्लोकों के माध्यम से खण्डन कर दिया गया है ॥११९॥

कुलमार्गो महादेवि न मया निन्दितः क्वचित्।
आचाररहिता येऽत्र निन्दितास्ते न चेतरे ॥१२०॥

हे महादेवि ! श्रेष्ठ कुलमार्ग मेरे द्वारा कभी निन्दित नहीं कहा गया है। वस्तुतः आचारहीन पुरुष ही निन्दा के पात्र होते हैं। आचार में मर्यादा के साथ लगे लोग कभी निन्दनीय नहीं माने जा सकते ॥१२०॥

अन्यथा कौलिके धर्मे आचारः कथितो मया।
विचरन्त्यन्यथा देवि मूढाः पण्डितमानिनः ॥१२१॥

देवि ! कुलधर्म के आचार को मैंने दूसरे स्तर पर एक दूसरे रूप में ही प्रतिपादित किया है। आचारहीन लोग इसे दूसरे रूप में दूषित रूप से प्रचारित करने में लगे रहते हैं। इस कार्य में कुछ मूर्ख पण्डितमानी लोग ही मनमानी परिभाषा देते रहते हैं ॥१२१॥

कृपाणधारागमनाद् व्याघ्रकण्ठावलम्बनात्।
भुजङ्गधारणान्नूनमशक्यं कुलवर्त्तनम् ॥१२२॥

तलवार की तीक्ष्ण धार पर चलना सम्भव है। उसी तरह हिंसक व्याघ्र के कण्ठ का आलिंगन भी सर्कस के लोग करते रहते हैं। सर्पों की माला बनाकर भी कुछ लोग प्रदर्शन करते देखे जाते हैं। पर यह सब कुलधर्म की पावनता का स्पर्श करने योग्य भी कार्य नहीं माना जा सकता। इनके द्वारा कुलधर्म का अनुवर्त्तन और पालन असम्भव है ॥१२२॥

वृथा पानन्तु देवेशि सुरापानं तदुच्यते।
तन्महापातकं ज्ञेयं वेदादिषु निरूपितम् ॥१२३॥

अमर्यादित ढंग से दिन-रात मदिरापान करने वाले लोग मद्यप होते हैं। ऐसा सुरापान व्यसनरूप सुरापान कहलाता है। यह तो अत्यन्त पापमय कार्य माना जाता है। इसका वेदों में भी निरूपण किया गया है ॥१२३॥

अनाघ्रेयमनालोक्यमस्पृश्यञ्चाप्यपेयकम् ।
मद्यं मांसं पशूनान्तु कौलिकानां महाफलम् ॥१२४॥

पशुभाव के साधक के लिये मद्य और मांस का सूँघना भी वर्जित है। उसे मांस-मदिरा का दर्शन भी नहीं करना चाहिये। इसके साथ ही दोनों अस्पृश्य भी माने जाते हैं। पीने की तो बात ही अलग है। ये दोनों अपेय और अखाद्य हैं। कौलिक साधक की साधना में इनका प्रयोग दूसरे स्तर पर होता है। इन्हें अनाघ्रेय, अस्पृश्य, अनालोक्य और अपेय या अखाद्य नहीं माना जाता। उच्चस्तर पर ये महाफलप्रद माने जाते हैं ॥१२४॥

अमेध्यानि द्विजातीनां मद्यान्येकादशैव तु।
द्वादशन्तु महामद्यं सर्वेषामुत्तमोत्तमम् ॥१२५॥
सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा तु मलमुच्यते।
तस्माद्ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ॥१२६॥

मद्य ग्यारह प्रकार के माने जाते हैं। ये द्विजातियों के लिये अमेध्य माने जाते हैं। एक मद्य बारहवें प्रकार का माना जाता है। उसे महामद्य कहते हैं। वह सब लोगों के लिये अत्यन्त उपयोगी होता है।

सुरा अन्नों की मल है। अन्य मल तो दूषित होते ही हैं। इसलिये ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों को भी कभी मदिरापान नहीं करना चाहिये ॥१२५-१२६॥

सुरादर्शनमात्रेण कुर्यात् सूर्यावलोकनम्।
तत्समाघ्राणमात्रेण प्राणायामत्रयं चरेत् ॥१२७॥
आजानुभ्यां भवेन्मग्नो जले चोपवसेदहः।
उद्ध्वं नाभेस्त्रिरात्रन्तु मद्यस्य स्पर्शने विधिः ॥१२८॥

सुरा के दर्शन मात्र से पापनिवृत्ति के लिये सूर्य का अवलोकन करना आवश्यक माना जाता है। यदि वह आघ्रात हो जाय तो प्रायश्चित्त में तुरन्त तीन बार प्राणायाम करना चाहिये। जल में जानुपर्यन्त अवस्थित होना चाहिये अथवा दिन में उपवास करना भी विकल्प रूप में मानना चाहिये। यदि मद्य का स्पर्श हो जाय तो शास्त्र यह कहते हैं कि, उस व्यक्ति को तीन रात्रि पर्यन्त नाभिप्रदेश तक गहरे जल में प्रवेश कर उसका प्रायश्चित्त करे। यह विधि है ॥१२७-१२८॥

सुरापाने कामकृते ज्वलन्तीं तां विनिक्षिपेत्।
मुखे तया विनिर्दग्धे ततः शुद्धिमवाप्नुयात् ॥१२९॥

कामवासना में और उत्तेजना के लिये भी सुरापान करते हैं। ऐसे लोगों को गर्म सुरा मुँह में छोड़कर उसका प्रायश्चित्त पूरा किया जाता है। इस प्रकार उसका मुख कुछ-कुछ तप्त होकर जल जाता है। यह आप्त लोग कहते हैं। मद्य के स्पर्श, अवलोकन, आघ्राण और पान, इन चारों बातों से सम्बन्धित जो भी प्रायश्चित्त होता है, उसे करने की विधि यहाँ तक बतायी गयी है। इसे अवश्य करना चाहिये ॥१२९॥

मद्यस्पर्शादिदोषस्य प्रायश्चित्तविधिः स्मृतः।
अविधानेन यो हन्यादात्मार्थं प्राणिनः प्रिये ॥१३०॥
निवसेन्नरके घोरे दिनानि पशुरोमभिः।
स मृतोऽपि दुराचारस्तिर्यग्योनिषु जायते ॥१३१॥

भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! विना विधि के अपने आस्वाद और उदरपूर्त्ति के उद्देश्य से जो प्राणियों का वध करता है, वह पुरुष पशु के रोम की संख्या के वर्ष बराबर नरक में निवास करने को विवश होता है। मरने के बाद उसे अवश्य ही तिर्यक् योनि में जन्म लेना पड़ता है ॥१३०-१३१॥

अनुमन्ता विश्वसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च खादिताऽष्टौ च घातकाः ॥१३२॥

पशुवध को मान्य कहकर निर्णय देने वाला अनुमन्ता, अपने विश्वास में लाकर पशुवध में सहायक, बहुत पशुपालकों का विश्वास करने लगते हैं। इस दशा में पशु वध में सहायक विश्वसिता, पशु का वध करने वाला हन्ता, खरीदने और बेचने वाले उभयपक्ष के सदस्य, मृत पशु के चमड़े आदि को साफ कर उपयोग में लाने वाला संस्कर्त्ता, उपहार में मांस, चर्म आदि का प्रयोगकर्त्ता, और उसके मांस का भोजन करने वाला खादिता ये—१. अनुमन्ता, २. विश्वसिता, ३. निहन्ता, ४-५. क्रय-विक्रयी, ६. संस्कर्त्ता, ७. उपहर्त्ता, ८. खादिता—आठों प्रकार के लोग पशुघातक की श्रेणी में आते हैं। इनका प्रायश्चित्त आवश्यक होता है ॥१३२॥

धनैर्विक्रयिको हन्ति खादिता चोपभोगतः।
घातको वधबन्धाभ्यां इत्येष त्रिविधो वधः ॥१३३॥

विक्रेता धन के लोभ के कारण ही घातक माना जाता है। खाने वाला उपभोग करता है और वध का समर्थ सहायक है। अतएव घातक होता है। मारने वाला पहले उसे बाँधता, दबाता और तब काटता है। अतः वह प्रधान घातक होता है। ये तीन प्रकार के वध माने जाते हैं ॥१३३॥

मांससन्दर्शनं कृत्वा सुरादर्शनवच्चरेत्।
तस्मादविधिना मांसं मद्यं न सेवते क्वचित् ॥१३४॥

सुरा को देखने से जो प्रायश्चित्त करना पड़ता है, मांस देखकर भी वही प्रायश्चित्त करना चाहिये। इसलिये शास्त्र यह व्यवस्था देता है कि, कोई कार्य हो, उसे विधिपूर्वक सम्पन्न करना चाहिये। विना विधि के कोई कार्य यहाँ तक कि, मद्य और मांस का भी प्रयोग नहीं करना चाहिये। यही उचित है ॥१३४॥

विधिना सेव्यते देवि तरसा त्वं प्रसीदसि।
नाशयस्यपरिज्ञानात् सत्यमेव वरानने ॥१३५॥

दिव्यता की प्रतिमूर्त्ति देवेश्वरि! भक्तों द्वारा विधिपूर्वक सेवा करने के परिणामस्वरूप उन पर तुम अविलम्ब प्रसाद की वर्षा करती हो, उन पर प्रसन्न हो जाती हो, साथ ही यह भी सत्य है कि, हे सुमुखि! अपरिज्ञान के कारण अर्थात् जो विधि नहीं जानता अथवा तुम्हारे तात्त्विक ज्ञान से शून्य है, उनको नाश की ओर ही अग्रसर करती हो, अर्थात् तुम्हारी माया उसे और भी मोहपाश में निबद्ध कर लेती है। उसका उत्थान असाध्य-सा हो जाता है। इस मेरे कथन में तनिक भी सन्देह नहीं है ॥१३५॥

तृणं वाप्यविधानेन छेदयेन्न कदाचन।
विधिना गां द्विजं वापि हत्वा पापैर्न लिप्यते ॥१३६॥

शास्त्र कहता है—विना आवश्यक विधान के अर्थात् विधि (क्रिया) में उतारने की आवश्यकता के विना कोई काम नहीं करना चाहिये। यहाँ तक कि कोई तृण भी नहीं तोड़ना चाहिये। घास-पात तोड़ने में भी (वह भी अनावश्यक) वानस्पतिक प्रकृतिजन्य अपराध होता है। विधिपूर्वक शास्त्र के आदेशानुसार गोवंश या द्विज के वध में या विनाश करने में पाप नहीं लगता। यहाँ गो-ब्राह्मण समर्थक आपत्ति जता सकते हैं; किन्तु आवश्यकता पड़ने पर ऐसा आचरण भी अनिवार्य हो जाता है ॥१३६॥

बहुनात्र किमुक्तेन सारमेकं शृणु प्रिये।
जीवन्मुक्तिसुखोपायं कुलशास्त्रेषु गोपितम् ॥१३७॥
यन्मुमुक्षोः फलं देवि कनकस्येव सौरभम्।
कुलज्ञेऽप्यूद्ध्वविख्याते ज्ञानं तत्तदनुत्तमम् ॥१३८॥

अधिक क्या कहा जाय? मैं यहाँ तुमसे एक सार-रहस्यपूर्ण बात कर रहा हूँ। इसे सुनो। प्रिये! वास्तव में कुलशास्त्रों में जीवन्मुक्ति की सरलतम और अनायास सिद्ध हो जाने वाली विधियाँ गोपनीय रूप से सुरक्षित हैं। मुक्ति की इच्छा रखने वालों को मुमुक्षु कहते हैं। मुमुक्षु को ही मुक्ति का फल मिलता है। कुलशास्त्र का ज्ञान रखने वाले कुलज्ञ कहलाते हैं। उन कुलज्ञों में भी यह अनुत्तम ज्ञान महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसीलिये इसे ऊर्ध्वाम्नाय भी कहते हैं ॥१३७-१३८॥

कुलशास्त्राणि सर्वाणि मयैवोक्तानि पार्वति।
प्रमाणानि न सन्देहो न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥१३९॥

प्रिये पार्वति ! सभी कुलशास्त्र मेरे द्वारा ही प्रवर्त्तित हैं। मैंने इन्हें स्वयं उपदिष्ट भी किया है। इनमें स्वत: प्रामाण्य है। अनेक प्रकार के हेतुवाद के द्वारा इनका हनन नहीं करना चाहिये। इनके स्वयं प्रमाण होने में सन्देह भी नहीं करना चाहिये ॥१३९॥

देवताभ्य: पितृभ्यश्च मधु वाता ऋतायते।
स्वादिष्ठया मदिष्ठया क्षीरं सर्पिर्मधूदकम् ॥१४०॥

भगवान् श्लोक १४० और श्लोक १४१ के माध्यम से मधुविषयक श्रुति-प्रामाण्य का सोदाहरण कथन कर रहे हैं। उनका कहना है कि, श्रुति में भी मधु शब्द का प्रयोग और उसके महत्त्व के उद्धरण प्राप्त हैं। जैसे—१. देवताओं के लिये और पितरों के लिये मधु ऋत अर्थात् यज्ञवत् प्रिय है। ये वात भी मधुमय होकर ही प्रवहमान हैं और ऋत अर्थात् गतिशील सत्य की तरह सर्वत्र व्याप्त हैं। २. दूसरी उक्ति के अनुसार मधु द्रव उसी तरह अत्यन्त स्वादिष्ट और मधुर तथा मदिष्ठ करने की शक्ति से सम्पन्न है, जैसे पय:पक्व तन्दुल, जिसे क्षीर कहते हैं, स्वादिष्ट और मधुमय होते हैं ॥१४०॥

हिरण्यपावा: खादिश्च अबध्नन् पुरुषं पशुम्।
दीक्षामुपेयादित्याद्या: प्रमाणं श्रुतय: प्रिये ॥१४१॥

मांसविषयक उद्धरण के रूप में स्वर्णजटित खुर वाले बलि पशु का मांस स्वर्णपाव अर्थात् पात्र में रखकर भगवान् को अर्पित करने के बाद ही दीक्षा दी जाती है। यह उद्धरण भी वेद में ही उपलब्ध है। इससे इन्हें वेदविरुद्ध नहीं कहा जा सकता ॥१४१॥

इत्येतत् कथितं किञ्चित् कुलमाहात्म्यमम्बिके।
समासेन कुलेशानि किं भूय: श्रोतुमिच्छसि ॥१४२॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, हे कुलाधीश्वरि ! अम्बिके ! यहाँ तक मैंने संक्षेप में कुलमाहात्म्यविषयक ये कुछ बातें तुम्हारे समक्ष कही हैं। इसके अतिरिक्त यदि कुछ तुम्हारी जिज्ञासा हो, तो मुझे बताओ। मैं उसके समाधान के लिये भी प्रस्तुत हूँ ॥१४२॥

सर्वागमोत्तमोत्तम महारहस्यमय ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकुलार्णवतन्त्रान्तर्गत डॉ. परमहंस-मिश्रविरचित नीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्यसमन्वित 'कुलमाहात्म्य-कथन' नामक द्वितीय उल्लास परिपूर्ण ॥२॥

॥ शुभं भूयात् ॥

○

तृतीय उल्लासः

कुलेश श्रोतुमिच्छामि सर्वधर्मोत्तमोत्तमम् ।
ऊद्ध्वाम्नायञ्च तन्मन्त्रं माहात्म्यं वद मे प्रभो ॥१॥

श्रीसंवर्धिका दिव्यता की प्रतिमूर्ति कुलाधीश्वरी पार्वती ने भगवान् के जिज्ञासा सम्बन्धी प्रश्न के उत्तर में इस प्रकार निवेदन किया—कुलाधिपति कुलेश्वर भगवन् ! मैं समस्त धर्मों में उत्तमोत्तम ऊर्ध्वाम्नाय के सम्बन्ध में, उसके मन्त्रों के सम्बन्ध में और उसके महत्त्व के सम्बन्ध में ही आपके मुखारविन्द से सुनना चाहती हूँ। विशेष रूप से सृष्टि में समुल्लसित परमेश्वर यही सब सुनाने की कृपा कर अनुगृहीत करें ॥१॥

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
तस्य श्रवणमात्रेण देवता सुप्रसीदति ॥२॥

श्री भगवान् शंकर ने पार्वती से इस प्रकार कहा—देवि ! अब तुम एकाग्र भाव से सुनने के लिये सावधानतापूर्वक सुनो । तुमने मुझसे जो कुछ पूछा है या इस समय पूछ रही हो, उसी का समाधान मैं करने जा रहा हूँ। यह अत्यन्त पावन विषय है। इसे सुनकर कुलनिष्ठ देवता की प्रसन्नता की सीमा नहीं रहती ॥२॥

न कदाचिन्मया प्रोक्तमितः पूर्वं कुलेश्वरि ।
कथयामि तव स्नेहादूद्ध्वाम्नायं शृणु प्रिये ॥३॥

हे कुलेश्वरि ! इसके पहले इस विषय के सम्बन्ध में मैंने अपने विचार कभी व्यक्त नहीं किये हैं। यह केवल तुम्हारे स्नेह से प्रेरित होकर ही व्यक्त करने जा रहा हूँ। मैं जानता हूँ, इस विद्या का ग्रहण कर धारण करने की तुम्हीं एकमात्र अधिकारिणी हो। यह अपूर्व ऊर्ध्वाम्नाय तुम मुझसे पहली बार सुनने को तत्पर हो। सुनो ! तुम मेरी प्रियता की एकमात्र पात्र हो ॥३॥

वेदशास्त्रपुराणानि प्रकाश्यानि कुलेश्वरि ।
शैवशाक्तागमाः सर्वे रहस्याः परिकीर्त्तिताः ॥४॥

इसके पहले तुम्हें यह जान लेना चाहिये कि, वेद, शास्त्र और पुराण आदि सभी सर्वत्र प्रकाशन के योग्य हैं। हे कुलेश्वरि ! किन्तु शाक्त और शैव जितने आगम हैं, वे सर्वप्रकाश्य नहीं माने जाते। उन्हें इसी आधार पर रहस्यशास्त्र कहते हैं। जहाँ तक कुल-शास्त्रों का प्रश्न है, ये केवल रहस्य ही नहीं; अपितु रहस्यातिरहस्य शास्त्र माने जाते हैं ॥४॥

रहस्यातिरहस्यानि कुलशास्त्राणि पार्वति ।
रहस्यातिरहस्यानां रहस्यमिदमम्बिके ॥५॥

ऊद्ध्र्वाम्नायस्य तत्त्वं हि पूर्णब्रह्मात्मकं परम् ।
सुगोपितं मया यत्नादिदानीन्तु प्रकाश्यते ॥६॥

अम्बिके ! रहस्यातिरहस्यों में भी यदि कोई अवशिष्ट रहस्य शेष रहता है, तो उसी रहस्य का उद्‌घाटन इन कुलशास्त्रों से होता है। इसे इसी आधार पर ऊर्ध्व सर्वतो-भावेन शिखररूप आम्नायरूप ऊर्ध्वाम्नाय संज्ञा से विभूषित करते हैं। यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि, यह पूर्ण परब्रह्मात्मक पराविद्याओं में श्रेष्ठ सुसम्यक्तया गोप्यतम विद्या है। इसे मैंने स्वयं सुगुप्त कर रखा था। आज तुम्हारे स्नेह का विजय पर्व है; क्योंकि इसी से प्रेरित होकर मैं इसे सुनाने जा रहा हूँ ॥५-६॥

मम पञ्चमुखेभ्यश्च पञ्चाम्नायाः समुद्‌गताः ।
पूर्वश्च पश्चिमश्चैव दक्षिणश्चोत्तरस्तथा ।
ऊद्ध्र्वाम्नायश्च पञ्चैते मोक्षमार्गाः प्रकीर्त्तिताः ॥७॥

मेरे पाँच मुँह शास्त्रों में विख्यात हैं। इसीलिये मैं 'पंचवक्त्र' रूप से जाना जाता हूँ। मेरे इन पाँचों मुखों से पाँच आम्नाय समुद्भूत हैं। इन्हें क्रमशः १. पूर्वाम्नाय, २. पश्चिमाम्नाय, ३. दक्षिणाम्नाय, ४. उत्तराम्नाय और ५. ऊर्ध्वाम्नाय संज्ञाओं से विभूषित करते हैं। ये पाँचों मोक्षमार्ग ही माने जाते हैं। मुमुक्षु को ही इनके स्वाध्याय का अधिकार है ॥७॥

आम्नाया बहवः सन्ति नोद्‌र्ध्वाम्नायेन ते समाः ।
सत्यमेतद्वरारोहे नात्र कार्या विचारणा ॥८॥

आम्नाय बहुत हैं। ये ऊर्ध्वाम्नाय की तुलना में नहीं रखे जा सकते। भगवान् कहते हैं कि, इसकी संज्ञा ही यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है; क्योंकि सब से ऊर्ध्व है। इसकी इस प्रत्यक्ष सच्चाई में सन्देह हो ही नहीं सकता। न ही इस पर किसी प्रकार के विचार की आवश्यकता है ॥८॥

आम्नाया बहवो गुप्ताश्चतुराम्नायभेदजाः ।
अस्मिंस्तन्त्रे समाख्याताः पूर्वं ते कुलनायिके ॥९॥

ऊर्ध्वाम्नाय के अतिरिक्त चतुराम्नाय के भेद के रूप अन्य आम्नाय भी हो सकते हैं। इनमें गुप्त और प्रकट दोनों प्रकार के भी हैं। हे कुलनायिके ! इस तथ्य की चर्चा इस तन्त्र में भी की गयी है ॥९॥

चतुराम्नायवेत्तारो बहवः सन्ति कामिनि ।
ऊद्ध्र्वाम्नायस्य तत्त्वज्ञा विरला वीरवन्दिते ॥१०॥

प्रिये पार्वति ! चतुराम्नायों के वेत्ताओं अर्थात् जानने वालों की कोई कमी नहीं है; किन्तु हे वीरवन्द्ये पार्वति ! ऊर्ध्वाम्नाय के जानकार रहस्यदर्शी विरल ही हैं, खोजने पर भी ये जल्दी नहीं मिलते ॥१०॥

यावन्तः पांसवो भूमेस्तावन्तः समुदीरिताः ।
एकैकाम्नायजा मन्त्रा भुक्तिमुक्तिफलप्रदाः ॥११॥

आम्नायों के भेद-प्रभेदजन्य जितने प्रकार हैं, उनके मन्त्रों की संख्या अनन्त और असंख्य है। मैं तो यदि यह कहूँ कि, भूमण्डल में जितने रेणुकण हैं, उतने मन्त्र हैं, तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। ये मन्त्र भुक्ति और मुक्ति उभयप्रकारक फल प्रदान करने वाले हैं ॥११॥

उपमन्त्राश्च तावन्तः सादराः समुदीरिताः।
मयैव कथितास्ते तु लोकानुग्रहकाङ्क्षया ॥१२॥

मन्त्रों के साथ उपमन्त्रों की भी गणना की जाती है। उपमन्त्र भी मेरे द्वारा ही प्रवर्त्तित हैं। लोक-कल्याण की कामना से मैंने इनको कहा है। ये सभी मन्त्रसार रहस्य के ही वाचक हैं और ऐसा ही फल प्रदान करते हैं ॥१२॥

सर्वेषामपि मन्त्राणां देवतास्तत्फलप्रदाः।
आवयोरंशसम्भूताः समुद्दिष्टाः शुचिस्मिते ॥१३॥

सभी मन्त्रों के पृथक्-पृथक् अधिष्ठाता देवता होते हैं। ये सभी देव हमारे और तुम्हारे अंशमात्र से निष्पन्न हैं। शुचिस्मिते ! अर्थात् पावनता से परिपूरित मधुर मुस्कान से मनोज्ञ पार्वति ! सभी शास्त्र और रहस्यदर्शी विद्वान् व्यक्तियों द्वारा भी ऐसे ही समुद्दिष्ट अर्थात् घोषित किये जाते हैं ॥१३॥

सर्वमन्त्रानहं वेद्मि नान्यो जानाति कश्चन।
मत्प्रसादेन यः कश्चिद्वेत्ति मानवकोटिषु ॥१४॥

इन मन्त्रों को केवल अकेला मैं ही जानता हूँ। मेरे अतिरिक्त इनका जानने वाला विश्व में कोई नहीं है। करोड़ों-करोड़ों मानवों में यदि कोई कुछ जानता भी है, तो यह मेरे कृपाप्रसाद के प्रभाव से ही सम्भव हो पाता है। अन्यथा कोई इन्हें नहीं जान सकता ॥१४॥

एकाम्नायञ्च यो वेत्ति स मुक्तो नात्र संशयः।
किं पुनश्चतुराम्नायवेत्ता साक्षाच्छिवो भवेत् ॥१५॥

एक आम्नाय को भी जो विधिपूर्वक साररहस्य के साथ जान लेता है, वह जानकार पुरुष धन्य है। वह निःसंशय रूप से मुक्त है। चारों आम्नायों के जानकार की बात ही नहीं करनी है। वह तो साक्षात् शिव है। इसमें सन्देह नहीं ॥१५॥

चतुराम्नायविज्ञानादूर्ध्वाम्नायः परः प्रिये।
तस्मात्तदेव जानीयाद् यदीच्छेत् सिद्धिमात्मनः ॥१६॥

चारों आम्नायों के विज्ञान से बहुत ही उच्चश्रेणी का विज्ञान ऊर्ध्वाम्नाय का है। एक तरह से यह पराविज्ञान ही कहा जा सकता है। इसलिये प्रिये पार्वति ! मेरा यही कहना है कि, यदि मनुष्य अपने कल्याण की चाह रखता हो, तो उसे ऊर्ध्वाम्नाय विज्ञान का ही स्वाध्याय करना चाहिये ॥१६॥

ऊद्ध्र्वत्वात् सर्वधर्माणामूद्ध्र्वाम्नायः प्रशस्यते ।
ऊद्ध्र्वं नयत्यधःस्थञ्च ऊद्ध्र्वाम्नाय इतीरितः ॥१७॥

सभी धर्मों से ऊर्ध्व होने के कारण ही इसे ऊर्ध्वाम्नाय कहते हैं। इसी आधार पर लोग इसकी प्रशंसा भी करते हैं। अपने नामानुकूल ही यह अधरस्थ साधकों को भी उच्च स्तर में ले आकर खड़ा कर देता है। ऊर्ध्वाम्नाय को ऊर्ध्व आम्नाय कहने का यही सब आधार है ॥१७॥

ऊद्ध्र्वतत्त्वात् कुलेशानि ध्वस्तसंसारसागरात् ।
ऊद्ध्र्वलोकैकसेव्यत्वादूद्ध्र्वाम्नाय इति स्मृतः ॥१८॥

ऊर्ध्व तत्त्व का परिज्ञान ऊर्ध्वाम्नाय से होता है। इसको जान लेने से संसार सागर के ध्वस्त होने में देर नहीं लगती। इसको अच्छी तरह से ज्ञान प्राप्त कर लेने पर साधक ऊर्ध्व से भी ऊर्ध्व लोकों में ही अवस्थान प्राप्त कर लेता है। इन तीन कारकों से ही इसे ऊर्ध्वाम्नाय कहते हैं ॥१८॥

तस्माद्देवेशि जानीहि साक्षान्मोक्षैकसाधनम् ।
सर्वाम्नायाधिकफलमूद्ध्र्वाम्नायं परात्परम् ॥१९॥

देवेश्वरि ! तुम यह समझ लो कि, यह ऊर्ध्वाम्नायसिद्ध विज्ञान भोग और मोक्ष का एकमात्र साधन है। सभी अन्य आम्नायों की अपेक्षा इसका आचरण अधिक फलप्रद है। यह परात्पर विज्ञान है ॥१९॥

सर्वलोकेषु सर्वेभ्यो ह्यहं पूज्यो यथा प्रिये ।
आम्नायेषु च सर्वेषु ऊद्ध्र्वाम्नायस्तथा शिवे ॥२०॥

प्रिये ! जैसे सभी लोकों और सभी देवों में मैं ही देवाधिदेव महादेव माने जाने के कारण विश्ववन्द्य माना जाता हूँ, हे शिवे ! उसी प्रकार सभी आम्नायों में सर्वश्रेष्ठ ऊर्ध्वाम्नाय ही माना जाता है ॥२०॥

देवतानां यथा विष्णुर्ज्योतिषां भास्करो यथा ।
तीर्थानान्तु यथा काशी स्वर्नदी सरितां यथा ॥२१॥
पर्वतानां यथा मेरुस्तरूणां चन्दनं यथा ।
अश्वमेधः क्रतूनाञ्च पाषाणानां यथा मणिः ॥२२॥
यथा रसानां माधुर्यं धातूनां काञ्चनं यथा ।
चतुष्पदां यथा धेनुर्यथा हंसस्तु पक्षिणाम् ॥२३॥
आश्रमाणां यथा भिक्षुर्वर्णानां ब्राह्मणो यथा ।
मनुष्याणां यथा राजाऽवयवानां यथा शिरः ॥२४॥
आमोदानाञ्च कस्तूरी यथा काञ्चीपुरी पुरम् ।
तथैव सर्वधर्माणामूद्ध्र्वाम्नायोऽधिकः प्रिये ॥२५॥

देवताओं में विष्णु, ज्योतिष्मान् आकाशीय पिण्डों में भासमान सूर्य, तीर्थक्षेत्रों में काशी, नदियों में गंगा, पर्वतों में मेरु, वृक्षों में चन्दन, यज्ञों में अश्वमेध, पत्थरों में मणि, रसों में मधुर रस, धातुओं में स्वर्ण, चतुष्पद पशुओं में धेनु, पक्षियों में हंस, आश्रमों में संन्यास, वर्णों में ब्राह्मण, मनुष्यों में राजा, शरीर के अंगों में शिर, सुगन्धों में कस्तूरी और पुरियों में कांची जैसे श्रेष्ठ मानी जाती है, उसी प्रकार आम्नायों में सर्वश्रेष्ठ ऊर्ध्वाम्नाय है ॥२१-२५॥

नानाजन्मार्जितापारपुण्यकर्मफलोदयात् ।
ऊद्ध्वाम्नायं विजानीयान्नान्यथा वीरवन्दिते ॥२६॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति ! तुम वीर साधकों द्वारा नित्य वन्दित देवी हो। तुम्हारे समक्ष इस सत्य का मैं उद्घाटन कर रहा हूँ कि, जन्मजन्मान्तर में अर्जित अपार पुण्यों का जब उदय होता है, उसी के फलस्वरूप किसी को इस ऊर्ध्वाम्नाय विज्ञान की अधिगति होती है। बिना इसके इसका ज्ञान नहीं हो सकता ॥२६॥

धन्यो मनुष्यलक्षेषु जानाति कुलदर्शनम्।
तेषां लक्षेषु यः कश्चिदूद्ध्वाम्नायं प्रवेत्ति च ॥२७॥

लाखों लाख मनुष्यों में वह धन्य माना जाता है, जो कुलदर्शन विज्ञान का ज्ञाता होता है। कुलदर्शन के साथ ही ऊर्ध्वाम्नाय रहस्य का जानकार पुरुष तो धन्यातिधन्य होता है ॥२७॥

न वेदैर्नागमैः शास्त्रैर्न पुराणैः सुविस्तरैः ।
न यज्ञैर्न तपोभिर्वा न तीर्थव्रतकोटिभिः ॥२८॥
नान्यैरुपायैर्देवेशि मन्त्रौषधिपुरःसरैः ।
आम्नायो ज्ञायते चोद्ध्र्वः श्रीमद्गुरुमुखं विना ॥२९॥

न वेदों के माध्यम से, न आगमिक विज्ञान के जानकार होने से, न अन्यान्य शास्त्रों के द्वारा और न अत्यन्त विस्तारपूर्वक लिखे गये पुराणों से, न यज्ञों से, न किन्हीं तपस्याओं के माध्यम से, न ही करोड़ों तीर्थों और व्रतों के आचरण से अथवा अनन्त प्रकार की ओषधियों और मन्त्र-प्रयोगों से या किसी अन्य प्रकार से भी ऊर्ध्वाम्नाय का ज्ञान नहीं हो सकता। इसका एकमात्र उपाय गुरुदेव के मुखारविन्दरूप वाक्यों से और दीक्षा से प्राप्त ज्ञान से ही हो सकता है ॥२८-२९॥

तमेवान्वेषयेत्तत्र सर्वज्ञं करुणानिधिम्।
सर्वलक्षणसम्पन्नं ऊद्ध्वाम्नायार्थकोविदम्।
तस्माद्देवेशि जानीयादूद्ध्वाम्नायं कुलेश्वरि ॥३०॥

ऊर्ध्वाम्नाय का ज्ञान प्राप्त करने के लिये उसी करुणा के अवतार, सर्वज्ञों में श्रेष्ठ गुरुदेव का अन्वेषण करना चाहिये। गुरु सर्वलक्षणसम्पन्न और ऊर्ध्वाम्नाय के अर्थ

का ज्ञाता पण्डितप्रवर होना चाहिये। कुलेश्वरि ! देवदेवेश्वरि पार्वति ! ऐसे ही गुरु से ऊर्ध्वाम्नाय के रहस्य-विज्ञान को जानना चाहिये ॥३०॥

आम्नायं यो नरो देवि विजानाति च तत्त्वतः ।
लभते काङ्क्षितां सिद्धिं सत्यं सत्यं वरानने ॥३१॥

देवि ! जो पुरुष इस ऊर्ध्वाम्नाय रहस्य-विज्ञान को तात्त्विकता के सहित जान लेता है, वह अवश्य ही इच्छित सिद्धि को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। हे सुमुखि ! इस मेरे कथन में असत्य के लिये कोई स्थान नहीं है। मेरी उक्ति नितान्त सत्य है ॥३१॥

ऊद्ध्वाम्नायं विजानाति यः सम्यक् श्रीगुरोर्मुखात् ।
शास्त्रमार्गेण स नरो जीवन्मुक्तो न संशयः ॥३२॥

जो शिष्य गुरुमुख से ऊर्ध्वाम्नाय विज्ञान को विशेष रूप से जान लेता है, वह शास्त्र के मार्गाश्रयण से ही निश्चित रूप से जीवन्मुक्त हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं। इसमें संशय नहीं ॥३२॥

आम्नायमीदृशं देवि विजानाति च तत्त्वतः ।
स वन्द्यः सद्गुरुः सोऽर्च्यः स दैवज्ञः स मान्त्रिकः ॥
स सेव्यः स च संस्तुत्यः स द्रष्टव्यः स सात्त्विकः ॥३३॥

देवि ! इस सर्वातिशायी ऊर्ध्वाम्नाय विज्ञान को तात्त्विक रूप से जो जानता है, वह सचमुच वन्दन करने के योग्य होता है। वही सच्चे अर्थों में गुरु है। उसी की पूजा होनी चाहिये। इसी प्रभाव से वह दैवज्ञ और मन्त्रज्ञ भी हो जाता है। वही पुरुष सेवा लेने का अधिकारी होता है। उसको ही स्तुत्य मानते हैं, अर्थात् वह सर्वथा संस्तुत्य माना जाता है। वही दर्शनीय पुरुष है। ऐसे लोग ही सत्त्वगुणसम्पन्न और सात्त्विक होते हैं ॥३३॥

स व्रती स तपस्वी च सोऽनुष्ठाता स पूजकः ।
स वेदागमशास्त्रादिसर्वविद्याविशारदः ॥३४॥
स आचार्यः स मतिमान् स यतिः स च कौलिकः ।
स यज्वा स च पूतात्मा स जापी स च साधकः ॥३५॥
स योगी स कृतार्थस्तु स वीरः स च उत्तमः ।
स पुण्यात्मा स सर्वज्ञः स मुक्तः स शिवः प्रिये ॥३६॥

प्रिये ! केवल वही व्रती, तपस्वी, अनुष्ठाता, पूजक, वेद आगम और अन्य सभी विशिष्ट शास्त्र आदि विद्याओं का विशारद, आचार्य, मतिमान्, यति, कौलिक, यज्वा (यज्ञकर्त्ता), पूत आत्मा (पवित्रात्मा), जप में संलग्न साधक, योगी, कृतार्थ, वीर, उत्तम पुरुष, पुण्यात्मा, सर्वज्ञ, मुक्त और साक्षात् शिवरूप ही मान्य है ॥३४-३६॥

तत्कुलं पावनं देवि धन्या तज्जननी स्मृता।
तत्पिता च कृतार्थः स्यान्मुक्तास्तत्पितरः प्रिये॥
पुण्यास्तद्वंशजाः सर्वे पूतास्तन्मित्रबान्धवाः॥३७॥

भगवान् कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! ऐसे ऊर्ध्वाम्नाय-विशेषज्ञ विद्वान् का वंश भी पावन हो जाता है। उस पुरुष साधक की जनयित्री माँ भी धन्या अर्थात् अत्यन्त उच्चोच्च वात्सल्यमयी पराम्बा के समान मानी जाती है। उस पुरुष का पिता भी ऐसे महान् पुत्र के जन्म का हेतु बनकर कृतार्थ हो जाता है। ऐसे ऊर्ध्वाम्नायविज्ञ साधक के पितर भी पितृलोक से तर जाते हैं। उसके वंशज भी पवित्र हो जाते हैं। यहाँ तक कि, उसके मित्र, बन्धु, बान्धव भी धन्य हो जाते हैं॥३७॥

बहुनेह किमुक्तेन चोद्ध्वाम्नायपरस्य च।
स्मरणं कीर्त्तनं वापि दर्शनं वन्दनं तथा॥
सम्भाषणञ्च कुरुते राजसूयाधिकं फलम्॥३८॥

भगवान् कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! अधिक क्या कहूँ ? जो साधक ऊर्ध्वाम्नाय में ही परायण रहते हैं, उनका स्मरण, दर्शन, वन्दन और उनसे सम्भाषण से राजसूय यज्ञ करने से जो फल मिलते हैं, उनसे भी अधिक फलों की प्राप्ति होती है॥३८॥

स यत्र वसते देवि तत्र श्रीर्विजयो भवेत्।
अनामयं सुभिक्षञ्च सुवृष्टिर्निरुपद्रवम्॥३९॥

भगवान् शंकर यह स्पष्ट कर रहे हैं कि, देवि ! ऊर्ध्वाम्नायनिष्ठ व्यक्ति जहाँ रहता है, वहाँ लक्ष्मी का निवास होता है। वहाँ हमेशा विजयश्री का उल्लास रहता है। वहाँ कभी रोग नहीं होते। सभी स्वस्थ रहते हैं। किसी पदार्थ की कमी नहीं होती। सुभिक्ष बना रहता है। अकाल की कल्पना भी वहाँ नहीं की जाती, सुन्दर वृष्टि होती है और किसी प्रकार का उपद्रव वहाँ नहीं होता॥३९॥

तस्माद् गुरुप्रसादेन ऊद्ध्वाम्नायं नरोत्तमः।
यो वेत्ति तत्त्वतो देवि स मे प्रियतमो भवेत्॥४०॥

इसलिये मनुष्यों में वही श्रेष्ठ और बुद्धिमान् है, जो गुरुदेव से ऊर्ध्वाम्नाय के रहस्यशास्त्र का तात्त्विक ज्ञान प्राप्त करता है। वह व्यक्ति मेरे लिये भी अत्यन्त प्रिय हो जाता है॥४०॥

पूर्वाम्नायः सृष्टिरूपः स्थितिरूपश्च दक्षिणः।
संहारः पश्चिमो देवि उत्तरोऽनुग्रहो भवेत्॥४१॥

पूर्वाम्नाय सृष्टिरूप माना जाता है। दक्षिणाम्नाय स्थितिरूप होता है। पश्चिमाम्नाय संसाररूप है। वहीं उत्तराम्नाय अनुग्रहरूप है। इन चारों आम्नायों का मौलिक महत्त्व सभी जानते हैं॥४१॥

मन्त्रयोगं विदुः पूर्वं भक्तियोगञ्च दक्षिणम् ।
पश्चिमं कर्मयोगञ्च ज्ञानयोगं तथोत्तरम् ॥४२॥

पूर्वाम्नाय मन्त्रयोगरूप माना जाता है। भक्तियोग का दक्षिणाम्नाय में प्राधान्य स्वीकृत है। पश्चिमाम्नाय कर्मयोगरूप होता है। इसी तरह उत्तराम्नाय को ज्ञानयोग का प्रतीक शास्त्र माना जाता है ॥४२॥

पूर्वाम्नायस्य सङ्केताश्चतुर्विंशतिरीरिताः ।
दक्षिणाम्नायसङ्केताः पञ्चविंशतिरीरिताः ॥४३॥
पश्चिमाम्नायसङ्केता द्वात्रिंशत् समुदाहृताः ।
विदुः षट्त्रिंशदाम्नाये सङ्केताः श्रीमदुत्तरे ॥४४॥

पूर्वाम्नाय के चतुर्विंशति (२४) संकेत निर्धारित हैं। यहाँ संकेत शब्द का प्रयोग पारिभाषिक शब्द के रूप में किया गया है। सिद्धान्तों के एक-एक बिन्दु संकेत माने जाते हैं। इस दृष्टि से पूर्वाम्नाय के संकेतों की संख्या २४ मानी जाती है।

इसी तरह दक्षिणाम्नाय के संकेतों की संख्या २५ निर्धारित है। पश्चिमाम्नाय के संकेतों की संख्या द्वात्रिंशत् अर्थात् ३२ मानी गयी है। जहाँ तक उत्तराम्नाय का प्रश्न है, इसके संकेतों की संख्या विद्वान् लोग ३६ स्वीकार करते हैं ॥४३-४४॥

ऊद्ध्वाम्नायस्य चैतानि न सन्ति कुलनायिके ।
साक्षाच्छिवस्वरूपत्वान्न किञ्चित् कर्म विद्यते ॥४५॥

भगवान् कहते हैं कि, कुलाधीश्वरि पार्वति ! ऊर्ध्वाम्नाय के संकेतों के सम्बन्ध में इस प्रकार का कोई निर्धारण नहीं है। इसके अन्तर्गत संकेत-प्रकेत की गणना न रहने का कारण है। ऊर्ध्वाम्नाय के उपासक साक्षात् शिव ही होते हैं। साक्षात् शिवरूप होने के कारण उनके लिये संकेत का निर्धारण कैसे किया जा सकता है ? उनको करने के लिये कोई कर्म अवशेष नहीं रह सकते ॥४५॥

ऊद्ध्वाम्नायस्य माहात्म्यमहं वेद्मि न चापरः ।
मत्स्नेहात्त्वञ्च जानासि सत्यमेतद्वरानने ॥४६॥
ऊद्ध्वाम्नायस्य माहात्म्यमिति ते कथितं मया ।

ऊर्ध्वाम्नाय का महत्त्व केवल अकेले मैं ही जानता हूँ। दूसरा कोई इसके महत्त्व को नहीं जान सकता। कोई समझे भी कैसे ? साधक के शिवरूप होने पर ही इसे जानने की बात की जा सकती है। मेरी स्नेहाधिकारिणी होने के कारण मेरे अतिरिक्त दूसरी तुम्हीं वह व्यक्तित्व हो, जिसे ऊर्ध्वाम्नाय का रहस्य ज्ञात है। हे सुमुखि ! इसमें असत्य के लिये कोई स्थान नहीं होता। इस विषय में यहाँ तक मैंने तुम्हें ऊर्ध्वाम्नाय के अतिरिक्त अन्य आम्नायों की भी चर्चा की है और ऊर्ध्वाम्नाय सम्बन्धी ज्ञान का प्रकाशन भी किया है ॥४६॥

समासेन कुलेशानि मन्त्रमाहात्म्यमुच्यते ॥४७॥

इतः पूर्वं मया नोक्तं यस्य कस्यापि पार्वति ।
तद्वदामि तव स्नेहाच्छृणु मत्प्राणवल्लभे ॥४८॥

अब मैं तुम्हारे समक्ष मन्त्रमाहात्म्य के सम्बन्ध में तुम्हें कुछ सुनाना चाहता हूँ । मैं इसका विस्तार नहीं करूँगा, वरन् संक्षेप रूप से ही कहने की बात सोच रहा हूँ । मैंने मन्त्रमाहात्म्य का वर्णन इसके पहले किसी से नहीं किया है । पार्वति ! तुम मेरी प्राणों से भी प्रिय प्राणवल्लभा शक्ति हो । तुम्हारे ऊपर मेरा स्वाभाविक स्नेह है । इसी के वशीभूत होकर मैं तुमसे मन्त्रमाहात्म्य का स्पष्टीकरण कर रहा हूँ ॥४७-४८॥

श्रीप्रासादपरामन्त्रमूर्ध्वाम्नायमधिष्ठितम् ।
आवयोः परमाकारं यो वेत्ति स स्वयं शिवः ॥४९॥

ऊर्ध्वाम्नाय शास्त्र स्वयम् ऊर्ध्वशास्त्र है । श्रीप्रासादपरामन्त्र का भी उसी तरह का उच्चस्तरीय महत्त्व है । यह ऊर्ध्वाम्नाय में ही अधिष्ठित है । भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! यह मन्त्र शिव और शक्ति रूप में समुल्लसित हम दोनों का ही साकार वर्णात्मक विग्रह है । इस मन्त्र के रहस्य से जो परिचित है, वह स्वयं शिवरूप ही है ॥४९॥

शिवादिकृमिपर्यन्तं प्राणिनां प्राणवर्त्मना ।
निःश्वासोच्छ्वासरूपेण मन्त्रोऽयं वर्त्तते प्रिये ॥५०॥

शिव से लेकर कृमिपर्यन्त प्राणियों में प्राणवर्त्तनारूप प्राणापानवाह की प्रक्रिया प्रवर्त्तित है । यह अयन है । इसमें सूर्य-चन्द्र दोनों प्राणपथ पर श्वास पर सवार होकर आते जाते रहते हैं । उसे ही सामान्य लोग निःश्वास और उच्छ्वास कहते हैं । इसी क्रम से यह मन्त्र भी साथ ही स्पन्दित होता रहता है ॥५०॥

अनिलेन विना मेघो यथाकाशे न वेष्टते ।
पराप्रासादमन्त्रेण विना लोकस्तथा प्रिये ॥५१॥

आकाश को लीजिये । इसे मेघ आच्छादित कर लेते हैं । प्रश्न है कि, क्या ये मेघ विना वायु के आकाश को आच्छादित कर सकते हैं ? नहीं । स्वयं मेघ में यह शक्ति नहीं होती । उसी प्रकार पराप्रासाद मन्त्र के विना विश्वप्राण की प्राणवर्त्तना नहीं प्रवर्त्तित हो सकती ॥५१॥

पराप्रासादमन्त्रेण स्यूतमेतच्चराचरम् ।
अभिन्नं तत्त्वतो देवि तालवृन्ते यथानिलः ॥५२॥

यह सारा चराचर विश्व पराप्रासाद मन्त्र से ही अनुस्यूत है । भगवान् कहते हैं कि, देवि पार्वति ! जैसे तालवृन्त के आन्दोलित होने के साथ ही वायु भी आगे-पीछे डोलता रहता है, उसी तरह पराप्रासाद मन्त्र के आन्दोलित होने पर श्वासोच्छ्वास का क्रम प्रचलित रहता है ॥५२॥

बीजेऽङ्कुरस्तिले तैलमग्नावुष्णं रवौ प्रभा ।
चन्द्रे ज्योत्स्नाऽनलः काष्ठे पुष्पे गन्धो जले द्रवः ॥५३॥

शब्दे चार्थः शिवे शक्तिः क्षीरे सर्पिः फले रुचिः ।
शर्करायाञ्च माधुर्यं घनसारे च शीतलम् ॥५४॥
निग्रहानुग्रहो मन्त्रे प्रतिमायाञ्च देवता ।
दर्पणे प्रतिबिम्बञ्च समीरे चलनं यथा ।
पराप्रासादमन्त्रेऽपि प्रपञ्चोऽयं तथा स्थितः ॥५५॥

बीज में अंकुर कार्यरूप से कारण में विद्यमान रहता है। तिल में तैल भी ओतप्रोत रहता है। अग्नि में उष्णता व्याप्त रहती है। सूर्य में प्रभा का तादात्म्य शाश्वत उल्लसित है। चन्द्रमा से चन्द्रिका को अलग नहीं किया जा सकता। काष्ठ में अनल, पुष्प में सुरभि और जल में द्रवत्व भी ओतप्रोत व्याप्त रहते हैं।

शब्द में अर्थ की व्याप्ति से पूरा विद्वद्वर्ग परिचित है। शिव में शक्ति का सामरस्य अनुभूति का विषय है। क्षीर में घी का ओतप्रोत रहना सभी लोग जानते हैं। फल में आस्वाद स्वाभाविक है। शर्करा में मिठास और कपूर में शीतलता भी स्वभावतः निहित है।

मन्त्र में निग्रह और अनुग्रह की शक्ति, प्रतिमा में प्राणप्रतिष्ठा के बाद देवतात्त्व, दर्पण में प्रतिबिम्ब, समीर में गतिशीलता की अन्तर्निहित विद्यमानता—ये सभी १९ उदाहरण यह सिद्ध करते हैं कि, कार्य-कारण, आधाराधेय, आश्रयाश्रयी, जन्यजनक आदि भाव से तत्त्वों में तात्त्विकता ओतप्रोत है। भगवान् कहते हैं कि, देवि पार्वति ! उसी तरह इस पराप्रासाद मन्त्र में यह सारा विश्वविस्तारात्मक प्रपंच भी अवस्थित है ॥५३-५५॥

वटबीजे यथा वृक्षः सूक्ष्मरूपेण तिष्ठति ।
पराप्रासादमन्त्रेऽस्मिन् ब्रह्माण्डोऽपि तथा स्थितः ॥५६॥

वट के लघु बीज में विराट् वृक्ष की विद्यमानता से सभी परिचित हैं। वृक्ष उसमें सूक्ष्म रूप से विराजमान है। उसी तरह इस 'पराप्रासाद' मन्त्र में सारा ब्रह्माण्ड समाहित है ॥५६॥

सुपक्वेषु पदार्थेषु सुरसेषु कुलेश्वरि ।
लवणेन विना स्वादु यथा भोक्तुर्न जायते ॥५७॥
पराप्रासादमन्त्रेण ये वा मन्त्रा न सङ्गताः ।
ते फलं न प्रयच्छन्ति मन्त्रशक्तिविवर्जिताः ॥५८॥

भगवान् कहते हैं कि हे सुरेश्वरि ! भोजन के अत्यन्त सुरस और मधुर परिपाक के लिये पदार्थों में उचित मात्रा में नमक का मिश्रण अनिवार्यतः आस्वादजनक होता है। भोक्ता की तृप्ति तभी सम्भव है। उसी तरह 'पराप्रासाद' मन्त्र से जो मन्त्र संगत नहीं होते, उनमें निग्रहानुग्रह शक्ति का उल्लास नहीं हो पाता; क्योंकि वे मन्त्र-शक्ति से ही रहित होते हैं ॥५७-५८॥

श्रीप्रासादपरामन्त्रो गोपनीयः प्रयत्नतः ॥५९॥

शास्त्र यह एक स्वर से प्रतिपादित करते हैं कि, पराप्रासाद मन्त्र प्रयत्नपूर्वक गोपनीय रखा जाना चाहिये। प्रयत्नपूर्वक का तात्पर्य दीक्ष्य की योग्यता, अयोग्यता, उसकी आधिकारिकता और अनधिकारिकता का पूर्ण विचार कर ही मन्त्र प्रदान करने की ओर संकेत कर रहा है ॥५९॥

विचार्याहं पुराणार्थान् दर्शनाम्नायभेदजान्।
समग्रान् वेद्म्यहं मन्त्रान् शास्त्राणि विविधानि च ॥६०॥

पुराणों के अर्थों को विवृत कर, दर्शनों के आम्नायानुसार भेदभिन्न पुराप्रचलित सन्दर्भों का आलोडन कर मैंने समग्र मन्त्रराशि और विविध शास्त्रों का स्वाध्याय करके इनके निहितार्थ रहस्यार्थों को जान लिया है ॥६०॥

सहस्राक्षादयो देवाः शास्त्रेषु विविधेषु च।
भ्रमन्ति तेषु मूढास्ते तव मायाविमोहिताः ॥६१॥
जायन्ते च म्रियन्ते च संसारक्लेशभागिनः।
श्रीप्रासादपरामन्त्रं न गायन्तः कुलेश्वरि।
न लभन्ते हि मोक्षं ते तव मायाविमोहिताः ॥६२॥

सहस्राक्ष अर्थात् इन्द्र आदि देवता भी शास्त्रों के वैविध्य से विभ्रान्त होकर सामान्यजन की तरह निहितार्थ से अनभिज्ञ रह जाते हैं। देवि ! तुम्हारी माया से ही वे मुग्ध माने जाते हैं। वे भी जन्म और मृत्यु रूप आवागमन के चक्र में पिसने वाले देवयोनि के प्राणी हैं। वे भी संसार के क्लेशों से क्लिष्ट रहा करते हैं। कुलेश्वरि ! वे श्री पराप्रासाद मन्त्र का प्रयोग नहीं करते। परिणामतः इन्हें भी मोक्ष नहीं मिल पाता; क्योंकि तुम्हारी माया के प्रभाव से ही प्रभावित रह जाते हैं ॥६१-६२॥

मद्रूपे श्रीगुरौ यस्य दृढा भक्तिः प्रजायते।
श्रीप्रासादपरामन्त्रं स ज्ञात्वा परिमुच्यते ॥६३॥

गुरुदेव मेरे रूप में प्रत्यक्ष शंकर के विग्रह माने जाते हैं। ऐसे सद्गुरु में जिस पुरुष की दृढ़ भक्ति उत्पन्न हो जाती है, वे श्री गुरुमुखारविन्द से 'श्रीपराप्रासाद' मन्त्र का ग्रहण कर धन्य हो जाते हैं। उस मन्त्र के महाप्रभाव से वे मुक्ति को उपलब्ध हो जाते हैं ॥६३॥

पूर्वजन्मसहस्रेषु शैवादिसमयोद्यतान्।
चतुराम्नायजान् मन्त्रान् गुर्वाज्ञां यो भजिष्यति ॥६४॥
स पापकञ्चुकान्मुक्तः शुद्धात्मा गुरुवत्सलः।
श्रीप्रासादपरामन्त्रं विजानाति न चान्यथा ॥६५॥

पूर्व जन्मजन्मान्तरों में शैवमार्ग के साधनाध्यवसाय में संलग्न रहते हुए चारों आम्नायों में निर्दिष्ट मन्त्रों को गुरु की आज्ञा के अनुसार प्रयुक्त करते रहते हैं। ऐसे

साधक पापों के कंचुक से अर्थात् आवरणों से मुक्त हो जाते हैं। षट्कंचुक भी पापरूप कालुष्य-कलंकपंकमय ही होते हैं। उनसे ऐसे साधक मुक्त हो जाते हैं। इससे उनकी आत्मा शुद्ध हो जाती है। वे गुरुदेव के वात्सल्य के प्रभाव से उनसे श्रीपराप्रासाद मन्त्र जान लेते हैं। इसके अतिरिक्त इसे जानने का कोई उपाय नहीं ॥६४-६५॥

सब्रह्मविष्णुरुद्राश्च शक्रादिसुरपुङ्गवाः।
वसुरुद्रार्कदिक्पाला मनुचन्द्रादयः प्रिये ॥६६॥
मार्कण्डेयादिमुनयो वसिष्ठादिमुनीश्वराः।
सनकाद्याश्च योगीशा जीवन्मुक्ताः शुकादयः ॥६७॥

यहाँ कुलाधीश्वरी देवी पार्वती से कुलाम्नाय के इस विभाग के अनुसार उन जीवन्मुक्त साधकशिरोमणियों के नाम बताते हुए भगवान् कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वती! ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि देवेश्वर, अष्टवसु, एकादश रुद्र, सूर्य, दशदिक्पाल, मनु, चन्द्र और मार्कण्डेय आदि मुनीश्वर, वशिष्ठ आदि ऋषीश्वर, सनक सनन्दन और सनत्कुमार तथा व्यास आदि ये सभी ऊर्ध्वाम्नायसिद्ध महायोगीश्वर अब इतिहास के विषय बन चुके हैं। ये सभी जीवन्मुक्त थे ॥६६-६७॥

यक्षकिन्नरगन्धर्वाः सिद्धविद्याधरादयः।
श्रीप्रासादपरामन्त्रप्रभवश्चामितं फलम् ॥
प्राप्य मन्त्रमिमं पुण्यं जपन्त्यद्यापि पार्वति ॥६८॥

यक्ष, किन्नर और गन्धर्व, इसके साथ ही सिद्धान्त शास्त्र में प्रवीण सिद्ध और विद्याधर आदि देवलोक के विद्यानिष्णात साधक श्रीपराप्रासाद मन्त्र के महाप्रभाव से अनन्त मन्त्रफल पाकर धन्य हो चुके हैं। वे आज भी अपने रूप में रहते हुए इस मन्त्र का अनवरत जप कर रहे हैं ॥६८॥

सामर्थ्यं पूज्यता विद्या तेजः सौख्यमरोगिता।
राज्यं स्वर्गश्च मोक्षश्च पराप्रासादजापिनः ॥६९॥
ब्रह्मेन्द्ररुद्रविष्णूनामपि दूरायते पदम्।
सर्वकर्मविहीनोऽपि पराप्रासादमन्त्रवित् ॥
सुखेन यां गतिं याति न तां सर्वेऽपि धार्मिकाः ॥७०॥

किसी व्यक्ति का सामर्थ्य, उसकी पूज्यता, विद्या, तेज, उसकी आनन्दवादिता का रहस्य, नैरुज्य, राज्य, उसका स्वर्गीय व्यक्तित्व और उसका जप श्रीपराप्रासाद मन्त्र जप पर ही निर्भर करता है। इस मन्त्र के जापक का पद ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र, विष्णु आदि पराधिकारियों से भी श्रेष्ठ होता है।

भगवान् कहते हैं कि, मेरा तो यह मत है कि, सारे कर्मों से हीन पुरुष भी यदि पराप्रासाद मन्त्र का वेत्ता हो, तो उसकी अनायास ही जो सद्गति होती है, वहाँ तक कितना भी धार्मिक क्यों न हो, नहीं पहुँच पाता ॥६९-७०॥

तस्य चिन्तामणिः कामधेनुः कल्पतरुर्गृहे ।
कुबेरः किङ्करः साक्षात् पराप्रासादजापिनः ॥७१॥

'श्रीपराप्रासाद' मन्त्र के रूप में उसके घर में चिन्तामणि ही विद्यमान माना जाता है। यह मन्त्र ही कामधेनु रूप से वहाँ उल्लसित माना जाता है। कल्पवृक्ष भी मानो उसके वश में है। कुबेर भी उसकी किंकरता पसन्द करते हैं। यह प्रभाव केवल श्रीपराप्रासाद मन्त्र के जप का ही माना जाता है ॥७१॥

यथा दिव्यमणिस्पर्शाल्लौहो भवति काञ्चनम् ।
पराप्रासादजापाच्च पशुः पशुपतिर्भवेत् ॥७२॥

यह प्रसिद्ध है कि, दिव्यमणि पारस के प्रभाव से लौह धातु भी स्वर्णरूप में परिवर्तित हो जाता है। उसी तरह 'श्रीपराप्रासाद' मन्त्र के जप मात्र से पशु अर्थात् आठ प्रकार के भौतिक पाशों से आबद्ध व्यक्ति भी पशुपति अर्थात् शंकर रूप ही हो जाता है ॥७२॥

श्रीप्रासादपरामन्त्रं यो विजानाति तत्त्वतः ।
स मां त्वाञ्च विजानाति चावयोरप्यतिप्रियः ॥७३॥

इस 'श्रीपराप्रासाद' मन्त्र को जो तात्त्विकता के साथ जान लेता है, भगवान् शंकर कहते हैं कि, हे पार्वति ! वह मेरे और तुम्हारे तात्त्विक रूप से भी परिचित हो जाता है। वह हम दोनों का भी अतिशय प्रीतिपात्र हो जाता है ॥७३॥

पराप्रासादमन्त्रज्ञः श्वपचोऽपि हि पार्वति ।
देवतास्थापने शक्तः प्रतिमादौ न संशयः ॥७४॥

'श्रीपराप्रासाद' मन्त्र का जानकार साधक भले ही वह श्वपच ही क्यों न हो, वह देवस्थापन का भी अधिकारी हो जाता है। वह प्रतिमाओं में प्राणप्रतिष्ठा भी कर सकता है। प्रिये पार्वति ! यह मेरा वचन है ॥७४॥

मन्त्रमात्रन्तु यो वेत्ति पराप्रासादसंज्ञकम् ।
श्वपचोऽपि हि मुच्यते किं पुनस्तद्विधानवित् ॥७५॥

'श्रीपराप्रासाद' मन्त्र का यह महत्त्व है कि, जो केवल मन्त्र मात्र की ही जानकारी रखता है, ऐसा गुणज्ञ यदि श्वपच भी हो, तो वह मुक्ति का अधिकारी हो जाता है। उसकी मुक्ति हो जाती है। यदि इस स्तर के पुरुष का भी इस प्रकार कल्याण हो जाता है, तो यह सोचने की बात है कि, जो मन्त्र के निहितार्थ से परिचित है, उसकी तुरत सद्गति निर्धारित हो जाती है ॥७५॥

पराप्रासादमन्त्रज्ञो यत् करोति यदिच्छति ।
यद् ब्रूते तन्महेशानि तपो ध्यानं जपो भवेत् ॥७६॥

पराप्रासाद मन्त्र का ज्ञाता जो कुछ भी करता है, जो कुछ भी चाहता है, जो कुछ बात करता है, वही उसका जप हो जाता है। उसी में उसका तप और उसका ध्यान हो जाता है। इसी में उसका जप भी चरितार्थ हो जाता है ॥७६॥

दीक्षापूर्वं महेशानि पारम्पर्यसमन्वितम्।
पराप्रासादमन्त्रं यो वेत्ति सोऽहं न संशयः ॥७७॥

'श्रीपराप्रासाद' मन्त्र यदि दीक्षक-दीक्ष्य भाव में गुरु द्वारा दीक्षा के रूप में प्राप्त करता है अथवा महेश्वरभामिनि ! यह मन्त्र उसे परम्परानुक्रम से उसकी सन्तान तक आया है, यह व्यक्ति निश्चय है कि, वह सोहं अर्थात् मेरे रूप में ही परावर्त्तित हो जाता है, इसमें संशय नहीं ॥७७॥

चराचरसमेतानि भुवनानि चतुर्दश।
पराप्रासादमन्त्रज्ञदेहे तिष्ठन्ति नित्यशः ॥७८॥

चर-अचर प्राणियों से समन्वित यह चौदहों भुवन उस व्यक्ति के शरीर में ही निहित रहते हैं, जो पराप्रासाद मन्त्र को तत्त्व रूप से जानता है ॥७८॥

पराप्रासादमन्त्रज्ञो यत्र तिष्ठति भाविनि।
दिव्यक्षेत्रं समुद्दिष्टं समन्ताद्दशयोजनम् ॥७९॥

भामिनि ! श्रीपराप्रासाद मन्त्र का वेत्ता प्राज्ञ पुरुष जहाँ पर निवास करता है, वह क्षेत्र दिव्य हो जाता है। यह सभी इस मन्त्र के प्रभाव से ही होता है। वह क्षेत्र कोई सीमित नहीं, अपितु दश योजन लम्बा-चौड़ा क्षेत्र होता है। उसमें मन्त्रसिद्धि का ही प्रभाव माना जाता है ॥७९॥

पराप्रासादमन्त्रार्थतत्त्वज्ञं कुलनायिके।
सुरासुराश्च वन्दन्ते किं पुनर्मानवादयः ॥८०॥

कुलाधीश्वरि ! श्रीपराप्रासाद मन्त्रार्थ को तात्त्विक रूप से उसके रहस्य की गहराई में प्रवेश को जो जान लेता है, दिति और अदिति दोनों के पुत्र दैत्य और देव भी हृदय से उसकी सश्रद्ध वन्दना करते हैं, मनुष्यों की तो बात ही क्या है ॥८०॥

पराप्रासादमन्त्रज्ञो यत्र तिष्ठति पार्वति।
सिद्धक्षेत्रं मदीयं वा मुनिदेवगणैः सह ॥८१॥

हे पार्वति ! श्रीपराप्रासाद मन्त्र का पूर्ण तत्त्वज्ञ जिस क्षेत्र में निवास करता है, भगवान् शंकर कहते हैं कि, समस्त ऋषियों और मुनियों के साथ तथा अपने गणों, देवताओं के साथ मैं वहाँ निवास करता हूँ। वह सबके लिये और मेरे लिये भी सिद्ध क्षेत्र के ही सदृश है ॥८१॥

शैववैष्णवदौर्गार्कगाणपत्येन्दुसम्भवान् ।
सर्वमन्त्रान् स जानाति पराप्रासादमन्त्रवित् ॥८२॥

शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर, गणपतिमत और चान्द्र मतों में व्यवहृत और प्रतिपादित सभी मन्त्रों का वह वेत्ता हो जाता है, जो श्रीपराप्रासाद मन्त्र का जानकार होता है। श्रीपराप्रासाद मन्त्र का ही यह माहात्म्य है ॥८२॥

श्रीप्रासादपरामन्त्रो जिह्वाग्रे यस्य वर्त्तते।
तस्य दर्शनमात्रेण श्वपचोऽपि विमुच्यते ॥८३॥

जिस व्यक्ति की जिह्वा से श्रीपराप्रासाद मन्त्र का उच्चारण होता रहता है, जिह्वा में विराजमान सरस्वती इससे प्रसन्न होती हैं। उस व्यक्ति के दर्शन मात्र से नीच से नीच व्यक्ति यहाँ तक कि, कुत्ते के मांस को पकाकर, खाकर जो जीविका चलाता है, वह भी विमुक्त हो जाता है ॥८३॥

ब्राह्मणो वाऽन्त्यजो वापि शुचिर्वाप्यशुचिः प्रिये।
पराप्रासादजापी यः स मुक्तो नात्र संशयः ॥८४॥

जाति की दृष्टि से वह भले ही ब्राह्मण हो या अन्त्यज हो, शुचि हो या अशुचि हो, भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! जो पुरुष श्रीपराप्रासाद मन्त्र का जप निरन्तर करता है, वह निश्चित ही जीवन्मुक्त है। इसमें सन्देह के लिये कोई स्थान नहीं ॥८४॥

गच्छतस्तिष्ठतो वापि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा।
पराप्रासादमन्त्रोऽयं देवेशि न च निष्फलः ॥८५॥

यात्रा-क्रम में रास्ते में हो, कहीं बैठकर समय यापन करते हुए विश्राम कर रहा हो, जाग रहा हो या स्वप्न में हो, तन्द्रा में इस श्रीपराप्रासाद मन्त्र का क्रम कभी निष्फल नहीं जाता ॥८५॥

चिरेणैकैकफलदा मन्त्राः सन्ति सहस्रशः।
कुलेशि मन्त्रराजोऽयं शीघ्रं सर्वफलप्रदः ॥८६॥

भगवान् भूतभावन शंकर कह रहे हैं कि, कुलाधीश्वरि ! संस्कृत वाङ्मय में हजारों हजार ऐसे मन्त्र हैं, जो प्रयोगानुसार विधिवत् जप करने पर भी बड़े ही विलम्ब से फल प्रदान करते हैं। वहीं श्रीपराप्रासाद मन्त्र मन्त्रराज है। यह अत्यन्त शीघ्र फल प्रदान करने में समर्थ है ॥८६॥

पराप्रासादमन्त्रोऽयं सर्वमन्त्रोत्तमोत्तमः।
ज्ञानतोऽज्ञानतो वापि भजतां कामदो मनुः ॥८७॥

यह मन्त्र यथा नाम तथा गुण है। यह सभी उत्तम से उत्तम मन्त्रों में भी सर्वोत्तम माना जाता है। भले ही यह ज्ञानपूर्वक प्रयोग में ले आया जाय या अज्ञानपूर्वक अर्थात् अर्थ जाने बिना ही जप किया जाय, दोनों अवस्थाओं में यह कल्पवृक्ष के समान कामनाओं की पूर्ति करता है ॥८७॥

शचीन्द्रौ रोहिणीचन्द्रौ स्वाहाग्नी च प्रभारवी।
लक्ष्मीनारायणौ वाणीधातारौ रात्रिवासरौ ॥८८॥
अग्नीषोमौ बिन्दुनादौ देवि प्रकृतिपूरुषौ।
आधाराधेयनामानौ भोगमोक्षौ कुलेश्वरि ॥८९॥
प्राणापानौ च वागर्थौ प्रिये विधिनिषेधकौ।
सुखदुःखानि यद् द्वन्द्वं दृश्यते श्रूयते मया।
सर्वलोकेषु तत् सर्वमावामेव न संशयः ॥९०॥
पुंस्त्रीरूपाणि सर्वाणि चावयोरंशकानि हि।
पराप्रासादमन्त्रोऽयं तस्मात् सर्वात्मको भवेत् ॥९१॥

शची और इन्द्र, रोहिणी और चन्द्र, स्वाहा और अग्नि, प्रभा और भासमान भास्कर सूर्य, लक्ष्मी और नारायण, वाणी और विधाता ब्रह्मा, रात्रि और दिवस, अग्नि और सोम, बिन्दु और नाद, प्रकृति और पुरुष, आधार और आधेय, भोग और मोक्ष, प्राण और अपान, शब्द और उनके अर्थ, विधि-निषेध और सुख एवं दुःख हे कुलाधीश्वरि ! जितने युगल प्रथा से प्रभावित द्वैत के द्वन्द्वमय ये आधार हैं, जो मेरे, तुम्हारे और विश्व के द्वारा सुने और अनुभव किये जाते हैं, उन सभी में हमारे और तुम्हारे रूप ही अभिव्यक्त हो रहे हैं। इसमें रंचमात्र भी संशय को अवकाश नहीं। देवि कुलाधीश्वरि ! इस विश्वविस्तारात्मक सृष्टि प्रसार में जितने भी स्त्री-पुरुष या स्त्रीलिंग-पुंलिंग युगल तुम देख रही हो, इनमें हमारा और तुम्हारा ही अंश अभिव्यक्त है। अर्थात् स्त्री अंश में तुम उल्लसित हो और पुरुष रूप में स्वयं मैं ही उल्लसित हो रहा हूँ। इससे यह स्पष्ट है कि, श्रीपराप्रासाद मन्त्र में जो वर्णात्मक उल्लास है, यह इस मन्त्र को सर्वात्मक सिद्ध करने में सक्षम है ॥८८-९१॥

अरूपं भावनागम्यं परं ब्रह्म कुलेश्वरि।
निष्कलं निर्मलं नित्यं निर्गुणं व्योमसन्निभम् ॥९२॥
अनन्तमव्ययं तत्त्वं मनोवाचामगोचरम्।
पराप्रासादमन्त्रार्थसन्धानात् सम्प्रकाशते ॥९३॥

हे कुलेश्वरि ! ब्रह्म की परिभाषा की तुम स्वयं प्रमाण हो। तुम जानती हो कि, शास्त्र उसे अरूप (निराकार), भावनागम्य (अनुभूति का विषय), परात्पर, निष्कल, निर्मल, नित्य, निर्गुण, आकाशवत् शून्य, अनन्त, अव्यय और मन तथा वाणी से अगोचर परम तत्त्व कहते हैं। ऐसी अवस्था में भी देवि ! मेरी यह घोषणा है कि, वह भी इस 'श्रीपराप्रासाद' मन्त्र के प्रभाव से सम्यक् रूप से प्रकाशमान हो जाता है ॥९२-९३॥

तस्मान्मन्त्रमिदं देवि पराप्रासादसंज्ञकम्।
परतत्त्वस्वरूपत्वात् सच्चिदानन्दलक्षणात् ॥९४॥

इसलिये देवि पार्वति ! यह 'श्रीपराप्रासाद' संज्ञा से विभूषित मन्त्र, जो स्वयं ब्रह्म

का भी प्रकाशक है, परतत्त्व स्वरूप है—यह स्वयं सिद्ध हो जाता है। इसे हम सत्, चित् और आनन्द की लाक्षणिकता से भी अधिक महत्त्व देते हैं ॥९४॥

शिवशक्तिमयत्वाच्च भुक्तिमुक्तिप्रदानतः।
सकर्मापि च निष्कर्म सगुणश्चापि निर्गुणम् ॥९५॥

हम दोनों के अंश होने के कारण इसे शिवशक्तिमय मन्त्र भी कहते हैं। इसमें भुक्ति और मुक्ति प्रदान करने की अद्भुत क्षमता है। इन दोनों कारणों से इसका महत्त्व बढ़ जाता है। यह कर्ममय है। इसमें सक्रियता का बीज विद्यमान है। इसलिये इसे सकर्मा भी कहते हैं। साथ ही इसे निष्कर्म के रूप में भी जाना जाता है। यह निर्गुण भी माना जाता है ॥९५॥

श्रीप्रासादपरामन्त्रं सर्वमन्त्रशिरोमणिम्।
जपन् भुक्तिश्च मुक्तिश्च लभते नात्र संशयः ॥९६॥

यह मन्त्र सभी मन्त्रों का शिरोमणि मन्त्र है। इसके जप करने से व्यक्ति भुक्ति और मुक्ति दोनों को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। इस तथ्य में सन्देह नहीं है ॥९६॥

बहुनात्र किमुक्तेन सर्वसारं शृणु प्रिये।
श्रीप्रासादपरामन्त्रसमं मन्त्रं न विद्यते ॥९७॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति ! इस 'श्रीपराप्रासाद' मन्त्र के माहात्म्य के विषय में जितना अधिक कहा जाय, वही कम है। अब मैं निचोड़ अर्थ कहने का निश्चय कर स्पष्ट करना चाहता हूँ। वह यह कि, इस मन्त्र के समान विश्व में कोई मन्त्र नहीं है ॥९७॥

इदमेव परं ज्ञानमिदमेव परं तपः।
इदमेव परं ध्यानमिदमेव परार्चनम् ॥९८॥

श्रीपराप्रासाद मन्त्र का ज्ञान ही सबसे बड़ा ज्ञान है। इसकी जानकारी और इसके जप से बढ़कर कोई तपस्या नहीं मानी जाती। सबसे उत्तम ध्यान पराप्रासाद मन्त्र का ही होता है। इस मन्त्र के प्रयोग से बढ़कर कोई पूजा नहीं होती ॥९८॥

इदमेव परा दीक्षा इदमेव परो जपः।
इदमेव परं तत्त्वमिदमेव परं व्रतम् ॥९९॥

इससे बढ़कर न कोई दीक्षा होती है और न इस मन्त्र से महत्त्वपूर्ण जप ही है। संसार में इससे रहस्यमय कोई तत्त्व नहीं माना जाता। सर्वोत्तम व्रत भी यही है ॥९९॥

इदमेव परो यज्ञ इदमेव परात् परम्।
इदमेव परं श्रेय इदमेव परं फलम् ॥१००॥

सर्वोत्तम यज्ञ, परात्पर मन्त्र, सर्वश्रेष्ठ श्रेय, सबसे महत्त्वपूर्ण फल श्रीपराप्रासाद

मन्त्र ही माना जाता है। यदि हम यह कहें कि, यही मन्त्र परब्रह्म है, तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। सबसे उत्तम गति जिसे हम सभी सद्गति कहते हैं, वह इसी मन्त्र पर निर्भर है ॥१००॥

इदमेव परं ब्रह्म इदमेव परा गतिः ।
इदमेव परं गुह्यं सत्यं सत्यं न संशयः ॥
इति मत्वा मनुवरं तन्निष्ठः स्यात् सदा प्रिये ॥१०१॥

इससे बढ़कर कोई गुह्य रहस्य मन्त्र नहीं माना जाता। यह कथन सर्वथा सत्य है। इसकी सत्यता में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। मेरी उक्त बातें नितान्त सत्य और श्रेयस्कर हैं। यह जानकर इस सर्वातिशायी मन्त्रप्रवर में ही अपनी एकनिष्ठता होनी चाहिये। भगवान् कहते हैं कि, प्रिये ! इसी उत्तमोत्तम मन्त्र को सदा निष्ठापूर्वक अपनाना चाहिये ॥१०१॥

आगमोक्तेन विधिना क्रमपूजापुरःसरम् ।
श्रीप्रासादपरामन्त्रं शतमष्टोत्तरं जपेत् ॥
मुच्यते ब्रह्महत्यादिमहापापैश्च पञ्चभिः ॥१०२॥

प्रस्तुत आगम में निर्दिष्ट विधि के अनुसार क्रमिक रूप से पूजा में परायण रहना चाहिये। विधिपूर्वक इस श्रीपराप्रासाद मन्त्र का कम से कम अष्टोत्तर शत अर्थात् १०८ बार जप करना आवश्यक माना जाता है। इस मन्त्र के महाफलप्रद जप से ब्रह्महत्या आदि पाँच प्रकार के महापापों से मुक्ति मिल जाती है। ये पाँच महापाप निम्नलिखित हैं—

१. ब्रह्महत्या, २. सुरापानं, ३. स्तेयं, ४,५. गुर्वङ्गनागमः ।
महान्ति पातकान्याहुस्तत्संसर्गश्च पंचमम् ॥ (मनुस्मृति-११।५४)

इस तरह इस मन्त्र का माहात्म्य सर्वोत्कृष्ट सिद्ध हो जाता है ॥१०२॥

द्विशतं यो जपेद्देवि श्रीप्रासादपरामनुम् ।
चतुरशीतिलक्षांशधारणाचरितैरपि ॥१०३॥
स्वयोनिजाङ्गचरितैरसंख्यजननार्जितैः ।
वार्द्धके यौवने बाल्ये जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ॥१०४॥
कर्मणा मनसा वाचा ज्ञानाज्ञानकृतैरपि ।
महापातकसङ्घैश्च ह्युपपातककोटिभिः ।
मुच्यते नात्र सन्देहः सत्यमेतद्वरानने ॥१०५॥

भगवान् कहते हैं कि, देवि पार्वति ! इसको जो मन्त्रजापक दो माला अर्थात् २१६ बार जप करता है, वह महान् से महान् पापों से भी मुक्त हो जाता है। यह नितान्त सत्य उक्ति है। इसमें सन्देह करने की कोई गुंजाइश नहीं है।

उन महापातकों के समय, सीमा भेद-प्रभेद और परिस्थितियों के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट कर रहे हैं—

वस्तुत: विश्व में योनियों की संख्या चौरासी लाख मानी जाती है। इनके किसी अंश में जन्म लेने से उस योनि के अनुकूल उत्पन्न धारणाओं के अनुसार जीव आचरण करता है। उसके आचरित कर्म उसके संस्कारों को संस्कृत, दुष्कृत और परिष्कृत करते हैं। उस योनि के उसके ऐसे संस्कार उसको असंख्य जन्मों के सुकृताकृत्य से प्रभावित होते हैं। इसी के साथ जीव अपने जीवन में वार्धक्य, यौवन, बाल्य, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति दशाओं में विभिन्न कर्म करते रहते हैं। इन कर्मों में उनकी वाणी, उनके मन भी लिप्त रहते हैं। उसी क्रम में कभी जीव जानकारी में काम करता है और कभी अज्ञानवश कुकर्मों का सम्पादन भी हो जाता है।

इसी क्रम में जीव के कर्मकोष में महापातकों की राशि जमा होती जाती है। इसकी जानकारी जीव को अगले जन्म में नहीं रह पाती। महापातकों के साथ उनकी पूँछ बनकर उपपातक भी फलते-फूलते रहते हैं। यह भयंकर स्थिति जीव को जंजाल में डालती रहती है। इसी में भगवत्कृपा से जीव के भाग्य का पिटारा खुल जाता है और उसे श्रीपराप्रासाद मन्त्र की जानकारी हो जाती है और उसका परम कल्याण हो जाता है ॥१०३-१०५॥

त्रिशतं यो जपेद्देवि श्रीप्रासादपरामनुम्।
सर्वक्रतुषु यत् पुण्यं सर्वदानेषु यत् फलम् ॥१०६॥

इसी जपसंख्या के सन्दर्भ में भगवान् कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! जो जपकर्त्ता इस मन्त्र का ३ माला जप करता है, अर्थात् ३२४ बार प्रतिदिन जप करता है, वह समस्त यज्ञों के फल को प्राप्त कर लेता है। इसके साथ ही महादान के फल से भी लाभान्वित हो जाता है ॥१०६॥

सर्वव्रतेषु यत् पुण्यं सर्वतीर्थेषु यत् फलम्।
तत् फलं लभते देवि नात्र कार्या विचारणा ॥१०७॥

भगवान् का वचन है कि, व्यक्ति सुफल की कामना से व्रतों का आचरण करता है, तीर्थों की यात्रा करता है। इन कर्मों अर्थात् व्रतों और तीर्थाटन से जो फल प्राप्त होते हैं, वे सारे फल इतनी संख्या में जप करने से मिलते हैं और वह जापक उन्हें प्राप्त करता है। यह नितान्त सत्य कथन है। इसमें तर्क के लिये कोई स्थान नहीं है ॥१०७॥

चतुःशतं जपेद् यस्तु श्रीप्रासादपरामनुम्।
सदा तस्य गृहद्वारे ह्यणिमाद्यष्टसिद्धयः ॥
सेवन्ते नात्र सन्देहः सर्वसिद्धिसमन्विताः ॥१०८॥

भगवान् कह रहे हैं कि, जो जपकर्त्ता इस महामन्त्र का ४३२ बार, अर्थात् चार अष्टोत्तरशत संख्या में जप करता है, उसके दरवाजे पर सदा अणिमा आदि सिद्धियाँ

उपस्थित रहती हैं तथा जपकर्त्ता की सेवा के लिये तत्पर रहती हैं। वह सारी सिद्धियों से सम्पन्न हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं ॥१०८॥

यद् यन्मनोऽभिलषितं तत्तत् प्राप्नोत्यसंशयः।
धर्मार्थकाममोक्षाश्च साक्षात्तस्य करे स्थिताः ॥१०९॥

उसकी सारी मनोकामनायें पूरी हो जाती हैं। निःसन्देह उसकी चाहत कभी अधूरी नहीं रहती। इससे भी आगे बढ़कर यह कहा जा सकता है कि, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चारों पुरुषार्थ हस्तामलक के समान उसे उपलब्ध रहते हैं ॥१०९॥

सालोक्यप्रमुखां देवि लभेन्मुक्तिं चतुर्विधाम्।
सत्यमेतन्न सन्देहः साधकः कुलनायिके ॥११०॥

मुक्ति के कई प्रकार शास्त्रों में वर्णित हैं। जैसे शैव ज्ञान की उपलब्धि को ही मुक्ति कहते हैं; किन्तु पौराणिक लोग सालोक्य,सारूप्य, सायुज्य और कैवल्य आदि चार प्रकार की मुक्तियाँ मानते हैं। साधक इनको उपलब्ध करने का प्रयास करें या न करें 'श्रीपरा-प्रासाद' मन्त्र के प्रभाव से ही यह उपलब्ध होती हैं, इसमें सन्देह के लिये अवकाश नहीं है ॥११०॥

जपेत् पञ्चशतं यस्तु श्रीप्रासादपरामनुम्।
तत्फलं नैव शक्नोमि कथितुं कुलनायिके ॥१११॥

इसी क्रम में जो साधक ५ बार अष्टोत्तरशत मन्त्र का जप करता है, अर्थात् पाँच माला में ५४० मन्त्रों का प्रतिदिन जप करता है, भगवान् कहते हैं कि, कुलनायिके पार्वति ! उसका इतना महान् फल होता है कि, मैं स्वयं उसके सम्बन्ध में कुछ नहीं कह पा रहा हूँ। अर्थात् इससे अनिर्वचनीय फलों की प्राप्ति होती है ॥१११॥

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन सर्वावस्थासु सर्वदा।
श्रीप्रासादपरामन्त्रं जपेद् भुक्तिविमुक्तये ॥११२॥

इसलिये सारे उपाय कर प्रयत्नपूर्वक ऐसा अवसर प्रतिदिन अवश्य निकालना चाहिये कि, श्रीपराप्रासाद मन्त्र का जप किया जा सके। चाहे किसी भी अवस्था में हो, विना इसका विचार किये मन्त्रजप अनिवार्यतः आवश्यक है। इससे भुक्ति और मुक्ति रूप महार्घ उद्देश्यों की पूर्ति अनायास होती है ॥११२॥

नास्ति गुर्वधिकं तत्त्वं न शिवाधिकदैवतम्।
न हि वेदाधिका विद्या न कौलसमदर्शनम् ॥११३॥
न कुलादधिकं ज्ञानं न ज्ञानादधिकं सुखम्।
नाष्टाङ्गादधिका पूजा न हि मोक्षाधिकं फलम्।
इदं सत्यमिदं सत्यं सत्यं सत्यं न संशयः ॥११४॥

शास्त्र में यह प्रसिद्ध है कि, गुरु से बढ़कर कोई मन्त्र नहीं, शिव से बड़ा कोई

देवता नहीं, वेदों से बढ़कर कोई विद्या नहीं और कौलदर्शन के समान कोई दर्शन नहीं। इसी तरह कुलज्ञान से बढ़कर कोई ज्ञान नहीं और यह भी निश्चित है कि, ज्ञान से बढ़कर संसार में कोई सुख नहीं होता। न अष्टांग प्रणिपात से बढ़कर कोई पूजा होती है और न मोक्ष से बढ़कर कोई सुपरिणाम होता है। निःसन्देह ये सारी बातें सत्य की कसौटी पर खरे उतरे स्वर्ग के समान सच्ची, शुद्ध और सर्वमान्य हैं ॥११३-११४॥

श्रीप्रासादपरामन्त्रमाहात्म्यमिह वर्णितुम्।
न शक्नोमि वरारोहे कल्पकोटिशतैरपि ॥११५॥

हे वरारोहे पार्वति ! यदि करोड़ों कल्पों तक मैं स्वयं श्रीपराप्रासाद मन्त्र के माहात्म्य का वर्णन करता रहूँ, तो भी इसके अन्तहीन माहात्म्य का वर्णन नहीं कर सकता ॥११५॥

गिरौ सर्षपमात्रन्तु सागरे वालुका यथा।
तथा च मन्त्रमाहात्म्यं किञ्चित्ते कथितं मया ॥११६॥

एक तरफ एक बड़ा-सा पहाड़ खड़ा हो और कोई उसकी बड़ाई का वर्णन करने के लिये उसके लघु पाषाण लोष्ठ की ही महत्ता बताना शुरू करे, वही हालत मेरी है। कहाँ विशाल पर्वत और कहाँ एक सर्षपबीज ! कहाँ सागर का विस्तार और कहाँ उसकी सिकता का एक कण ! प्रिये ! मेरा इतना कथन भी वैसा ही स्वल्प है। मैंने तुम्हें जो कुछ भी सुनाया है, मात्रा की दृष्टि से वह इतना-सा ही है। कुछ-कुछ मात्र है ॥११६॥

ऊद्ध्र्वाम्नायस्य माहात्म्यं श्रीप्रासादपरामनोः।
इति ते कथितं देवि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥११७॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि देवि पार्वति ! मैंने अतिसंक्षेप में तुम्हें ऊर्ध्वाम्नाय के माहात्म्य के सम्बन्ध में यह कुछ बताया। कुछ-कुछ इसी तरह इसी सन्दर्भ में श्रीपराप्रासाद मन्त्र के विषय में जानकारी दी। तुमने पहले यही पूछा था। उसका समाधान यहाँ तक किया गया है। तुम्हारी अब क्या इच्छा है ? क्या जिज्ञासा है ? तुम क्या सुनना चाहती हो ? बताओ, मैं तुम्हारी जिज्ञासा का समाधान करने के लिये प्रस्तुत हूँ ॥११७॥

सर्वागमोत्तमोत्तम महारहस्यमय ऊर्ध्वाम्नाय कुलार्णवतन्त्रान्तर्गत डॉ. परमहंस-मिश्रविरचित नीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्यसंवलित 'श्रीपराप्रासादमन्त्र-कथन' नामक तृतीय उल्लास परिपूर्ण ॥३॥

॥ शुभं भूयात् ॥

चतुर्थ उल्लासः

श्रीदेव्युवाच

कुलेश श्रोतुमिच्छामि श्रीप्रासादपरामनुम् ।
मन्त्रराजं वदेशान न्यासध्यानादिभिः सह ॥१॥

श्री देवाधिदेव महादेव के प्रश्न को सुनकर देवी पार्वती ने कहा—कुलाधीश्वर भगवन् ! मैं आपके मुखारविन्द से मकरन्द सुधा के समान सरस शब्दों में उसी मन्त्र के सम्बन्ध में जानना चाहती हूँ, जिसे आपने श्रीपराप्रासाद मन्त्र की संज्ञा से विभूषित किया है। हे ईशान ! आप हमें उसी मन्त्र के सम्बन्ध में पूरी तरह अवगत करा दें कि, उसका न्यास कैसे किया जाता है और उसके जप की विधि क्या है ? उस मन्त्र का रूप क्या है ? ॥१॥

श्रीईश्वर उवाच

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
तस्य श्रवणमात्रेण शिवाकारः प्रजायते ॥२॥

भगवान् शंकर ने कहना प्रारम्भ किया। सर्वप्रथम उन्होंने यह स्पष्ट किया कि तुम जो कुछ पूछ रही हो, मैं उसे अवश्य ही सुनाऊँगा। इस मन्त्र के श्रवण मात्र से श्रोता शिव के समान हो जाता है ॥२॥

इतः पूर्वं मया नोक्तो मन्त्रोऽयं यस्य कस्यचित् ।
तव स्नेहाद्वदाम्यद्य शृणु मत्प्राणवल्लभे ॥३॥

इससे पहले मैंने इस मन्त्र के सम्बन्ध में किसी से कुछ भी नहीं कहा है। तुम मेरी प्राणप्रिया सर्वशक्तिमती स्नेहमयी भार्या हो। तुम्हारे स्नेह से मैं प्रभावित हूँ। आज इस मन्त्र के सम्बन्ध में तुमसे सब कुछ कहूँगा, जिससे तुम्हारी जिज्ञासा की शान्ति हो सके ॥३॥

अनन्तचन्द्रभुवनमिन्दुबिन्दुयुगान्वितः ।
श्रीप्रासादपरामन्त्रो भुक्तिमुक्तिफलप्रदः ॥४॥
पराप्रासादमन्त्रस्तु सादिरुक्तः कुलेश्वरि ।

अनन्त चन्द्र, भुवन, इन्दु, बिन्दु युगल से समन्वित यह रहस्य मन्त्र ही श्रीपराप्रासाद मन्त्र संज्ञा से विभूषित किया जाता है। यह भुक्ति और मुक्तिरूप उभय प्रकारक फल प्रदान करने में समर्थ है। इसके आदि में स् अक्षर का प्रयोग करते हैं। इसलिये सादि कहते हैं। इस प्रकार कूट भाषा का प्रयोग कर भगवान् शंकर ने पार्वती के समक्ष इस मन्त्र की वर्णात्मकता को उद्घाटित कर दिया; किन्तु अन्य लोगों के लिये यह अनुद्घाटित और

गोपनीय ही बना रहा। निघण्टु के अनुसार विचार करने पर कूटों का इस प्रकार स्पष्टीकरण होता है—

सादि = आदि में स्। अनन्त चन्द्र = नाद-बिन्दु। भुवन = औकार। इन्दु = स्। बिन्दु = हकार। कुल मिला देने से इन वर्णों से 'स्हौं' बीज मन्त्र का उद्धार हो रहा है। इसी बीज को श्रीपराप्रासाद मन्त्र कहते हैं। इस मन्त्र के सम्बन्ध में यहाँ दो विशेषणों का प्रयोग किया गया है—१. श्रीप्रासादपरामन्त्र और २. श्रीपराप्रासाद मन्त्र। दूसरा मन्त्र ही सादि होता है। यह उक्त: शब्द से ज्ञात और अनुमित होता है। पहला मन्त्र अनन्त चन्द्र भुवन वाला है। इसका उद्धार हसौं और दूसरे मन्त्र का उद्धार स्हौं रूप में होकर दोनों साथ भी प्रयुक्त किये जा सकते हैं। वास्तव में इसके स्हौः हसौं और सौः ये तीन रूप होते हैं ॥४॥

प्रकाशानन्दरूपत्वात् प्रत्यक्षफलदानतः ॥५॥
प्रसन्नचित्तवश्यत्वात् प्रसिद्धार्थनिरूपणात्।
प्राक्तनाघप्रशमनात् प्रपन्नार्त्तिविनाशनात्॥
प्रसादकरणाच्छीघ्रं प्रासादमनुरीरितः ॥६॥

इसे प्रासाद मन्त्र क्यों कहते हैं ? इस जिज्ञासा के समाधान के रूप में कुछ कारणों की गणना यहाँ की गयी है। जैसे—१. यह मन्त्र प्रकाश आनन्द रूप है। इसलिये इसे प्रासाद मन्त्र कहते हैं। २. यह प्रत्यक्ष फल को प्रदान करने वाला है। अत: इसका महत्त्व है। ३. यह प्रसन्नचित्त साधक द्वारा वश्य है। ४. यह प्रसिद्धार्थ का निरूपण करता है। ५. यह प्राक्तन पाप का प्रशमन करता है। ६. यह शरणागत की पीड़ा का विनाश करता है और ७. तुरत प्रसाद के लिये तत्पर रहता है। इसीलिये इसे प्रासाद मन्त्र कहते हैं ॥५-६॥

परतत्त्वस्वरूपत्वात् परमात्मप्रकाशनात्।
परमानन्दजननात् परधर्मनिदर्शनात् ॥७॥
परोक्षफलदानाच्च परमैश्वर्यकारणात्।
परत्वात् सर्वमन्त्राणां परामन्त्र इतीरितः ॥८॥
कुलमन्त्रमिदं देवि न्यासं शृणु वदामि ते।

यह परतत्त्वस्वरूप होने के कारण, परमात्मप्रकाशक होने के फलरूप, परमानन्द-जनक होने, परमधर्म का उदाहरण होने के कारण इसका अन्यतम महत्त्व है। यह परोक्ष फलों को तुरत प्रस्तुत करने में समर्थ है। परम ऐश्वर्य का एकमात्र कारण है। सभी मन्त्रों में सर्वश्रेष्ठ है। इसे परामन्त्र भी कहते हैं। कुल मिलाकर यह पराप्रासाद मन्त्र भी हो जाता है। इसे कुल मन्त्र भी कहते हैं। यहाँ से आगे अब इसके न्यास के विषय में कहने जा रहे हैं ॥७-८॥

आदौ प्रातः समुत्थाय गुरुदेवानुचिन्तनम् ॥९॥
कन्दमूले मनः कृत्वा कुर्याद्विण्मूत्रमोचनम् ।
शौचास्यशोधनं स्नानं सन्ध्यातर्पणमाचरेत् ॥१०॥
एकान्ते द्वारयजनं विघ्नत्रयनिवारणम् ।
पूजास्थानप्रवेशश्च तथासनोपवेशनम् ॥११॥

सबसे पहले प्रातःकाल उठकर गुरुदेव का अनुचिन्तन करना चाहिये। कन्द और मूलाधार चक्र में मन को लगाकर शौच क्रिया से निवृत्त होना चाहिये। मुखशोधन और स्नानोपरान्त सन्ध्या, तर्पण की प्रक्रिया पूरी करनी चाहिये। एकान्त में द्वारपूजन के उपरान्त भौतिक, दैहिक और दैविक तापों रूप विघ्नों के निवारण के साथ ही पूजास्थान में प्रवेश करना उचित होता है। अपना जो आसन सिद्ध हो, उसी आसन में आसीन होना चाहिये ॥९-११॥

देवीपूजागृहध्यानं शिवादिगुरुवन्दनम् ।
आसनं गणपक्षेत्रपालवन्दनमीश्वरि ॥१२॥
पादुकास्मरणञ्चैव दिननाथार्चनं प्रिये ।
कराङ्गशोधनं प्राणायामः स्वब्रह्मरन्ध्रके ॥१३॥

देवी का पूजन पहले, उसके बाद स्थान और वास्तु देवता का ध्यान और पूजनादि, पुनः शिवार्चन, गुरुवन्दन, गणपति, क्षेत्रपाल आदि का स्थानप्रकल्पन एवं अर्चन करना चाहिये। इसी क्रम में गुरुपादुका-स्मरण, सूर्यपूजन, कराङ्गशोधन और ब्रह्मरन्ध्र को भी भावित करने वाला प्राणायाम करना चाहिये। इस प्राणायाम से पूरा शरीर पावन हो जाता है ॥१२-१३॥

दिग्बन्धनञ्चाङ्गयुग्मविधियुक्ताञ्च मातृकाम् ।
दशप्रकारभूताख्यां लिपिं कमठसंज्ञकाम् ॥१४॥

इस पूजन क्रम में दिशाओं से आने वाले विघ्नों को रोकने के लिये दिग्बन्ध की प्रक्रिया भी पूरी करनी आवश्यक मानी जाती है। दिग्बन्ध के बाद अङ्गन्यास, करन्यास और विधिपूर्वक मातृकान्यास करना चाहिये। मातृकान्यास—१. अन्तःमातृका, २. बहिर्मातृका (सृष्टि), ३. स्थिति, ४. संहार, ५. कलामातृका, ६. श्रीकण्ठमातृका, ७. केशवमातृका, ८. लज्जाबीजमातृका, ९. रमाबीजमातृका और १०. कामबीजमातृका—इन दस रूपों में व्यक्त कमठ नामक लिपि का न्यास होना चाहिये। कमठ लिपि का न्यास कुलार्णवतन्त्र का अपना न्यास है ॥१४॥

ऋषिरस्य परः शम्भुश्छन्दश्चाव्यक्तपूर्विका ।
गायत्री देवता चात्र सर्वमन्त्रेश्वरी परा ॥१५॥
दीर्घत्रययुतं मूलं बीजं शक्तिश्च कीलकम् ।
षड्दीर्घयुक्तमूलेन षडङ्गानि च पार्वति ॥१६॥

इस बीजमन्त्र के ऋषि स्वयं शम्भु हैं। इन्होंने ही इस मन्त्र का सर्वप्रथम आविष्कार और उद्धार किया था। इसका छन्द 'अव्यक्त गायत्री' है। इस बीज की देवता स्वयं परा देवी हैं। वे सर्वमन्त्रेश्वरी शक्ति रूप से प्रतिष्ठित हैं। इस मूल मन्त्र के दीर्घत्रय युक्त बीज, शक्ति और कीलक हैं। इसके बाद छः दीर्घ स्वर युक्त मूल बीज से षडंग न्यास करना चाहिये ॥१५-१६॥

श्लोक के पश्चात् विनियोग, ऋष्यादि न्यास, करन्यास और षडंगन्यास संस्कृत में दिया गया है। यद्यपि वह स्पष्ट है, फिर भी उसका हिन्दी अर्थ यहाँ दिया जा रहा है—

विनियोग—

इस श्रीपराप्रासाद मन्त्र के **ऋषि**—परशम्भु देव हैं, **छन्द**—अव्यक्ता गायत्री है, **बीज**—ह्सां स्हां, **शक्ति**—ह्सीं स्हीं, **कीलक**—ह्सूं स्हूं हैं।

सर्वमन्त्रेश्वरी पराशक्ति की प्रसादसिद्धि के लिये इस मन्त्र का विनियोग करते हैं। इसके बाद तीनों प्रकार के न्यास करने के उपरान्त इसका यथासंख्य जप किया जाता है।

ऋष्यादिन्यास—

१. परशम्भु ऋषि को शिर में न्यस्त कर प्रणाम कर रहा हूँ।

२. अव्यक्ता गायत्री छन्द को मुख में न्यस्त कर प्रणाम कर रहा हूँ।

३. सर्वमन्त्रेश्वरी परादेवता को हृदय में न्यस्त कर प्रणाम कर रहा हूँ।

४. ह्सां स्हां बीजों को गुह्य में न्यस्त कर प्रणाम कर रहा हूँ।

५. ह्सीं स्हीं शक्तियों को नाभि में न्यस्त कर प्रणाम कर रहा हूँ।

६. ह्सूं स्हूं लिंग में न्यस्त कर कीलक के लिये नमस्कार है।

इस प्रकार छः बार न्यास कर सर्वमन्त्रेश्वरी पराप्रसाद सिद्धि के लिये यह विनियोग सार्थक होता है। विनियोग में प्रणाम करने का विधान नहीं होता, पर यहाँ पैर में प्रणाम का उल्लेख है।

करन्यास—

ऊपर की तरह सानुस्वार आकारान्त दीर्घ बोलकर अंगुष्ठों में प्रणाम करें। दीर्घ ईकारान्त बोलकर तर्जनियों में प्रणाम। दीर्घ ऊकारान्त बोलकर दोनों मध्यमा में प्रणाम करें। ऐकारान्त बोलकर अनामिकाओं में और औकारान्त बोलकर कनिष्ठिकाओं में प्रणाम करें। विसर्गान्त बोलकर करतल, करपृष्ठों में प्रणाम करना चाहिये।

षडंगन्यास—

१. सानुस्वार आकारान्त दो बीजों को बोलकर हृदय के लिये नमः।

२. सानुस्वार ईकारान्त दो बीजों को बोलकर शिर के लिये स्वाहा।

३. सानुस्वार ऊकारान्त दो बीजों को बोलकर शिखा के लिये वषट्।

४. सानुस्वार ऐकारान्त दो बीजों को बोलकर कवच के लिये हुं।

५. सानुस्वार औकारान्त दो बीजों को बोलकर नेत्रत्रय के लिये वौषट्।

६. सानुस्वार विसर्गान्त दो बीजों को बोलकर अस्त्र के लिये फट् ॥१५-१६॥

पञ्चब्रह्मन्यास—

ईशतत्पुरुषाघोरसद्योजातात्मनस्तथा ।
पञ्चाङ्गुलिषु विन्यस्य मूर्त्तिं वक्त्रेषु विन्यसेत् ॥१७॥
पञ्चसु ब्रह्मणि तथैवाङ्गविन्यासमाचरेत् ।
आधारशक्तिमारभ्य पीठमन्त्रान्तमम्बिके ॥१८॥
अल्पषोढां कुलेशानि कुर्यात् पूर्वोक्तवर्त्मना ।

ईशान, तत्पुरुष, अघोर, सद्योजात और वामदेव को क्रमशः पाँचों अंगुलियों में न्यस्त करना चाहिये। इन मूर्त्तियों को प्रणाम करते हुए अंगुलिन्यास और मूर्त्तिन्यास साथ-साथ पूरे किये जाते हैं। इस तरह पाँच अंगों के न्यास भी विहित हैं। आधार शक्ति से शुरू कर पीठ पर्यन्त भी ये न्यास किये जाते हैं। भगवान् कह रहे हैं कि, कुलेशानि अम्बिके ! इन न्यासों को अवश्य करना चाहिये। इसके साथ इस न्यास की पूरी विधि संस्कृत में है। इस विधि को संस्कृत के अनुसार ही सम्पन्न करना चाहिये। न आने पर गुरु का आश्रय लेना ही श्रेयस्कर होता है ॥१७-१८॥

१. मूर्त्तिन्यास (अंगुलियों में)—

सर्वप्रथम 'ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौं स्हौं' इन छः बीजों को बोलकर 'हों' बीज के साथ ईशान के लिये दोनों अंगुष्ठों में नमस्कार कर अंगुष्ठ, अंगुलि में ईशान मूर्त्ति का न्यास करते हैं।

छः बीजों के साथ 'हें' बीज तत्पुरुष के नमस्कार के लिये दोनों तर्जनि को मिलाते हैं।

इसी तरह छः बीज + हुं अघोर को मध्यमाओं को सटाकर प्रणाम करें।
इसी तरह छः बीज + हिं वामदेव को अनामिकाओं को सटाकर प्रणाम करें।
इसी तरह छः बीज + हं सद्योजात दोनों कनिष्ठाओं को सटाकर प्रणाम करें।

२. अंगुलिन्यास—(अंगुलियों में मन्त्ररूप शिवशक्ति न्यास)

दोनों अंगुष्ठ— ॐ ऐं ह्रीं ह्सौं स्हौं सर्वज्ञ के लिये अंगुष्ठों में नमन हो।
दोनों तर्जनी— ॐ ६ + अमृते तेजोमालिनि नित्यतृप्त के लिये तर्जनियों में नमन हो।
दोनों मध्यमा— ॐ ६ + ब्रह्मशिरसे स्वाहा प्रचलितशिखायनादिबोध शिव को मध्यमाओं में नमन हो।
दोनों अनामिका— ॐ६ + वज्रिणे वज्रहस्त स्वतन्त्र शिव के लिये अनामिकाओं में नमस्कार।
दोनों कनिष्ठा— ॐ६ + सौं वौं हौं नित्यलुप्त शक्ति के लिये कनिष्ठाओं में नमस्कार।
दोनों करतल— ॐ६ + श्रीं श्रीं पशुं हुं फट् अनन्तशक्ति के लिये करतलों में नमस्कार।

३. वक्त्रन्यास—(पाँच मुखों में)

१. ॐ ईशानः सर्वविद्यानां शशिन्यै नमः बोलकर ऊपर के मुख में,

२. ईश्वरः सर्वभूतानाम् अङ्गदायै नमः कहकर पूरब मुख में,

३. ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिर्ब्रह्मेष्टदायै नमः कहकर दक्षिणमुख में,

४. ब्रह्मा शिवो मेऽस्तु मरीच्यै नमः मन्त्रोच्चार कर उत्तरी मुख में और

५. सदाशिवोऽम् अंशुमालिन्यै नमः मन्त्रोच्चार कर पश्चिममुख में न्यास करना चाहिये।

४. वक्त्राधः न्यास—

१. तत्पुरुषाय विद्महे शान्त्यै नमः मन्त्र का पूर्वमुख के नीचे,

२. महादेवाय धीमहि विद्यायै नमः से दक्षिणमुख के नीचे,

३. तन्नो रुद्रः प्रतिष्ठायै नमः मन्त्र से उत्तरमुख के नीचे,

४. प्रचोदयात् निवृत्त्यै नमः मन्त्र से पश्चिममुख के नीचे न्यास करना चाहिये।

५. हृदयादिन्यास—

१. अघोरेभ्यः तमायै नमः से हृदय में,

२. अथ घोरेभ्यो मोहायै नमः मन्त्र से ग्रीवा में,

३. घोर-क्षमायै नमः मन्त्र से दाहिने कन्धे पर,

४. घोरतरेभ्यो निद्रायै नमः मन्त्र से बायें कन्धे पर,

५. सर्वतः शर्वव्याध्यै नमः मन्त्र से नाभि में,

६. सर्वेभ्यो मृत्यवे नमः मन्त्र से कुक्षि में,

७. नमस्तेऽस्तु क्षुधायै नमः मन्त्र से पीठ में,

८. रुद्ररूपेभ्यः तृष्णायै नमः मन्त्र से हृदय में न्यास करें।

कटि प्रदेश से नीचे के अंगों में न्यास—

१. वामदेवाय नमो राजायै नमः मन्त्र से गुह्य में,

२. ज्येष्ठाय नमः श्रेष्ठाय नमः रक्षायै नमः मन्त्र से लिंग में,

३. रुद्राय नमो रत्यै नमः मन्त्र से दाहिनी जाँघ के ऊपर और

४. कालाय नमो मालिन्यै नमः मन्त्र से बाँयें जंघे में ऊपर,

५. कलविकरणाय नमः काम्यायै नमः मन्त्र से दक्ष जानु (घुटने) में,

६. विकरणाय नमः शशिन्यै नमः मन्त्र से वाम जानु में,

७. बलविकरणाय नमः क्रियायै नमः मन्त्र से दक्ष जंघा में,

८. विकरणाय नमः वृद्ध्यै नमः मन्त्र से वाम जंघा में,

९. बलाय नमः स्थिरायै नमः मन्त्र से दाहिने नितम्ब के अंग कूल्हे में,

१०. बलप्रमथनाय नमः रात्र्यै नमः मन्त्र से बाँयें कूल्हे में,

११. सर्वभूतदमनाय नमो भ्रामिण्यै नमः मन्त्र से कटिप्रदेश में,

१२. मनोन्मनाय नमः मोहिन्यै नमः मन्त्र से दायें पार्श्व में,

१३. उन्मनाय नमः जरायै नमः से वाम पार्श्व में न्यास करना चाहिये।

महाषोढाह्वयं न्यासं ततः कुर्यात् समाहितः।
वक्ष्यमाणेन विधिना देवताभावसिद्धये ॥१९॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, कुलाधीश्वरि ! ये ऊपर लिखे न्यास अल्पषोढान्यास कहे जाते हैं। इनके अनुसार इन्हें करने से साधक में दिव्यता ओत-प्रोत हो जाती है। इसके बाद महाषोढान्यास का सम्पादन भी आवश्यक माना जाता है ॥१९॥

यस्य कस्यापि नैवोक्तं तव स्नेहाद्वदाम्यहम्।
प्रपञ्चो भुवनं मूर्त्तिर्मन्त्रदैवतमातरः ॥
महाषोढाह्वयो न्यासः सर्वन्यासोत्तमोत्तमः ॥२०॥

यह न्यास अत्यन्त गोपनीय है। इसे मैंने आज ही केवल तुम्हारे स्नेह के कारण बताने का निर्णय किया है। महाषोढान्यास में—१. प्रपञ्चन्यास, २. भुवनन्यास, ३. मूर्त्तिन्यास, ४. मन्त्रन्यास, ५. दैवतन्यास और ६. मातृन्यास किये जाते हैं। ये महाषोढान्यास के भेद हैं ॥२०॥

महाषोढान्यास—

१. प्रपञ्चन्यास—

तत्रादौ परमेशानि प्रपञ्चन्यास उच्यते।
प्रपञ्चद्वीपजलधिगिरिपत्तनपीठकाः ॥२१॥
क्षेत्रं वनाश्रमगुहानदीचत्वरकोद्भिदः।
स्वेदाण्डजजरायुजा इत्युक्तास्ते हि षोडश ॥२२॥
श्रीर्माया कमला विष्णुवल्लभा पद्मधारिणी।
समुद्रतनया लोकमाता कमलवासिनी ॥२३॥
इन्दिरा मा रमा पद्मा तथा नारायणप्रिया।
सिद्धलक्ष्मी राजलक्ष्मीर्महालक्ष्मीरितीरिताः।
शक्तयस्तु प्रपञ्चानां स्वराणामधिदेवताः ॥२४॥

भगवान् शंकर कहते हैं कि, देवि ! परमेश्वरि ! मैं सबसे पहले तुम्हारे समक्ष प्रपञ्च-न्यास का कथन करने जा रहा हूँ। ये सोलह प्रकार के न्यास माने जाते हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं—१. प्रपञ्च, २. द्वीप, ३. जलधि, ४. गिरि, ५. पत्तन, ६. पीठ, ७. क्षेत्र, ८. वन, ९. आश्रम, १०. गुहा, ११. नदी, १२. चत्वर, १३. उद्भिद्, १४. स्वेदज, १५. अण्डज और १६. जरायुज। ये १६ प्रकार के प्रपञ्चन्यास पहले अवश्य करने चाहिये। इससे शरीर की विश्वव्याप्ति सिद्ध होती है।

इन सोलह न्यस्य प्रपञ्चादिकों की १६ शक्तियाँ भी होती हैं। इनके शक्तिक न्यास का ही प्रचलन है। ये सभी सोहल स्वरों की अधिदेवता मानी जाती हैं। इसके कारण न्यास में सर्वप्रथम स्वर अक्षर, उसके बाद न्यस्य प्रपंच-नाम और तत्पश्चात् शक्तिनाम

देकर उस अंग का नाम लेने की प्रथा है, जिस पर उन शक्तियों की स्थापना की जाती है। पूरी विधि इस प्रकार है—

१. अं प्रपञ्चरूपायै श्रियै नमः शिरसि
२. आं द्वीपरूपायै मायायै नमः मुखवृत्ते
३. इं जलधिरूपायै कमलायै नमः दक्षनेत्रे
४. ईं गिरिरूपायै विष्णुवल्लभायै नमः वामनेत्रे
५. उं पत्तनरूपायै पद्मधारिण्यै नमः दक्षकर्णे
६. ऊँ पीठरूपायै समुद्रतनयायै नमः वामकर्णे
७. ॠं क्षेत्ररूपायै लोकमात्रे नमः दक्षनासापुटे
८. ॠं वनरूपायै कमलवासिन्यै नमः वामनासापुटे
९. ऌं आश्रमरूपायै इन्दिरायै नमः दक्षकपोले
१०. ॡं गुहारूपायै मायायै नमः वामकपोले
११. एं नदीरूपायै रमायै नमः ऊर्ध्वोष्ठे
१२. ऐं चत्वररूपायै पद्मायै नमः अधरोष्ठे
१३. ओं उद्भिज्जरूपायै नारायणप्रियायै नमः ऊर्ध्वदन्तपंक्तौ
१४. औं स्वेदजरूपायै सिद्धलक्ष्म्यै नमः अधःदन्तपंक्तौ
१५. अं अण्डजरूपायै राजलक्ष्म्यै नमः जिह्वामूले
१६. अः जरायुजरूपायै महालक्ष्म्यै नमः जिह्वाधः

इस प्रकार पप्रञ्च नामों में लक्ष्मी के सोलह रूपों के साथ कारक चतुर्थी विभक्ति का रूप लगाकर सभी स्थानांगों में सप्तमी विभक्ति लगाकर न्यास मन्त्र बन जाते हैं। इनका प्रयोग साधक को इस रूप में ही करना चाहिये ॥२१-२४॥

लवस्त्रुटिः कला काष्ठा निमेषः श्वास एव हि।
घटिका च मुहूर्त्तश्च प्रहरो दिवसस्तथा ॥२५॥
सन्ध्या रात्रिस्तिथिश्चैव वारो नक्षत्रमेव च।
योगश्च करणं पक्षौ मासो राशिर्ऋतुस्तथा ॥२६॥
अयनं वत्सरयुगप्रलयाः पञ्चविंशतिः।
एतेषां स्थाननियमो हृदयान्तः समीरितः ॥२७॥
आर्योमा चण्डिका दुर्गा शिवाऽपर्णाऽम्बिका सती।
ईश्वरी शाम्भवीशानी पार्वती सर्वमङ्गला ॥२८॥
दाक्षायणी हैमवती महामाया महेश्वरी।
मृडानी चैव रुद्राणी शर्वाणी परमेश्वरी ॥२९॥
काली कात्यायनी गौरी भवानीति समीरिता।
शक्तयः स्युर्लवादीनां स्पर्शानामधिदेवताः ॥
एतासां स्थाननियमो हृदयान्तः समीरितः ॥३०॥

इसी सन्दर्भ में भगवान् शंकर ने लव समय से लेकर प्रलय पर्यन्त कालतत्त्व के विभिन्न १५ विभागों के नामोल्लेखपूर्वक उनकी शक्तियों का भी वर्णन किया है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि, कालतत्त्व के इन २५ विभागों की जो शक्तियाँ हैं, ये ही स्पर्शवर्ण के रूप में व्याकरणशास्त्र में प्रसिद्ध कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग रूप पाँच वर्गों में गृहीत २५ वर्णों की भी अधिदेवतायें हैं। इन सबका अर्थात् काल के २५ विभागों, २५ वर्णों और २५ अधिदेवताओं के स्थान भी दक्षबाहुमूल से लेकर हृदय पर्यन्त नियमतः शास्त्र में निर्धारित हैं। इसलिये शरीर के निर्धारित २५ अंगों पर इन पंचविंशतित्रिक का न्यास भी अपेक्षित है। इसमें पहले बिन्दुयुक्त स्पर्शवर्ण, फिर कालखण्डरूप अधिदेवता और उसमें चतुर्थी विभक्ति लगाकर नमः का प्रयोग कर निश्चित अंग का स्पर्श करना चाहिये और अंग संज्ञा में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग करना चाहिये। इसे निम्न प्रकार से समझना चाहिये और इसी का अनुसरण करना चाहिये।

क्रम	**स्पर्शवर्ण**	**कालखण्डनामरूप**	**अधिदेवता में चतुर्थी**	**नमः**	**अंग**
कवर्ग					
१.	कं	लवरूपायै	आर्यायै	नमः	दक्षबाहुमूले
२.	खं	त्रुटिरूपायै	उमायै	नमः	दक्षकूर्परे
३.	गं	कलारूपायै	चण्डिकायै	नमः	दक्षमणिबन्धे
४.	घं	काष्ठारूपायै	दुर्गायै	नमः	दक्षांगुलिमूले
५.	ङं	निमेषरूपायै	शिवायै	नमः	दक्षांगुल्यग्रे
चवर्ग					
६.	चं	श्वासरूपायै	अपर्णायै	नमः	वामबाहुमूले
७.	छं	घटिकारूपायै	अम्बिकायै	नमः	वामकूर्परे
८.	जं	मुहूर्त्तरूपायै	सत्यायै	नमः	वाममणिबन्धे
९.	झं	प्रहररूपायै	ईश्वर्य्यै	नमः	वामांगुलिमूले
१०.	ञं	दिवसरूपायै	शाम्भव्यै	नमः	वामांगुल्यग्रे
टवर्ग					
११.	टं	सन्ध्यारूपायै	ईशान्यै	नमः	दक्षपादमूले
१२.	ठं	रात्रिरूपायै	पार्वत्यै	नमः	दक्षजंघायाम्
१३.	डं	तिथिरूपायै	सर्वमङ्गलायै	नमः	दक्षगुल्फे
१४.	ढं	वाररूपायै	दाक्षायण्यै	नमः	दक्षपादांगुलिमूले
१५.	णं	नक्षत्ररूपायै	हैमवत्यै	नमः	दक्षपादांगुल्यग्रे
तवर्ग					
१६.	तं	योगरूपायै	महामायायै	नमः	वामपादमूले
१७.	थं	करणरूपायै	माहेश्वर्यै	नमः	वामजंघायाम्
१८.	दं	पक्षरूपायै	मृडान्यै	नमः	वामगुल्फे
१९.	धं	मासरूपायै	रुद्राण्यै	नमः	वामपादांगुलिमूले
२०.	नं	राशिरूपायै	शर्वाण्यै	नमः	वामपादांगुल्यग्रे

पवर्ग

२१.	पं	ऋतुरूपायै	परमेश्वर्य्यै	नमः दक्षकुक्षौ
२२.	फं	अयनरूपायै	काल्यै	नमः वामकुक्षौ
२३.	बं	वत्सररूपायै	कात्यायन्यै	नमः पृष्ठवंशे
२४.	भं	युगरूपायै	गौर्यै	नमः नाभौ
२५.	मं	प्रलयरूपायै	भवान्यै	नमः हृदये

इस प्रकार लव से लेकर प्रलय तक के कालखण्डों का ज्योतिष सम्बन्धी सभी कालखण्ड और उन कालखण्डों की अधिदेवतायें कौन हैं तथा शरीर के किन अंगों में उनका न्यास करना है, यह सब मन्त्रात्मक रूप में यहाँ उल्लेख कर दिया गया है। उपासक को इसका अनुसरण करना चाहिये ॥२५-३०॥

पञ्चभूतानि तन्मात्रं ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि च।
गुणान्तःकरणावस्था ध्यायेद्दोषान् दशानिलान् ॥३१॥
ब्राह्मी वागीश्वरी वाणी सावित्री च सरस्वती।
गायत्री वाक्प्रदा पश्चात् शारदा भारती प्रिये।
विद्यात्मिका पञ्चभूतव्यापकानामधीश्वराः ॥३२॥
वाग्भवं भुवनेशीञ्च लक्ष्मीबीजं त्रितारकम्।
त्रितारमूलविद्यान्ते मातृकाक्षरतः परम् ॥३३॥
वदेत् प्रपञ्चरूपायै श्रियै नम इति क्रमात्।
प्रपञ्चादिभिरायोज्य वर्णान् शक्तीर्नियोजयेत्।
मातृकान्यासप्रोक्तस्थानेष्वेवं न्यसेत् प्रिये ॥३४॥
त्रितारमूलसकलप्रपञ्चादिस्वरूपतः ।
आद्यै पराम्बादेव्यै नम उक्त्वा व्यापकं न्यसेत् ॥३५॥

इसके पहले कालखण्ड, उनकी शक्तियों और वर्णमातृका के स्वर + स्पर्श वर्णों के समन्वित न्यास का विधिवत् वर्णन करने के उपरान्त अब यह अन्तस्थ ऊष्मा आदि वर्णों, उनकी शक्तियों तथा शक्तियों के न्यास की चर्चा कर रहे हैं। भगवान् का कथन यह है कि, पाँच महाभूत (पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश), पाँच तन्मात्रायें (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द), ज्ञानेन्द्रियाँ (चक्षु, घ्राण, कर्ण, त्वक् और रसना), कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ), पञ्चप्राण (प्राण, अपान, व्यान, उदान समान), गुण (सत्त्व, रजस् और तमस्) तथा अन्तःकरण की अवस्थायें (मन, बुद्धि, अहंकार) इनकी शक्तियों का उत्तम वर्णों के साथ ही निर्धारित अंगों पर न्यास करना चाहिये। उदाहरणस्वरूप सर्वसमन्वित न्यासमन्त्र इस प्रकार बनते हैं—

क्रम	वर्ण	तत्त्व	शक्ति (चतुर्थ्यन्त) नाम	नमः	अंग
यवर्ग					
१.	यं	पृथ्व्यप्तेजोवाय्वाकाशरूपायै	ब्राह्म्यै	नमः	दक्षांसे
२.	रं	शब्दस्पर्शरूपरसगन्धरूपायै	वागीश्वर्यै	नमः	वामांसे
३.	लं	वाक्पाणिपादपायूपस्थरूपायै	वाण्यै	नमः	अपरगले
४.	वं	श्रोत्रत्वग्नेत्रजिह्वाघ्राणरूपायै	सावित्र्यै	नमः	दक्षकक्षे
शवर्ग					
५.	शं	प्राणापानव्यानोदानसमानरूपायै	सरस्वत्यै	नमः	वामकक्षे
६.	षं	सत्त्वरजस्तमस्रूपायै	गायत्र्यै	नमः	हृदयादिदक्षपाणौ
७.	सं	चित्तमनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तचतुष्टयरूपायै	वाक्प्रदायै	नमः	हृदयादिवामपाणौ
८.	हं	जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयावस्थारूपायै	शारदायै	नमः	हृदयादिदक्षपादे
विशिष्ट वर्ग					
९.	ळं	त्वगसृग्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्ररूपायै	भारत्यै	नमः	वामपादपर्यन्तं
१०.	क्षं	वातपित्तश्लेष्माख्यदोषत्रयरूपायै	विद्यात्मिकायै	नमः	भ्रूयुगान्तम्
११.	अंक्षं मूलं	सकलप्रपञ्चरूपायै	पराम्बादेव्यै	नमः	सर्वाङ्गे

इस प्रकार कुल ११ प्रकार के मन्त्रों से न्यास का विधान है। इसमें से दश तो पृथक्-पृथक् न्यास के मन्त्र हैं, पर ग्यारहवें मन्त्र से व्यापक करने का विधान अपनाया जाना चाहिये ॥३१-३५॥

प्रपञ्चन्यास एवं स्याद् भुवनन्यास उच्यते।
त्रितारमूलमन्त्रान्ते अं आं इं अतलं वदेत् ॥३६॥

२. भुवनन्यास—

उक्त न्यास को प्रपञ्चन्यास कहते हैं। भगवान् कहते हैं कि, इसके उपरान्त प्रिये पार्वति ! अब तुमसे एक ऐसे न्यास के सम्बन्ध में आवश्यक तथ्यपूर्वक कथन करने जा रहा हूँ, जिसे भुवनन्यास कहते हैं। महाषोढान्यास के अन्तर्गत प्रपञ्च के बाद भुवनन्यास करने का विधान निर्धारित है। इस न्यास में भी त्रितार बीज स्वरबीजों के पहले लगाना आवश्यक माना जाता है ॥३६॥

लोकञ्च निलयञ्चैव शतकोटिपदं ततः।
गुह्याद्या योगिनी मूलङेयुतन्तु वदेत् प्रिये ॥३७॥
वदेदाधारशक्त्यम्बादेव्यै च पादयोर्न्यसेत्।
ईं उं ऊं वितलं गुह्यतरं चानन्तसंज्ञकम्॥
शेषञ्च पूर्ववत् प्रोच्य गुल्फयोर्देवि विन्यसेत् ॥३८॥
ऋं ॠं लृं सुतलञ्चातिगुह्यं चाचिन्त्यसंज्ञकम्।
शेषञ्च पूर्ववत् प्रोच्य जङ्घयोर्विन्यसेत् प्रिये ॥३९॥

लॄं एं ऐं महातलञ्च महागुह्यं पदं ततः।
शेषञ्च पूर्ववत् प्रोच्य देवि जान्वोः प्रविन्यसेत् ॥४०॥
ओं औं तलातलं देवि परं गुह्याभिधानकम्।
शेषञ्च पूर्ववत् प्रोच्य ऊर्वोर्देवेशि विन्यसेत् ॥४१॥
अं अः रसातलञ्चैव रहस्यं ज्ञानसंज्ञकम्।
शेषञ्च पूर्ववत् प्रोच्य गुह्यदेशे प्रविन्यसेत् ॥४२॥

इस न्यास के प्रथम मन्त्र का उद्धार करते हुये भगवान् शंकर कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! सर्वप्रथम त्रितार के ऐं ह्रीं श्रीं बीजों के बाद तीन स्वर बीजवर्ण अं आं इं के साथ अतललोकनिलयशतकोटिगुह्ययोगिन्यै (ङेन्त प्रयोग) कहकर आधारशक्त्यम्बादेव्यै कहना चाहिये। इतना कहकर पादयोः बोलकर पैर में न्यास करना चाहिये।

दूसरा न्यास मन्त्र भी इसी क्रम में ईं उं ऊं वर्णबीजों के पहले त्रितारी लगाकर वितललोक गुह्यतर शतकोटि योगान्त योगिनी मूलदेवता कहकर अनन्तशक्त्यम्बा में चतुर्थी विभक्ति (देव्यै) कहकर दोनों गुल्फों में न्यास करना चाहिये।

तीसरे मन्त्र का उद्धार त्रितारी + ऋं ॠं लृं + महातल + अतिगुह्य अचिन्त्य देवी + ङेन्त दोनों जंघा में न्यस्त करने से होता है।

भुवन का चतुर्थ मन्त्र—त्रितारी + लॄं एं ऐं + महातल + पूर्ववत् शब्दों का योग कर जानुओं में न्यास करें।

पञ्चम भुवनन्यास मन्त्र ओं औं + तलातल पर गुह्य देवी का चतुर्थ्यन्त रूप + दोनों जाघों का स्पर्श कर पूरा होता है।

छठाँ मन्त्र अं अः + रसातल + रहस्य ज्ञान गुह्याम्बादेवी का चतुर्थ्यन्त प्रयोग कर गुह्यदेश का ध्यान कर वहीं न्यास करना चाहिये।

इन मन्त्रों को सुविधा के लिये पृथक् संस्कृत में निम्न प्रकार से प्रयोग करना चाहिये। श्लोकों के माध्यम से यही प्रयोग सम्भव है—

क्रम	त्रितारी	स्वरबीज	पातालों के सात नाम अम्बादेव	अंग
१.	ऐं ह्रीं श्रीं	अं आं इं	अतललोक शतकोटिगुह्ययोगिन्यै नमः	पादयोः
२.	ऐं ह्रीं श्रीं	ईं उं ऊं	वितललोक शतकोट्यतिगुह्ययोगिन्यै नमः	गुल्फयोः
३.	ऐं ह्रीं श्रीं	ऋं ॠं लृं	सुतललोक शतकोट्यतिगुह्याम्बायै नमः	जंघयोः
४.	ऐं ह्रीं श्रीं	लॄं एं ऐं	महातललोक शतकोटिमहागुह्याख्यायै नमः	जान्वोः
५.	ऐं ह्रीं श्रीं	ओं औं	तलातललोक शतकोटिपरमगुह्येच्छाम्बायै नमः	ऊर्वोः
६.	ऐं ह्रीं श्रीं	अं अः	रसातललोक शतकोटिज्ञानशक्त्यम्बायै नमः	गुह्ये

स्वरबीजों के न्यास रसातल तक पूरे हो जाते हैं। सातवें पाताल लोक में स्थूल स्पर्श वर्ण बीज के न्यास का निर्देश अलग है। इसके अनुसार यह भुवनन्यास स्वर विभाग का है ॥३७-४२॥

कवर्गेणापि पातालं लोकेति निलयेति च।
शेषञ्च पूर्ववत् प्रोच्य मूलाधारे तु विन्यसेत् ॥४३॥
चवर्गं भूतलञ्चेति रहस्यं डाकिनीमपि।
शेषञ्च पूर्ववत् प्रोच्य स्वाधिष्ठाने न्यसेत् प्रिये ॥४४॥
टवर्गेण भुवो लोकं रहस्यं राकिणीमपि।
शेषञ्च पूर्ववत् प्रोच्य नाभौ च विन्यसेत् प्रिये ॥४५॥
तवर्गं स्वश्च परमरहस्यं लाकिनीमपि।
शेषञ्च पूर्ववत् प्रोच्य हृदये विन्यसेत् प्रिये ॥४६॥
पवर्गञ्च महर्लोकं रहस्यं काकिनीमपि।
शेषञ्च पूर्ववत् प्रोच्य तालुमूले न्यसेत् प्रिये ॥४७॥
यवर्गञ्च जनो गुप्ततरञ्च शाकिनीमपि।
शेषञ्च पूर्ववत् प्रोच्य आज्ञायाञ्च न्यसेत् प्रिये ॥४८॥
शवर्गञ्च तपश्चातिगुह्यञ्च हाकिनीमपि।
शेषञ्च पूर्ववत् प्रोच्य ललाटे विन्यसेत् प्रिये ॥४९॥
लं क्षं सत्यं महागुह्यं यक्षिणीमपि च प्रिये।
शेषञ्च पूर्ववत् प्रोच्य ब्रह्मरन्ध्रे च विन्यसेत् ॥५०॥
त्रितारमूलमन्त्रान्ते चतुर्दशभुवं वदेत्।
नाधिपायै श्रीपरायै देव्यै च व्यापकं न्यसेत् ॥५१॥

व्यंजन वर्णों के साथ भुवनन्यास में पाताल, शरीरस्थ चक्र और शरीरस्थ चक्रशक्तियों के साथ सत्यलोक, ब्रह्मरन्ध्र और परादेवी पर्यन्त न्यास का विधान है। इनका पूर्ववत् श्लोक के माध्यम से मन्त्रोद्धार किया गया है। इसके प्रयोगकर्त्ताओं की दृष्टि से इसे संस्कृत में श्लोकानुसार दिया जा रहा है—

क्रम	त्रितारी	वर्णबीज	लोकशक्ति की चतुर्थ्यन्त संज्ञा	नमः	न्यासयोग्य अंग
१.	ऐं ह्रीं श्रीं	कं खं गं घं ङं	पाताललोकशतकोटिरहस्याति- रहस्ययोगिन्यै क्रियाशक्त्यम्बायै	नमः	मूलाधारे
२.	ऐं ह्रीं श्रीं	चं छं जं झं ञं	भूतललोक····डाकिनीशक्त्यम्बायै	नमः	स्वाधिष्ठाने
३.	ऐं ह्रीं श्रीं	टं ठं डं ढं णं	भुवर्लोक····राकिणीशक्त्यम्बायै	नमः	मणिपूरे
४.	ऐं ह्रीं श्रीं	तं थं दं धं नं	स्वर्लोक····लाकिनीशक्त्यम्बायै	नमः	हृदि (अनाहते)
५.	ऐं ह्रीं श्रीं	पं फं बं भं मं	महर्लोक····काकिनीशक्त्यम्बायै	नमः	तालुमूले
६.	ऐं ह्रीं श्रीं	यं रं लं वं	जनलोक····शाकिनीशक्त्यम्बायै	नमः	आज्ञायाम्
७.	ऐं ह्रीं श्रीं	शं षं सं हं	तपोलोक····हाकिनीशक्त्यम्बायै	नमः	ललाटे
८.	ऐं ह्रीं श्रीं	लं क्षं	सत्यलोक····यक्षिणीशक्त्यम्बायै	नमः	ब्रह्मरन्ध्रे
९.	ऐं ह्रीं श्रीं	मन्त्रान्ते	चतुर्दशभुवनेषु चतुर्दशभुवनाधिपायै श्रीपराम्बायै	नमः	सर्वाङ्गे

इस प्रकार ये न्यास मन्त्र पूरे होते हैं। इस ऊपर लिखी तालिका में त्रितारी और

वर्ग के बाद श्लोक ४३ में पूरे लेख के अनुसार जहाँ पूर्वक लिखा हुआ है—वह सब बोलकर पृथक्-पृथक् शक्तियों के नाम के साथ अम्बायै नमः बोलना चाहिये और लिखित अंगों के सप्तमी विभक्ति के रूप बोलकर उन-उन अंगों का स्पर्श करना चाहिये। इस तरह पूरा भुवनन्यास पूरा हो जाता है ॥४३-५१॥

कृत्वैवं भुवनन्यासं मूर्त्तिन्यासमथाचरेत्।
केशवनारायणमाधवगोविन्दविष्णवः ॥५२॥
मधुसूदनसंज्ञश्च स्यात्त्रिविक्रमवामनौ।
श्रीधरश्च हृषीकेशः पद्मनाभो दामोदरः॥
वासुदेवः सङ्कर्षणः प्रद्युम्नश्चानिरुद्धकः ॥५३॥
अक्षोल्केन्द्राणी चेशानी चोग्रार्द्धनयना तथा।
ऋद्धिश्च रूपिणी लूका नूनदोषैकनायिका ॥५४॥
ऐङ्कारिणी चौघवती सर्वकामाञ्जनप्रभा।
अस्थिमालाधरा चेति सम्प्रोक्ताः स्वरदेवताः ॥५५॥

३. मूर्त्तिन्यास—

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, इस प्रकार भुवनन्यास पूरा करना चाहिये। यहाँ तक प्रपंचन्यास और भुवनन्यास दो न्यास पूरे हुए। अभी चार न्यास विधियाँ पूरी करनी हैं। उनमें से अर्थात् चार शेष न्यासों में से पहली और प्रारम्भ से तीसरी न्यास विधि यहाँ बतलायी जा रही है। इसे मूर्त्तिन्यास कहते हैं। भुवनन्यास के बाद इसे अवश्य करना चाहिये।

मूर्त्तिन्यास का प्रयोग अद्भुत है। यह उपासक ऋषियों का ऐसा आविष्कार है, जिसमें वर्ण-वर्ण में निहित वर्णबीजों की ऊर्जा का समायोजन जीवन में जागरण को जन्म देता है। सर्वप्रथम मातृका के वर्णों को, साथ में शक्तिमान् और शक्तियों को और इसके बाद शरीरमूर्त्ति के अंगों को मिलाने से मन्त्रों का उद्धार हो जाता है। श्लोकों में यही क्रम अपनाया गया है। जैसे स्वर वर्णों के प्रयोग में पहले अं बोलिये। पुनः विष्णु के १६ शक्तिमन्त और उनकी शक्तियों के चतुर्थ्यन्त द्विवचनरूप का उच्चारण कर उनके साथ नमः लगाइये। फिर शरीरमूर्त्ति के न्यास योग अंगों का न्यास कीजिए। यहाँ चार प्रकार की मूर्त्तियों का प्रकल्पन हो जाता है। १. अक्षरमूर्त्ति, २. शक्तिमन्तमूर्ति, ३. शक्तिमूर्त्ति और ४. शरीरमूर्त्तिक अंग। इसमें श्लोक ५४ में पहले प्रयुक्त अक्ष, उल्का और इन्द्राणी रूप तीन शब्दों के अर्थ इस प्रकार माने जाते हैं—१. अक्ष का अर्थ है अ से क्ष पर्यन्त सभी मातृकाक्षर। इसलिये इस शक्ति को अक्षरा कहते हैं। २. उल्का शब्द का अर्थ है सर्वप्रथम उन्मिष्ट शक्ति। अर्थात् आद्याशक्ति। इसलिये उल्का के लिये आद्या का प्रयोग करते हैं। ३. इन्द्राणी शक्ति कवच मन्त्र के अनुसार गोत्र की रक्षा करती है। गोत्र संवर्धन सब इष्ट है। इसलिये इसे इष्टदा शक्ति कहते हैं। न्यास मन्त्र में इनका ही उल्लेख करना चाहिये। स्वरों के अक्षरों के साथ मन्त्रोद्धार में स्वराक्षर + शक्तिमन्त + शक्तिनाम उनमें द्विवचनान्त चतुर्थी और अन्त में अंग का नाम लगाना चाहिये। जैसे—

क्रम	स्वराक्षर	शक्तिमन्त शक्ति का चतुर्थीद्विवचनान्त रूप	नमः	अंग
१.	अं	केशव-अक्षर+शक्तियाँ (केशवाक्षरशक्तिभ्यां)	नमः	ललाटे
२.	आं	नारायणाद्याभ्यां	नमः	दक्षमुखे
३.	इं	माधव+इष्टदा=माधवेष्टदाभ्यां	नमः	दक्षस्कन्धे
४.	ईं	गोविन्द-ईशानीभ्यां	नमः	दक्षकुक्षौ
५.	उं	विष्णूग्राभ्यां	नमः	दक्षोरौ
६.	ऊं	मधुसूदनोर्ध्वनयनाभ्यां	नमः	दक्षजानुनि
७.	ऋं	त्रिविक्रम-ऋद्धिभ्यां	नमः	दक्षजङ्घायाम्
८.	ॠं	वामन-रूपिणीभ्यां	नमः	दक्षपादे
९.	ऌं	श्रीधर-लूकाभ्यां	नमः	वामपादे
१०.	ॡं	हृषीकेश-नूनदोषाभ्यां	नमः	वामजङ्घायाम्
११.	एं	पद्मनाभैकनायिकाभ्यां	नमः	वामजानुनि
१२.	ऐं	दामोदरैङ्कारिणीभ्यां	नमः	वामोरौ
१३.	ओं	वासुदेवौघवतीभ्यां	नमः	वामकुक्षौ
१४.	औं	संकर्षणसर्वकामाभ्यां	नमः	वामस्कन्धे
१५.	अं	प्रद्युम्नाञ्जनप्रभाभ्यां	नमः	वाममुखे
१६.	अः	अनिरुद्धास्थिमालाधराभ्यां	नमः	वाममस्तके

उक्त क्रम में श्लोक ५५ तक षोडश स्वरों के साथ देव-देवियों के यामल प्रणाम के साथ उन अंगों का भी उल्लेख कर दिया गया है, जहाँ इनको न्यस्त करना है ॥५२-५५॥

भवः शर्वोऽथ रुद्रश्च पशुपतिश्चोग्र एव च।
महादेवस्तथा भीम ईशस्तत्पुरुषाह्वयः।
अघोरसद्योजातौ च वामदेव इतीरिताः ॥५६॥
करभद्रा खगबला गरिमादिफलप्रदा।
घण्टाधरोग्रनयना चन्द्रधर्त्री ततः परम्।
छन्दोमयी जगत्स्थाना ज्वलत्तारा ततः परम् ॥५७॥
ज्ञानदा च टङ्कधरा धृतिर्द्वादश ईरिताः।
कभादीनां ठडान्तानां वर्णानां देवतास्त्विमाः ॥५८॥

श्लोक ५८ में वर्णित क भ—ठ ड के मध्य में आने वाले युगल वर्णों के देव श्लोक ५६ से और उनकी देवीशक्तियों के नाम श्लोक ५७ से प्रारम्भ होते हैं। युगल वर्णों के साथ युगल देव-देवियों को मिलाकर निर्धारित अंगों पर न्यास करना चाहिये। जैसे क आदि स्पर्शवर्ण और भ चतुर्थ वर्णबीजों के साथ भव और करभद्रा का न्यास दाहिने पैर में करते हैं। इसी तरह ख द्वितीय वर्ण और ब वर्णबीजों के साथ शर्व और खगबला देव-देवियों का न्यास वाम पैर में करते हैं। ग तृतीय वर्ण और फ वर्णबीजों के साथ रुद्र और गरिमादि फलप्रदा देव-देवियों को दाहिने पार्श्व में न्यस्त करते हैं। यह पूरा क्रम संस्कृत में इस प्रकार बोलने का विधान है—

क्रम	कण्ठप्रत्याहार अनुलोम क्रम	चतुर्थाक्षरों का विलोम क्रम	देवनाम + देवीनाम द्विवचन	नमः	न्यास अंग
१.	कं	भं (चतुर्थाक्षर)	भव-करभद्राभ्यां	नमः	दक्षपादे
२.	खं	बं (तृतीयाक्षर)	शर्व-खगबलाभ्यां	नमः	वामपादे
३.	गं	फं (द्वितीयाक्षर)	रुद्र-गरिमादिफलप्रदाभ्यां	नमः	दक्षपार्श्वे
४.	घं	पं (प्रथमाक्षर)	पशुपति-घण्टाधराभ्यां	नमः	वामपार्श्वे
५.	ङं	नं (पंचमाक्षर)	उग्रोग्रनयनाभ्यां	नमः	दक्षबाहौ
६.	चं	धं (चतुर्थाक्षर)	महादेव-चन्द्रधर्त्रीभ्यां	नमः	वामबाहौ
७.	छं	दं (तृतीयाक्षर)	भीम-छन्दोमयीभ्यां	नमः	कण्ठे
८.	जं	थं (द्वितीयाक्षर)	ईशान-जगत्स्थानाभ्यां	नमः	ऊर्ध्वास्ये
९.	झं	तं (प्रथमाक्षर)	तत्पुरुष-ज्वलत्ताराभ्यां	नमः	पूर्वास्ये
१०.	ञं	णं (पंचमाक्षर)	अघोर-ज्ञानदाभ्यां	नमः	निम्नास्ये
११.	टं	ढं (चतुर्थाक्षर)	सद्योजात-टङ्कधराभ्यां	नमः	दक्षास्ये
१२.	ठं	डं (तृतीयाक्षर)	वामदेव-धृतिभ्यां	नमः	वामास्ये

इस प्रकार पूरे स्पर्श वर्णों का (म को छोड़कर) न्यास यामल भाव से यामल देवों के साथ हो जाता है। इनके साथ उन अंगों का भी उल्लेख कर दिया गया है, जहाँ इनके न्यास किये जाते हैं ॥५६-५८॥

ब्रह्मा प्रजापतिर्वेधाः परमेष्ठी पितामहः।
विधाता च विरिञ्चिश्च स्रष्टा च चतुराननः।
हिरण्यगर्भ इत्युक्ताः क्रमाद् ब्रह्मादयो दश ॥५९॥
यक्षिणी रञ्जिनी लक्ष्मीर्वज्रिणी शशिधारिणी।
षडाधारलया सर्वनायिका हसितानना।
ललिता च क्षमा चेति प्रोक्ता याद्यर्णदेवताः ॥६०॥
त्रितारमूलमन्त्रान्ते स्वरान् विष्णून् सशक्तिकान्।
चतुर्थ्या नमसा युक्तान् मस्तके चानने न्यसेत् ॥६१॥

इसके बाद ब्रह्मा के दश नामों का वर्णन यहाँ किया गया है। इसके बाद य से लेकर क्ष वर्ण पर्यन्त दश (अन्तःस्थ + ऊष्म और ल + क्ष) वर्णों की देवियों के नाम हैं। इनका न्यास भी मूलाधार से नादान्त पर्यन्त करने का विधान है। इस न्यास क्रम में पहले वर्णबीज फिर ब्रह्मा के क्रमिक पर्याय और क्रमिक वर्णदेवियाँ तथा न्यासांग मूलाधार से नादान्त पर्यन्त बोले जाते हैं। जैसे—

यवर्ग—

१. यं ब्रह्मा-यक्षिणीभ्यां नमः मूलाधारे
२. रं प्रजापति-रंजिनीभ्यां नमः स्वाधिष्ठाने
३. लं वेधा-लक्ष्मीभ्यां नमः मणिपूरे
४. वं परमेष्ठि-वज्रिणीभ्यां नमः अनाहते

शवर्ग—

५. शं पितामहशशिधारिणीभ्यां नमः विशुद्धौ

६. षं विधातृ-षडाधाराभ्यां नमः आज्ञाचक्रे

७. सं विरिञ्चि-सर्वनायिकाभ्यां नमः बिन्दौ

८. हं स्रष्टृ-हसिताननाभ्यां नमः इन्दौ

९. ळं चतुरानन-ललिताभ्यां नमः नादे

१०. क्षं हिरण्यगर्भ-क्षमाभ्यां नमः नादान्ते ।

सर्ववर्गन्यास—

११. अं क्षं हरि-हर-विधित्रिसूर्यात्मिकायै पराम्बादेव्यै नमः सर्वाङ्गे ।

इस प्रकार यह यादिवर्गन्यास पूरा होता है । इन सभी न्यासों के प्रायोगिक मन्त्रों के पहले त्रितारी (ऐं ह्रीं श्रीं) लगाने का विधान भी है । यहाँ तक वर्णमाला (सहित वर्णों का) न्यास पूरा हो जाता है ॥५९-६१॥

सस्कन्धपार्श्वकट्यूरुजानुजङ्घापदेषु च ।
दक्षादिवामपर्यन्तं विन्यसेत् परमेश्वरि ॥६२॥
कभाद्यर्णयुतान् मन्त्री भवादीन् शक्तिसंयुतान् ।
पादपार्श्वबाहुकण्ठपञ्चवक्त्रेषु विन्यसेत् ।
दशाधारेषु ब्रह्मादीन् यादिशक्तियुतान्न्यसेत् ॥६३॥

इन न्यासों में उक्त शरीर के अंगों के विषय में यह ध्यान देने की बात है कि स्कन्ध, पार्श्वभाग, कटि, ऊरु, जानु और जंघा में दक्ष से वाम पर्यन्त विन्यास का नियम है । परमशक्तिमती पार्वति ! इस पर न्यासी को ध्यान देना चाहिये ।

इसी प्रकार कर्म आदि वर्ण-प्रयोगों के जो निर्देश श्लोक ५५ से लेकर ६१ तक के श्लोकों की विधि में दिये गये हैं, यथावत् उनका अनुपालन करना साधक का कर्त्तव्य है ।

इसी प्रकार ब्रह्मादि शक्तिमन्तों के साथ इनकी शक्तियों का न्यास भी ऊपर ५९-६१ श्लोक में मान्त्रिक विधि न्यास का जैसा उल्लेख है, तदनुसार मूलाधार से सर्वांग तक ११ प्रकार के मन्त्रों से करना श्रेयस्कर है । एक तरह से 'मूलादि व्यापक न्यास' का प्रयोग अन्त में करने से यह समन्त्रक न्यासविधि पूरी मानी जाती है ॥६२-६३॥

त्रितारमूलमन्त्रान्ते श्रीत्रिमूर्त्त्यम्बिकां वदेत् ।
आद्यै पराम्बादेव्यै च नमसा व्यापकं न्यसेत् ।
मूर्त्तिन्यासं विधायेत्थं मन्त्रन्यासं समाचरेत् ॥६४॥
त्रितारमूलं अं आं इं एकलक्षञ्च कोटि च ।
भेदश्च प्रणवाद्येकाक्षरात्माखिलमन्त्रतः ॥६५॥
ततोऽधिदेवतायै स्यात् सकलञ्च फलप्रदाम् ।
आद्यै तथैककूटेश्वर्यम्बादेव्यै नमो वदेत् ॥६६॥

ईं उं ऊं आदि हंसादि द्विकूटं पूर्ववत् परम्।
ऋं ॠं लृं आदि वह्न्यादि त्रिकूटं पूर्ववत् परम् ॥६७॥
लॄं एं ऐं चतुर्लक्षं चन्द्रादि पूर्ववत् परम्।
ओं औं अं अः पञ्चलक्षं सूर्यादि पूर्ववत् परम् ॥६८॥
कं खं गं चैव षड्लक्षं स्कन्दादि पूर्ववत् परम्।
घं ङं चं सप्तलक्षं गणेशादि पूर्ववत् परम् ॥६९॥
छं जं झं अष्टलक्षं वटुकादि पूर्ववत् परम्।
ञं टं ठं नवलक्षञ्च ब्रह्मादि पूर्ववत् परम् ॥७०॥
डं ढं णं दशलक्षञ्च विष्ण्वादि पूर्ववत् परम्।
तं थं दं एकादशलक्षं रुद्रादि पूर्ववत् परम् ॥७१॥
धं नं पं द्वादशलक्षं वाण्यादि पूर्ववत् परम्।
फं बं भं त्रयोदशलक्षं लक्ष्म्यादि पूर्ववत् परम् ॥७२॥
मं यं रं चतुर्दशलक्षं गौर्य्यादि पूर्ववत् परम्।
लं वं शं पञ्चदशलक्षं दुर्गादि पूर्ववत् परम्।
षं सं हं लं क्षं षोडशलक्षं त्रिपुरादि च षोडश ॥७३॥
अक्षरात्मा खिलमन्त्राधिदेवतायै सकलं ततः।
तथा फलप्रदायै च षोडश कूटेश्वरी पुनः ॥७४॥
अम्बादेव्यै नमः प्रोक्तो मन्त्रन्यासो महेश्वरि।
आधारलिङ्गयोर्नाभिहृत्कण्ठे नेत्रयोरपि ॥७५॥
निबोधिकायामर्द्धेन्दौ बिन्दौ चैव कलापदे।
उन्मन्यां विष्णुवक्त्रे च नादे नादान्त एव च।
ध्रुवमण्डलदेशे च विन्यसेत् कुलनायिके ॥७६॥
त्रितारमूलमन्त्रान्ते सर्वमन्त्रात्मिकापदम्।
आद्यै पराम्बादेव्यै च हृदये व्यापकं न्यसेत् ॥७७॥

इस प्रकार मूर्त्तिन्यास की प्रक्रिया पूरी करने के बाद मन्त्रन्यास करना चाहिये। इसमें पहले त्रितारी का प्रयोग करने के बाद अं आं इं इन स्वरबीजों का उच्चारण करना चाहिये। इन बीजमन्त्रों के बाद एकलक्षकोटिभेदप्रणवाद्येकाक्षरात्मिका शब्द में आद्यै लगाकर नमः बोलना चाहिये। पुनः अखिलमन्त्राधिदेवता में भी आद्यै नमः लगाकर उच्चारण करना चाहिये। कूटैश्वर्यम्बादेवी शब्द का चतुर्थ्यन्त देव्यै नमः बोलकर श्लोक ७५ के अनुसार क्रमशः उन अंगों का नाम लेना चाहिये जहाँ इस मन्त्र की स्थापना करनी होती है। इस प्रथम मन्त्र का न्यासांग आधार अर्थात् मूलाधार चक्र निर्धारित है। श्लोक ६४ से ६६ तक हिन्दी में जो अर्थ है, उसका संस्कृत रूप ही प्रयुक्त करना चाहिये। यही क्रम आगे के सभी मन्त्रों में है। इन्हें संस्कृत में इस प्रकार प्रयोग करना चाहिये—

क्रम	त्रितारी	बीजस्वर	देवी के विशेषण के चतुर्थी रूप के साथ नमः	स्थान
१.	ऐं ह्रीं श्रीं	अं आं इं	एकलक्षकोटिभेदप्रणवाद्येकाक्षरात्मिकायै अखिलमन्त्राधिदेवतायै सकलफलप्रदायै एककूटैश्वर्यम्बादेव्यै नमः	मूलाधारे
२.	ऐं ह्रीं श्रीं	ईं उं ऊं	द्विलक्षकोटिभेदहंसादिद्व्यक्षरात्मिकायै अखिलमन्त्राधिदेवतायै सकलफलप्रदायै द्विकूटैश्वर्यम्बादेव्यै नमः	लिङ्गे
३.	ऐं ह्रीं श्रीं	ऋं ॠं लृं	त्रिलक्षकोटिभेदवह्न्यादित्र्यक्षरात्मिकायै अखिलमन्त्राधिदेवतायै सकलफलप्रदायै त्रिकूटैश्वर्यम्बादेव्यै नमः	नाभौ
४.	ऐं ह्रीं श्रीं	ॡं एं ऐं	चतुर्लक्षकोटिभेदचन्द्रादिचतुरक्षरात्मिकायै अखिलमन्त्राधिदेवतायै सकलफलप्रदायै चतुःकूटैश्वर्यम्बादेव्यै नमः	हृदये
५.	ऐं ह्रीं श्रीं	ओं औं अं अः	पञ्चलक्षकोटिभेदसूर्यादिपञ्चाक्षरात्मिकायै अखिलमन्त्राधिदेवतायै सकलफलप्रदायै पञ्चकूटैश्वर्यम्बादेव्यै नमः	कण्ठे
६.	ऐं ह्रीं श्रीं	कं खं गं	षड्लक्षकोटिभेदस्कन्दादिषडक्षरात्मिकायै अखिलमन्त्राधिदेवतायै सकलफलप्रदायै षड्कूटैश्वर्यम्बादेव्यै नमः	मुखे
७.	ऐं ह्रीं श्रीं	घं ङं चं	सप्तलक्षकोटिभेदगणेशादिसप्ताक्षरात्मिकायै अखिलमन्त्राधिदेवतायै सकलफलप्रदायै सप्तकूटैश्वर्यम्बादेव्यै नमः	नेत्रयोः
८.	ऐं ह्रीं श्रीं	छं जं झं	अष्टलक्षकोटिभेदबटुकाद्यष्टाक्षरात्मिकायै अखिलमन्त्राधिदेवतायै सकलफलप्रदायै अष्टकूटैश्वर्यम्बादेव्यै नमः	आज्ञायाम्
९.	ऐं ह्रीं श्रीं	ञं टं ठं	नवलक्षकोटिभेदब्रह्मादिनवाक्षरात्मिकायै अखिलमन्त्राधिदेवतायै सकलफलप्रदायै नवकूटैश्वर्यम्बादेव्यै नमः	इन्दौ
१०.	ऐं ह्रीं श्रीं	डं ढं णं	दशलक्षकोटिभेदविष्ण्वादिदशाक्षरात्मिकायै अखिलमन्त्राधिदेवतायै सकलफलप्रदायै दशकूटैश्वर्यम्बादेव्यै नमः	बिन्दौ
११.	ऐं ह्रीं श्रीं	तं थं दं	एकादशलक्षकोटिभेदरुद्राद्यैकादशाक्षरात्मिकायै अखिलमन्त्राधिदेवतायै सकलफलप्रदायै एकादशकूटैश्वर्यम्बादेव्यै नमः	कलायाम्
१२.	ऐं ह्रीं श्रीं	धं नं पं	द्वादशलक्षकोटिभेदसरस्वत्यादिद्वादशाक्षरात्मिकायै अखिलमन्त्राधिदेवतायै सकलफलप्रदायै द्वादशकूटैश्वर्यम्बादेव्यै नमः	उन्मन्याम्
१३.	ऐं ह्रीं श्रीं	फं बं भं	त्रयोदशलक्षकोटिभेदलक्ष्म्यादित्रयोदशाक्षरात्मिकायै अखिलमन्त्राधिदेवतायै सकलफलप्रदायै त्रयोदशकूटैश्वर्यम्बादेव्यै नमः	शिरसि वृत्ते

१४. ऐं ह्रीं श्रीं	मं यं रं	चतुर्दशलक्षकोटिभेदगौर्य्यादिचतुर्दशाक्षरात्मिकायै अखिलमन्त्राधिदेवतायै सकलफलप्रदायै चतुर्दशकूटैश्वर्यम्बादेव्यै	नमः नादे
१५. ऐं ह्रीं श्रीं	लं वं शं षं	पञ्चदशलक्षकोटिभेदहंसादिपञ्चदशाक्षरात्मिकायै अखिलमन्त्राधिदेवतायै सकलफलप्रदायै पञ्चदशकूटैश्वर्यम्बादेव्यै	नमः नादान्ते
१६. ऐं ह्रीं श्रीं	सं हं ळं क्षं	षोडशलक्षकोटिभेदत्रिपुरादिषोडशाक्षरात्मिकायै अखिलमन्त्राधिदेवतायै सकलफलप्रदायै षोडशकूटैश्वर्यम्बादेव्यै	नमः ब्रह्मरन्ध्रे
१७. अं...........क्षं		सर्वमन्त्रात्मिकायै पराम्बादेव्यै नमः सर्वाङ्गे व्यापकम्	

इस प्रकार सम्पूर्णाक्षरों सहित अम्बादेवी का न्यास सर्वांग स्थानों में पूरा हो रहा है। जहाँ शून्य का प्रयोग है, वहाँ पूर्ववत् संस्कृत मन्त्रों का उच्चारण ऊहपूर्वक करना चाहिये ॥६४-७७॥

मन्त्रन्यासं विधायेत्थं दैवतन्यासमाचरेत्।
त्रितारमूलमन्त्रान्ते अं आं सहस्रकोटि च ॥७८॥
योगिनीकुलशब्दान्ते सेवितायै पदं वदेत्।
निवृत्त्यम्बापदं देव्यै नम इत्युच्चरेत् प्रिये ॥७९॥
इं ईं योगिनीप्रतिष्ठां शेषं पूर्ववदुच्चरेत्।
उं ऊं तपस्विविद्याञ्च शेषं पूर्ववदुच्चरेत् ॥८०॥
ऋं ॠं शान्तं तथा शान्तिं शेषं पूर्ववदुच्चरेत्।
लृं लॄं मुनिं शान्त्यतीतां शेषं पूर्ववदुच्चरेत् ॥८१॥
एं ऐं देवञ्च हल्लेखां शेषं पूर्ववदुच्चरेत्।
ओं औं राक्षसशब्दान्ते गगनां पूर्ववत् परम् ॥
अं अः विद्याधरं रक्तां शेषं पूर्ववदुच्चरेत् ॥८२॥
कं खं सिद्धिमहोच्छुष्मां शेषं पूर्ववदुच्चरेत्।
गं घं साध्यकरालाञ्च शेषं पूर्ववदुच्चरेत् ॥८३॥
ङं चं साप्सरसं जयां शेषं पूर्ववदुच्चरेत्।
छं जं गन्धर्वविजयां शेषं पूर्ववदुच्चरेत् ॥८४॥
झं ञं गुह्यकशब्दान्ते अजितां पूर्ववत् परम्।
टं ठं, यक्षापराजितां शेषं पूर्ववदुच्चरेत् ॥८५॥
डं ढं किन्नरवामाञ्च शेषं पूर्ववदुच्चरेत्।
णं तं पन्नगज्येष्ठाञ्च शेषं पूर्ववदुच्चरेत् ।८६॥
थं दं च पितृरौद्राम्बां शेषं पूर्ववदुच्चरेत्।
धं नं गणेशमायाञ्च शेषं पूर्ववदुच्चरेत् ॥८७॥

पं फं भैरवशब्दान्ते कुण्डलीं पूर्ववत् परम्।
बं भं वटुकं कालीञ्च शेषं पूर्ववदुच्चरेत् ॥८८॥
मं यं क्षेत्रेशशब्दान्ते कालरात्रिञ्च पूर्ववत्।
रं लं प्रमथभगवतीं शेषं पूर्ववदुच्चरेत् ॥८९॥
वं शं ब्रह्मसर्वेश्वरीं शेषं पूर्ववदुच्चरेत्।
षं सं विष्णुञ्च सर्वज्ञां शेषं पूर्ववदुच्चरेत् ॥९०॥
हं लं रुद्रसर्वकर्त्रीं शेषं पूर्ववदुच्चरेत्।
क्षं चराचरशक्तिञ्च शेषं पूर्ववदुच्चरेत् ॥९१॥
अङ्गुष्ठगुल्फजङ्घासु जानूरुकटिपार्श्वके।
स्तनकक्षकरस्कन्धकर्णमूर्द्धस्वपि क्रमात् ॥९२॥
दक्षभागादिवामान्तं विन्यसेत् कुलनायिके।
त्रितारमूलमन्त्रान्ते सर्वदेवात्मिकां पदम् ॥९३॥
आद्यै पराम्बादेव्यै च हृदये व्यापकं न्यसेत्।

इस प्रकार मन्त्रन्यास करने के उपरान्त दैवत न्यास करना चाहिये। सर्वप्रथम त्रितारी का प्रयोग करके मूल मन्त्र के साथ दैवत मन्त्र बनाये जाते हैं। ये मन्त्र वर्णमाला के साथ सहस्रकोटियोगिनीकुलसेवितायै निवृत्ति आदि श्लोकोक्त देवताओं के नाम के साथ चतुर्थी विभक्ति लगाकर नमः बोलना चाहिये। ये न्यास किन अंगों में किये जायेंगे, इसका उल्लेख ९२-९३ श्लोकों में दक्ष वाम क्रम से पूजा में अनवरत रूप से करने के विधान के साथ किया गया है। इन मन्त्रों के अंगों के साथ रूप इस प्रकार बनते हैं—

क्रम	त्रितारीमूल	मातृका वर्ण	दैवत चतुर्थ्यन्त नाम	नमः	अंग
१.	ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः	अं आं	सहस्रकोटियोगिनीकुलसेवितायै निवृत्त्यम्बादेव्यै	नमः	दक्षपादांगुष्ठे
२.	ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः	इं ईं	सहस्रकोटियोगिनीकुलसेवितायै प्रतिष्ठाम्बादेव्यै	नमः	वामपादांगुष्ठे
३.	ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः	उं ऊं	सहस्रकोटियोगिनीकुलसेवितायै विद्याम्बादेव्यै	नमः	दक्षजंघायां
४.	ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः	ऋं ॠं	सहस्रकोटियोगिनीकुलसेवितायै शान्ताम्बादेव्यै	नमः	दक्षजानौ
५.	ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः	ऌं ॡं	सहस्रकोटिमुनिकुलसेवितायै शान्त्यतीताम्बादेव्यै	नमः	दक्षोरौ
६.	ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः	एं ऐं	सहस्रकोटिदेवकुलसेवितायै हृल्लेखाम्बादेव्यै	नमः	दक्षकट्यां
७.	ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः	ओं औं	सहस्रकोटिराक्षसकुलसेवितायै गगनाम्बादेव्यै	नमः	दक्षपार्श्वे

८. ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः अं अः सहस्रकोटिविद्याधरकुलसेवितायै रक्ताम्बादेव्यै नमः दक्षस्तने
९. ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः कं खं सहस्रकोटिसिद्धकुलसेवितायै महोच्छुष्माम्बादेव्यै नमः दक्षकक्षे
१०. ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः गं घं सहस्रकोटिसाध्यकुलसेवितायै करालाम्बादेव्यै नमः दक्षकरे
११. ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ङं चं सहस्रकोट्यप्सरःकुलसेवितायै जयाम्बादेव्यै नमः दक्षस्कन्धे
१२. ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः छं जं सहस्रकोटिगन्धर्वकुलसेवितायै विजयाम्बादेव्यै नमः दक्षकर्णे
१३. ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः झं ञं सहस्रकोटिगुह्यककुलसेवितायै अजिताम्बादेव्यै नमः दक्षशिरसि
१४. ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः टं ठं सहस्रकोटियक्षकुलसेवितायै अपराजिताम्बादेव्यै नमः वामशिरसि
१५. ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः डं ढं सहस्रकोटिकिन्नरकुलसेवितायै वामाम्बादेव्यै नमः वामकर्णे
१६. ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः णं तं सहस्रकोटिपन्नगकुलसेवितायै वामाम्बादेव्यै नमः वामस्कन्धे
१७. ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः थं दं सहस्रकोटिपितृकुलसेवितायै ज्येष्ठाम्बादेव्यै नमः वामकरे
१८. ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः धं नं सहस्रकोटिगणेशकुलसेवितायै मायाम्बादेव्यै नमः वामकक्षे
१९. ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः पं फं सहस्रकोटिभैरवकुलसेवितायै कुण्डलिन्यम्बादेव्यै नमः वामस्तने
२०. ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः बं भं सहस्रकोटिबटुककुलसेवितायै काल्यम्बादेव्यै नमः वामपार्श्वे
२१. ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः मं यं सहस्रकोटिक्षेत्रपालकुलसेवितायै कालरात्र्यम्बादेव्यै नमः वामकट्यां
२२. ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः रं लं सहस्रकोटिप्रमथकुलसेवितायै भगवत्यम्बादेव्यै नमः वामोरौ
२३. ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः वं शं सहस्रकोटिब्रह्मकुलसेवितायै सर्वेश्वर्यम्बादेव्यै नमः वामजानुनि
२४. ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः षं सं सहस्रकोटिविष्णुकुलसेवितायै सर्वज्ञाम्बादेव्यै नमः वामजङ्घायाम्
२५. ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः हं ळं सहस्रकोटिरुद्रकुलसेवितायै सर्वकर्त्र्यम्बादेव्यै नमः वामगुल्फे

२६. ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौ: क्षं सहस्त्रकोटिचराचरकुलसेवितायै कुलशक्त्यम्बादेव्यै नम: वामपादांगुष्ठे

२७. ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौ: अं-क्षं सर्वदेवतात्मिकायै पराशक्त्यम्बादेव्यै नम: सर्वाङ्गे

इतना न्यास करके व्यापक न्यास की मुद्रा का प्रयोग करते हैं ॥७८-९३॥

देवन्यासं विधायेत्थं मातृकान्यासमाचरेत् ॥९४॥
त्रितारमूलमन्त्रान्ते कवर्गानन्तकोटिभू ।
चरीकुलसेवितायै आं क्षां हि मङ्गलापदम् ॥९५॥
अम्बादेव्यै नमो ब्रूयादां क्षां ब्रह्माण्यतः परम् ।
अम्बादेव्यै ततोऽनन्तकोटिभूतं कुलं वदेत् ॥९६॥
सहिताय ततो मङ्गलनाथाय अं क्षं वदेत् ।
अं क्षं असिताङ्गभैरवनाथाय नम उच्चरेत् ॥९७॥
चवर्गं खेचरीं ईं लां चर्चिकाञ्च महेश्वरीम् ।
वेतालं इं लं चर्चिकं रुरुं शेषञ्च पूर्ववत् ॥९८॥
टवर्गं पातालचरीं ऊं हां योगेश्वरीं वदेत् ।
कौमारीञ्च पिशाचञ्च उं हं योगेशचण्डकौ ॥९९॥
तवर्गं दिक्चरीं ॠं सां हरसिद्धाञ्च वैष्णवीम् ।
अपस्मारं ऋं सं हरसिद्धक्रोधादिपूर्ववत् ॥१००॥
पवर्गं सहचरीं ॡं षां भट्टिं वाराह्यतः परम् ।
ब्रह्मराक्षसकं ऌं षं भट्टोन्मत्तादि पूर्ववत् ॥१०१॥
यवर्गं स्याद्गिरिचरीं ऐं शां किलकिलेति च ।
इन्द्राणीं चेटकं एं शं किलिः कापालिकस्तथा ॥१०२॥
शवर्गं स्याद् वनचरीं औं वां कालादिरात्रि च ।
चामुण्डां प्रेतं ओं वं च कालरात्रिश्च भीषणः ॥१०३॥
लं क्षं जलचरीं अः लां वदेत् पश्चाच्च भीषणाम् ।
महालक्ष्मीं शाकिनीञ्च अं लं पश्चाच्च भीषणम् ॥१०४॥
संहारभैरवञ्चैव शेषं पूर्ववदुच्चरेत् ।
मूलाधारलिङ्गनाभिष्वनाहतविशुद्धयोः ॥१०५॥
आज्ञाभालतलब्रह्मरन्ध्रेष्वेवं प्रविन्यसेत् ।
त्रितारमूलमन्त्रान्ते मातृभैरवशब्दतः ॥१०६॥
अधिपायै पराम्बादेव्यै नमो व्यापकं न्यसेत् ।

इस प्रकार दैवतन्यास करने के बाद अब मातृकान्यास करने की आज्ञा शास्त्र प्रदान करते हैं। इस न्यास क्रम में भी त्रितारमूलमन्त्र के साथ अष्ट वर्गों को बोलकर मातृका के

प्रत्याहारों को प्रयुक्त करना चाहिये। इन प्रत्याहारों का विचित्र प्रयोग यहाँ है। जैसे दीर्घ आं क्षां फिर ह्रस्व अं क्षं का प्रयोग करते हैं। यह मूलाधार का प्रयोग है। इसके बाद मध्यकाल्पनिक प्रत्याहार जैसे ईं लां का प्रयोग करते हैं। ध्यान देने की बात है कि दूसरा मूल स्वर ईकार ही है और क्षकार के पहले आने वाला अक्षर 'ळ' है। इन ऊहात्मक मन्त्रों के साथ शरीर के अंग उन मन्त्रों के साथ बोलकर वहीं न्यास करने का विधान है। मन्त्रों के प्रकार क्रमशः इस प्रकार बनते हैं—

क्रम त्रितारमूल	**वर्ग**	**दैवत और कुल मातृकाप्रत्याहार**	**नमः अङ्ग**
१. त्रितारमूल	कवर्ग	अनन्तकोटिभूचरीकुलसहितायै आं क्षां मङ्गलादेव्यै आं क्षां ब्रह्माण्यम्बादेव्यै अनन्तकोटिभूतकुलसहिताय अं क्षं मङ्गलनाथाय असिताङ्गभैरवनाथाय	नमः मूलाधारे

(यह एक मन्त्र मूलाधार में न्यस्त करते हैं। ध्यान देने की बात है कि एक ही अंग में देवी-देव यामल भाव का न्यास करते हैं। देवियों के साथ प्रत्याहार में दीर्घस्वर और देवों के साथ ह्रस्व स्वर का प्रयोग है)। सभी प्रयोग इसी नियम के अनुसार चलते हैं।

२. त्रितारमूल	चवर्ग	अनन्तकोटिखेचरीकुलसहितायै ईं लां चर्विकामाहेश्वर्यै ईं लां वेतालकुलसहितायै इं लं चर्चिकनाथाय इं लं रुरुभैरवनाथाय	नमः लिङ्गे (स्वाधिष्ठाने)
३. त्रितारमूल	टवर्ग	अनन्तकोटिपातालखेचरीकुलसहितायै ऊं हां योगेश्वर्यम्बादेव्यै ऊं हां कौमार्यम्बादेव्यै अनन्तकोटिपिशाचकुलसहिताय उं हं योगेशनाथाय उं हं चण्डभैरवनाथाय	नमः नाभौ (मणिपूरे)
४. त्रितारमूल	तवर्ग	अनन्तकोटिदिक्चरीकुलसहितायै ॠं सां हरसिद्धाम्बादेव्यै ॠं सां वैष्णव्यम्बादेव्यै अनन्तकोट्यपस्मारसहिताय ऋं सं हरसिद्धनाथाय ऋं सं क्रोधभैरवनाथाय	नमः हृदये (अनाहते)
५. त्रितारमूल	पवर्ग	अनन्तकोटिसहचरीकुलसहितायै ॣं षां भट्टिन्यम्बायै ॣं षां वाराह्यम्बादेव्यै अनन्तकोटिब्रह्मराक्षसकुलसहिताय ऌं षं भट्टिनाथाय ऌं षं उन्मत्तभैरवनाथाय	नमः कण्ठे (विशुद्धे)

६. त्रितारमूल	यवर्ग अनन्तकोटिगिरिचरीकुलसहितायै ऐं शां किलिकिलाम्बादेव्यै ऐं शां इन्द्राण्यम्बादेव्यै अनन्तकोटिचेतककुलसहिताय एं शं किलिकिलिनाथाय एं शं कपाली-भैरवनाथाय	नमः आज्ञायाम्
७. त्रितारमूल	शवर्ग अनन्तकोटिवनचरीकुलसहितायै औं वां कालरात्र्यम्बादेव्यै औं वां चामुण्डाम्बायै अनन्तकोटिप्रेतकुलसहिताय ओं वं कालरात्रिनाथाय ओं वं भीषणभैरवनाथाय	नमः भाले
८. कं क्षं	अन्तकोटिजलचरीकुलसहितायै अः लां भीषणाम्बादेव्यै अः लां महालक्ष्म्यम्बायै अनन्तकोटिकूष्माण्डकुलसहिताय अं लं भीषणनाथाय अं लं संहार-भैरवनाथाय	नमः ब्रह्मरन्ध्रे
९. अं आं......क्षं	मातृभैरवाधिपायै पराम्बादेव्यै	नमः सर्वाङ्गे

इस अन्तिम मन्त्र में अं सं क्षं पर्यन्त सभी मन्त्रों में प्रयुक्त वर्णों को बोलकर व्यापक न्यास करने का विधान है। इस प्रकार ९४ से १०६ श्लोकों के अर्थ इन मन्त्रों में आ गये हैं। क्रम-संख्या के अनुसार वर्गों को मिलाकर देखने से श्लोकार्थ स्पष्ट हो जाता है ॥९४-१०६॥

मातृन्यासं महेशानि कुर्यादेवं समाहितः ॥१०७॥
एवं न्यस्ततनुर्देवि ध्यायेद्देवमनन्यधीः ।
अमृतार्णवमध्योद्यन्मणिद्वीपे सुशोभिते ॥१०८॥

भगवान् शंकर ने कहा कि, महेश्वरप्रिये ! पार्वति ! इस प्रकार उक्त मातृन्यास उक्त मन्त्रों के अनुसार सम्पन्न करना चाहिये। ये सारे न्यास समाहित भाव से करने पर अनन्त फलों की प्राप्ति होती है। हे देवि ! इस प्रकार अपने शरीर पर उक्त मातृशक्तियों का न्यास करने वाला साधक अब अनन्यभाव से देवाधिदेव महादेव का ध्यान करे। यह ध्यान नितान्त शोभायमान मणिद्वीप की प्रकल्पना करके उसी में होना चाहिये। मणिद्वीप के सम्बन्ध में यह सोचना चाहिये कि, सामने सुधा का महासमुद्र लहरा रहा है। प्रातः-कालीन सूर्य जैसे कन्याकुमारी आदि स्थलों पर समुद्र से ही उदित होता हुआ दर्शकों के आकर्षण का केन्द्र बन जाता है, उसी प्रकार मणिद्वीप भी समुद्र से ही समुदीयमान है ॥१०७-१०८॥

कल्पवृक्षवनान्तःस्थमणि-माणिक्यमण्डपे ।
नवरत्नमये श्रीमत्सिंहासनगतेऽम्बुजे ॥१०९॥

ऐसे आकर्षक मणिद्वीप में कल्पवृक्षों का सुन्दर वन है। उसी वनस्थली में एक ऐसा मनोज्ञ मण्डप है, जो मणियों, माणिक्य से सुसज्जित और अत्यन्त मनोहर है। उसमें नवरत्नों की रंगबिरंगी आभा है। इस आभा की शोभा से भासमान सिंहासन पर कमल की आकृति एक नयी रमणीयता से ओत-प्रोत है ॥१०९॥

त्रिकोणान्तःसमासीनं चन्द्रसूर्यायुतप्रभम्।
अर्द्धाम्बिकासमायुक्तं प्रविभक्तविभूषणम् ॥११०॥
कोटिकन्दर्पलावण्यं सदा षोडशवार्षिकम्।
मन्दस्मितमुखाम्भोजं त्रिनेत्रं चन्द्रशेखरम् ॥१११॥

उस कमल के कोश में एक त्रिकोणात्मक आसन है। उसी आसन पर त्रिनेत्र भगवान् चन्द्रशेखर विराजमान हैं। उनकी कान्ति करोड़ों सूर्य और चन्द्रबिम्बों से भी रम्य है। उस उत्कृष्ट कोटि के सिंहासन के आधे भाग में माता परमाम्बिका विद्यमान हैं। यहाँ अर्धाम्बिकासमायुक्त शब्द भगवान् के अर्धनारीश्वररूप की प्रकल्पना के लिये भी प्रेरित करता प्रतीत हो रहा है। अर्धनारीश्वर का यह स्वरूप विभूषणों से पृथक्-पृथक् पहचाना जा रहा है। एक ओर स्त्रीसौन्दर्यवर्धक आभूषण और दूसरी ओर पुरुष के आभूषण। यह अन्तर स्वतः प्रविभक्तभाव से यहाँ अभिव्यक्त हो रहा है।

भगवान् चन्द्रशेखर का सौन्दर्य कोटि-कोटि कन्दर्पों की सुन्दरता को भी अतिक्रान्त करने वाला है। अवस्था की दृष्टि से उनमें षोडशवर्षीय दिव्यकाय पुरुष का ही प्रकल्पन हो रहा है। मुखकमल में मन्द-मन्द मुस्कान का मोहक उत्कर्ष है ॥११०-१११॥

दिव्याम्बरस्त्रगालेपं दिव्याभरणभूषितम्।
पानपात्रञ्च चिन्मुद्रां त्रिशूलं पुस्तकं करैः ॥११२॥

उनके शरीर में जो वस्त्र हैं, वे जिन मालाओं को धारण कर रहे हैं और उनके शरीर पर जो ललित आलेप लगे हुए हैं, वे मर्त्यलोक के इन पदार्थों से लोकोत्तर प्रतीत हो रहे हैं। देवलोक की आभा के कारण वे दिव्य कहे जा सकते हैं। उनके आभूषण भी दिव्यता से विभूषित हैं। उनके एक हाथ में पानपात्र है। एक में चैतन्यमयी चिन्मुद्रा है। एक में त्रिशूल और अन्य हाथ में सुन्दर-सी वेद की पुस्तक दीख रही है ॥११२॥

विद्यासंसिद्धिं विभ्राणं सदानन्दमुखेक्षणम्।
महाषोढोदिताशेषदेवतागणसेवितम् ॥११३॥
एवं चित्ताम्बुजे ध्यायेदर्द्धनारीश्वरं शिवम्।

शुद्धविद्या की संसिद्धि सित-सृष्टि में ही प्रत्यक्ष होती है, सितेतर सृष्टि में नहीं। वहाँ इसी कारण शुद्धविद्या की आभा से भगवान् विभूषित लग रहे हैं। उनके मुखारविन्द में उनकी आँखों में अभिनव आनन्द की सनातन आभा है। महाषोढा न्यास में प्रयुक्त समस्त देववृन्द कुलेश्वर भगवान् की सेवा में संलग्न हैं। ऐसे अर्धनारीश्वर भगवान् का ध्यान अनन्यभाव से अपने हृदय कमल में साधक को करना चाहिये ॥११३॥

पुंरूपं वा स्मरेद्देवि स्त्रीरूपं वा विचिन्तयेत् ॥११४॥

भगवान् कह रहे हैं कि, साधक अपनी साधना और उपासना में स्वतन्त्र है। ऊपर भगवान् अर्द्धनारीश्वर का वर्णन है। उसमें उनके दोनों रूप हैं। एक तरफ शक्तिरूप और दूसरी ओर शक्तिमान् रूप। साधक की साधना का उद्देश्य यदि मातृशक्ति के माध्यम से भोग और मोक्ष का है, तो वह अवश्य ही मातृशक्ति रूप की उपासना करे। यदि उसकी तृप्ति पुरुष उपासना से होती है, तो अपनी भावना से भावित वह भगवान् के पुरुष रूप की ही उपासना करे ॥११४॥

अथवा निष्कलं ध्यायेत् सच्चिदानन्दलक्षणम्।
सर्वतेजोमयं देवि सचराचरविग्रहम् ॥११५॥

यदि वह निष्कल परमेश्वर के ध्यान में निरत रहता हुआ तत्काल जीवन्मुक्ति चाहता है, तो वह वही करे। भावना के अनुरूप सच्चिदानन्द या अनन्य रूप चिदानन्द के तेजोमय चिन्मय रूप का ही चिन्तन करने में स्वतन्त्र है। चराचर विग्रहस्वरूप परमेश्वर का ध्यान भी उसके लिये महत्त्वपूर्ण है ॥११५॥

ततः सन्दर्शयेन्मुद्रादशकं परमेश्वरि।
योनिं लिङ्गञ्च सुरभिं हेतिमुद्राचतुष्टयम् ॥११६॥
वनमालां महामुद्रां नभोमुद्रामिति क्रमात्।

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, परमेश्वरि! शिवे! इसके बाद दश मुद्राओं का प्रदर्शन करना चाहिये। ये मुद्रायें निम्नलिखित हैं—१. योनि, २. लिंग, ३. सुरभि, ४-७. हेति मुद्राचतुष्टय, ८. वनमाला, ९. महामुद्रा, १०. नभोमुद्रा। ये दश मुद्रायें महत्त्वपूर्ण हैं। मुद्राओं के प्रदर्शन के उपरान्त, यथाशक्ति मूलमन्त्र और 'ईकार' अर्थात् देवी-शक्ति का पादुका मन्त्र जपना चाहिये ॥११६॥

यथाशक्ति मन्त्रमूलं जपेद् ईपादुकामपि।
मूर्ध्नि सञ्चिन्तयेद्देवि श्रीगुरुं शिवरूपिणम् ॥११७॥
सहस्रदलपङ्कजे सकलशीतरश्मिप्रभं।
वराभयकराम्बुजं विमलगन्धपुष्पाम्बरम् ॥
प्रसन्नवदनेक्षणं सकलदेवतारूपिणं।
स्मरेत् शिरसि हंसगं तदभिधानपूर्वं गुरुम् ॥११८॥

अपने मूर्धाभाग में हे देवि! श्री गुरुदेव का सम्यक्रूप से चिन्तन करना चाहिये। गुरुदेव साक्षात् शिवरूप ही माने जाते हैं। गुरुदेव के स्वरूप-चिन्तन का सुन्दर वर्णन कर रहे हैं—

सहस्रदल कमल में सोमतत्त्व का महाप्रभाववान् भास्वर रूप भासित हो रहा है।

यह वस्तुतः मानो गुरुदेव के ही चैतन्य का चमत्कार है। उनके हाथ वरद और अभय मुद्रा में उठे हुए हैं। उनके वस्त्र से विमल गन्ध की निर्मल सुगन्धि वातावरण को पवित्र कर रही है। उस पर विमल गन्ध वाले पुष्पों की माला शोभायमान हो रही है। उनके मुख पर प्रसन्नता का स्वारस्य है। उनकी आँखों में खुशी की शोभा है। उनमें सारा संकलित देवत्व उल्लसित हो रहा है। परमहंस पदवी प्राप्त सद्गुरुदेव का इस प्रकार स्मरण कर शिष्य कृतार्थ हो जाता है ॥११७-११८॥

एवं न्यासे कृते देवि साक्षात् परशिवो भवेत्।
मन्त्री नैवात्र सन्देहो निग्रहानुग्रहक्षमः ॥११९॥

भगवान् कहते हैं कि, देवि ! यह प्रक्रिया अपनाने वाला शिष्य धन्य हो जाता है। उक्त न्यास ही उसे परशिवरूपता प्रदान करते हैं। साक्षात् वह शिवरूप हो जाता है। मन्त्र जप करने वाला शिष्य स्वयं निग्रह और अनुग्रह में समर्थ हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं ॥११९॥

महाषोढाह्वयं न्यासं यः करोति दिने दिने।
देवाः सर्वे नमस्यन्ति तं नमामि न संशयः ॥१२०॥

भगवान् कहते हैं कि देवि ! पार्वति ! पूर्वोक्त प्रतिदिन महाषोढान्यास करने वाला शिष्य इतना महनीय और वन्दनीय हो जाता है कि समस्त देवता उसका वन्दन और अभिनन्दन करते हैं। ऐसे देववन्द्य पुरुष को मैं भी अपना नमस्कार अर्पित करता हूँ ॥१२०॥

महाषोढाह्वयं न्यासं करोति यत्र पार्वति।
दिव्यक्षेत्रं समुद्दिष्टं समन्ताद्दशयोजनम् ॥१२१॥

देवि पार्वति ! महाषोढान्यास करने वाला चूँकि साक्षात् परशिवरूप ही होता है। वह जहाँ रहता है, वह क्षेत्र दिव्यक्षेत्र माना जाता है। उस क्षेत्र का महाप्रभाव दशयोजन चतुर्दिक् क्षेत्र को प्रभावित करता है ॥१२१॥

कृत्वा न्यासमिमं देवि यत्र गच्छति मानवः।
तत्र स्याद्विजयो लाभः सम्मानः पौरुषं प्रिये ॥१२२॥

महाषोढान्यास से समन्वित न्यासी जहाँ जिस क्षेत्र या जिस देश के भूखण्ड में गतिशील रहता है, वहाँ उसे अवश्य विजयश्री प्राप्त होती है, उसे लाभ की प्राप्ति होती है। उसे सर्वत्र सम्मान की प्राप्ति होती है और उसके पौरुष की सर्वत्र सराहना होती है ॥१२२॥

महाषोढाकृतन्यासस्तेन यो वन्द्यते शिवे।
षण्मासान्मृत्युमाप्नोति यदि त्राता शिवः स्वयम् ॥१२३॥

महाषोढान्यासी से एक खतरा भी रहता है। वह जिसे प्रणाम कर देता है, उस

व्यक्ति की खैर नहीं। उसका प्राण ही मानो न्यासी में प्रवेश कर जाता है। साक्षात् शंकर भी उसकी रक्षा करना चाहें, तो वे भी उसकी रक्षा नहीं कर सकते ॥१२३॥

वज्रपञ्जरनामानमेतं न्यासं करोति यः।
दिव्यन्तरिक्षभूशैलजलारण्यनिवासिनः ॥१२४॥
प्रचण्डभूतवेतालदेवरक्षोग्रहादयः।
भयग्रस्तेन मनसा नेक्षन्ते तं कुलेश्वरि ॥१२५॥

इस महाषोढान्यास को शास्त्र में 'वज्रपञ्जरन्यास' संज्ञा से भी विभूषित किया जाता है। जो व्यक्ति इस न्यास की प्रक्रिया का निरन्तर अनुसरण करता है, उससे द्युलोक, अन्तरिक्षलोक, भूलोक, शैल, वन व गहन अरण्य में रहने वाले भी त्रस्त रहते हैं। प्रचण्ड भूत, वेताल, देव, राक्षस और ग्रह आदि सभी उसके तेजस्वी स्वरूप को देख भी नहीं सकते। भगवान् कहते हैं कि, कुलाधीश्वरि ! पार्वति ! मन से भी ये सभी उसकी दृष्टि और स्मृति से भी घबड़ाते हैं ॥१२४-१२५॥

महाषोढाकृतन्यासं ब्रह्मविष्णुशिवादयः।
देवाः सर्वे नमस्यन्ति ऋषयोऽपि मुनीश्वराः ॥१२६॥

महाषोढान्यासी देवशिरोमणि के समान वन्द्य हो जाता है। परिणामतः ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि देव और मननशील मुनीश्वर और मन्त्रदर्शन में समर्थ ऋषीश्वर भी उसका अभिनन्दन करने में संकोच नहीं करते ॥१२६॥

बहुनोक्तेन किं देवि न्यासमेतं मम प्रियम्।
नापुत्राय वदेद्देवि नाशिष्याय प्रकाशयेत् ॥१२७॥

भगवान् कहते हैं कि, देवि पार्वति ! मैं अधिक क्या कहूँ ? यह न्यास मुझे बड़ा प्रिय है। इसे अयोग्य पुत्र या अयोग्य शिष्य को भी नहीं देना चाहिये ॥१२७॥

आज्ञासिद्धिमवाप्नोति तस्मान्न्यासं समाचरेत्।
अस्मात् परतरा रक्षा देवताभावसिद्धिदा ॥
लोके नास्ति न सन्देहः सत्यं सत्यं वरानने ॥१२८॥

इसका न्यासी आज्ञासिद्ध हो जाता है। अतः इसका करना अनिवार्यतः आवश्यक माना जाता है। देवभाव की सिद्धि अथवा रक्षासिद्धि में इससे बढ़कर कोई मन्त्र नहीं। इसमें सन्देह नहीं। यह ध्रुव सत्य है ॥१२८॥

ऊद्ध्वाम्नायप्रवेशश्च पराप्रासादचिन्तनम्।
महाषोढापरिज्ञानं नाल्पस्य तपसः फलम् ॥१२९॥

१. ऊर्ध्वाम्नाय में प्रवेश, २. पराप्रासादमन्त्र का चिन्तन और ३. महाषोढान्यास का ज्ञान और विधान, ये सभी बहुत बड़ी तपस्या के फल हैं ॥१२९॥

इति ते कथितं देवि मन्त्रोद्धारादिकं प्रिये।
समासेन कुलेशानि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥१३०॥

भगवान् कहते हैं कि देवि ! पार्वति ! तुम्हारे समक्ष, तुम्हारी प्रियता के लिए ही मैंने सारे मन्त्रोद्धार आदि रहस्य संक्षेपतः उद्घाटित करने का कार्य किया है। हे कुलाधीश्वरि ! आगे कुछ और सुनने की आकांक्षा हो, तो बताओ। मैं तुम्हारी इच्छापूर्त्ति के लिये प्रस्तुत हूँ ॥१३०॥

सर्वागमोत्तमोत्तम महारहस्यमय ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकुलार्णवतन्त्रान्तर्गत डॉ. परमहंस-
मिश्रविरचित नीर-क्षीर-विवेक-भाषाभाष्यसंवलित 'महाषोढाकथन'
नामक चतुर्थ उल्लास परिपूर्ण ॥४॥

॥ शुभं भूयात् ॥

○

पञ्चम उल्लासः

श्रीदेव्युवाच

कुलेशाधारपात्राणां पिशितानाञ्च लक्षणम्।
कुलद्रव्यस्य निर्माणं भेदं माहात्म्यमेव च ॥१॥
अविधानेन यत् पापं सविधानेन यत् फलम्।
तत् सर्वं श्रोतुमिच्छामि वद मे करुणानिधे ॥२॥

श्री दिव्यशक्तिस्वरूपिणी कुलेश्वरी ने शिव के प्रश्न के उत्तर में यह कहना प्रारम्भ किया—आदरणीय कुलेश्वर ! मुख्यरूप से इस सन्दर्भ में मैं यह जानना चाहती हूँ कि, आधार पात्र किसे कहते हैं ? इनके लक्षण क्या हैं ? साथ ही पिशित के प्रयोग की चर्चा इस शास्त्र में प्राय: की जाती है। अत: मैं आपसे यह सुनना चाहती हूँ कि, पिशित कैसा हो ? इसके लक्षण क्या हैं ? शास्त्र में कुल द्रव्य का बड़ा वर्णन है। कृपा कर मुझे यह बतायें कि, कुल द्रव्यों का निर्माण कैसे होता है ? उनके कितने भेद हैं और इनके क्या महत्त्व हैं ?

कुल द्रव्यों के विधानत: प्रयोग में यदि कोई त्रुटि हो जाय, तो इसके क्या दोष हो सकते हैं अथवा इनके विधिपूर्वक प्रयोग से क्या फल मिलते हैं ? इन विषयों के सम्बन्ध में आप ही प्रामाणिक रूप से जानते हैं। अत: भगवन् ! आप करुणापूर्वक इनका स्पष्टीकरण करके मुझे अनुगृहीत करें ॥१-२॥

ईश्वर उवाच

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
तस्य श्रवणमात्रेण त्रिदशैः समतां व्रजेत् ॥३॥

भगवान् शंकर ने इन जिज्ञासाओं का इस प्रकार समाधान किया—देवि ! तुमने मेरे समक्ष जिन प्रश्नों को प्रस्तुत किया है और जिनके सम्बन्ध में सुनने की तुम्हारी इच्छा है, उनको मैं बताने जा रहा हूँ। ये बड़े ही महत्त्वपूर्ण विषय हैं। इनका सुनना भी पुण्यप्रद है। इनको सुनने में लगा श्रोता भी श्रवण मात्र से दिव्यभाव से सम्पन्न हो जाता है। अत: देवतुल्य हो जाता है ॥३॥

आधारेण विना भ्रंशो न च तृप्यन्ति मातरः।
तस्माद्विधिवदाधारं कल्पयेत् कुलनायिके ॥४॥

देवि ! तुम्हारी प्रथम जिज्ञासा आधार से सम्बद्ध है। यह विचारणीय बात है कि, आधार के बिना कोई वस्तु टिक नहीं सकती, उसका संपात हो जाता है। अत: भ्रंश से सुरक्षा के लिये आधार की महती प्राथमिक उपयोगिता है। आधार के प्रयोग से ही मातृशक्तियाँ तृप्त होती हैं। उसके लिये भी आधार की महती आवश्यकता होती है।

इसलिये हे कुलाधिष्ठात्री देवि ! आधार की परिकल्पना शास्त्रों में की गयी है । इसकी जो विधियाँ निर्धारित हैं, उनके अनुसार ही पारम्परिक रूप से प्रचलित विधियों के अनुरूप आधार की संरचना में प्रवृत्त होना चाहिये ॥४॥

आधारं त्रिपदं प्राहुः षट्पदं वा चतुष्पदम् ।
अथवा वर्तुलाकारं कुर्याद्देवि मनोहरम् ॥५॥

आधार मुख्यत: चार प्रकार के होते हैं । इन्हें त्रिपद, चतुष्पद अथवा षट्पद कहते हैं । पद का तात्पर्य उनकी स्थिरता प्रदान करने वाला उनका अंग माना जाता है । उनकी बनावट से आधार डावाँडोल नहीं होते । जिस आधार में तीन पद होंगे, वे त्रिपद, जिसमें चार पद बनाये हों, उन्हें चतुष्पद कहते हैं और जिसमें छ: पद प्रकल्पित हों, वे षट्पद कहलाते हैं । इनका चौथा प्रकार वर्त्तुल और गोल आकार वाला भी होता है । यह उतना स्थिर नहीं होता । अत: इसके प्रयोग कम होते हैं । जो कुछ भी हो । इन चारों आधारों की मुख्य शर्त है, इनकी मनोहरता । देखने में ये इतने सुन्दर हों कि, दर्शक का मन मुग्ध हो जाय ॥५॥

स्वर्णरौप्यशिलाकूर्मकपालालाबुमृण्मयम् ।
नारिकेलशङ्खताम्रमुक्ताशुक्तिसमुद्भवम् ॥६॥
पुण्यवृक्षसमुद्भूतं पात्रं कुर्याद्विचक्षणः ।
अतिसूक्ष्ममतिस्थूलं छिन्नं भिन्नञ्च वर्जयेत् ॥७॥

इनके निर्माण में जिन द्रव्यों और काष्ठों का उपयोग होता है, वे क्रमश: इस प्रकार हैं—१. स्वर्ण, २. रजत, ३. शिला (प्रस्तर), ४. कमठ, ५. अलाबु (लम्बी लौकी की तुमड़ी का पौधा), ६. मृणमय, ७. शंख, ८. ताम्र, ९. मुक्ताशुक्ति एवं १०. फूलदार वृक्ष के काष्ठ । इनसे ये आधार निर्मित होते हैं । अपनी शक्ति और व्यवस्था के अनुसार इन्हें सुन्दर ढंग से बनाना चाहिये ।

बुद्धिमान पुरुष यह ध्यान दे कि, इनमें कोई दोष न रह जाय । चार प्रकार के दोष मुख्य रूप से यहाँ बताये गये हैं—१. आधार अत्यन्त छोटे न हों, २. अत्यन्त स्थूल और भद्दे प्रकार के न हों, ३. कहीं से कटे न हों और ४. वे फटे न हों । इन दोषों से रहित और सुन्दर ढंग से संरचित आधार ही गृहीत किये जाते हैं ॥६-७॥

सुवर्णरौप्यताम्राणि सर्वसिद्धिकराणि च ।
शान्तिके च शिलापात्रं स्तम्भने चैव मृण्मयम् ॥८॥

स्वर्ण, रौप्य और ताम्र से बने आधार अत्यन्त शुभ माने जाते हैं । इनसे सारी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं । शान्ति की प्रक्रिया में शिलाखण्ड से बना आधारपात्र अच्छा होता है । यदि स्तम्भन की प्रक्रिया अपनानी है, तो मृण्मय पात्र का ही प्रयोग करना उत्तम होता है ॥८॥

नारिकेलञ्च वश्ये स्यादभिचारे च कूर्मजम्।
शङ्खं ज्ञानप्रदं शुक्तिर्देवीप्रीतिप्रदायिनी ॥९॥

वशीकरण के लिये नारियल का पात्र उत्तम होता है। जब किसी के ऊपर अभिचार करना आवश्यक हो, उसके लिये कमठ ही उत्तम आधार होता है। शंग (शंख) ज्ञानप्रद पात्र माना जाता है। शुक्तिका पात्र देवी के प्रति प्रीति का संवर्धन करने वाला होता है। अत: देवीभक्त को इसी पात्र का प्रयोग करना चाहिये ॥९॥

कपालालाबुपात्राणि योगसिद्धिकराणि च।
पुण्यवृक्षजपात्राणि सर्वपापहराणि च ॥
उक्तेष्वेतेषु देवेशि पात्रमेकं प्रकल्पयेत् ॥१०॥

शेष पात्रों में कपाल और कद्दूपात्र (तुमड़ी) ये दोनों योगसिद्धि के लिये अत्यन्त उपयोगी माने जाते हैं। जहाँ तक पुण्यवृक्षोद्भव पात्र का प्रश्न है, यह भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पात्र माना जाता है। इससे समस्त पापों का प्रक्षय अवश्यम्भावी है। अत: इसके प्रयोग के प्रति शास्त्र का आदेश प्राप्त है। उक्त पात्र और उनके प्रयोगों के कर्म दोनों का ध्यान रखकर ही प्राप्तव्य पात्रों का उपयोग करना चाहिये। भगवान् कहते हैं कि, देवेश्वरी पार्वति ! इन बातों का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है ॥१०॥

कुलद्रव्यं प्रवक्ष्यामि शृणु देवि समाहिता।
अम्भसां द्वादशप्रस्थं प्रस्थार्द्धं तक्रमेव च ॥११॥
तण्डुलानां चतु:प्रस्थं द्विप्रस्थञ्च तथान्धसाम्।
मुष्टिमात्राङ्कुरैः सार्द्धम् एकस्मिन् योजयेद् घटे ॥१२॥

इस प्रकार आधार के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करने के बाद भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवेश्वरि ! अब मैं तुम्हारे समक्ष कुलद्रव्यों के सम्बन्ध में क्या शास्त्रीय मान्यता है, इसका स्पष्टीकरण करने जा रहा हूँ। तुम समाहित भाव से ध्यानपूर्वक इसे सुनो। सर्वप्रथम मैं तुम्हें 'पैष्टी' के सम्बन्ध में बता रहा हूँ।

इसके प्रयोग के लिये पहले एक पका मिट्टी का घड़ा लाना चाहिये। उसमें १२ प्रस्थ जल छोड़ना चाहिये। उसके बाद उसमें आधा प्रस्थ मट्ठा डालना चाहिये। इस तक्र मिले जल में चार प्रस्थ चावल, दो प्रस्थ अन्धस् मिलाना चाहिये। अन्धस् भोज्य अन्न को ही कहते हैं। अन्धस् दूध के मक्खन को भी कहते हैं। इनके साथ एक मुट्ठी दूर्वांकुर भी उसी में मिला देना चाहिये ॥११-१२॥

शीतादिरहिते स्थाने स्थापयेद्दिवसद्वयम्।
तस्मादग्निं समारोप्य जम्बालसदृशं पचेत् ॥१३॥

इन पदार्थों के मिश्रण से पूर्ण घड़े को ऐसे स्थान पर दो दिन रखना चाहिये, जहाँ बहुत अधिक न तो ठण्डक हो, न अन्य कोई वैपरीत्य हो और न घड़े के तोड़-फोड़

टूटने का भय हो। सुरक्षित दो दिन बीत जाने पर उस घड़े को धीमी आग पर रखकर इतनी आँच दी जानी चाहिये, जिससे उसके सारे पदार्थ एक गाढ़े अवलेहात्मक जम्बाल (लबरी) मयी लेई के समान हो जाँय ॥१३॥

अवरोप्य पुनः शीतामवस्थां प्रापयेत्ततः।
पादोनप्रस्थकैः पिष्ट्वा हस्ताभ्यां मेलयेत् सुधीः ॥१४॥

तत्पश्चात् उस घड़े को उतार कर ठण्डा कर लेना चाहिये। शीतल हो जाने पर वह पदार्थ जम कर कड़ा हो जाता है। उसमें एक-एक प्रस्थ का मात्र तीन चौथाई भाग लेकर पीस लें और हाथ से पूरी तरह मसल कर चूर्ण के रूप में परिवर्तित कर लें ॥१४॥

प्रस्थार्द्धान् तण्डुलान् वाप्यपरेद्युस्तत् समुद्धरेत्।
सम्यक् सम्मर्द्य तक्रेण पाकमालोड्य मेलयेत् ॥
एषा पैष्टीति विख्याता पूजिता देवदानवैः ॥१५॥

अब इस पिष्ट चूर्ण भाग को अलग कर उसमें चावल का आधा प्रस्थ चूर्ण फेंट कर मिला दें और एक दिन इस मिश्रण को पड़ा रहने दें। दूसरे दिन उसे अलग कर उसमें गाय के मट्ठे को डालकर अच्छी तरह मिश्रित करें। मिलाते, फेंटते पूरा पदार्थ एक मिले मद्यरूप में बदल जाय। यह पैष्टी मदिरा कही जाती है। यह पैष्टी मदिरा बड़ी ही सुन्दर लाभप्रद और देवों-दानवों द्वारा समान रूप से आदृत मानी जाती है ॥१५॥

गौडी च श्वेतकर्वुरजम्बुत्वक्साधिताम्भसाम्।
दशप्रस्थं कुलेशानि धातकीकुसुमं शुभम् ॥१६॥
नारिकेलप्रसूनं वा चैकप्रस्थं विनिक्षिपेत्।
हरीतकी चाक्षफलं वसुनिष्कप्रमाणतः ॥१७॥
वह्निं त्रिकटुकञ्चापि निष्कमात्रं क्षिपेत् पृथक्।
अशीतिगुडसम्मिश्रमेकस्मिन् योजयेद् घटे ॥१८॥
करेण भ्रामयेत् सम्यगनुलोमविलोमतः।
अष्टोत्तरशतावृत्त्या त्रिसन्ध्यं प्रतिवासरम् ॥१९॥
द्वादशाहेन पाकः स्यात् प्राशयेत्तत्त्रयोदशे।
एषा गौडीति कथिता शिवसायुज्यहेतुकी ॥२०॥

इसके बाद भगवान् शिव गौडी मदिरा के विषय में पार्वती को बता रहे हैं। सर्वप्रथम श्वेत कर्बुर और जामुन की छाल इन दो बराबर-बराबर द्रव्यों से साधित जल दश प्रस्थ लेना चाहिये। इसमें १ प्रस्थ या तो धातकी के फूल या नारियल के फूल डालना चाहिये। इसमें ८ निष्क हर्रे या आँवला अथवा बृहती नामक औषध डालते हैं। इसके बाद उसमें वह्नि और एक निष्क त्रिकटु उसमें अलग से डाला जाता है। तत्पश्चात् ८० निष्क गुड एक उसी निर्धारित घड़े में डालना चाहिये।

इतनी प्रक्रिया पूरी कर लेने के अनन्तर उन द्रव्यों को घड़े में खूब फेंटना चाहिये। दोनों ओर अनुलोम-विलोम पद्धति से दाँयें-बाँयें, ऊपर-नीचे चला देने से दवा के पूर्णपाक में सुविधा हो जाती है। इसके फेंटने का नियम प्रतिदिन तीनों सन्ध्याओं में कम से कम १०८ बार है। इसे फेंटने से पूरी तरह औषध तैयार हो जाता है। इस प्रकार प्रतिदिन यह प्रक्रिया अपनाते-अपनाते लगातार १२ दिन बीत जाते हैं। तेरहवें दिन से इसका प्रयोग करना प्रारम्भ करते हैं। यह महत्त्वपूर्ण मदिरा है। इसे गौडी मदिरा कहते हैं। यह शिवसायुज्य प्रदान करने वाली उत्तम कोटि की औषधि की विशिष्टताओं से सम्पन्न गौडी मदिरा शास्त्रों द्वारा भी कुलसाधक के लिये स्वीकृत है ॥१६-२०॥

द्विगुणं मकरन्दस्य वारि संयोजयेद् घटे।
द्वादशाहेन पाकः स्याच्छेषमन्यत् पुरोक्तवत्॥
एषा माध्वी समुद्दिष्टा देवताप्रीतिकारिणी॥२१॥

इनके अतिरिक्त एक उत्तम मदिरा, जिसे माध्वी कहते हैं, यह समस्त दिव्यशक्तियों की प्रीति प्रदान करने में सक्षम है। इसके बनाने की विधि बहुत सरल है। एक घड़े में जितनी शहद डाली जाती है, उसके द्विगुणित (दुगुना) जल डालते हैं। इसकी पाक प्रक्रिया बारह दिनों में पूरी होती है। शेष वे सभी पदार्थ जो गौडी में पड़ते हैं, वे सभी इसमें भी उसी तरह डाले जाते हैं, केवल गुड़ इसमें नहीं पड़ता ॥२१॥

एका शुण्ठी द्विवह्निश्च मरीचत्रितयं तथा।
धातकी च चतुष्कं स्यात् पञ्च पुष्पाणि षण्मधु॥२२॥
अशीतिगुडसम्मिश्रं शेषमन्यत् पुरोक्तवत्।
इदं मनोहरं द्रव्यं योगिनीपानमुत्तमम्॥२३॥

माध्वी मदिरा का एक अन्य विकल्प यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। इसमें एक भाग सोंठ, दो भाग वह्निद्रव्य, तीसरा भाग मरीचि (काली मरिच), चौथा भाग धातकी, पाँचवाँ भाग मिले-जुले फूल और छठाँ भाग मधु—इन पदार्थों को परस्पर मिश्रित करते हैं। तत्पश्चात् इसमें ८० प्रस्थ गुड़ भी मिलाते हैं। अन्य प्रक्रिया पहले की तरह पूरी की जाती है। यह मदिरा योगिनीपेय रूप से प्रसिद्ध है ॥२२-२३॥

सार्द्धेन्दुपलकं दध्नो माहिषं प्रस्थमात्रकम्।
मोचापक्वशतञ्चापि योगोऽयं मदिरा शुभा॥२४॥

यहाँ एक अन्य विकल्प की चर्चा कर रहे हैं। ढाई पल भैंस का दही और एक प्रस्थ मक्खन, सौ मोचा (कदली) के पके फल—इन पदार्थों के मिश्रण से बनने वाली मदिरा बड़ी उत्तम कोटि की मदिरा मानी जाती है ॥२४॥

तं मेलयित्वा संयोज्य सान्द्रे वंशपुटे पचेत्।
चत्वारिंशद्दिनान्यष्टौ पङ्के पङ्कजसम्भवे॥२५॥

निधायोद्धृत्य किरणैः सौरैः सम्यग् विशोषयेत्।
यदा च कठिनीभावस्तदा सङ्गृह्य मानवः ॥२६॥
गुञ्जाफलप्रमाणन्तु जलैः सम्मिलितं शुभम्।
आत्मेच्छं पूरयेत् पात्रं परमानन्ददं परम् ॥२७॥

उक्त मिश्रित मदिरा द्रव्य को मोटे बाँस की फोंफी में डालकर बन्द कर दें। ४८ दिन कमल जड़ों वाले पंक में गाड़ दें। ४८ दिनों के बाद उसमें से निकाल कर सूरज की किरणों में अच्छी तरह सुखा लें। जब उक्त द्रव्य कड़ा गोली बनाने योग्य हो जाय, तो उससे गुंजाफल के समान गोलियाँ बना लेनी चाहिये। इसकी एक गोली इच्छा भर पानी के साथ ग्रहण करें। यह योग परम आनन्द प्रदान करने वाला माना जाता है ॥२५-२७॥

एतदप्युत्तमं द्रव्यं सर्वदेवप्रियं प्रिये।
एतानि मदहेतूनि मद्यान्यन्यानि कारयेत् ॥२८॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति ! यह बड़ा ही उत्तम द्रव्य माना जाता है। यह समस्त देवताओं का भी प्रिय पेय है। ऊपर जितने भेद कहे गये हैं, ये सभी मदमस्त करने वाले पेय हैं। इनसे नशा की सम्भावना होती है। कुछ ऐसी मदिरायें भी निर्मित की जाती हैं, जिनसे नशे की सम्भावना नहीं होती। उनके निर्माण की विधि जानकर उन्हें बनाना चाहिये ॥२८॥

पानसं द्राक्षमाधूकं खार्जूरं तालमैक्षवम्।
मधूत्थं शीधुमाध्वीकं मैरेयं नारिकेलजम् ॥२९॥
मद्यान्येकादशैतानि भुक्तिमुक्तिकराणि च।
द्वादशन्तु सुरा मद्यं सर्वेषामुत्तमं प्रिये ॥३०॥

ग्यारह ऐसे मद्य माने जाते हैं, जिनसे भुक्ति और मुक्ति के महाफल प्राप्त होते हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं—१. पानस (पनस कटहल निर्मित), २. द्राक्षा (अंगूरी), ३. मधूकनिर्मित, ४. खार्जूर (खजूर से बनी), ५. ताल (ताल वृक्ष से बनी), ६. इक्षु (ईख) के रस से निर्मित ऐक्षव, ७. मुलहठी, बच आदि से बनी मधूत्थ, ८. माध्वीक (शहद से निर्मित), ९. नारिकेल, १०. मैरेय और ११. शीधु। इसके बाद सुरा मद्य भी उत्तम होती है ॥२९-३०॥

पैष्टी गौडी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा।
सर्वसिद्धिकरी पैष्टी गौडी भोगप्रदायिनी ॥३१॥
माध्वी मुक्तिकरी ज्ञेया सुरा स्याद्देवताप्रिया।

पैष्टी, गौडी, माध्वी ये तीन प्रकार की सुरा मुख्य होती हैं। इनके प्रयोग से सारी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इनमें भी पहली और दूसरी समस्त भोगप्रदा मानी जाती हैं। माध्वी सुरा मुक्तिप्रदा होती है। मुमुक्षु साधक को इसी का प्रयोग करना चाहिये। इसे सभी देवताप्रिया मानते हैं ॥३१॥

विद्याप्रदैक्षवी ज्ञेया द्राक्षी राज्यप्रदा भवेत् ॥३२॥

उक्त मदिरावर्ग में ऐक्षवी मदिरा से विद्या की सिद्धि होती है। विद्वान् बनने के लिये इस मदिरा का प्रयोग किया जा सकता है। इसी तरह द्राक्षा से निर्मित द्राक्षी मदिरा राज्यप्रदा मानी जाती है ॥३२॥

तालजा स्तम्भने शस्ता खार्जूरी रिपुनाशिनी।
नारिकेलभवा श्रीदा पानसी च शुभप्रदा ॥३३॥

जहाँ तक तालनिर्मित तालजा मदिरा की बात है, इससे स्तम्भन सिद्ध होता है। खर्जूरनिर्मित खार्जूरी सुरा शत्रुनाश करने में उपयोगी मानी जाती है। नारिकेल से बनी मदिरा लक्ष्मीप्राप्ति में उपयोगिनी होती है। इसी प्रकार कटहल से बनी पानसी सुरा समस्त शुभ फलों को प्रदान करने वाली होती है ॥३३॥

मधूकजा ज्ञानकरी माध्वीकी रोगनाशिनी।
मैरेयाख्या कुलेशानि सर्वदा पापहारिणी ॥३४॥

महुए से बनी मधूकजा मदिरा से ज्ञानशक्ति का संवर्धन होता है। मधु से बनी माध्वी समस्त रोगों का शमन करती है। इसी तरह मैरेय नाम वाली मैरेयी मदिरा से समस्त पापों का शमन हो जाता है ॥३४॥

क्षीरवृक्षसमुद्भूतं मद्यं वल्कलसम्भवम्।
मधुपुष्पसमुद्भूतम् आसवं तण्डुलोद्भवम् ॥३५॥

इसी तरह कुछ सुराभेद ऐसे होते हैं, जो सामान्यतया सभी कर्मों में उत्तम माने जाते हैं। ऐसे भेदों में मुख्य रूप से दूधीले वृक्षों के प्रयोग से बनने वाली सुरा आती है। दूसरी सुरा वृक्षों की छाल से बनती है। यह भी समान रूप से लाभदायक है। तीसरी महुए के फूलों से बनायी गयी मदिरा भी यद्यपि मदप्रदा होती है, फिर भी उत्तम मानी जाती है। चौथी उत्तम मदिरा तण्डुलों से निर्मित होती है। यह तण्डुलोद्भवा कहलाती है और बहुत लोगों को बड़ी प्रिय है ॥३५॥

यस्यानन्दो निर्विकार आमोदश्च मनोहरः।
मद्यं तदुत्तमं देवि देवानां प्रीतिदायकम् ॥३६॥

इनमें वह मदिरा सर्वोत्तम मानी जाती है, जिसके पीने से आनन्द तो होता है; किन्तु इसमें विकार की सम्भावना नहीं होती। इसी तरह आमोद का उल्लास भी रहता है; किन्तु वह बड़ा मनोहारी होता है। ऐसा मद्य उत्तम श्रेणी का होता है और देवताओं को भी प्रिय होता है ॥३६॥

आत्मेच्छं पूरयेत् पात्रं परमानन्दवर्द्धनम्।
एतदामोदकं द्रव्यं सर्वदेवप्रियं प्रिये ॥३७॥

मदिरापान करते समय यह ध्यान देना चाहिये कि, इसमें आत्मिक आनन्द की

उपलब्धि हो। मन को कभी प्रधानता नहीं देनी चाहिये। मद्यपान का उद्देश्य परमानन्द की उपलब्धि मात्र है, पागलपन प्राप्त करना नहीं। यह आमोद-प्रमोद मात्र के लिये है। देवरूप शरीरस्थ इन्द्रियों की तृप्तिमात्र के लिये है, बेहोशी के लिये नहीं। इसलिये होश में रहकर बोधपूर्वक इसका पान करना चाहिये ॥३७॥

सुरादर्शनमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते।
तद्गन्धघ्राणमात्रेण शतक्रतुफलं लभेत् ॥३८॥

सुरा का उपयोग मनुष्य को देवत्व की ओर ले जाने के लिये होता है। इसके दर्शन मात्र से पापों से मुक्ति प्राप्त होती है। सुरा के गन्ध मात्र से सौ यज्ञों का फल प्राप्त होता है ॥३८॥

मद्यस्पर्शनमात्रेण तीर्थकोटिफलं लभेत्।
देवि तत्पानतः साक्षाल्लभेन्मुक्तिं चतुर्विधाम् ॥३९॥

मद्य के स्पर्श मात्र से करोड़ों तीर्थों का फल प्राप्त होता है। भगवान् शंकर कहते हैं—देवि पार्वति ! शास्त्रविधि के अनुसार इसके पान मात्र से चारों प्रकार की मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं। यह ध्यान रखना चाहिये कि, यह मुक्तिसाधनात्मक नहीं, नशारूप होती है। अतः इसी को पीते रहते हुए मुक्त रहने को पापाचरण की बात भगवान् नहीं कह रहे हैं। कौल दृष्टि से यह अर्थवादात्मक माहात्म्य मात्र है ॥३९॥

इच्छाशक्तिः सुरामोदे ज्ञानशक्तिश्च तद्रसे।
तत्स्वादे च क्रियाशक्तिस्तदुल्लासे परा स्थिता ॥४०॥

परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति से इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों का उल्लास शाश्वतिक सत्य है। यहाँ भी यह एक प्रकार का तथ्यवाद ही व्यक्त कर रहे हैं कि, सुरा की सुगन्धि के आकर्षण से उसे पीने की इच्छा भी जागृत होती है। उसकी रसानुभूति से ज्ञान की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। उसके स्वाद के प्रभावी हो जाने पर क्रियाशक्ति और इनके समन्वित प्रभाव से पराशक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है ॥४०॥

मदिरा ब्रह्मगाः प्रोक्ताः चित्तशोधनसाधनाः।
तासामेकां समाहृत्य पूजाकर्म समाचरेत् ॥४१॥

मदिरा का यह सर्वोत्तम गुण है कि, इसके पान करने से ब्रह्म की गतिशीलता प्राप्त होती है। इससे चित्त का शोधन होता है। इसलिये स्वात्म के शोधन के साधन के रूप में ऊपर कही गयी मदिराओं में से किसी एक का समाहरण कर उसके बाद ही पूजा में लगना चाहिये ॥४१॥

मत्स्यमांसादिविजयां चाष्टगन्धैः सुमिश्रिताम्।
सम्मर्द्य वटिकां कृत्वा सङ्गृह्याथ विचक्षणः ॥
मद्याभावे तु वटिकां जले संयुज्य तर्पयेत् ॥४२॥

मत्स्य, मांस और विजया (भाँग) इनको अष्टगन्ध से समन्वित कर सबको मिश्रित कर पूरी तरह संमर्दित करना चाहिये। इसके बाद इस कड़े मिश्रण की बटिका बनानी चाहिये। इनका संग्रह कर रख लेना चाहिये। जब भी मद्य न मिले तो इस बटिका का उपयोग जल के साथ करना चाहिये। इससे मद्य की पूर्ति-सी हो जाती है और एक प्रकार की तृप्ति का भी अनुभव होता है ॥४२॥

गुडमिश्रेण तक्रेण तर्पयेद् मधुभाजिना।
सौवीरेणाथवा कुर्यादितत् कर्म न लोपयेत्।
प्रमादाद् यदि लुप्येत देवताशापमाप्नुयात् ॥४३॥

गुड़ मिले हुए तक्र से भी वही तृप्ति मिलती है, जो मद्य से मिलती है अथवा सौवीर मिलाने से और तक्र के साथ लेने से वही तृप्ति मिलती है और मदिरा का आनन्द मिलता है। मदिरा का लक्ष्य भी पूरा होता है और अपना कुलद्रव्य सेवन रूप धर्म भी लुप्त नहीं होता। कुलमार्गी कौलिकों को किसी दशा में भी कुलधर्म का लोप नहीं करना चाहिये। प्रमादवश यदि इस धर्म के आचरण में बाधा पड़ती है, तो यह निश्चय रूप से जान लेना चाहिये कि, इससे कुल देवताओं के शाप का भाजन बनना पड़ता है। इसलिये इससे बचना चाहिये ॥४३॥

मांसन्तु त्रिविधं प्रोक्तं खभूजलचरं प्रिये।
यथासम्भवमप्येकं तर्पणार्थं प्रकल्पयेत् ॥
मांसदर्शनमात्रेण सुरादर्शनवत् फलम् ॥४४॥

जहाँ तक मांस का प्रश्न है, यह तीन प्रकार का होता है— १. आकाशचारी का मांस, २. भूचर का मांस और ३. जलचर का मांस। भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति! यथासंभव किसी एक की व्यवस्था होनी चाहिये। इस प्रकार की व्यवस्था में सजग रहना चाहिये। इससे जो स्वात्म तर्पण होता है, उससे वंचित नहीं रहना चाहिये; अपितु उसका प्रकल्पन अवश्य करणीय है। मांस का महत्त्व कम करके नहीं आँकना चाहिये। मांस के दर्शन मात्र से वही फल प्राप्त होता है, जो फल सुरादर्शन से सम्भव है ॥४४॥

पितृदैवतयज्ञेषु वैधहिंसा विधीयते।
आत्मार्थं प्राणिनां हिंसा कदाचिन्नोदिता प्रिये ॥४५॥

पितृयज्ञ की प्रक्रिया में अथवा देवयज्ञ की प्रक्रिया में मांस से यज्ञीय कर्म पूरा करने के लिये की जाने वाली हिंसा वैध मानी जाती है। इसीलिये वैदिक लोग यह कहते हैं कि, 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'। भगवान् शंकर कहते हैं कि, प्रिये पार्वति! अपनी तृप्ति के लिये किसी प्राणी की हिंसा अच्छी नहीं होती। अत: शास्त्र अपने तर्पण के लिये प्राणियों के वध का सर्वथा निषेध करते हैं ॥४५॥

अनिमित्तं तृणं वापि छेदयेन्न कदाचन।
देवतार्थं द्विजार्थं वा हत्वा पापैर्न लिप्यते ॥४६॥

शास्त्र तो यहाँ तक कहते हैं कि, बिना किसी कारण के सामान्य ढंग से उगे हुए तृण को भी तोड़ना अनुचित है। हाँ, देवता को तृप्त करने के उद्देश्य से अथवा द्विजन्मा संस्कार सम्पन्न ब्रह्मधर्मा ब्राह्मण की तृप्ति के लिये हिंसा करने से हिंसक पापों से प्रभावित नहीं होता ॥४६॥

मामनादृत्य यत् पुण्यं पापं स्यात् प्रतिभाषतः ।
मन्निमित्तं चरेत् पापं पुण्यं भवति शाम्भवि ॥४७॥

कोई यदि यह प्रतिभाषित कर रहा है कि 'भले ही शिव का अनादर हो जाय, पुण्य कार्य करना चाहिये', यह बात बिलकुल गलत है। मेरा अनादर कर किये जाने वाले पुण्यकर्म से भी उस व्यक्ति को पाप लगता है, जो ऐसी व्यवस्था देता है। यह ध्रुव सत्य है कि, जो पुरुष मुझको प्रसन्न करने के लिये यदि दूसरे की दृष्टि से पापकर्म करता है, तो उसका कर्म पापकर्म में परिगणित नहीं होता, वरन् वह पुण्यकर्म ही होता है। कर्त्ता पापभागी नहीं, वरन् पुण्य का भागी होता है ॥४७॥

यैरेव पतनं द्रव्यैः सिद्धिस्तैरेव चोदिता ।
श्रीकौलदर्शने चापि भैरवेण महात्मना ॥४८॥

अन्य सम्प्रदायों की दृष्टि से जिन द्रव्यों के सेवन से व्यक्ति का पतन हो सकता है, कुलमार्ग की मान्यता के अनुसार उन्हीं द्रव्यों से व्यक्तित्व के उत्कर्ष में संवर्धन हो सकता है। कौलदर्शन के आराध्य देव भैरव ने स्पष्ट रूप से यह उद्घोषित किया है। मैं भी इसका समर्थन करता हूँ ॥४८॥

मत्कर्म कुर्वतां पुंसां कर्मलोपो भवेन्नहि ।
तत्कर्म ते प्रकुर्वन्ति सप्तकोटिमुनीश्वराः ॥४९॥

भगवान् कहते हैं कि, मेरे लिये कर्म का सम्पादन करने वाले पुरुषों का कर्मलोप नहीं होता, अर्थात् उनको कर्म का प्रभाव प्रभावित नहीं करता। श्रीकृष्ण भी यही कहते हैं कि, मदर्थ कर्म करने वाला कर्मदोष से लिप्त नहीं होता। सात करोड़ मुनीश्वर भी ऐसा ही करते हैं, अर्थात् वे जो काम करते हैं, उनका उद्देश्य केवल मेरी तृप्ति होती है। उनके इसी व्यापक दृष्टिकोण के अनुसार ही भारतीय सामाजिक संरचना का ताना-बाना बनाया गया है ॥४९॥

हन्यान्मन्त्रेण चानेन त्वभिमन्त्र्य पशुं प्रिये ।
गन्धपुष्पाक्षतैः पूज्य चान्यथा नरकं व्रजेत् ॥५०॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति ! यज्ञ में बलि देने के लिये जब भी आवश्यकता हो, तो यज्ञीय पशु की यों ही बलि नहीं दी जानी चाहिये। उसका सर्वप्रथम अभिमन्त्रण होना चाहिये। अभिमन्त्रण के दूसरे दिन बलिपशु की पूजा होनी चाहिये। इस पूजा से पशु में बलिदान की योग्यता उत्पन्न होती है। इस पूजा के विशेष द्रव्य के रूप

में गन्ध, पुष्प और अक्षत होते हैं। जो यज्ञकर्त्ता ऐसा नहीं करता, उसको अवश्य ही नरक की प्राप्ति होती है ॥५०॥

शिवोत्कृत्तमिदं पिण्डमतस्त्वं शिवतां गतः ।
तद् बुध्यस्व पशो त्वं हि मा शिवस्त्वं शिवोऽसि हि ॥५१॥

पशु को मन्त्र द्वारा इस प्रकार अभिमन्त्रित करते हुए कहा जाता है कि, हे बलि-पशु, तुम सचमुच बड़े भाग्यशाली हो। तुम्हारा यह जीवन शिव के लिये अर्पित कर दिया गया है। तुम्हारा यह शरीर आराध्य के लिये अर्पित करने के उद्देश्य से काटकर प्राण से वियुक्त हो रहा है। अब तुम स्वयं शिवत्व को उपलब्ध हो गये हो। तुम्हारा बोध जागृत हो जाय। अब तक तुम शिव नहीं थे। अब तुम साक्षात् शिव ही हो गये हो ॥५१॥

ब्रह्मा स्यात् पलले विष्णुर्गन्धे रुद्रश्च तद्रसे ।
परमात्मा तदानन्दे तस्मात् सेव्यमिदं प्रिये ॥५२॥

तुम्हारे पलल (मांसरस) में ब्रह्मा की शक्ति का उल्लास हो जाय। मांस के गन्ध में विष्णु शक्तितत्त्व की व्यापकता का उल्लास हो और रसतत्त्व में रुद्र तत्त्व प्रस्फुरित हो। तुम्हारे मांस से जिस आनन्द का उत्स फूट पड़े, उसमें परमात्मा का परमानन्द उल्लसित हो। इतनी प्रार्थना के बाद बलिपशु के शरीर का वह खण्डित अंश भौतिक पिण्ड का भाग न रहकर आध्यात्मिक दिव्यता का अधिष्ठान हो जाता है। इसको प्रसाद रूप से स्वीकार करना कौलिकों के लिये अनिवार्यतः आवश्यक हो जाता है। सेव्य हो जाता है ॥५२॥

मांसाभावे तु लशुनं सार्द्रकं नागरन्तु वा ।
आदाय पूजयेद्देवि चान्यथा निष्फलं भवेत् ॥५३॥

मांस के अभाव में लशुन का प्रयोग करना चाहिये। अदरक के साथ नागर का प्रयोग इसके साथ करना भी शास्त्रसम्मत है। इन द्रव्यों का पूजन में प्रयोग होना चाहिये। अन्यथा कुलपूजा निष्फल हो जाती है ॥५३॥

मत्स्यमांसविहीनेन मद्येनापि न तर्पयेत् ।
न कुर्यान्मत्स्यमांसाभ्यां विना द्रव्येण पूजनम् ॥५४॥

मत्स्य और मांस से रहित केवल मदिरा से भी कौलपूजा सम्पन्न नहीं की जा सकती। इसी तरह मदिरा के अभाव में केवल मत्स्य और मांस से ही तर्पण नहीं किया जा सकता। पूजा के लिये तीनों की सम्मिलित आवश्यकता होती है ॥५४॥

पिशितं तिलमात्रन्तु तिलार्द्धमपि बिन्दुना ।
सकृत्तर्पणमात्रेण कोटियज्ञफलं लभेत् ॥५५॥

पिशित यदि अत्यल्प मात्रा में उपलब्ध हो, यहाँ तक कि यदि तिलमात्र ही हो और इसी तरह कुलद्रव्य भी तिलमात्र का आधा भी उपलब्ध हो, तो इतने स्वल्प द्रव्य से भी तर्पण किया जा सकता है। इस तर्पण से ही, भले ही वह एक बार ही किया गया हो, करोड़ो यज्ञों का फल मिल जाता है ॥५५॥

कुलपूजासमं नास्ति पुण्यमन्यज्जगत्त्रये ।
तस्माद् यः पूजयेद्भक्त्या भुक्तिमुक्त्योः स भाजनम् ॥५६॥

भगवान् कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति ! कुलपूजा के समान उत्तम कोई पूजा नहीं होती । त्रैलोक्य में इतनी महत्त्वपूर्ण पूजा कोई नहीं मानी जाती । अत: जो साधक कौलिक विधि से कुलपूजा में प्रवृत्त होता है, वह समान रूप से भुक्ति और मुक्ति दोनों का फल प्राप्त करता है । यह उसकी कुलभक्ति का प्रमाण माना जाता है ॥५६॥

अनधीतोऽप्यशास्त्रज्ञो गुरुभक्तो दृढव्रतः ।
कुलपूजारतो यस्तु स मे प्रियतमो भवेत् ॥५७॥

कुछ ऐसे लोग हैं, जो पढ़े-लिखे नहीं होते । इसी तरह कुछ ऐसे भी होते हैं, जो शास्त्रीय ज्ञान से रहित होते हैं । यदि ऐसे लोग गुरु के प्रति भक्ति और दृढ़ आस्था के व्रती हों; कोई व्रत वे आस्था के साथ पालन करते हों और कुलपूजा में निरत रहते हों, तो उनके अनधीतत्व और अशास्त्रज्ञत्व का उनके जीवन पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता । वे मेरे अत्यन्त प्रिय होते हैं ॥५७॥

चतुर्णामपि वर्णानामाश्रमाणामपीश्वरि ।
पुंस्त्रीनपुंसकानान्तु पूजितेष्टफलप्रदा ॥५८॥

चारों वर्णों और चारों आश्रमों की व्यवस्था में व्यवस्थित जीवन व्यतीत करने वाले भले ही वे पुरुष हों, स्त्रीवर्ग के हों अथवा नपुंसक ही क्यों न हों, हे जगदीश्वरि ! इनके द्वारा पूजित होने पर तुम उनके ऊपर वात्सल्य की वर्षा करती हो और उनके इष्ट की पूर्ति कर देती हो, अर्थात् तुम्हारी कृपा से वे सर्वदा प्रसन्न रहते हैं ॥५८॥

इहामुत्र फलं दद्यात् पूजिता सुवधूरिव ।
अपूजिता त्वं देवेशि दुःखदा कुवधूरिव ॥५९॥

गृहस्थ के परिवार में विवाहोपरान्त बहुओं के आने की प्रथा है । कभी सद्व्यवहार दक्ष वधू होती है । विनम्र होती है । उसकी आवभगत होती है । सब उसे मानते हैं । ऐसी आदरणीया बहू आदर के कारण लोक-परलोक दोनों को सुधार देती है । देवि ! पार्वति ! तुम ऐसी ही हो । पूजा करने पर उभयलोक के सुफल प्रदान करती हो । पूजा न करने पर कुवधू की तरह विपत्ति की मूल बन जाती हो और दु:ख के पहाड़ टूट पड़ते हैं ॥५९॥

कुलपूजां विना यस्तु करोत्येवं सुदुर्मतिः ।
स याति नरकं घोरमेकविंशतिभिः कुलैः ॥६०॥

यह मेरी धारणा है, मान्यता है और मेरी यह व्यवस्था है कि, जो व्यक्ति बिना कुलपूजा किये ऐसा करता है, अर्थात् एक तरफ तो कुलपूजा नहीं करता और तुम्हारे साथ कुवधू के समान उपेक्षा का व्यवहार करता है, वह अवश्य ही घोर नरक का भागी होता है । यदि वह अकेले नरक जाता, तो भी वह उतना ही भोग करता, इस पाप से वह २१ पीढ़ियों तक को नरक ले जाने का अधम कार्य कर लेता है ॥६०॥

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन कुलपूजारतो भवेत् ।
लभते सर्वसिद्धीश्च नात्र कार्या विचारणा ॥६१॥

इसलिये मेरा यह निर्देश, आदेश और उपदेश है कि, सभी प्रकार से ऐसे अध्यवसाय करें, ताकि अनवरत नियमतः कुलपूजा की जा सके। कुलपूजारत रहने से वह समस्त सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है। इस मेरी बात में तर्क और विचार की कोई आवश्यकता नहीं। निःसन्देह मेरा कथन ध्रुव सत्य है ॥६१॥

आराधनासमर्थश्चेद्द्यादर्चनसाधनम् ।
यो दातुं नैव शक्नोति कुर्यादर्चनदर्शनम् ॥६२॥

कुलपूजकों के कर्त्तव्य की याद दिलाते हुए भगवान् कहते हैं कि, जिसके पास यह सामर्थ्य है कि, वह विधिविधानपूर्वक कुलपूजा सम्पन्न करता है और इसमें होने वाले व्ययभार से वह चिन्तित नहीं होता और इसके बाद भी उसकी आर्थिक स्थिति दृढ़ रहती है, तो वह दूसरों को भी कुलपूजा के लिये प्रोत्साहित करे—यह उसका कुलधर्म है। वह अर्चना के साधनभूत द्रव्यों को देकर भी कुलपूजा कराये। जो न दे सकता है और करने में भी असमर्थ रहता है, उसका धर्म है कि, जहाँ कुलपूजा हो रही हो, वहाँ जाय और पूजा को देखे। देखने मात्र से उसे पुण्य की प्राप्ति होती है ॥६२॥

सम्यक् शतक्रतून् कृत्वा यत् फलं समवाप्नुयात् ।
तत् फलं समवाप्नोति सकृत् कृत्वा क्रमार्चनम् ॥६३॥

सम्यक् रूप से सौ यज्ञों का सम्पादन करने वाला जिन फलों की प्राप्ति करता है, वह उसकी क्रियाशक्ति का ही सुपरिणाम होता है। यद्यपि यह कार्य बहुव्ययसाध्य होता है। मेरा यह स्पष्ट और दृढ़ मत है कि, अल्पव्ययसाध्य यह क्रमार्चन (कुलार्चन) एक बार ही करने से वही फल प्राप्त होता है ॥६३॥

महाषोडशदानानि कृत्वा यच्च फलं लभेत् ।
तत् फलं समवाप्नोति कृत्वा श्रीचक्रदर्शनम् ॥६४॥

दान के तो यों कई प्रकार के भेद गीता आदि शास्त्रों में कहे गये हैं; किन्तु महाषोडश दान की शास्त्रों में बड़ी बड़ाई की गयी है। अष्टदान की चर्चा भी शास्त्रों में की गयी है। इसमें कपास, नमक, घी, सप्तधान्य, सुवर्ण, लौह, पृथ्वी, गौ आते हैं। सप्तधान्य में इन्हें जोड़ने से ये १४ हो जाते हैं। राज्यदान, सर्वस्वदान और आत्मदान भी इसमें आते हैं। इसमें वारि, अन्न, तिल, दीप, भूमि, स्वर्ण, गृह, रजत, वस्त्र, अश्व, गौ, बैल, यान-शय्या, अभय, धान्य, ब्रह्मविद्या आदि भी आते हैं[१]।

इन सोलह प्रकार के दानों के करने से जो फल शास्त्र के अनुसार प्राप्त होते हैं, वे सारे फल मात्र 'श्रीचक्र' के दर्शन से प्राप्त हो जाते हैं ॥६४॥

---

१. मनुस्मृति : ४:२२९-२३३

सार्द्धत्रिकोटितीर्थेषु स्नात्वा यत् फलमाप्नुयात् ।
तत् फलं लभते देवि सकृत् कृत्वा क्रमार्चनम् ॥६५॥

साढ़े तीन करोड़ तीर्थों की गणना प्राचीन काल में की गयी है । कालक्रम से उनके नाम भी अब लोग नहीं जानते । इन तीर्थों के दर्शन से जो फल मिलते हैं, वे सारे फल एक बार भी क्रमपूर्वक श्रीचक्र के अर्चन से मिल जाते हैं ॥६५॥

बहुनोक्तेन किं देवि यथाभक्त्या ददाति यः ।
कुलाचार्याय पूजार्थं कुलद्रव्यं स धर्मवित् ॥६६॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि ! इस विषय में अधिक क्या कहा जाय ? बस इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि, यथाशक्ति और यथाभक्ति कुलाचार्य के लिये पूजा के उद्देश्य से जो शिष्य जितना भी कुलद्रव्य अर्पित करता है, वह शिष्य धन्य है और वास्तव में वही धर्मवेत्ता है, यह कहा जा सकता है ॥६६॥

शैवे वा वैष्णवे शाक्ते सौरे सुगतदर्शने ।
बौद्धे पाशुपते सांख्ये व्रते कुलमुखे तथा ॥६७॥
सदक्षवामसिद्धान्ते वैदिकादिषु पार्वति ।
विनाऽलिपिशिताभ्यान्तु पूजनं निष्फलं भवेत् ॥६८॥

चाहे शैव सम्प्रदाय हो या वैष्णव, शाक्त, सौर, सौगत, बौद्ध, पाशुपत, सांख्य, व्रत अथवा कुलमुख सम्प्रदाय हो, दक्ष या वाम सिद्धान्त मार्ग हो अथवा वैदिक दर्शन का औपनिषदिक सिद्धान्त ही क्यों न हो, बिना अलिपिशित के पूजा निष्फल होती है । अर्थात् उसकी उपयोगिता सार्वत्रिक है ॥६७-६८॥

कुलद्रव्यैर्विना कुर्याज्जपयज्ञतपोव्रतम् ।
निष्फलं तद्भवेद्देवि भस्मनीव यथा हुतम् ॥६९॥

बिना कुलद्रव्य अर्थात् मद्य और मांस के, जप, यज्ञ, तप और व्रत जितने भी आचरणीय धर्माचरण हैं, भगवान् शंकर कहते हैं कि, देवि पार्वति ! उसी प्रकार व्यर्थ और निष्फल हो जाते हैं, जैसे भस्म में किया हुआ शाकल्य का हवन व्यर्थ और निष्फल हो जाता है ॥६९॥

यथैवान्तश्चरा राज्ञः प्रियाः स्युर्न बहिश्चराः ।
तथान्तर्यागनिष्ठा ये ते प्रिया देवि नापरे ॥७०॥

किसी भी राजा या शासक के लिये गुप्तचर सेवा में रहने वाले सेवक अत्यन्त विश्वसनीय और प्रियता के पात्र होते हैं । बाह्य सेवा में संलग्न राजपुरुष उतने प्रिय नहीं होते । उसी प्रकार भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि ! अन्तर्यागसंलग्न उपासक मुझे अत्यन्त प्रिय हैं । बाह्ययाग में संलग्न साधक मुझे प्रिय तो हैं; किन्तु अन्तर्यागीय साधक अपेक्षाकृत अधिक प्रिय लगते हैं ॥७०॥

समर्पयन्ति ये भक्त्या आवाभ्यां पिशितासवम्।
उत्पादयन्ति चानन्दं मत्प्रियाः कौलिकाश्च ते ॥७१॥

देवि ! मुझे और मुझसे शाश्वत अवियुक्त तुझे जो व्यक्ति मद्य और मांस का अर्पण करता है, अर्थात् भक्तिपूर्वक मुझे भोग लगाकर स्वयं पश्चात् उसका उपयोग करता है और हमारे आनन्दवाद का संवर्द्धन करता है, ऐसे लोग मेरे अत्यन्त प्रिय होते हैं। सच्चे अर्थों में वही कौलिक साधक होते हैं ॥७१॥

आवयोः परमाकारं सच्चिदानन्दलक्षणम्।
कुलद्रव्योपभोगेन परिस्फुरति नान्यथा ॥७२॥

हम दोनों का यह पार्थक्य प्रथा से प्रथित अलगावभरा द्वैरूप्य परमाकारवान् नहीं है। हम दोनों का स्वरूप सच्चिदानन्दमय है। यह पारमार्थिक स्वरूप उसी समय परिस्फुरित होता है, जब कोई प्रिय भक्त कुलद्रव्य के उपभोग का अवसर प्रदान करता है। अन्यथा इस भाव का परिस्फुरण सम्भव नहीं ॥७२॥

अन्तःस्थानुभवोल्लासो मनोवाचामगोचरः।
कुलद्रव्योपभोगेन जायते नान्यथा प्रिये ॥७३॥

इस परिस्फुरण की आन्तरिक आनन्दानुभूति का महोल्लास वस्तुतः मन, वाणी और बुद्धि से भी अगोचर है। यह उल्लास मात्र कुलद्रव्य से ही सम्भव है, दूसरी तरह नहीं ॥७३॥

सेविते च कुलद्रव्ये कुलतत्त्वार्थदर्शनः।
जायते भैरवावेशः सर्वत्र समदर्शनः ॥७४॥

कुलद्रव्य के सेवन के परिणामस्वरूप कुलतत्त्व के निहितार्थ का दर्शन करा देने में सक्षम 'भैरवावेश' रूप महाभाव का भावन होता है। यह ऐसा आवेश है, जिससे सर्वत्र समदर्शी भाव का उदय हो जाता है ॥७४॥

तमःपरिवृतं वेश्म यथा दीपेन दृश्यते।
तथा मायावृतो ह्यात्मा द्रव्यपानेन दृश्यते ॥७५॥

अन्धकार से भरा हुआ घर दिया जला देने मात्र से जगमगा उठता है। चारों तरफ उजाले का ही साम्राज्य हो जाता है, उसी तरह शरीरस्थ आत्मा, माया से आजीवन घिरा होने पर भी ज्यों ही कौलिक साधक शिवरूप द्रव्य का पान करता है, वह आत्मा प्रकाशमान हो जाता है ॥७५॥

मन्त्रपूतं कुलद्रव्यं गुरुदेवार्पितं प्रिये।
ये पिबन्ति जनास्तेषां स्तन्यपानं न विद्यते ॥७६॥

कुलद्रव्य मन्त्र से पावन होता है। भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! जो लोग गुरु और देवात्म परमात्मा शिव को अर्पित कर स्वयं भी उसका आनन्दोपभोग करते हैं,

वे मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं। उन्हें पुनः मातृगर्भ से जन्म लेना और शिशु बनकर स्तन्यपान नहीं करना पड़ता ॥७६॥

मद्यन्तु भैरवो देवो मद्यं शक्तिः समीरिता।
अहो भोक्ता च मद्यस्य मोहयेदमरानपि ॥७७॥

शास्त्र मद्य को साक्षात् 'भैरव' रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। शास्त्रों में यह उल्लेख भी है कि, मद्य प्रत्यक्ष 'शक्ति' रूप है। ऐसे मद्य के सेवन करने वाले कौल साधक धन्य हैं। ये देवताओं को भी मोहमुग्ध करने में समर्थ होते हैं ॥७७॥

तन्मैरेयं नरः पीत्वा यो न विकुरुते प्रिये।
मद्ध्यानैकपरो भूत्वा स मुक्तः स च कौलिकः ॥७८॥

ऐसे मैरेय का मधुपान करने वाला जो मधुपायी पुरुष नशे के विकृत भय में नहीं पड़ता, वरन् 'स्व' में अवस्थित होकर एकनिष्ठ मेरा ध्यान करता है, वह मेरे ध्यान में सर्वथा तल्लीन होने सदृश साधना के माध्यम से धन्य हो जाता है और मुक्त हो जाता है। मद्य की मादकता के विकार से रहित जो साधक शैवसद्भावसम्भूति की भव्यता का अनुभव करता है, वही सच्चा कौलिक है ॥७८॥

सुरा शक्तिः शिवो मांसं तद्भोक्ता भैरवः स्वयम्।
तयोरैक्यसमुत्पन्न आनन्दो मोक्ष उच्यते ॥७९॥

'सुरा' साक्षात् शक्ति है। मांस प्रत्यक्ष शिव है। ऐसे मद्य और मांस का अविकृत उपभोक्ता 'भैरव' रूप ही हो जाता है। सुरा (शक्ति) और मांस (शिव) के तादात्म्यभाव भावित होने का जो 'आनन्द' है, वह 'मोक्ष' है ॥७९॥

आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च देहे व्यवस्थितम्।
तस्याभिव्यञ्जकं मद्यं योगिभिस्तेन पीयते ॥८०॥

शास्त्र में कहा गया है—'आनन्दो वै ब्रह्मणो रूपम्', 'आनन्दं ब्रह्म' आदि। अर्थात् आनन्द ही वेदप्रसिद्ध 'ब्रह्म' है। यह आनन्द स्वयं ब्रह्म के रूप में इस शरीर में सुव्यस्थित है। उसी आनन्दरूप 'ब्रह्म' का अभिव्यंजन करने वाला पदार्थ 'मद्य' है। इसकी पावनता से प्रभावित और प्रेरित योगियों द्वारा यह पेय रूप में स्वीकृत कर लिया गया है ॥८०॥

कुण्डीकम्बुकपालानि मधुपूर्णानि बिभ्रतः।
किं न पश्यति लोकोऽयं ब्रह्मविष्णुमहेश्वरान् ॥८१॥

ब्रह्मा कमण्डलु, विष्णु शंख और महेश्वर कपाल पात्र के लिये प्रसिद्ध हैं। ये तीनों पात्र स्पष्ट है कि, मधुपात्र ही हैं। मधुपायी के लिये मधुपात्र सदा आवश्यक होते हैं। अतः ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर तीनों इन्हें शाश्वत रूप से धारण करते हैं। लोगों को इस तथ्य पर विचार करना चाहिये। श्लोक में कमण्डलु के लिये कुण्डी शब्द का प्रयोग किया गया है ॥८१॥

निःशङ्को निर्भयो वीरो निर्लज्जो निष्कुतूहलः ।
निर्णीतवेदशास्त्रार्थो वरदां वारुणीं पिबेत् ॥८२॥

'वीर' साधक का यह कर्त्तव्य है कि, वह निःशंक भाव से निर्भय होकर वारुणी का सेवन करे। इसमें उसे किसी प्रकार की लज्जा नहीं करनी चाहिये। किसी प्रकार का कुतूहल नहीं अपनाना चाहिये। यह वेदों और शास्त्रों द्वारा निर्णीत तथ्य है। इसे स्वतन्त्र रूप से अपनाना वीर का धर्म है ॥८२॥

मन्त्रसंस्कारसंशुद्धामृतपानेन पार्वति ।
जायते देवताभावो भवबन्धविमोचकः ॥८३॥

मन्त्रों से संस्कारसम्पन्न इस शुद्ध अमृत के पान से प्रिये पार्वति ! एक दिव्य भाव का उच्छलन होता है। इस भाव से भवबन्ध का निश्चय रूप से विमोचन हो जाता है ॥८३॥

ब्राह्मणस्य सदा पेयं क्षत्रियस्य रणागमे ।
गोलम्भने तु वैश्यस्य शूद्रस्यान्त्येष्टिकर्मणि ॥८४॥

सुरा के सेवन के समय के सम्बन्ध में परमेश्वर शिव शास्त्रीय दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण कर रहे हैं। उनके अनुसार ब्राह्मण ब्रह्मवर्चस्व के आनन्द से ओत-प्रोत रहता है, उसकी इच्छा पर निर्भर करता है कि वह कब सुरा ले। ब्राह्मण के लिये कोई समय-सीमा निर्धारित नहीं है। वह सदा सुरापान कर सकता है। क्षत्रिय को रणांगण में आनन्द का उपबृंहण होता है। अतः संग्राम संगीन समय के समुपस्थित हो जाने पर उसे क्षमता के प्रदर्शन हेतु सुरापान अवश्य करना चाहिये। इसी तरह वैश्य को भी व्यापार की दृष्टि से गोलम्भन के समय सुरापान आवश्यक है। शूद्र अन्त्येष्टि के समय इसका सेवन कर सकता है, यही शास्त्रीय विधान है ॥८४॥

देवान् पितॄन् समभ्यर्च्य देवि शास्त्रोक्तवर्त्मना ।
गुरुं स्मरन् पिबन्मद्यं खादन् मांसं न दोषभाक् ॥८५॥

भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! शास्त्रीय नियमों के अनुसार देवों, पितरों और पूजनीयों की पूजा करने के उपरान्त अपने गुरुजनों का स्मरण कर सुरा सेवन उचित माना जाता है। इसी तरह मांस का भक्षण करने से मद्य-मांस-सेवी को किसी प्रकार का दोष नहीं होता ॥८५॥

तृप्त्यर्थं पितृदेवानां ब्रह्मध्यानस्थिराय च ।
सेवेत मधुमांसानि तृष्णया चेत् स पातकी ॥८६॥

पितरों और देवताओं की तृप्ति के लिये और ब्रह्म की ध्यान-साधना में स्थिरता प्राप्त करने के लिये मधु और मांस रूप पंचमकार के दो प्रधान द्रव्यों के सेवन में सेवनकर्त्ता को कोई दोष नहीं होता। वहीं यदि तृष्णा के वशीभूत होकर कोई मधु और

मांस का सेवन करता है, उसे पातकी मानते हैं। अर्थात् तृष्णा के वशीभूत होकर मधु, मांस का सेवन कदापि नहीं करना चाहिये ॥८६॥

मन्त्रार्थस्फुरणार्थाय मनसः स्थैर्यहेतवे।
भवपाशनिवृत्त्यर्थं मधुपानं समाचरेत् ॥८७॥

सुरा के सेवन से मन्त्रार्थ का स्फुरण अनायास होने लगता है। अतः मन्त्रार्थ के स्फुरण की उद्देश्यपूर्ति के लिये इसका सेवन आवश्यक माना जाता है। इसी तरह मन की स्थिरता के लिये तथा भवबन्धन से मुक्ति के लिये मधुपान का औचित्य शास्त्र-समर्थित है। इस श्लोक से यह सिद्ध होता है कि, सुरा के सेवन से १. मन्त्रार्थ का स्फुरण, २. मानसिक स्थैर्य और ३. भवपाश की विनिवृत्ति—ये तीन लक्ष्य निश्चित रूप से पूरे होते हैं ॥८७॥

सेवेत स्वसुखार्थं यो मद्यादीनि स पातकी।
प्राशयेद्देवताप्रीत्यै स्वाभिलाषविवर्जितः ॥८८॥

इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि, अपने ऐहिक सुख की (जिह्वालौल्य की) शान्ति के लिये मधु-मांससेवी पातकी माना जाता है। इसलिये मांस का प्राशन सर्वदा देवता की प्रीति के लिये ही करना उचित है। इसमें अपनी इच्छा को कभी भी आगे नहीं आने देना चाहिये ॥८८॥

मत्स्यमांससुरादीनां मादकानां निषेवणम्।
यागकालं विनान्यत्र दूषणं कथितं प्रिये ॥८९॥

पंचमकार के दो प्राश्य और एक पेयरूप तीनों पदार्थ एक प्रकार की मादकता उत्पन्न करते हैं। अतः इन्हें मादक कहते हैं। इनका सेवन केवल यज्ञ के अनुष्ठान के अवसर पर ही उचित होता है। भगवान् कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति ! अन्यत्र इनका सेवन दूषण उत्पन्न करता है ॥८९॥

यथा क्रतुषु विप्राणां सोमपानं विधीयते।
मद्यपानं तथा कार्यं समये भोगमोक्षदम् ॥९०॥

वैदिक यज्ञों में क्रतु के अवसर पर ब्राह्मणों को सोमपान का निर्देश शास्त्र करते हैं। उसी तरह कुलाचार के अनुसार 'समय' पालन के समय मद्यपान भी अवश्य करना चाहिये। समयानुसार सेवन से भोग और मोक्ष दोनों की अनायास प्राप्ति होती है, यह निश्चय है ॥९०॥

श्रीगुरोः कुलशास्त्रेभ्यः सम्यग्विज्ञाय वासनाम्।
पञ्चमुद्रा निषेवेत चान्यथा पतितो भवेत् ॥९१॥

पंचमकारों का प्रयोग कुलदर्शन एवं कौलिक मत में स्वीकृत और प्रतिपादित है। प्रश्न यह है कि, वासना-रस में आचूडान्त ओत-प्रोत सामान्य लोग भी इसका प्रयोग

को ग्रहण करने की चाह करता है, उससे बढ़कर पातकी कोई दूसरा हो ही नहीं सकता। सभी धर्मों से बहिष्कृत करने योग्य होता है ॥९५॥

समयाचारहीनस्य स्वैरवृत्तेर्दुरात्मनः।
न सिद्धयः कुलभ्रंशस्तत्संसर्गं न कारयेत् ॥९६॥

कौलमत में प्रचलित समयाचार के सिद्धान्तों का आचरण न करने वाला व्यक्ति समयाचारहीन माना जाता है। उन स्वीकृत नियमों के प्रतिकूल स्वेच्छाचार में निरत दुरात्मा पुरुष को सिद्धियों की प्राप्ति असम्भव है। साथ ही वह कुलमार्ग से भ्रष्ट होने के कारण कुलभ्रंश का अपराधी भी हो जाता है। ऐसे लोगों का कभी भी संसर्ग नहीं करना चाहिये, न किसी अन्य को इसकी सम्मति देनी चाहिये ॥९६॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामचारतः।
स सिद्धिमिह नाप्नोति परत्र न परां गतिम् ॥९७॥

यह श्लोक श्रीमद्भगवद्गीता (१६।२३) में ज्यों का त्यों आया हुआ है। इसके अनुसार शास्त्र में प्रतिपादित और गुरुक्रम द्वारा अनुमोदित विधियों का परित्याग कर जो स्वेच्छाचार अपनाता है, वह कभी भी सिद्धियों की प्राप्ति नहीं कर पाता। उसे अनुशासनात्मक आनन्दमय तृप्ति का सुख कभी नहीं मिल पाता। इहलोक में तो वह अतृप्त रहता ही है, परत्र अर्थात् मरणोपरान्त परलोक में भी सद्गति से वंचित रहने का दुर्भाग्य ही भोगना पड़ता है ॥९७॥

स्वेच्छया रममाणो यो दीक्षासंस्कारवर्जितः।
न तस्य सद्गतिः कापि तपस्तीर्थव्रतादिभिः ॥९८॥

जो स्वैराचार में ही रम जाता है, वह मनमाने काम करने के कारण कार्य और अकार्य का भेद नहीं कर पाता। वह दीक्षा संस्कार से भी वंचित रह जाता है। ऐसे व्यक्ति की सद्गति नहीं होती। भले ही अपने मन का तप करे, स्वेच्छया तीर्थाटन भी कर ले, या कोई व्रत भी निभाने में लगा रहे। अतः सबके लिये शास्त्र का अनुशासन ही मान्य है ॥९८॥

असंस्कृतं पिबेद्द्रव्यं बलात्कारेण मैथुनम्।
स्वप्रियेण हतं मांसं रौरवं नरकं व्रजेत् ॥९९॥

द्रव्य अर्थात् हेतुद्रव्य रूप सुरा का सेवन संस्कार के उपरान्त ही करने का विधान है। जो व्यक्ति संस्काररहित हेतुद्रव्य का स्वैर रूप से सेवन करता है, वह शास्त्रापराधी माना जाना चाहिये और माना जाता है। इसी तरह पाँचवें मकार को बलात्कारपूर्वक सम्पन्न करने वाला भी पापी होता है। अपनी प्रियता से प्रभावित होकर प्राणिवध करके जो मांस भक्षण करता है, वह भी स्वैराचार ही है। इन तीनों कार्यों को करने वाले रौरव नरक में जाने का ही पथ प्रशस्त करते हैं ॥९९॥

कौलाः पशुव्रतस्थाश्चेत् पक्षद्वयविडम्बकाः ।
केशसंख्या स्मृता यावत्तावत्तिष्ठन्ति रौरवे ॥१००॥

कहलाने के लिये कौल और आचरण में पशुव्रती ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं। पाशबद्ध पुरुष पशु कहलाते हैं। आणवसमावेश में रहने के कारण वे मायोन्मुख हैं, जबकि कौल ऊर्ध्वाम्नाय का परमार्थ साधक प्राज्ञ होता है। इसीलिये भगवान् शंकर इस विपरीताचार के आचरण करने वालों को 'पक्षद्वयविडम्बकाः' कहते हैं। वे कुछ भी नहीं होते। उसका दुष्परिणाम यह होता है कि, केशराशि की जितनी संख्या शास्त्र कहता है, उतने असंख्य वर्षों तक उन्हें रौरव नरक का भोग भोगना पड़ता है ॥१००॥

कुलद्रव्याणि सेवेत योऽन्यदर्शनमाश्रितः ।
तदङ्गरोमसंख्यातं भूतयोनिषु जायते ॥१०१॥

इस सन्दर्भ में भगवान् एक नये पक्ष की चर्चा कर रहे हैं। वे कहते हैं कि, एक व्यक्ति है। वह एक अन्य सम्प्रदाय-संस्कार के वशीभूत होकर उसी का आश्रय ग्रहण करता है। दूसरी ओर वह कुलद्रव्य का सेवन भी करता है। ऐसा पुरुष भी शास्त्र और परम्परा के तोड़ने का अपराध करता है। उसके शरीर में जितने रोम होते हैं, उतने जन्मों तक वह भूतयोनि में जन्म लेने को विवश हो जाता है ॥१०१॥

मदप्रच्छादितात्मा च न किञ्चिदपि वेत्ति च ।
न ध्यानं न तपो नार्चा न धर्मो न च सत्क्रिया ॥१०२॥
न दैवं न गुरुर्नात्मविचारो न स कौलिकः ।
केवलं विषयासक्तः पतत्येव न संशयः ॥१०३॥

वह व्यक्ति जो मादकता में आचूलमूल डूबा हुआ है, यह मादकता दिन-रात शराब के नशे की भी हो सकती है या आणव समावेशमयी मलावरण की घनतामयी जड़ताजन्य मूर्खताभरी वासना से भी हो सकती है। ऐसा मदमत्त अभागा पुरुष कौलिक नहीं हो सकता। इसी तरह जिसे तनिक भी ज्ञान नहीं है, समझ नहीं है, ध्यान, तप, अर्चना, धर्म,सत्कर्म, देवश्रद्धा, गुरुभक्ति और आत्म-अनात्म का विचार नहीं है, वह भला कौलिक कैसे हो सकता है ? वह मात्र विषयासक्त मूढ़ जन्तु मात्र होता है। उसके भाग्य में पतन ही पतन लिखा है ॥१०२-१०३॥

मद्यासक्तो न पूजार्थी मांसाशी स्त्रीनिषेवकः ।
कौलोपदेशहीनो यः सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् ॥१०४॥

जो मद्य में आसक्त हो जाता है, वह पूजा की बात सोच भी नहीं सकता। जो मांस में आसक्त है और रात-दिन मैथुन की धुन में रहता है, ऐसा पुरुष कौल नहीं कहा जा सकता। वह कौल धर्मोपदेश से सचमुच वंचित है। कौल उपदेश के अनुसार मद्य, मांस और मैथुन की मर्यादायें बँधी हुई हैं। वह व्यक्ति उस सत्समयाचार से शून्य होता है। ऐसा पुरुष अक्षय नरक का निवास पाने के लिये विवश है ॥१०४॥

असंस्कारी तु यो नौ स्यात् पञ्च मुद्रा निषेवते ।
कुलेशि ब्रह्मनिष्ठोऽपि निन्द्यतामधिगच्छति ॥१०५॥

इस श्लोक में यो के बाद पृथक् नौ वर्ण दिया गया है। नौ अलग रहकर अनर्थ का ही प्रतिनिधि बन जाता है। एक साथ प्रयोग करने पर 'योनि में' अर्थ होता है। योनि मकार की आधार है। इसे जन्माधार भी कहते हैं। इसके सम्बन्ध में साधक को विशेष संस्कारवान् रहना पड़ता है। जो पुरुष पंचमकार की उपासना करने का आडम्बर करता है और उसी मुख्य जन्माधार के विषय में संस्कारवान् नहीं है, भगवान् शंकर कहते हैं कि, कुलेश्वरि ! ऐसा पुरुष ब्रह्मनिष्ठ होने का ढोंग ही करता है। समाज में उसकी बड़ी निन्दा होती है ॥१०५॥

लिङ्गत्रयविशेषज्ञः षडाधारविभेदकः ।
पीठस्थानानि चागत्य महापद्मवनं व्रजेत् ॥१०६॥

लिंगपूजा का विधान शास्त्रविहित है। इसमें तीन लिंग विशिष्ट रूप से मान्य हैं— १. स्वयंभूलिंग, २. बाणलिंग और ३. इतरलिंग। कौलयोगी को इन तीनों की पूजा का विशेषज्ञ होना चाहिये। कुल-कुण्डलिनी की लिंग-लिंगिनी बनने की विधि से भी वह परिचित होता है।

इसी तरह षडाधार रूप षट्चक्रों के भेदन में वह समर्थ हो जाता है। समस्त उड्याणादि पीठों में गमागम सिद्ध होता है और मणिमन्दिर के कल्पोपवन में उल्लसित महापद्मवन (सहस्रार) की यात्रा का पारखी पर्यटक होता है ॥१०६॥

आमूलाधारमाब्रह्मरन्ध्रं गत्वा पुनः पुनः ।
चिच्चन्द्रकुण्डलीशक्तिसामरस्यसुखोदयः ॥१०७॥

प्राणापानवाह की सारी साधना मूलाधार से प्रारम्भ कर ब्रह्मरन्ध्र तक ही सीमित है। इसमें साधक आरोह और अवरोह क्रम के आधार पर विचरण करता है। साथ ही चिद्रूप प्रकाशतत्त्व के साथ चन्द्ररूप विमर्श तत्त्व के संघट्ट में विश्रान्त कुलकुण्डलिनी शक्ति के सामरस्य के आनन्दमय शाश्वत सुख का तादात्म्य भाव अपना कर उसी में खो जाता है। उसे सुखोदय का समेधमान-रूप माना जाता है ॥१०७॥

व्योमपङ्कजनिस्यन्दसुधापानरतो नरः ।
सुधापानमिदं प्रोक्तमितरे मद्यपायिनः ॥१०८॥

उन्मना के आकाशकमल-कोश से निःस्यन्दमान मकरन्द-सुधा का आस्वाद कर वह धन्य हो जाता है। बड़े ही भाग्यशाली साधक इस मकरन्द-सुधा का आस्वाद प्राप्त करते हैं। सामान्य साधक मद्यपान में ही मुग्ध रहता है ॥१०८॥

पुण्यापुण्यपशुं हत्वा ज्ञानखड्गेन योगवित् ।
परे लयं नयेच्चित्तं पलाशी स निगद्यते ॥१०९॥

पुण्य और अपुण्य दोनों पशु हैं। आत्मयज्ञ के सम्पादन में ज्ञानखड्ग से अर्थात् बोध की तलवार से इन दोनों की बलि चढ़ा देते हैं। वस्तुतः यही पशुबलि होती है। इस पशुबलि का विधानज्ञ योगी परात्मक परतत्त्व में अपने मन को लीन कर देता है। वस्तुतः पंचमकार के द्वितीय द्रव्य का सेवन करने वाला माना जाता है ॥१०९॥

मनसा चेन्द्रियगणं संयम्यात्मनि योजयेत्।
मत्स्याशी स भवेद्देवि शेषाः स्युः प्राणिहिंसकाः ॥११०॥

मन के माध्यम से समस्त इन्द्रियों का संयम कर स्वात्म में योगी अवस्थान प्राप्त कर लेता है। यह उसके लिये आवश्यक है। योजयेत् विधि क्रिया द्वारा शास्त्र यह निर्देश दे रहा है। ऐसे योगी को मत्स्यभोजी कहते हैं। इन्द्रियाँ ही वृत्तियों के साथ मन के समुद्र में विचरण करती हैं। इनको वश में करना ही इनका अशन है ॥११०॥

अप्रबुद्धा पशोः शक्तिः प्रबुद्धा कौलिकस्य च।
शक्तिं तां सेवयेद् यस्तु स भवेत् शक्तिसेवकः ॥१११॥

पाशबद्ध अणुभाव में रहने वाले पुद्गल पशुओं की शक्ति नित्य अप्रबुद्ध रहती है। बोधशक्ति के जागरण के बाद ही व्यक्ति प्रबुद्ध माना जाता है। पशुभाव में इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। जो भाग्यशाली पुरुष कुलधर्म अपना लेता है और कुलाचार साधना में दीक्षा प्राप्त कर कौलिक बन जाता है, उसकी बुद्धि-शक्ति प्रबुद्ध हो जाती है। जो व्यक्ति इस शक्ति का सेवन करने में निपुणता प्राप्त कर लेता है, वही शक्तिसेवक साधक माना जाता है ॥१११॥

पराशक्त्यात्ममिथुनसंयोगानन्दनिर्भरः ।
य आस्ते मैथुनं तत् स्यादपरे स्त्रीनिषेवकाः ॥११२॥

उन्मना क्षेत्र में अक्षय आनन्द लेने वाला भाग्यशाली साधक पराशक्ति का सहवास प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त करता है। यह साधक का मिथुन भाव है। इस मिथुन राशि में प्रवेश करने वाला सूर्य के समान प्रकाशमान साधक पराशक्ति के संयोग सुख का शाश्वतिक आनन्द प्राप्त कर आनन्दनिर्भर ही हो जाता है। इसे ही मैथुनजन्य आनन्द और पंचमकार का अन्तिम द्रव्य-साधन कहते हैं। मैथुन के इस स्वरूप के विषय में सामान्यतया लोग परिचित नहीं होते। इस प्रकार का मैथुन करने वाला कौल कहलाता है। इसके अतिरिक्त मैथुनरत लोग भौतिक सुखोपलब्धि में ही जीवन व्यतीत कर देते हैं ॥११२॥

इत्यादि पञ्चमुद्राणां वासनां कुलनायिके।
ज्ञात्वा गुरुमुखाद्देवि यः सेवेत स मुच्यते ॥११३॥

भगवान् शंकर अन्त में कुलनायिकाशिरोमणि कुलेश्वरी पार्वती को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि, देवि ! मैंने यहाँ पंचमकारों के सभी पक्षों पर पूर्णतया प्रकाश प्रक्षिप्त किया है। हमारे इस विस्तारपूर्ण वर्णन से साधनारत जिज्ञासुओं को उनकी सच्ची वासना

भाव की जानकारी हो जाती है। इसे गुरु के मुखारविन्द से निष्यन्दमान सुधा की तरह पीना चाहिये। इस प्रकार गुरु के मुखपद्म से निकलने वाले ज्ञान-रस को पीने वाला निश्चित रूप से मुक्त हो जाता है ॥११३॥

इति ते कथितं देवि कुलद्रव्यादिलक्षणम्।
समासेन कुलेशानि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥११४॥

भगवान् इस उल्लास के अन्त में एक बार पुनः देवी को सम्बोधित कर कह रहे हैं कि, देवि ! मैंने पंचमकार, उसके स्वरूप, उसके आध्यात्मिक अर्थ के सम्बन्ध में पूरी जानकारी तुम्हें दी है। हे कुलेश्वरि ! इससे साधकों का परम कल्याण होगा। अब मैं यह भी पूछ रहा हूँ कि, इसके बाद तुम्हें किस बात और किस तथ्य को जानने की आकांक्षा है ? उसे स्पष्ट करो कि, उसे मैं तुम्हें ग्रहण करा सकूँ ॥११४॥

सर्वागमोत्तमोत्तम महारहस्यमय ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकुलार्णवतन्त्रान्तर्गत डॉ. परमहंस-मिश्रविरचित नीर-क्षीर-विवेक-भाषाभाष्यसंवलित 'कुलद्रव्यदर्शन' नामक पञ्चम उल्लास परिपूर्ण ॥५॥

॥ शुभं भूयात् ॥

○

षष्ठ उल्लासः

श्रीदेव्युवाच

कुलेश श्रोतुमिच्छामि पूजकस्य च लक्षणम् ।
कुलद्रव्यादिसंस्कारमर्चनं वद मे प्रभो ॥१॥

श्री देवी पार्वती ने कहा—कृपालु कुलेश्वर ! मैं आप द्वारा इसी सन्दर्भ में पूजकों के लक्षणों को सुनना चाहती हूँ। हे सर्वसमर्थ ! विभो ! इसी क्रम में कुल-द्रव्यों के संस्कार की पद्धति और उनके द्वारा अर्चन के क्या प्रकार हैं, इन विषयों पर भी मैं आपके विचार सुनना चाहती हूँ। इनके विषय में आपके उपदेश श्रवण कर मैं अनुगृहीत अनुभव करूँगी। अब वही कहने की कृपा करें ॥१॥

ईश्वर उवाच

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
तस्य श्रवणमात्रेण स्तूयते देवदानवैः ॥२॥

परमेश्वर शिव ने इन विषयों का वर्णन करना इस प्रकार प्रारम्भ किया—उन्होंने कहा, देवि ! तुमने जो कुछ पूछा है, मैं उसे यथावत् कहने जा रहा हूँ। तुम इसे ध्यान-पूर्वक सुनने के लिये सावधान हो जाओ। इसके श्रवण मात्र से वह श्रोता देवों और दैत्यवंशजों के द्वारा भी पूजनीय हो जाता है और सुरासुर-स्तुत्य हो जाता है ॥२॥

निरस्तपातका यत्र मानवाः पुण्यकर्मिणः ।
कुलज्ञानसुसम्पन्ना भजन्ते ये दृढव्रताः ॥३॥

मेरे उपदेशों को सुनकर आत्मसात् कर लेने वाला साधक जहाँ निवास करता है, वहाँ के लोगों के सभी पापों का निराकरण हो जाता है। इसके पहले यदि वहाँ के लोग पापविधि में ही जीवन गवाँ रहे होते थे, तो अब वह पूरा क्षेत्र ही पावन व्यक्तियों और पुण्यकर्मा लोगों से भर जाता है। वे सभी ऐसे उपदेशों के प्रभाव के कारण कुल-शास्त्रज्ञान-सम्पन्न हो जाते हैं। उसमें ऐसे दृढ़व्रती होते हैं, जो इस उपदेश के विशेषज्ञ की सेवा में लग जाते हैं ॥३॥

पूर्णाभिषेकसहितो वेदशास्त्रार्थतत्त्ववित् ।
देवतागुरुभक्तस्तु नियतात्मार्चयेत् प्रिये ॥४॥

दीक्षा की पूर्णता पूर्णाभिषेक से होती है। वही साधक श्रेष्ठ माना जाता है, जिसका पूर्णाभिषेक हो चुका होता है। यदि दीक्षा और पूर्णाभिषेक के साथ ही साथ वह वेद और शास्त्र के तत्त्वार्थ और निहितार्थ का वेत्ता हो एवं देवता तथा गुरु में भक्ति रखने वाला हो, तो भगवान् कहते हैं कि, वह नियतात्मा रहकर सारा समय अर्चना में ही लगा दे। इससे उसका परमकल्याण होता है ॥४॥

कुलागमरहस्यज्ञो देवताराधनोत्सुकः ।
गुरूपदेशसंयुक्तः पूजयेत् कुलनायिके ॥५॥

कौल आगम एक रहस्यशास्त्र है । इसके समस्त रहस्यों का ज्ञान रखने वाला और देवता की, आराध्य की आराधना में तल्लीन रहने को निरन्तर उत्सुक पुरुष, जो निरन्तर गुरुदेव के आशीर्वाद से और उपदेशों के अनुसार ही आचरण करता है, प्रिये पार्वति ! उसे नित्य पूजनकर्म में निरत रहना चाहिये ।

शुद्धात्मा चातिसंहृष्टः क्रोधलौल्यविवर्जितः ।
पशुव्रतादिविमुखः सुमुखस्तु यजेत् प्रिये ॥६॥

पूजक के लक्षण के ही प्रसंग में भगवान् आगे कह रहे हैं कि, प्रिये कुलेश्वरि ! वह शुद्ध आत्मा वाला, नित्य प्रसन्न रहने वाला, क्रोध, और लौल्य से उन्मुक्त और सदा पशुभाव के अधराम्नाय के व्रत आदि पालन से विमुख रहता हो और आराध्य शिव के आभिमुख्य भाव में सदा नियोजित हो, तो उसे अवश्य पूजन में प्रवृत्त होना चाहिये । वस्तुतः पूजक के लक्षण से वह सम्पन्न होता है ॥६॥

यदा पुंसः कृतार्थस्य कालेन बहुना प्रिये ।
मत्प्रसादेन भूयाच्च दृढभक्तिसमागमः ॥७॥
तदर्थं तर्पणं कुर्याद् द्रव्यैः श्रीभैरवोदितैः ।
गुरूपदेशविधिना चान्यथा पतनं भवेत् ॥८॥

मनुष्य में भक्ति का समुदय भी भगवत्कृपा पर ही निर्भर करता है । भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति ! मेरी उपासना की ओर प्रवृत्त पुरुष की उन्मुखता को देखते हुए और उसके अनुकूल कृत्यों का अवलोकन पर्याप्त समय तक करने के बाद मेरी प्रसन्नता के फलस्वरूप वह कृतार्थ होता है । ऐसे शिवभक्तियोगसम्पन्न कृतार्थ साधक के हृदय में भक्ति दृढ भाव से समुल्लसित होती है । यह मेरी कृपा की ही परिणति है ।

इस कृपा-प्रसाद की प्राप्ति के उपरान्त उसका कर्त्तव्य होता है कि, वह भैरव द्वारा उक्त कुलद्रव्यों से मेरी तृप्ति के लिये मेरा तर्पण करे । इसकी विधि गुरु के उपदेश के अनुसार ही अपनानी चाहिए । गुरुदेव से इसे जानना उचित है । ऐसा न करने से मेरी भक्ति के स्तर से पतन की सम्भावना होती है । अर्थात् तर्पण आवश्यक है ॥७-८॥

मन्त्रयोगेन देवेशि कुर्यात् श्रीचक्रपूजनम् ।
तदहन्तु त्वया सार्धं गृहणामि स्वयमादरात् ॥९॥

भगवान् कहते हैं कि, देवस्वामिनी प्रिये, इसी क्रम में मन्त्रयोग के द्वारा श्रीचक्र की पूजा करनी चाहिये । इस समन्त्रक पूजन को तुम्हारे साथ ही प्रेम से मैं स्वीकार करता हूँ । आदरपूर्वक उसकी श्रद्धा को स्वयं स्वीकार करने के लिये मैं तैयार रहता हूँ ॥९॥

भैरवोऽहमिति ज्ञानात् सर्वज्ञादिगुणान्वितः ।
इति सञ्चिन्त्य योगीन्द्रः कुलपूजारतो भवेत् ॥१०॥

कुलपूजा में प्रवृत्त होने के पूर्व ही पूजक को दृढ़तापूर्वक यह जानना ही चाहिये कि, मैं सर्वज्ञ, सर्वकर्तृत्वसम्पन्न, पूर्ण, नित्य और सर्वव्यापकत्व आदि गुणों से अन्वित साक्षात् भैरव ही हूँ। ज्ञानपूर्वक यह चिन्तन करते हुए योगियों में श्रेष्ठ साधक कुलपूजा में प्रवृत्त हो, यह उत्तम है ॥१०॥

इत्यादिलक्षणोपेतः कौलिको नियतव्रतः।
यस्त्वां समर्चयेद्देवि भुक्तिमुक्त्योः स भाजनम् ॥११॥

इन लक्षणों से लक्षित सुलक्षण और नियमपूर्वक व्रताचरणनिष्ठ साधक ही कौलिक कहलाता है। इस स्तर पर अधिष्ठित ऐसा कौलिक पुरुष तुम्हारी पूजा करता है। मैं इस पर बल देकर कह रहा हूँ कि, ऐसा पुरुष ही भुक्ति और मुक्ति का भागी होता है ॥११॥

एकान्ते विजनेऽरण्ये देशे बाधाविवर्जिते।
सुखासने समासीनः प्राङ्मुखो वाप्युदङ्मुखः ॥१२॥

इस श्लोक में कुलपूजा के लिये स्थान की शुचिता के साथ ही साधक के लिये आसन आदि का विधान कर रहे हैं। भगवान् कहते हैं कि, कुलपूजा में एकान्त, निर्जन, वनोपवन का पावन प्रदेश होना चाहिये, जहाँ किसी प्रकार के विघ्नों और बाधाओं की सम्भावना न हो। ऐसे सुन्दर स्थान में सुखासन पर विराजमान होना ही आवश्यक है। इसमें मुँह की दिशा पूर्व या उत्तर दोनों ही गृहीत होते हैं ॥१२॥

अमृताब्धौ मणिद्वीपे कल्पवृक्षतरोस्तले।
रत्नप्राकारसन्दीप्तं स्मरेन्माणिक्यमण्डपम् ॥१३॥
पुष्पमालावितानाढ्यं प्रच्छन्नपटसंवृतम्।
कर्पूरदीपभास्वन्तं धूपामोदसुगन्धिकम् ॥१४॥
तन्मण्डपस्थमात्मानं ध्यात्वाऽनाकुलचेतसा।
श्रीगुरोराज्ञया देवि कुलपूजां समाचरेत् ॥१५॥

आसन पर विराजमान होने के बाद ध्यान की एक विशिष्ट कुलक्रमसमर्थित चित्रात्मक स्थिति का वर्णन कर रहे हैं। इसके अनुसार साधक अपने को उस शक्तिपीठ में प्रकल्पित करता है, जो चिदाकाश की चिन्मय रचना से रोचिष्णु और दिव्यता में ही उद्दीप्त है। वह इस प्रकार है—

अमृत का एक महासागर लहरा रहा है। उसमें एक दिव्य द्वीप है। उसका नाम 'मणिद्वीप' है। उसमें कल्पवृक्ष अपने अलौकिक रूप में अवस्थित है। उस विशाल वृक्ष के तल प्रदेश में माणिक्यों से निर्मित एक मनोज्ञ मण्डप है। उसके चारों ओर रत्नों की चहारदिवारी शोभायमान है। उससे दीप्ति छिटक रही है। ध्यान की इस मुद्रा में स्मृति की वितानिका में साधक शान्त भाव से लीन है। ध्यान विद्युत् में कौंध भी होती है। उसमें सूक्ष्म स्पन्दात्मक चिन्तन भी चलता रहता है। उसी क्रम में वह मण्डप फूलों के गजरों से बने वितान से भरा-पूरा लग रहा है। प्रच्छन्नपट पर्दों को कहते हैं। वह मण्डप

सुन्दर और आकर्षक पर्दों से सुशोभित है। उसमें कर्पूर का दीपक जल रहा है। धूप की मधु बिखेरते आमोद से वह आमोदित (सुगन्धित) है।

ऐसे अमूल्य मण्डप में मैं स्वयं बैठा हुआ हूँ। इसका स्वतः वह अनुभव करे। स्वस्थ और शान्त चैतसिक स्थिति में पूज्य सद्गुरुदेव की आज्ञा से भगवान् कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति ! साधक कुलपूजा का श्रद्धापूर्वक प्रारम्भ करे ॥१३-१५॥

आत्मस्थानमनुद्रव्यदेवशुद्धिस्तु पञ्चमी।
यावन्न कुरुते मन्त्री तावद्देवार्चनं कुतः ॥१६॥

देवार्चन के इस दिव्य सन्दर्भ में शुद्धि के रहस्य को स्पष्ट करते हुए भगवान् कह रहे हैं कि, पूजा-अर्चना में पाँच प्रकार की शुद्धियों पर ध्यान देना अनिवार्यतः आवश्यक है—१. आत्मशुद्धि, २. स्थानशुद्धि, ३. मन्त्रशुद्धि, ४. द्रव्यशुद्धि और ५. देवशुद्धि। इन शुद्धियों के सम्बन्ध में मन्त्रसाधक को सावधान रहना चाहिये। शास्त्र कहता है कि, जब तक इनको सम्पन्न नहीं कर लिया जाता, तब तक देवार्चन कहाँ ? अर्थात् इन शुद्धियों से पवित्र हुए बिना पूजा नहीं की जा सकती ॥१६॥

सुस्नानभूतसंशुद्धिप्राणायामादिभिः प्रिये।
षडङ्गाद्यखिलन्यासैरात्मशुद्धिः समीरिता ॥१७॥

आत्मशुद्धि के परिवेश का परामर्श कर रहे हैं। सुन्दर और पूर्ण स्नान से, भूतों की शुद्धि से और प्राणायाम आदि की योग-विधियों को सम्पादित करने से भगवान् कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! इसके अतिरिक्त षडंग न्यास आदि पूजापूर्व की प्रक्रिया अपनाये जाने से साधक की आत्मशुद्धि हो जाती है, यह निश्चय है ॥१७॥

सम्मार्जनानुलेपाद्यैर्दर्पणोदरवत्कृतम्।
वितानधूपदीपादिपुष्पमालोपशोभितम् ॥
पञ्चवर्णरजश्चित्रं स्थानशुद्धिरितीरिता ॥१८॥

सम्मार्जन, अनुलेपन आदि के द्वारा दर्पण भाग में जैसे रूप की ग्राहिका 'स्वच्छता' का उदय होता है, उसी तरह स्थान भी स्वच्छ हो जाता है। इसके अतिरिक्त वह स्थान वितान को धूपायित कर दीपार्पण द्वारा, पुष्पों की माला से अलंकृत करने से और पाँच रंगों की साज-सज्जा से 'स्थानशुद्धि' नामक दूसरे प्रकार की सिद्धि सम्पन्न हो जाती है ॥१८॥

ग्रथित्वा मातृकावर्णैर्मूलमन्त्राक्षराणि च।
क्रमोत्क्रमाद् द्विरावृत्त्या मन्त्रशुद्धिरितीरिता ॥१९॥

इस श्लोक में मन्त्रशुद्धि का उपाय बतलाया जा रहा है। मूल मन्त्र के अक्षरों को मातृका वर्णों से ग्रथित कर एक बार क्रमपूर्वक, दूसरी बार उत्क्रमपूर्वक वाचन करने की प्रक्रिया दो बार करने से मन्त्र की शुद्धि हो जाती है। इसमें समय पर्याप्त लगता है। इससे घबड़ाना नहीं चाहिये ॥१९॥

पूजाद्रव्याणि सम्प्रोक्ष्य मूलास्त्राद्भिर्विधानवित्।
दर्शयेद्धेनुमुद्राञ्च द्रव्यशुद्धिरितीरिता ॥२०॥

इस श्लोक में द्रव्यशुद्धि के सम्बन्ध में चर्चा की गयी है। शुद्धि के लिये मूल मन्त्र का अस्त्रक्रम अपनाकर उसी सोदक अस्त्रमन्त्र से सम्प्रोक्षण करने के बाद धेनु मुद्रा का प्रदर्शन करने से सभी पूजाद्रव्य शुद्ध हो जाते हैं। इसे द्रव्यशुद्धि प्रक्रिया मानते हैं ॥२०॥

पीठे देवं प्रतिष्ठाप्य सकलीकृत्य मन्त्रवित्।
मूलमन्त्रेण दीप्तात्मा न्यासद्रव्योदकेन च॥
त्रिवारं प्रोक्षयेद्विद्वान् देवशुद्धिरितीरिता ॥२१॥

देवशुद्धि कैसे होती है, इसकी चर्चा प्रस्तुत श्लोक में कर रहे हैं। पीठ में देव की प्रतिष्ठा कर सकलीकरण प्रक्रिया द्वारा विग्रह को सर्वाङ्गपूर्णता प्रदान करने के उपरान्त साधक को स्वयं को दीप्तिमन्त अनुभव करते हुए मूलमन्त्र से स्वात्म को मन्त्रात्मक मानते हुए न्यास और द्रव्योदक द्वारा तीन बार मूर्त्ति को प्रोञ्छित करना चाहिये। इस प्रकार देवशुद्धि सम्पन्न होती है ॥२१॥

पञ्चशुद्धिं विधायेत्थं पश्चाद् यजनमाचरेत्।
सा पूजा सफला प्रोक्ता चान्यथा निष्फला भवेत् ॥२२॥

इस प्रकार पाँच शुद्धियों को पूरा करना याजक का प्रथम कर्त्तव्य माना जाता है। इसके बाद ही याजन का प्रारम्भ करना चाहिये। इस विधि-विधान से जो पूजा की जाती है, वही सफल होती है। इसके विपरीत पूजा निष्फल होती है ॥२२॥

मण्डलेन विना पूजा निष्फला कथिता प्रिये।
तस्मान्मण्डलमालिख्य विधिवत्तत्र पूजयेत् ॥२३॥

कुछ शास्त्रों की यह मान्यता है कि, पूजा के लिये मण्डल रचना बहुत आवश्यक होती है। इसके बिना भी पूजा निष्फल हो जाती है। इसलिये पहले मण्डल रचना करनी चाहिये। पूजा उसके बाद ही करनी चाहिये ॥२३॥

अखण्डमण्डलाकारं विश्वं व्याप्य व्यवस्थितम्।
त्रैलोक्यं मण्डितं येन मण्डलं तत् सदाशिवम् ॥२४॥

सदाशिव देव को शास्त्र अखण्डमण्डलाकार कहता है। ऐसी मण्डल की आकृति जो खण्डित न हो, उसी की तरह अखण्ड मण्डल की रचना करनी चाहिये। सदाशिव अखण्ड मण्डल विश्व में सर्वत्र व्याप्त है। उसी से यह त्रैलोक्य मण्डित है। मण्डल बनाने का भी यही उद्देश्य है। सारे मण्डल एक तरह से पूज्य हैं और सदाशिवरूप से मान्य किये जाते हैं ॥२४॥

उड्डीयानं चतुरस्त्रं कामरूपञ्च वर्त्तुलम्।
जालन्धरञ्च चन्द्रार्धं त्र्यस्त्रः पूर्णगिरिर्भवेत् ॥२५॥
अभ्यर्च्य मण्डलं पश्चादाधारान् स्थापयेत् क्रमात्।

इस श्लोक में उड्डीयान, कामरूप, जालन्धर और पूर्णगिरि नामक मण्डलों के निर्माण के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक तथ्य स्पष्ट कर रहे हैं—१. उड्डीयान मण्डल विशेषरूप से चतुष्कोण होता है। २. कामरूप मण्डल वर्त्तुलाकार बनाना चाहिये। ३. जालन्धर मण्डल चन्द्रार्ध आकृति का बनाया जाता है। ४. पूर्णगिरि मण्डल त्रिकोण आकृति का होता है। इनमें से चाहे कोई भी मण्डल बनावें, पहले मण्डल की पूजा करनी चाहिये। मण्डल की पूजा के बाद आधारों को क्रमशः स्थापित करना चाहिये ॥२५॥

सामान्यश्रीगुरुभोगबलिपात्रणि पञ्चधा ॥२६॥
द्विपात्रं वा त्रिपात्रं वा एकपात्रं न कारयेत्।
स्वदक्षिणादिवामान्तं स्थाप्याभ्यर्च्यासवेन तु ॥२७॥
सम्पूर्य मूलमन्त्रेण कुलेश्वरि विधानवित्।
तत्र माषप्रमाणन्तु मत्स्यं मांसं विनिक्षिपेत् ॥२८॥

मण्डल में पाँच प्रकार के पात्र रखने की प्रथा है। इन पाँचों को आधार भी कहते हैं। आधार कहने का कारण उसमें द्रव्यों का रखना है। ये निम्नलिखित हैं—१. सामान्यार्घ्य पात्र, २. श्रीपात्र, ३. गुरुपात्र, ४. भोगपात्र और ५ बलिपात्र। इनके विषय में विशेषरूप से यह ध्यान देना चाहिये कि, कभी एक, दो या तीन पात्रों की स्थापना नहीं करनी चाहिये। इन पाँचों की स्थापना आवश्यक है। इनका दाहिने से बायें की ओर रखने का क्रम निर्धारित है। इसके बाद आसव से ही इनकी पूजा की जाती है।

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! मूलमन्त्र से ही इनमें आसव भरना चाहिये। इस विशेषरूप से पात्रस्थापन विधा में दक्ष व्यक्ति ही इस प्रक्रिया में लगें, रखें और आसव-परिपूर्ण करें। प्रतिपात्र के साथ १ माष माप के मत्स्य और मांस के पिण्ड भी स्थापित करें। ये पिण्ड आधार में ही रखे जाते हैं ॥२६-२८॥

नष्टैः पर्युषितोच्छिष्टैर्दुर्गन्धैर्गन्धवर्जितैः।
हेतुभिः परपात्रस्थैस्तर्पितं निष्फलं भवेत् ॥२९॥

यह ध्यान देने की बात है कि, समस्त परिपात्रों हेतु द्रव्य के साथ रखे ये पिण्ड यदि नष्ट हों अर्थात् पिण्डवत् बन पाने में ही असमर्थ हों, अर्थात् बहुत पहले हों या कच्चे होने पर भी नष्ट कहे जाते हैं। इसी तरह पिण्ड पदार्थ न तो पर्युषित (बासी) और न ही उच्छिष्ट (जूठे) हों। इसी तरह न तो ये दुर्गन्धयुक्त हों अथवा न तो किसी प्रकार के गन्ध से ही वर्जित हों। अर्थात् ये पदार्थ नितान्त शुद्ध और ताजे होने चाहिये। इनके विपरीत अशुद्ध पदार्थों से पूजा निष्फल हो जाती है ॥२९॥

न पूरयेत्तु पात्राणि अप्रियैस्तैः कुलेश्वरि।
स्वादिष्ठैश्च मदिष्ठैश्च द्रव्यैरमृतसन्निभैः॥
मनोहरैर्महेशानि तर्पणं सफलं भवेत् ॥३०॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, हेतु द्रव्य भी यदि किसी तरह विकृत हो और

परिणामस्वरूप अप्रिय हो गया हो, तो उससे पात्रों को नहीं भरना चाहिये। जो अत्यन्त स्वादिष्ट हो, कुछ-कुछ मदिर हो और अमृततुल्य हो, उसी हेतुद्रव्य का प्रयोग करना चाहिये। हे महेशानि देवी पार्वति ! यह ध्यान देने की बात है कि, वह मनोहर अर्थात् अत्यन्त आकर्षक हो। ऐसे ही आसव से किया गया तर्पण सफल होता है ॥३०॥

असंस्कृता सुरा पापकलहव्याधिदुःखदा।
आयुःश्रीकीर्त्तिसौभाग्यधनधान्यविनाशिनी ॥३१॥

सुरा यदि संस्काररहित अर्थात् असंस्कृत होती है, तो उसके अनेक दुष्परिणाम होते हैं। जैसे—१. वह पापप्रद हो जाती है। २. उसका सेवन करने वाले पारस्परिक कलह में बरबाद हो जाते हैं। ३. कई प्रकार की व्याधियाँ उससे उत्पन्न होती हैं और ४. परिणामस्वरूप विभिन्न प्रकार के दुःख से सुरापायी दुःखी रहने लगता है। ऐसी असंस्कृत सुरा आयु, श्री, कीर्त्ति, सौभाग्य, धन-धान्य सबका पूर्ण विनाश कर देती है। अतः इस सम्बन्ध में पूरी सावधानी बरतने की आवश्यकता होती है ॥३१॥

तस्मात् संस्कृत्य विधिवत् कुलद्रव्यं ततोऽर्चयेत्।
अन्यथा नरकं याति दाता भोक्ता न संशयः ॥३२॥

इसलिये इस महत्त्वपूर्ण वस्तु, जिसे हम 'कुलद्रव्य' की विशिष्ट संज्ञा प्रदान करते हैं, इसका अच्छी तरह संस्कार होना चाहिये। संस्कृत करने के विधान हैं। उनके अनुसार ही इसका शोधन होता है। उसके बाद ही इससे अर्चन होना चाहिये। ऐसा न करने पर सुरा तैयार करने वाला दाता, इसका उपभोग करने वाला उपभोक्ता दोनों ही नरक के भागी होते हैं, इसमें सन्देह नहीं ॥३२॥

विना द्रव्याधिवासेन न जपेन्न स्मरेत् प्रिये।
ये स्मरन्ति नरा मूढास्तेषां दुःखं पदे पदे ॥३३॥

जप के पहले या आराध्य की स्मृति के पहले कुलद्रव्य सेवन के लिये एक पवित्र अधिवास करना आवश्यक है, जिसमें सभी शिष्य सम्मिलित होकर इस पावन द्रव्य का एक साथ सेवन कर लें। इस बैठक के बाद ही गुरु के आदेशानुसार जप और ध्यान की प्रक्रिया अपनायें। अधिवास के बिना ही जो भी ऐसा करते हैं, उन्हें पदे-पदे दुःख का अनुभव करना पड़ता है ॥३३॥

नासवेन विना मन्त्रो न मन्त्रेण विनासवः।
परस्परविरोधित्वात् कथं पूजा विधीयते ॥३४॥

आसव के बिना मन्त्र की मान्त्रिकता का विज्ञान दुर्लभ है। इस भाव को व्यक्त करने के लिये यही कहना उचित समझा गया कि 'आसव के बिना मन्त्र ही नहीं'। यह तो सर्वथा उचित है कि, बिना मन्त्र के आसव कभी भी स्वीकार्य नहीं हो सकता। जहाँ पारस्परिक विरोधात्मक सिद्धान्त लगता हो, उस स्थिति में पूजा का विधान कैसे हो, इसका विज्ञान और संशय का निराकरण गुरुदेव से ही सम्भव है। गुरुमुख से सब कुछ

जानकर ही इसमें प्रवृत्त होना चाहिये—यही भगवान् शिव का मत है, जिसे पार्वती को सम्बोधित कर उन्होंने स्पष्ट किया है ॥३४॥

तत्संशयनिवृत्तिश्च ज्ञात्वा गुरुमुखात् प्रिये।
वीक्षणं प्रोक्षणं ध्यानं मन्त्रमुद्राविशोधनम् ॥
द्रव्यं तर्पणयोग्यं स्याद्देवताप्रीतिकारकम् ॥३५॥

देव की प्रीति के उद्देश्य से ही सारे कार्य साधकों द्वारा सम्पन्न होते हैं। आराध्य की प्रीति के लिये हेतुद्रव्य अर्पित करने का विधान है। वह द्रव्य कब प्रीति करने वाला होता है, इसी का कथन यहाँ कर रहे हैं। प्रथमत: निर्माण के समय सावधानीपूर्वक 'वीक्षण' करना आवश्यक है। दूसरा उपाय जब वह बन जाय और पूजा के लिये उपस्थित करना हो, तो उसका 'प्रोक्षण' आवश्यक है। इसके बाद 'ध्यान' करने का विधान है। आराध्य के लिये यह द्रव्य अर्पित करना है, इस सोच के सन्दर्भ का ध्यान अत्यन्त आवश्यक होता है। मन्त्र और मुद्रा द्वारा उस द्रव्य का विशोधन करना चाहिये। देवता की प्रीति के लिये इतनी तैयारी करनी चाहिये ॥३५॥

अग्निसूर्येन्दुब्रह्मेन्द्रविष्णुरुद्रसदाशिवैः ।
चतुर्विंशतिमन्त्रैः स्यान्मद्यञ्चैव परामृतम् ॥३६॥

अग्नि, सूर्य, इन्दु, ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु, रुद्र और सदाशिव के चौबीस मन्त्र प्रसिद्ध हैं। (उन मन्त्रों का उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है) इन चौबीस मन्त्रों के प्रयोग से 'मद्य' परात्मक अमृत हो जाता है। यह सम्भव है कि, इन देवताओं को अलग-अलग पात्रों में रखने के उपरान्त इन आठों के तीन-तीन मन्त्र बोलकर उनके लिये संकल्पित करने के भाव के लिये ही चौबीस संख्या के मन्त्र का उल्लेख किया गया है ॥३६॥

अमृता मानदा पूषा तुष्टिः पुष्टी रतिर्धृतिः।
शशिनी चन्द्रिका कान्तिर्ज्योत्स्ना श्रीः प्रीतिरङ्गदा ॥३७॥
पूर्णा पूर्णामृता चेति कथिताः कुलनायिके।
सौम्याः कामप्रदायिन्यः षोडश स्वरजाः कलाः ॥३८॥

भगवान् द्वारा ३७वें और ३८वें श्लोकों में स्वर की सोलह कलाओं का उल्लेख किया गया है। वे इस प्रकार हैं—१. अमृता, २. मानदा, ३. पूषा, ४. तुष्टि, ५. पुष्टि, ६. रति, ७. धृति, ८. शशिनी, ९. चन्द्रिका, १०. कान्ति, ११. ज्योत्स्ना, १२. श्री, १३. प्रीति, १४. अंगदा, १५. पूर्णा तथा १६. पूर्णामृता। ये सोलह स्वरों की १६ कलायें हैं। स्वरों के उच्चारण के साथ इनके ध्यान से साधक की सारी कामनायें पूरी होती हैं। ये बड़ी सौम्य कलायें हैं ॥३७-३८॥

तपनी तापिनी धूम्रा मरीचिर्ज्वालिनी रुचिः।
सुषुम्ना भोगदा विश्वा रोधिनी धारिणी क्षमा ॥
कभाद्या वसुदाः सौराष्ठडान्ता द्वादशेरिताः ॥३९॥

इसी तरह सूर्य की निम्नलिखित कलायें होती हैं। इनकी जानकारी साधक के लिये आवश्यक है। वे ये हैं—१. तपिनी, २. तापिनी, ३. धूम्रा, ४. मरीचि, ५. ज्वालिनी, ६. रुचि, ७. सुषुम्ना, ८. भोगदा, ९. विश्वा, १०. रोधिनी, ११. धारिणी और १२. क्षमा। इनका सारा रहस्य क-भ से लेकर ठ-ड अक्षरों में समाहित है, जो इस प्रकार समझा जा सकता है—

१. क भ – तपिनी, २. ख ब – तापिनी, ३. ग फ – धूम्रा, ४. घ प – मरीचि, ५. ङ न – ज्वालिनी, ६. च ध – रुचि, ७. छ द – सुषुम्ना, ८. ज थ – भोगदा, ९. झ त – विश्वा, १०. ञ ण – रोधिनी, ११. ट ढ – धारिणी और १२. ठ ड – क्षमा।

इस क्रम में कवर्ग, चवर्ग के दश अक्षर तथा टवर्ग के दो अक्षरों को लिखना चाहिये। पुन: उनके साथ ठ के आगे के क्रमिक १२ अक्षर उनके ऊर्ध्वक्रम में भ तक जोड़ना चाहिये। इन अक्षर युगलों के जोड़ में सूर्य की इन कलाओं का उन्मेष गहन अनुसन्धान का विषय है। इस पर भौतिक और आध्यात्मिक विज्ञानवेत्ताओं को अवश्य लगना चाहिये। ये १२ 'अरा' रूप तत्त्व हैं, जो सूर्यवृत्त से विनि:सृत होकर सौरमण्डल को प्रकाशमान करने में सहायक हैं ॥३९॥

धूम्रार्चिरूष्मा ज्वलिनी ज्वालिनी विस्फुलिङ्गिनी।
सुश्रीः सुरूपा कपिला हव्यकव्यवहे अपि॥
आग्नेया यादिवर्णाद्या दश धर्मप्रदाः कलाः ॥४०॥

इसी तरह अग्नि की कलाओं का विज्ञान भी ध्यातव्य है। १. धूम्रार्चि, २. ऊष्मा, ३. ज्वालिनी, ४. विस्फुलिङ्गिनी, ५. सुश्री, ६. सुरूपा, ७. कपिला, ८. हव्यवहा, ९. कव्यवहा और १०. आग्नेया। ये दश कलायें अग्नि की मानी जाती हैं। इनके वर्ण य से लेकर क्ष वर्ण तक १० माने जाते हैं। जैसे य, र, ल, व, श, ष, स, ह, ळ और क्ष ये दश वर्ण ही क्रमशः धूम्रार्चि क्रम से लगाये जाते हैं। इन वर्णों का इन कलाओं के साथ ध्यान करने से साधक के धर्म की वृद्धि होती है ॥४०॥

सृष्टिर्मेधा स्मृतिर्ऋद्धिः कान्तिर्लक्ष्मीर्द्युतिः स्थिरा।
स्थितिः सिद्धिरिति प्रोक्ताः कचवर्गकला दश॥
अकारप्रभवा ब्रह्मजाताः स्युः सृष्टये कलाः ॥४१॥

ॐकार के पहले वर्ण को ब्रह्मा कहते हैं। अकार से उत्पन्न ये कलायें अकार के माध्यम से ही विस्तार प्राप्त करती हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—१. सृष्टिकला, २. मेधा, ३. स्मृति, ४. ऋद्धि, ५. कान्ति, ६. लक्ष्मी, ७. द्युति, ८. स्थिरा, ९. स्थिति और १०. सिद्धि। अवर्ण से ही कवर्ग और चवर्ग की उत्पत्ति होती है। कवर्ग और चवर्ग मिलकर १० वर्ण होते हैं। ये वर्ण ही इन कलाओं के बीज वर्ण हैं। अकार ओंकार का प्रथम वर्ण है। अत: ये वर्ण और कलायें ब्रह्मा से उत्पन्न मानी जाती हैं। ये सृष्टि कलायें हैं ॥४१॥

जरा च पालिनी शान्तिरीश्वरी रतिकामिके ।
वरदाह्लादिनीप्रीतिदीर्घाः स्युष्टतवर्गजाः ॥
उकारप्रभवा विष्णुजाताः स्युः स्थितये कलाः ॥४२॥

ॐ का दूसरा वर्ण उकार है। उकार उन्मेष बीज है। उन्मेष में स्थिति का तत्त्व विद्यमान रहता है। अत: उकार से १. जरा, २. पालिनी, ३. शान्ति, ४. ईश्वरी, ५. रति, ६. कामिका, ७. वरदा, ८. ह्लादिनी, ९. प्रीति और १०. दीर्घा, ये टवर्ग और तवर्ग से उत्पन्न हैं। ट त वर्गों का बीज उकार ही है। ये विष्णु से उत्पन्न कलायें मानी जाती हैं ॥४२॥

तीक्ष्णा रौद्री भया निद्रा तन्द्रा क्षुत् क्रोधिनी क्रिया ।
उत्कारी मृत्युरित्युक्ता पयवर्गकला दश ॥
मकारप्रभवा रुद्रजाताः संहृतये कलाः ॥४३॥

ॐ का तीसरा वर्ण म है। प्रथम बीज 'अ' ब्रह्मा, दूसरा बीज वर्ण 'उ' विष्णु और यह तीसरा वर्ण मकार संहृति के देवता रुद्र का वाचक वर्ण है। 'म'कार से उत्पन्न १० कलायें संहृति कहलाती हैं। वे इस प्रकार हैं—१. तीक्ष्णा, २. रौद्री, ३. भया, ४. निद्रा, ५. तन्द्रा, ६. क्षुत्, ७. क्रोधिनी, ८. क्रिया, ९. उत्कारी और १०. मृत्यु। इनके बीजवर्ण पवर्ग और यवर्ग के हैं। इन्हें मकार से उत्पन्न होने के कारण रुद्रजात भी कहते हैं। ये संहार की दश कलायें हैं ॥४३॥

षवर्गगाश्चतस्रः स्युः पीताः श्वेतारुणासिताः ।
कलाश्चेश्वरसञ्जातास्तिरोधानाय बिन्दुजाः ॥४४॥

'म'कार की संहृति कलाओं के भेद की चर्चा ऊपर श्लोक में की गयी है। इसमें यह ध्यान देने की बात है कि 'मकार' पवर्ग का अन्तिम अनुनासिक वर्ण है। इसके शेष चार वर्ण हैं—प, फ, ब, भ। इन वर्णों के रंग पीत, श्वेत, अरुण और असित हैं। पवर्ण पीत, 'फ' श्वेत, 'ब' अरुण और 'भ' असित हैं। इनकी कलाओं के नाम भी इसी प्रकार हैं। जैसे—पीता, श्वेता, अरुणा और असिता। ये ईश्वर से उत्पन्न हैं। ॐ की चतुर्थी अवस्था बिन्दु से ये निष्पन्न माने जाते हैं। अर्थात् ईश्वर और बिन्दु दोनों की ऊर्जा इनमें अनुस्यूत है ॥४४॥

निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिस्तथैव च ।
इन्धिका दीपिका चापि रेचिका मोचिका परा ॥४५॥
सूक्ष्मा सूक्ष्मामृता ज्ञानाऽमृता चाप्यायिनी तथा ।
व्यापिनी व्योमरूपा च षोडश स्वरजाः कलाः ॥
सदाशिवभवा नादादनुग्रहकलाः क्रमात् ॥४६॥

१. निवृत्ति, २. प्रतिष्ठा, ३. विद्या, ४. शान्ति, ५. इन्धिका, ६. दीपिका, ७. रेचिका, ८. मोचिका, ९. सूक्ष्मा, १०. सूक्ष्मामृता, ११. ज्ञाना, १२. अमृता, १३.

आप्यायिनी, १४. व्यापिनी, १५. व्योमरूपा, १६. परा। ये सभी सोलह कलायें स्वरमूलिका और सदाशिव तत्त्वात्मक हैं। तन्त्र और आगम स्वरों को नाद का अनुग्रह मानते हैं। भगवान् पाणिनि ने नाद से ही सर्वप्रथम स्वरों का अनुसन्धान किया था। स्वरों से स्थूल व्यञ्जनों का भी प्रादुर्भाव वैज्ञानिक चिन्तन के अनुकूल है। यह ध्यान देने की बात है कि ये १६ कलायें अकारादि क्रम से उत्पन्न होती हैं ॥४५-४६॥

प्रथमं प्रकृतेर्हंसः प्रतद्विष्णुरनन्तरम् ।
त्र्यम्बकन्तु तृतीयं स्याच्चतुर्थस्तत्पदादिकः ॥४७॥
विष्णुर्योनिं कल्पयतु पञ्चमः कल्पनामनुः ।
चतुर्नवतिमन्त्रात्मदेवताभावसिद्धिदाः ॥४८॥

इन श्लोकों में वैदिक मन्त्रों को सन्दर्भानुसार देवों की उपासना के प्रकरण में कैसे प्रयुक्त किया जाय, यह स्पष्ट किया गया है। १. प्रथमतः प्रकृतिकला अर्थात् ब्रह्मकला की पूजा में 'हंस' मन्त्र का प्रयोग करना चाहिये। २. द्वितीयतः तदनन्तर विष्णुकला में 'प्रतद्विष्णु' मन्त्र का प्रयोग करना चाहिये। ३. तृतीय कला रुद्रकला में 'त्र्यम्बक' मन्त्र का प्रयोग किया जाना चाहिये। ४. चतुर्थ कला ईश्वरकला में 'तद्विष्णोः' मन्त्र का जप करना चाहिये। ५. पाँचवी कला सदाशिव भाव की है। इसमें कल्पना मनु अर्थात् 'संकल्पमस्तु' का प्रयोग करना चाहिये। इन्हीं पाँचों से चौरानबे मन्त्रों की सिद्धि के साथ ही साथ इनकी मन्त्रात्मिका शक्ति से आत्मभावसिद्धि और देवताभावसिद्धि सरल हो जाती है ॥४७-४८॥

मन्त्रजापश्च सम्प्रोक्त आत्मस्तवश्च पञ्चभिः ।
अत्र ये पञ्च सम्प्रोक्ता मन्त्रास्ते कुलनायिके ॥४९॥

निम्नोक्त पाँच मन्त्र जप करने के उत्तम मन्त्र हैं। शास्त्रों में इनके जप की बात कही गयी है। भगवान् कहते हैं कि, हे कुलस्वामिनी, ये मन्त्र मेरे द्वारा कहे गये हैं ॥४९॥

अखण्डैकरसानन्दकरे परसुधात्मनि ।
स्वच्छन्दस्फुरणामत्र निधेह्यकुलरूपिणि ॥५०॥

यहाँ उन्हीं विशिष्ट मन्त्रों की अवतारणा भगवान् शंकर करने जा रहे हैं। इन मन्त्रों के पहले कुलेश्वरी सर्वेशी को सम्बोधित कर उनको भी अमृतत्व के उन्मेष की साधना में संलग्न होने तथा चिदैक्यसामरस्य की स्फूर्त्ति करने के लिये उद्बुद्ध कर रहे हैं—

भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! तुम शैवतादात्म्य का जो अखण्ड आनन्द सामरस्य है, साक्षात् उसी आकृतिमान् विग्रह की प्रतिमूर्ति हो। पारमेश्वर सद्भाव की सुधा तुम स्वयं हो। हे कुलेश्वरी होते हुए भी चिदैक्य स्थिति वाली देवि ! तुम अकुलरूपिणी भी हो। तुमसे मेरा यह अनुरोध है, आदेश है और उपदेश भी है कि तुम स्वच्छन्द भैरव भाव में स्पन्दमान शाक्त स्फूर्त्ति को इन मन्त्रों में भर दो ॥५०॥

अकुलस्थामृताकारे सिद्धिज्ञानकरे परे।
अमृतत्वं विधेह्यस्मिन् वस्तुनि क्लिन्नरूपिणि ॥५१॥

देवि ! अकुल भाव में स्थित होने पर जिस अमृतमहासागर के लहराव की अनुभूति उपासक को होती है, तुम स्वयं वही हो। तुम सिद्धियों की प्रदात्री और शाश्वत शैवबोध को उद्बुद्ध करती हो। हे परमेश्वरि ! शिवे ! तुम्हारा एक नाम क्लिन्ना भी है। तुम विश्वप्रसार को स्वात्मस्फुरत्ता के अमृत से सदा सींचती रहती हो। अतएव क्लिन्न-रूपिणी हो ! तुम्हारे लिये यह मेरा आदेश, उपदेश और निर्देश है कि, देवि ! तुम इस जपविधानरूप वस्तु में अमृतत्व भर दो ॥५१॥

तद्रूपेणैकरस्यञ्च कृत्वार्घ्यं तत् स्वरूपिणि।
भूत्वा परामृताकारं मयि चित्स्फुरणं कुरु ॥५२॥

उसी भैरवीभाव में ऐकरस्य के अमृत रस का अर्घ्य अर्पित करने की कृपा करो। हे सामरस्यमयी परमेश्वरि ! तुम परामृताकार होकर मेरे स्वात्मभाव में चित्तत्त्व को स्पन्दित करने का अनुग्रह करो ॥५२॥

वाग्भवं पार्श्वगं भूमिः पुष्टिरिन्दुसमन्विता।
स्थितिश्च पावकानुग्रहार्थेन्दुसमलङ्कृता ॥५३॥
स्थिरेन्धिकेन्दुसंयुक्ता श्वेता बिन्दुयुगान्विता।
तथामृते पदं ब्रूयात्तत्पश्चादमृतोद्भवे ॥५४॥

वाग्भव – ऐं, पार्श्वग भूमि पुष्टि – प्लू, इन्दु-बिन्दु – प्लूं, स्थिति – स, पावक – र, अनुग्रह – औ, इन्दु-बिन्दु – स्त्रौं, स्थिरा – ज, इन्धिका – ऊ, इन्दु-बिन्दु – जूं, श्वेता – स, बिन्दुयुग – विसर्ग – सः। इस तरह यहाँ तक ऐं प्लूं स्त्रौं जूं सः मन्त्रभाग का उद्धार हो रहा है। इसमें अमृते पद और इसके बाद अमृतोद्भवे दो पद जोड़ने पर 'ऐं प्लूं स्त्रौं जूं सः अमृते अमृतोद्भवे' मन्त्रभाग बन जाता है ॥५३-५४॥

तथामृतेश्वरीत्युक्त्वा पश्चादमृतवर्षिणि।
अमृतं स्रावयद् द्वन्द्वं द्विठान्तो द्रव्यशुद्धिकृत् ॥
अमृतेशीमनुः प्रोक्तः पञ्चत्रिंशद्भिरक्षरैः ॥५५॥

इतने अंश के बाद अमृतेश्वरि पद युक्त करना चाहिये। पुनः अमृतवर्षिणि लगाना चाहिये। इसके बाद अमृतं स्रावय स्रावय यह दो पद जोड़ना चाहिये। तत्पश्चात् दो ठ अक्षर लगाकर द्रव्यशुद्धि अर्थात् स्वाहा लगाना चाहिये। पूरा मन्त्र इस प्रकार बनता है—

'ऐं प्लूं स्त्रौं जूं सः अमृते अमृतोद्भवे अमृतेश्वरि अमृतवर्षिणि अमृतं स्रावय स्रावय ठः ठः'। यह मन्त्र ३५ अक्षरों से निर्मित होता है। इसे अमृतेशी मन्त्र कहते हैं ॥५५॥

वाग्भवं वदयुग्मञ्च वाग्वादिनीति वाग्भवम्।
कामराजं ततः क्लिन्ने क्लेदिनि क्लेदयेति च ॥५६॥

महामोक्षं कुरुयुग्मं कामराजमतः परम् ।
तार्त्तीयं मोक्षशब्दान्ते कुरुयुग्मं वदेत्ततः ॥५७॥
स्यात् प्रासादपरा चान्ते सप्तत्रिंशद्भिरक्षरैः ।
दीपनीमनुरित्युक्तः सर्वसिद्धिकरः प्रिये ॥५८॥

यहाँ से दीपनी मन्त्र का उद्धार कर रहे हैं—इसमें भी सर्वप्रथम वाग्भव – ऐं पुनः वद वद दो बार वाग्वादिनि, पुनः वाग्भव – ऐं, पुनः कामराज = क्लीं, इसके बाद क्लिन्ने पद, क्लेदिनि पद, पुनः क्लेदय पद, महामोक्षं के बाद कुरु कुरु ये दो पद लगाकर पुनः कामराज, अर्थात् क्लीं बीज संयुक्त करना चाहिये। इसके बाद तार्त्तीय बीज – ह्सौः, पुनः मोक्षं पद, पुनः दो बार कुरु पद लगाकर पराप्रासाद बीज ह्सौः स्हौः लगाने से मन्त्रोद्धार हो जाता है। इस मन्त्र को दीपनी मन्त्र कहते हैं। भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! यह मन्त्र सर्वसिद्धियों को प्रदान करने वाला महामन्त्र माना जाता है। पूरा मन्त्र इस प्रकार उद्धृत होता है—

'ऐं वद वद वाग्वादिनि ऐं क्लीं क्लिन्ने क्लेदिनि क्लेदय महामोक्षं कुरु कुरु क्लीं ह्सौः मोक्षं कुरु कुरु ह्सौः स्हौः'।

इसके बीजमन्त्र ही इस मन्त्र के महत्त्व को प्रकाशित कर रहे हैं ॥५६-५८॥

एताः कला मातृकाश्चाप्यखण्डैकादिकान् मनून् ।
अमृतेशीं दीपनीञ्च मूलमन्त्रमपि क्रमात् ॥५९॥
एकद्वित्रिचतुःपञ्चद्विचतुर्वारमम्बिके ।
संस्मृत्याभ्यर्च्य पात्रन्तु पूजयेद्धेनुमुद्रया ॥६०॥

श्लोक ३७ से श्लोक ४६ तक कलाओं का वर्णन है। ४७-४८ में पाँच मातृका मन्त्र हैं। ५०,५१,५२ ये तीनों श्लोक तीन महत्त्वपूर्ण देवीमन्त्र हैं। इन्हें अखण्डैकरसानन्दादि मन्त्र से अभिहित किया गया है। इसके बाद अमृतेशी और दीपनी मन्त्र ५३ से श्लोक ५८ तक हैं। इसके बाद मूलमन्त्र (गुरुमन्त्र) इनको क्रमशः एक, दो, तीन, चार, पाँच और आठ बार जप करने के उपरान्त धेनुमुद्रा के द्वारा अर्घ्य, अर्घ्य-पात्र की अभ्यर्चना करनी चाहिये ॥५९-६०॥

ब्रह्माण्डखण्डसम्भूतमशेषरससम्भृतम् ।
आपूरितं महापात्रं पीयूषरसमावह ॥६१॥

यह प्रक्रिया पूरी कर श्लोक ६१ द्वारा प्रार्थना करनी चाहिये। प्रार्थना इस प्रकार है—हे शिवे ! ब्रह्माण्ड खण्ड से समुत्पन्न और सम्पूर्ण रसात्मकता से शाश्वत समन्वित होकर विराजमान इस पात्र को स्वात्मानन्दरूप पीयूष रस से परिपूर्ण करने की कृपा करो ॥६१॥

शुद्धद्रव्येण तेनापि गन्धपुष्पाक्षतैरपि।
न्यासोक्तसर्वमन्त्रैश्चाप्यात्मानं पूजयेत् प्रिये ॥६२॥
मूर्ध्नि श्रीगुरुपङ्क्तीश्च मूलाधारे च पादुकाम्।

अर्घ्यपात्र के शुद्ध द्रव्य से गन्ध, पुष्प, अक्षत आदि पदार्थों से न्यासोक्त सभी मन्त्रों से आत्मपूजा करनी चाहिये। यह देवी पार्वती से भगवान् शिव कह रहे हैं। इसके बाद अपने शिरोभाग पर गुरुपंक्ति की और मूलाधार में श्री गुरुपादुका की पूजा करनी चाहिये ॥६२॥

दिव्यौघे चादिनाथश्च तच्छक्तिश्च सदाशिवः ॥६३॥
तत्पत्नी चेश्वरस्तस्य भार्या रुद्रश्च तद्वधूः।
विष्णुश्च तत्प्रिया ब्रह्मा तत्कान्ता द्वादशेरिताः ॥६४॥

सर्वप्रथम दिव्यौघ की पूजा का विधान है। दिव्यौघ में—१. आदिनाथ, २. आदिनाथेश्वरी शक्ति, ३. सदाशिव और ४. सादाख्या शक्ति, ५. ईश्वर और ६. ईश्वरी, ७. रुद्र और ८. रुद्राणी, ९. विष्णु, १० लक्ष्मी, ११. ब्रह्मा और १२. सरस्वती, ये सभी गृहीत हैं। इनमें ६ शक्ति और उनकी छः शक्तियाँ परिगणित की जाती हैं ॥६३-६४॥

सिद्धौघे सनकश्चैव सनन्दश्च सनातनः।
सनत्कुमारश्च सनत्सुजातश्च ऋभुक्षजः ॥६५॥
दत्तात्रेयो रैवतको वामदेवस्ततः परम्।
ततो व्यासः शुकश्चैव एकादश समीरिताः ॥६६॥

इसी तरह सिद्धौघ में—१. सनक, २. सनन्दन, ३. सनातन, ४. सनत्कुमार, ५. सनत्सुजात और ६. ऋभुक्षज, ७. दत्तात्रेय, ८. रैवतक, ९. वामदेव, १०. व्यास और ११. शुकदेव, ये ग्यारह गुरु माने जाते हैं ॥६५-६६॥

मानवौघे नृसिंहश्च महेशो भास्करस्तथा।
महेन्द्रो माधवो विष्णुः षडेते च प्रकीर्त्तिताः ॥६७॥

मानवौघ में नृसिंह, महेश्वर, भास्कर, महेन्द्र, माधव और विष्णु ये क्रमशः ६ माने जाते हैं ॥६७॥

नमोऽन्ते योजयेद्देवि दिव्यौघे परमं शिवम्।
महाशिवञ्च सिद्धौघे मानवौघे सदाशिवम् ॥६८॥

दिव्यौघ में पूजा के समय दिव्यौघ के एक गुरु का नाम लेकर 'परमशिवाय नमः' इस मन्त्र का प्रयोग करना चाहिये। सिद्धौघ में 'महाशिवाय नमः' का योजन और मानवौघ में 'सदाशिवाय नमः' इस पद का योजन करना चाहिये ॥६८॥

ततः पीठं समभ्यर्च्य देवीमावाहयेत् प्रिये।
महापद्मवनान्तःस्थे कारणानन्दविग्रहे ॥

सर्वभूतहिते मातरेह्येहि परमेश्वरि ॥६९॥
देवेशि भक्तिसुलभे सर्वावरणसंयुते ।
यावत्त्वां पूजयामीह तावत्त्वं सुस्थिरा भव ॥७०॥

इसके बाद पीठ का पूजन करना चाहिये । पीठार्चन के उपरान्त देवी का आवाहन करना चाहिये । माता के आवाहन का मन्त्र दो श्लोकों में परिपूर्ण है । प्रार्थना के समय सम्बोधन करते हुए भक्त कहता है—'हे महापद्मवन में विहार कर उसी में निर्मित अन्तःपुर में विराजमान मातः ! कारण द्रव्य से उत्पन्न आनन्दरूप विग्रह वाली जगदम्बिके ! विश्व में वर्त्तमान सभी प्राणियों पर अनुग्रह कर उनका हित करने वाली माँ ! तुम परमेश्वरी हो । तुम इस पीठपद्म पर विराजमान हो जा । आ जाओ माँ' !

हे देवों की स्वामिनी सर्वाधीश्वरी माँ, तुम भक्तिभाव से ही सरलतया प्रसन्न होकर उपलब्ध हो जाती हो । समस्त आवरणों से समन्विते मातः ! अब मैं तुम्हारी पूजा करने जा रहा हूँ । पूजापर्यन्त यहाँ उपस्थित रहने की कृपा कर मुझ अकिंचन को अनुगृहीत करो माँ ! ॥६९-७०॥

मन्त्रेणानेन चावाह्य यजेद्देवीमनन्यधीः ।
ध्यात्वा मुद्रां प्रदर्श्यर्चेद् गन्धपुष्पाक्षतादिभिः ॥७१॥

श्लोक ६९-७० ही आवाहन के मन्त्र हैं । उनसे देवी का आवाहन कर अनन्यभाव से देवीयाग का सम्पादन करना चाहिये । इसके बाद देवी का ध्यान कर मुद्राओं का प्रदर्शन करना चाहिये । पूजा में गन्ध, पुष्प और अक्षत आदि का श्रद्धापूर्वक प्रयोग करना चाहिये ॥७१॥

चिन्मयस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्याशरीरिणः ।
साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥७२॥

जहाँ तक ब्रह्मतत्त्व का प्रश्न है, यह तत्त्व केवल चिन्मय तत्त्व है, अर्थात् बोधात्मक प्रकाश-विमर्शमय तत्त्व है । यह अप्रमेय है । इसको मापा नहीं जा सकता । यह तीनों गुणों से रहित है । अतएव इसे सभी निर्गुण ही मानते हैं । इसके शरीर की कल्पना नहीं की जा सकती । इसे अशरीर कहते हैं । यह अरूप है, फिर भी इसकी रूप-कल्पना साधकों की साधना में सौविध्य के लिये कर ली जाती है । असत्य होते हुए भी रूपकल्पना हितावह होने के कारण सत्य हो जाती है ॥७२॥

लिङ्गस्थण्डिलवह्न्यम्बुसूर्पकुड्यपटेषु च ।
मण्डले फलके मूर्ध्नि हृदि वा दश कीर्त्तिताः ॥७३॥
एषु स्थानेषु देवेशि यजन्ति परमां शिवाम् ।
अरूपां रूपिणीं कृत्वा कर्मकाण्डरता नराः ॥७४॥

यही दशा परात्मिका भगवती शिवा की है । यह मात्र विमर्शरूपिणी है । अरूप है,

फिर भी इसके आकार की प्रकल्पना कर्मकाण्ड के सौविध्य के लिये कर ली जाती है। दश स्थानों में इसका स्वरूपात्मक उल्लास स्वीकार करते हैं—१. लिंग, २. स्थण्डिल, ३. वह्नि (अग्निज्वाला), ४. अम्बु, ५. सूर्प, ६. कुड्यादि, ७. वस्त्र, ८. मण्डल, ९. फलक, १०. मूर्धा या हृदय। ये दश वे स्थान हैं, जहाँ परात्परा सर्वेश्वरी शिवा की पूजा की जाती है। कर्मकाण्डी लोग ऐसा करते हैं। भावात्मक याजक हृदय में ही रूप-प्रकल्पन कर पूजा कर लेते हैं ॥७३-७४॥

गवां सर्वाङ्गजं क्षीरं स्रवेत् स्तनमुखाद् यथा।
तथा सर्वगतो देवः प्रतिमादिषु राजते ॥७५॥

गौ के सर्वांग में विद्यमान क्षीर केवल उसके स्तनों से ही स्रवित होता है, यह सबके अनुभव की बात है। उसी तरह विश्वात्मा शिव तो सर्वव्याप्त तत्त्व हैं। इनकी पूजा सर्वव्यापक रूप में सबके वश की बात नहीं। हाँ प्रतिमादि १० स्थानों में रूपप्रकल्पन कर सरलता से पूजा की जा सकती है। इसी दृष्टि से प्रतिमा में पूजा की परम्परा मनीषियों द्वारा प्रचारित की गयी है। स्वयं भगवान् इसमें विराजमान भी हो जाते हैं ॥७५॥

आभिरूप्याच्च बिम्बस्य पूजायाश्च विशेषतः।
साधकस्य च विश्वासात् सन्निधौ देवता भवेत् ॥७६॥

प्रतिमा में देवतासान्निध्य ही नहीं, उसमें तादात्म्य भाव से विराजमान होने के तीन कारण हैं। ये तीनों बड़े महत्त्वपूर्ण और मौलिक हैं। इन पर गहराई से विचार करना चाहिये। वे इस प्रकार हैं—(१) बिम्बस्य आभिरूप्यात् - बिम्ब = मूलरूप जैसे सूर्य मण्डल बिम्ब का ही प्रतिबिम्ब होता है। यहाँ मूल वर्णन शिव का है। किसी देव का भी माना जा सकता है। उसका प्रतिबिम्ब उसके सदृश बनी 'प्रतिमा' मानी जा सकती है। आभिरूप्य शब्द में अभि उपसर्ग है। रूप शब्द अच्प्रत्ययान्त है। अभिरूपता सादृश्य से भी अधिक तादात्म्यानुभूति को कहते हैं। बिम्ब का वही आभिरूप्य प्रतिमा में झलकता है। इसके कारण प्रतिमा में देवभाव उल्लसित हो जाता है। (२) विशेषतः पूजायाः - विशेषरूप की पूजा से भी मूल देवभाव प्रतिमा में आ जाता है। विशेष पूजा प्राण-प्रतिष्ठा के उपरान्त होती है। प्राणप्रतिष्ठा के वैदिक मन्त्र की वैद्युतिक भावसंप्रेषणात्मकता का उच्छलन प्रतिमा में होने लग जाता है। यह विशेष पूजा का ही प्रभाव है। (३) तीसरा कारण साधकस्य च विश्वासात्-साधक की स्वात्मबोधमयी ऐकात्म्य दृष्टि एक ऐसे विश्वास को जन्म देने में समर्थ हो जाती है। इस दृष्टि से भी प्रतिमा में भगवान् स्वयम् उतर जाते हैं। मूर्त्तिपूजा के विरोधी व्यक्तियों के लिये यह विशेषतः द्रष्टव्य प्रकरण है ॥७६॥

गवां सर्पिः शरीरस्थं न करोत्यङ्गपोषणम्।
स्वकर्मरचितं दत्तं पुनस्तामेव पोषयेत् ॥७७॥

गाय का घी गाय के शरीर में ही रहता है। वह गाय के जीवनभर उसके शरीर में

विद्यमान है, जब वह दूध देती है, या नहीं भी देती है। वही घी दूध के माध्यम से जब घी के रूप में दूध से पृथक् अस्तित्व में आ जाता है, तो उसकी उपयोगिता में चार चाँद लग जाते हैं। गाय के शरीर में रहने पर वह गाय का पोषण नहीं कर पाता। बाहर से वही घी उसे देने पर उसके शरीर को पुष्टि प्रदान करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि, प्रतिमा के माध्यम से की गयी पूजा बिम्बरूप मूलदेव को भी प्रसन्न कर देती है ॥७७॥

एवं सर्वशरीरस्था सर्पिर्वत् परमेश्वरी।
विना चोपासनां देवि न ददाति फलं नृणाम् ॥७८॥

इसी तरह सर्वेश्वरी परमेश्वरी शिवा भी विश्वशरीर में सर्वत्र व्याप्त है। उसी तरह जैसे गाय के शरीर में भी सर्वांग में सर्पि अर्थात् घी विद्यमान रहता है। उपासना से देवी प्रत्यक्ष होती है और उपासकों की मनोकामना की पूर्ति करती रहती है ॥७८॥

सकलीकृत्य तत्प्राणान् समुद्दीप्येन्द्रियाणि च।
प्रतिष्ठाप्यार्चयेद्देवि चान्यथा निष्फलं भवेत् ॥७९॥

भगवान् कह रहे हैं कि, देवि शिवे ! देवों को प्रसन्न करने के लिये सर्वप्रथम प्राणों का सकलीकरण होना चाहिये। सकलीकरण व्यापार साधना का विषय है। वस्तुतः श्वास-प्रश्वास के प्राणापानवाह के अयत्नज व्यापार को यत्नज बनाकर शैव स्पन्दन को उसमें समाहित करने से वैश्वात्म्य सिद्ध होता है। यह भी एक प्रक्रिया है, जिससे प्राण व्यापार में सार्वात्म्य का स्पन्दन स्फुरित होने लगता है। यह पूजा की सर्वोच्च पद्धति है, पर यह व्यक्तिनिष्ठ है। इसी तरह सारी ज्ञान और कर्मेन्द्रियों में ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का उद्दीपन भरकर शाक्त, शैव सद्भाव भरित होना यह दूसरा व्यापार है, जिससे पूजा होती है। तीसरा व्यापार प्राण-प्रतिष्ठा है। इन तीनों के बाद की पूजा ही सफल पूजा है। दूसरे प्रकार की पूजा निष्फल मानी जाती है ॥७९॥

मन्त्रहीनं क्रियाहीनं विधिहीनञ्च यद् भवेत्।
क्षमया साधयेत् सर्वं हीनमङ्गं पदं तथा ॥८०॥

इसके साथ ही पूजा में मन्त्रों का प्रयोग, क्रिया की पूर्णता और शास्त्रीय विधि-विधान की सक्रियता आवश्यक होती है। अतः मन्त्रहीन, क्रियाहीन और विधिहीन पूजा के लिये क्षमा का आश्रय लेना चाहिये। क्षमा माँग लेने से देवों और देवियों की प्रसन्नता प्राप्त होती है। इसलिये पूजा में अंग की हीनता, पद आदि की हीनता को क्षमा से साध लेने में ही कुशलता है ॥८०॥

नियमादतिरेकेण यद् यत् कर्म करोति यः।
न किञ्चिदप्यस्य फलं सिध्यति क्रमदोषतः ॥८१॥

नियमों का यथावत् पालन अनुशासन की दृष्टि से अनिवार्यतः आवश्यक होता है। इनमें अतिरेक होने से जो कोई जैसा या जो काम करता है, उस काम का कोई फल

नहीं होता। फल की सिद्धि उस क्रिया में नहीं होती। क्योंकि उसमें क्रमदोष उपस्थित हो जाता है। इसलिये नियमों को क्रमिक रूप से पूरा करना आवश्यक है ॥८१॥

न्यूनातिरिक्तकर्माणि न फलन्ति कदाचन।
यथाविधि कृतानीह सत्कर्माणि फलन्ति हि ॥८२॥

कर्म में न्यून दोष और अतिरिक्त ये दोष होते हैं। कार्य की निष्ठा से न्यूनता दोष का निवारण होता है। इसी तरह जो नहीं चाहिये, उसे भी करने से अतिरिक्त दोष होता है। इसीलिये शास्त्र कहता है कि, न्यून और अतिरिक्त दोनों कर्म निष्फल होते हैं। इसीलिये शास्त्र में जो विधि बतलायी गयी है और जिन सत्कर्मों का विधान किया गया है, उसके अनुसार ही आचरण करना चाहिये। ऐसे कार्य ही फल प्रदान करने में सफल होते हैं ॥८२॥

तद्विधानकृतं कर्म जपहोमार्चनादिषु।
देवताप्रीतिदं भूयाद् भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ॥८३॥

शास्त्रीय विधि के अनुसार किये हुए कर्म, जप, होम, अर्चना आदि कृत्यों में विधि की ही प्रधानता है। सविधि कर्म ही देवता की प्रीति प्रदान करने में समर्थ होते हैं। भगवान् कहते हैं कि देवि ! यह मेरा आशीर्वाद है कि, लोग ऐसे ही कर्म करें, जो भुक्ति और मुक्ति उभयप्रकारक फल देने में समर्थ हों ॥८३॥

देवस्य मन्त्ररूपस्य मन्त्रव्याप्तिमजानताम्।
कृतार्चनादिकं सर्वं व्यर्थं भवति शाम्भवि ॥८४॥

आराध्य देव मन्त्ररूप ही होते हैं। ऐसी अवस्था में जो मन्त्रजपकर्त्ता मन्त्रव्याप्ति नहीं जानता, उसकी सारी अर्चन आदि क्रिया जिसे नित्य कर रहा है, भगवान् शिव कह रहे हैं कि, देवि शाम्भवि ! सब कुछ व्यर्थ हो जाता है। इसलिये जापक को मन्त्रव्याप्ति की पूरी जानकारी होनी चाहिये ॥८४॥

यन्त्रं मन्त्रमयं प्रोक्तं देवता मन्त्ररूपिणी।
यन्त्रे सा पूजिता देवि सहसैव प्रसीदति ॥८५॥

जहाँ तक यन्त्र का प्रश्न है, यह भी मन्त्रमय ही होता है। देवता भी मन्त्ररूपिणी ही होती है। देवता के उद्देश्य से जिस यन्त्र का निर्माण किया जाता है, उसमें देवता की पूजा करनी ही चाहिये। इससे दिव्यशक्तिमयी देवता अविलम्ब अनुग्रह करती है। एकाएक प्रसादपूर्ण होना देवी की दयालुता का प्रमाण है ॥८५॥

कामक्रोधादिदोषोत्थसर्वदुःखनियन्त्रणात्।
यन्त्रमित्याहुरेतस्मिन् देवः प्रीणाति पूजितः ॥८६॥

काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि दोषों से उत्पन्न समस्त दु:खों का तुरत निवारण और नियन्त्रण करने में समर्थ होने के कारण इसे यन्त्र कहते हैं। इसमें पूजा करने से पूजित पूज्य देव भी प्रसन्न हो जाते हैं ॥८६॥

शरीरमिव जीवस्य दीपस्य स्नेहवत् प्रिये।
सर्वेषामपि देवानां तथा यन्त्रं प्रतिष्ठितम् ॥८७॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति ! दीप का जीवन स्नेह है। जब तक तेल और बाती हैं, तब तक दीपक जलता है। अन्यथा बुझ जाता है। इसी प्रकार जीव का जीवत्व भी शरीर पर्यन्त है। इसी प्रकार यन्त्र भी देव शरीर है। जब तक यन्त्र प्रतिष्ठित है, तभी तक उसमें देवशक्ति भी उच्छलित एवं प्रतिष्ठित रहती है ॥८७॥

तस्माद् यन्त्रं लिखित्वा वा ध्यात्वा सावृतिकं शिवम्।
ज्ञात्वा गुरुमुखात् सर्वं पूजयेद्विधिना प्रिये ॥८८॥

सर्वप्रथम यन्त्र का विधिपूर्वक उल्लेख करना चाहिये। यन्त्र लिख जाने के उपरान्त उसमें सावृतिक शिव का ध्यान करना चाहिये। सावृतिक की जगह साकृतिक पाठ भी मिलता है। दोनों शब्द सार्थक हैं और ध्यान में सहभाव के बोधक हैं। सावृतिक शब्द आवृति के सहित ध्यान का अर्थ उच्छलित कर रहा है। आ उपसर्ग है। वृति मन के द्वारा शिव को आत्मसात् करने के लिये लपेटने की क्रिया है। अच्छी तरह और देवताओं से पृथक् शिव को पृथक् कर उनमें तन्मयता सावृतिक ध्यान है। वहीं साकृतिक ध्यान में शिव की आकृति की प्रधानता है, अर्थात् चित्रमय ध्यान आवश्यक है। भगवान् शिव कहते हैं कि, प्रिये ! यह सब कुछ गुरु द्वारा जानकर सविधि पूजा करनी चाहिये ॥८८॥

एकपीठे पृथक् पूजां विना यन्त्रं करोति यः।
अङ्गाङ्गित्वं परित्यज्य देवताशापमाप्नुयात् ॥८९॥

पीठों का सम्प्रदाय-क्रमानुसार विशिष्ट महत्त्व है। प्रधान देवता के पीठ में उस देवता की पूजा यन्त्र में ही की जाती है। यन्त्र न हो और देवता की पूजा अलग से हो, यही 'पृथक्पूजा' कहलाती है। यह वर्जित है। भुवनेश्वरी पीठ में उसके यन्त्र के साथ ही विग्रह की पूजा होती है। अंगांगीभाव की यह पूजा ही विहित पूजा होती है। इसका परित्याग कर पृथक् पूजा करने से देवता का शाप मिलता है। देवता के शाप से साधक अभिशप्त हो जाता है। इससे बचना चाहिये ॥८९॥

एकपीठे कुलेशानि स्वे स्वे यन्त्रे पृथक् पृथक्।
यजेदावरणोपेता देवतास्तद्विधानतः ॥९०॥

एक ही पीठ में हे कुलेश्वरि ! उनके अपने-अपने यन्त्रों में पृथक्-पृथक् आवरण-युक्त देवताओं की पूजा की जानी चाहिये। इसका भी शास्त्र में विधान है। सारा काम विधान के अनुसार ही करना चाहिये। शास्त्र का यही अनुशासन है ॥९०॥

आवाह्य देवतामेकां पूजयेदन्यदेवताम्।
उभाभ्यां लभते शापं मन्त्री चञ्चलमानसः ॥९१॥

आवाहन किया जाय एक देवता का और पूजा की जाय दूसरे देवता की, इससे

दोनों देवताओं का अपमान होता है। परिणामत: दोनों उस पूजा करने वाले की चंचल मानसिकता से खिन्न हो जाते हैं। देवताओं का क्षोभ ही शापरूपी वज्र बनकर उस पर कहर बरपाकर देता है। इसलिये साधक को चंचल मानस नहीं होना चाहिये। श्रद्धापूर्वक पूजा में संलग्न होना चाहिये ॥९१॥

इत्यादिलक्षणं ज्ञात्वा गुरुतः शास्त्रतः प्रिये।
विधिनाभ्यर्चयेत् सम्यग्देवता सुप्रसीदति ॥९२॥

भगवान् कहते हैं कि, प्रिये! जानकारी के दो ही सरल उपाय हैं। शिवसूत्र के अनुसार 'गुरुरुपाय:' अर्थात् गुरु उपाय होता है। उससे जानकारी लेनी चाहिये। दूसरा उपाय है—स्वाध्याय। शास्त्र का पढ़ना। शास्त्र से भी जानकारी मिलती है। इन दोनों से पूरी विधि में विज्ञ हो जाने पर ही साधक को आराध्य की आराधना करनी चाहिये। सम्यक् पूजा से ही देवता सुप्रसन्न होते हैं। देवता को प्रसन्न करना ही साधक का लक्ष्य होता है ॥९२॥

षोडशैरुपचारैस्तु साङ्गं सावरणं शिवम्।
पूजयेन्मूलमन्त्रेण गन्धपुष्पाक्षतादिभिः ॥९३॥

उपचार ५,१६,४८,६४ प्रकार तक के होते हैं। भगवान् शिव कहते हैं कि, प्रिये! तुम तो जानती ही हो, शिव को षोडश उपचार ही प्रिय हैं। १६ उपचारों से शिव की पूजा होनी चाहिये। यह पूजा भी सांग और सावरण होनी चाहिये। षोडशोपचार और पञ्चोपचार से भी तथा गन्ध, अक्षत और फूल आदि से भी यह पूजा सम्पन्न करनी चाहिये ॥९३॥

महाषोढोदिताशेषपरिवारांश्च शाम्भवि।
प्रणवादिनमोऽन्तेन तत्तन्नाम्ना समर्चयेत् ॥९४॥

महाषोढा न्यास के साथ परिवार और आयुध आदि, साथ ही प्रिये शिवानि! प्रणवादिनमोन्त मूलमन्त्र से उनके नाम के साथ ही पूजा होनी चाहिये ॥९४॥

आगमोक्तेन मार्गेण तर्पयेदलिबिन्दुभिः।
अङ्गुष्ठानामिकाभ्याञ्च नखे निःसृतमूर्द्ध्वतः॥
स्वपात्रस्पन्दनिस्यन्दं विधिवत् कुलनायिके ॥९५॥

आगमोक्त विधि के अनुसार मधुबिन्दुओं से शिव को तृप्त करना चाहिये। अंगुष्ठ और अनामिका के अग्रभाग में नखों के दबाव से पात्र से ऊर्ध्वत: नि:सृत बिन्दु बड़े ही पवित्र होते हैं। पात्र से निष्यन्दमान बिन्दुओं से ही हे कुलेश्वरि! शिव की पूजा विहित है ॥९५॥

सकृत्तर्पणमुत्सृज्य जप्त्वा मूलञ्च पादुकाम्।
अन्तःशक्तिं समुत्थाप्य तर्पयेद्देहदेवताः ॥९६॥

इस प्रकार एक बार तर्पण के बिन्दुओं का उत्सर्जन करने के बाद मूलमन्त्र का जप करना चाहिये। पादुका मन्त्र के साथ जप करने का नियमतः शास्त्रानुसार विधान भी पूरा करना चाहिये। इसी प्रक्रिया में आन्तर शक्ति का उत्थापन साधक करता है और देहस्थ देवताओं का पूजन और तर्पण भी साधक सम्पन्न करता है ॥९६॥

अङ्गुष्ठो भैरवो देवो मध्यमा चण्डिका प्रिये।
मध्यमाङ्गुष्ठयोगेन तर्पयेत् कुलसन्ततिम् ॥९७॥

अंगुष्ठ को भैरव मानते हैं। अनामिका देवी चण्डिका रूप है। इसीलिये अनामिका और अंगुष्ठ योग से कुलपरम्परा की पूजा सम्पन्न करनी चाहिये ॥९७॥

अङ्गुष्ठानामिकाभ्याञ्च वश्यकर्मणि तर्पयेत्।
तर्जन्यङ्गुष्ठयोगेन तर्पयेदभिचारके॥
कनिष्ठाङ्गुष्ठयोगेन स्तम्भने तर्पयेत् प्रिये॥९८॥

अंगुष्ठ, अनामिका योग से वश्यकर्म में तर्पण आवश्यक है। तर्जनी, अंगुष्ठ योग से आभिचारिक तर्पण होता है। कनिष्ठा और अंगुष्ठ के योग से तर्पण द्वारा स्तम्भन में सिद्धि प्राप्त होती है। विभिन्न अंगुलियों के योग से विभिन्न प्रकार का वैद्युतिक प्रवाह तुरत उच्छलित होने लगता है। मुद्राओं में भी यही होता है ॥९८॥

एवं सन्तर्प्य देवेशि कुलद्रव्यैर्यथाविधि।
देवतापुरतो देवि गुरुपङ्क्तींश्च पूजयेत्॥
पङ्क्तित्रयक्रमेणाथ ज्ञात्वा सम्यगनन्यधीः ॥९९॥

भगवान् शिव कहते हैं कि, प्रिये पार्वति! इस प्रकार विधिपूर्वक कुलद्रव्यों से आराध्य का सन्तर्पण करने के उपरान्त आराध्य देव के समक्ष ही अनन्यभाव से गुरुपंक्ति की पूजा करनी चाहिये। दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ की गुरुपंक्ति प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त ७ गुरुओं की भी पंक्ति होती है[१] ॥९९॥

कराभ्यां चिन्मुद्रां समधुनृकपालञ्च दधतीं
द्रुतस्वर्णप्रख्यामरुणकुसुमालेपवसनाम्।
कृपापूर्णापाङ्गीमरुणनयनामम्बरजटा-
मुपेतां सिद्धौघैर्यजतु गुरुपङ्क्तिं क्रमगतिम् ॥१००॥

यजनीय गुरुपंक्ति का श्रद्धामय शब्दचित्र प्रस्तुत करते हुए कह रहे हैं कि, हाथों द्वारा चिन्मुद्रा से युक्त, मधुमय नृकपालधारिका स्वर्णवर्णी, लाल फूलों के आलेप से युक्त और रक्तांशुकधारिणी, कृपामयी, कृपाकटाक्ष से कृतार्थ करने को उद्यत, रक्तनेत्रा और आकाश में छायी जटाओं से समन्वित सिद्ध, दिव्य और मानवों की पावन गुरुपंक्ति की

---

१. श्रीतन्त्रालोक, भाग-५, १५।३२०; भाग-६, १६।१०।

मैं पूजा कर रहा हूँ। इस भाव वाले श्लोक का पाठ करना चाहिये। इसमें क्रम का ध्यान आवश्यक है ॥१००॥

एवं सम्पूज्य धूपञ्च दीपं नैवेद्यमेव च।
आसवं पिशितोपेतं भक्ष्याणि विविधानि च॥
कदल्यादिफलान्येव ताम्बूलञ्च समर्पयेत् ॥१०१॥

इस प्रकार पूजा करने के उपरान्त गुरुपंक्ति के गुरुओं हेतु धूप, दीप, नैवेद्य, आसव, मांस के पके प्राश और इसके अतिरिक्त भी विविध प्रकार के प्राश्य पदार्थों का अर्पण करना चाहिये। जहाँ तक फलों का प्रश्न है, कदली, आम्र आदि फल भी अर्पित करना चाहिये। आचमन के उपरान्त ताम्बूल भी अर्पित करना आवश्यक है ॥१०१॥

इति ते कथितं देवि कुलाचारस्य लक्षणम्।
द्रव्यसंस्कारशुद्ध्यादि किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि ॥१०२॥

भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! ये कुलाचार के लक्षण, द्रव्य, उनकी शुद्धि विधि आदि विषय मैंने तुम्हें सुनाये हैं। अब पुनः तुम्हें जो भी सुनने की इच्छा हो, बताओ। मैं सुनाने के लिये प्रस्तुत हूँ ॥१०२॥

सर्वागमोत्तमोत्तम महारहस्यमय ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकुलार्णवतन्त्रान्तर्गत डॉ. परमहंस-मिश्रविरचित नीर-क्षीर-विवेक-भाषाभाष्यसंवलित 'द्रव्यसंस्कारकथन' नामक षष्ठ उल्लास परिपूर्ण ॥६॥

॥ शुभं भूयात् ॥

○

सप्तम उल्लासः

श्रीदेव्युवाच

कुलेश वटुकादीनां बलिञ्च शक्तिलक्षणम्।
तद्द्रव्यस्यैव स्वीकारं वद मे करुणानिधे ॥१॥

श्री देवी ने भगवान् शिव के यह पूछने पर कि, अब और क्या सुनना चाहती हो ? यह कहा—कुलेश्वर ! करुणावरुणालय शिव ! मेरी इच्छा है प्रभो ! कि, बटुक आदि को कैसे बलि दी जाती है ? शक्ति के लक्षण क्या हैं ? जिस द्रव्य से आराध्य की पूजा की जाती है और जिसे अंगीकार कर वे प्रसन्न होते हैं, इन विषयों के सम्बन्ध में ही हमें बताने की कृपा करें ॥१॥

ईश्वर उवाच

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
तस्य श्रवणमात्रेण तत्त्वज्ञानं प्रकाशते ॥२॥

ईश्वर ने कहना प्रारम्भ किया—देवि ! आपकी आकांक्षा के अनुसार उन सभी विषयों के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी देने जा रहा हूँ। इनके श्रवण मात्र से तात्त्विक ज्ञान का उदय हो जाता है। इन्हें आप ध्यानपूर्वक सुनें ॥२॥

यावन्नो वटुके दद्यात्तावन्नैव कुलेश्वरि।
तृप्यन्ति देवताः सर्वाः स्मरणाद् यजनादपि ॥३॥

यह ध्रुव सत्य है कि, जब तक बटुक के लिये बलि आदि जो भी पदार्थ देने के लिये निर्धारित हैं, नहीं दिये जाते, तब तक हे कुलेश्वरि ! कोई भी देवता तृप्त नहीं होता। भले ही उस देवता के स्मरण के द्वारा अपनी श्रद्धा अर्पित की जाय अथवा शास्त्रीय नियमों के अनुसार उनका यजन ही क्यों न किया जाय ? अतः बटुक को प्रारम्भ में ही प्रसन्न करना आवश्यक है।

वटुकादीन् यजेत्तस्माद् गन्धपुष्पासवामिषैः।
तत्तन्मन्त्रविधानेन देवताप्रीतिमाप्नुयात् ॥४॥

भगवान् कह रहे हैं कि, सर्वप्रथम बटुक का यजन करना चाहिये। इनकी पूजा में गन्ध, पुष्प, आसव और मांस का भी प्रयोग होना चाहिये। इनके अर्पण के लिये मन्त्र निर्धारित हैं। उन मन्त्रों से ही पदार्थों का अर्पण करना चाहिये। इससे देवताओं की प्रसन्नता और उनका स्नेह अवश्य ही प्राप्त होता है ॥४॥

यत्किञ्चिद्द्रव्यसंघातं पूजार्थं भोगहेतुना।
आनीतं दीयते भक्त्या क्षेत्रपेभ्यः कुलेश्वरि ॥५॥

जो द्रव्य देवता को अर्पित करने के लिये एकत्र किये गये हैं, पूजा के लिये या नैवेद्य के रूप में भोग लगाने के लिये भी एकत्र किये गये हैं, वे सभी क्षेत्रपालों के लिये भी श्रद्धापूर्वक और भक्तिभाव के साथ अर्पित करने चाहिए ॥५॥

वटुकमन्त्रान् वक्ष्यामि शृणुष्व कुलनायिके ।
यैः समर्चितमात्रेण सर्वे नश्यन्त्युपद्रवाः ॥६॥

भगवान् कह रहे हैं कि, कुलेश्वरि देवि ! तुम ध्यानपूर्वक सुनो । मैं बटुक सम्बन्धी मन्त्रों को तुम्हें बता रहा हूँ । इन मन्त्रों से पूजा करने पर यज्ञ कार्य में बाधा डालने वाले सारे उपद्रव शान्त हो जाते हैं । यह मन्त्रों के महाप्रभाव से ही हो पाता है ॥६॥

तारत्रयं ततो देवीपुत्रेति वटुकेति च ।
नाथेति कपिलजटाभारभास्वरपिङ्गल ॥७॥
त्रिनेत्रेति पदं पश्चाज्ज्वालामुखपदं ततः ।
इमां पूजां बलिं गृहणद्वयं पावकवल्लभा ।
उक्तो वटुकमन्त्रोऽयं चतुश्चत्वारिंशदक्षरैः ॥८॥

यहाँ मन्त्र का उद्धार कर रहे हैं । साधक पहले तीन तार (ॐकारों) का प्रयोग करे । इसके बाद 'देवीपुत्र' लिखे । पुनः 'बटुक' लिखे । बटुक के साथ नाथ शब्द का प्रयोग करे । पुनः 'कपिल' फिर 'जटाभारभास्वरपिङ्गल' शब्द लिखे । पुनः 'त्रिनेत्र' और 'ज्वालामुख' शब्द लिखे । इसके बाद इमां पूजां बलिं लिखकर गृह्ण शब्द को दो बार लिखे । इसके बाद अग्नि की पत्नी 'स्वाहा' का प्रयोग करे । इतना लिखने पर यह मन्त्र उद्धृत होता है—

"ॐ ॐ ॐ देवीपुत्र वटुकनाथ कपिलजटाभारभास्वर पिङ्गल त्रिनेत्र ज्वालामुख ! इमां पूजां बलिं गृह्ण गृह्ण स्वाहा ।"

यह वटुक मन्त्र कहलाता है । इस मन्त्र में ४४ अक्षर होते हैं ॥७-८॥

बलिनानेन सन्तुष्टो वटुकः सर्वसिद्धिदः ।
शान्तिं करोतु मे नित्यं भूतवेतालसेवितः ॥९॥

इस मन्त्र से बलि प्रदान करने से बटुक देवता तुरन्त सन्तुष्ट होते हैं और समस्त सिद्धियों को प्रदान करते हैं । बलि के बाद यही प्रार्थना का मन्त्र बोलना चाहिये और मन ही मन इस श्लोक के अर्थ का भावन करना चाहिये । प्रार्थना इस प्रकार है—इस प्रकार बलि प्रदान करने से वर्चस्वशाली बटुक देव शीघ्र सन्तुष्ट होते हैं । आप समस्त सिद्धियों को भी प्रदान करते हैं । हे भूतवेतालसेवित बटुक, मेरे जीवन में हर प्रकार से शान्ति करें ॥९॥

तारत्रयं ततः सर्वयोगिनीभ्यः पदं वदेत् ।
तत्पश्चात् सर्वभूतेभ्यः सर्वभूताधिवर्त्ति च ॥१०॥

पदं ताभ्यो डाकिनीभ्यः शाकिनीभ्यः पदं वदेत्।
त्रैलोक्येति पदं चैव वासिनीभ्य इमां वदेत् ॥११॥
पूजां बलिं गृह्णयुग्मं स्वाहान्तो योगिनीमनुः।
कथितोऽयं महेशानि मन्त्रः पञ्चादशाक्षरः ॥१२॥

इसके बाद योगिनी मन्त्र के विषय में बतला रहे हैं। इसमें भी प्रारम्भ में तीन ओंकार लगाना चाहिये। इसके बाद सर्वयोगिनीभ्यः और सर्वभूतेभ्यः पदों के बाद सर्वभूताधिवर्त्तिताभ्यः लगाना चाहिये। पुनः डाकिनीभ्यः लिखना चाहिये। पुनः शाकिनीभ्यः पद लिखना होता है। पुनः त्रैलोक्यवासिनीभ्यः पद लिखना चाहिये। इसके बाद 'इमां' पुनः पूजां बलिं च, पुनः गृह्ण पद को दो बार लिखकर स्वाहा लिखना चाहिये। पूरा मन्त्र इस प्रकार लिखा जाता है—

"ॐ ॐ ॐ सर्वयोगिनीभ्यः सर्वभूतेभ्यः सर्वभूताधिवर्त्तिताभ्यः डाकिनीभ्यः शाकिनीभ्यः त्रैलोक्यवासिनीभ्यः इमां पूजां बलिं गृह्ण गृह्ण स्वाहा।"

यह मन्त्र ५० अक्षरों का होता है ॥१०-१२॥

या काचिद् योगिनी रौद्रा सौम्या घोरतरा परा।
खेचरी भूचरी व्योमचरी प्रीतास्तु मे सदा ॥१३॥

कुछ योगिनियाँ रौद्र होती हैं, कुछ सौम्य, कुछ घोर-घोरतरा, खेचरी, भूचरी, व्योमचरी भी होती हैं। भगवान् शिव कह रहे हैं कि, देवि ! साधक को यह प्रार्थना करनी चाहिये कि, योगिनियों ! आप किसी भी श्रेणी की हों, हम सबकी प्रार्थना कर रहे हैं। आप हमारे ऊपर सदा प्रसन्न रहें। यह श्लोक मन्त्रात्मक है। यह बोलकर प्रार्थना करनी चाहिये ॥१३॥

तारत्रयं वदेत् सर्वभूतेभ्यः सर्व एव हि।
पश्चाद् भूतपतिभ्यो हृद्युक्तः सप्तदशाक्षरः ॥१४॥

तीन प्रणव को ही श्लोकों में तारत्रय कहते हैं। तार शब्द का अर्थ प्रणव या ओंकार होता है। इन तीनों ओंकारों के बाद सर्वभूतेभ्यः बोलना चाहिये। इसके बाद सर्व लगाकर भूतपतिभ्यः शब्द बोलने से सर्वभूतपतिभ्यः शब्द बनता है। इसके बाद 'हृद्' लगाना चाहिये। 'हृद्' अग्निप्रिया 'स्वाहा' को कहते हैं। इस तरह इस मन्त्र का उद्धार होता है—

"ॐ ॐ ॐ सर्वभूतेभ्यः सर्वभूतपतिभ्यः स्वाहा।"

यह समस्त भूतों और भूतपतियों को प्रसन्न करने का मन्त्र है। यह सत्रह अक्षर का मन्त्र है ॥१४॥

भूता ये विविधाकारा दिव्या भौमान्तरिक्षगाः।
पातालसंस्था ये केचिच्छिवयोगेन भाविताः ॥१५॥

ध्रुवाद्याः सत्यसन्धाश्च इन्द्राद्याः स्वर्व्यवस्थिताः ।
तृप्यन्तु प्रीतमनसः प्रतिगृह्णन्त्विमं बलिम् ॥१६॥

उक्त यह मन्त्र भूतों की प्रार्थना और बलि के पहले ही ११ बार जप करके इन श्लोकों को पढ़ना चाहिये और बलि अर्पित करनी चाहिये। इन दोनों का विषय एक ही है—प्रार्थना और बलिदान।

अनेक प्रकार के विविध आकार वाले जो भी भूतयोनि के जीव हैं, इनमें दिव्य श्रेणी के भी हों, चाहे वे भौम अर्थात् भूमण्डल के हों या अन्तरिक्ष में विचरण करने वाले हों, ये पाताल स्थित भी हों, सम्भव है कि, इनमें से कुछ शिवयोग से भी भावित हों, साधक इनको सश्रद्ध सम्बोधित करे और प्रार्थना करे कि, ऐ इन भूतयोनियों में विद्यमान जीवगण, ऐ ध्रुव आदि सत्यसन्ध श्रद्धेयों ! स्वर्ग में व्यवस्थित ऐ इन्द्र आदि दिगधिपति लोकपाल दिव्य वर्ग आप सभी मेरे द्वारा अर्पित इस बलि को प्रीतिमना होकर ग्रहण करें और तृप्त हो जायें। आप लोगों की कृपा से यह यज्ञ पूर्ण हो जाय ॥१५-१६॥

तारत्रयं वदेद्देहियुग्मं देवीपदं वदेत् ।
सर्वविघ्नान् पदं पश्चाद् नाशयद्वितयं तथा ॥१७॥
गृह्णयुग्मं रुरुपदं क्षेत्रपालपदं ततः ।
सर्वोपचारसहितामिमां पूजां बलिं वदेत् ॥
गृह्ण गृह्ण द्विठान्तोऽयं क्षेत्रपालमनुः प्रिये ॥१८॥

अब क्षेत्रपाल मन्त्र, प्रार्थना और बलि-विधान सभी एक साथ ही यहाँ व्यक्त कर रहे हैं। भगवान् शंकर कहते हैं कि, प्रिये ! मन्त्रोद्धार के लिये पहले तीन ॐकार बोलना चाहिये। इसके बाद दो बार 'देहि' शब्द बोलना चाहिये। इसके बाद देवी शब्द के साथ पुत्राय बोलना चाहिये। फिर बटुकनाथाय बोलना चाहिये। पुनः उच्छिष्टहारिणे कहना चाहिये। इसके बाद सर्वविघ्नान् पद बोलकर दो बार नाशय नाशय कहना चाहिये। पुनः दो बार गृह्ण कहकर रुरु क्षेत्रपाल बोलना चाहिये। इसके बाद सर्वोपचारसहितामिमां पूजां बलिं गृह्ण गृह्ण बोलना चाहिये। इसके बाद दो ठः लगाना चाहिये। पूरा मन्त्रोद्धार रूप यह है—

"ॐ ॐ ॐ देहि देहि देवीपुत्राय बटुकनाथाय उच्छिष्टहारिणे सर्वविघ्नान् नाशय नाशय गृह्ण गृह्ण रुरु क्षेत्रपाल सर्वोपचारसहितामिमां पूजां बलिं गृह्ण गृह्ण ठः ठः"। यह चौंसठ अक्षरों वाला मन्त्र समस्त सिद्धियों को प्रदान करने वाला महामन्त्र है ॥१७-१८॥

चतुःषष्ट्यक्षरैः प्रोक्तः सर्वसिद्धिप्रदायकः ।
योऽस्मिन् क्षेत्रे निवासी च क्षेत्रपालस्य किङ्करः ॥
प्रीतोऽयं बलिदानेन सर्वरक्षां करोतु मे ॥१९॥

उक्त मन्त्र के बाद यह प्रार्थना का श्लोक बोलना चहिए। श्लोक-मन्त्र कहता है कि, इस क्षेत्र की सीमा में रहने वाले क्षेत्रपाल जो किंकर हैं, वह भी इस बलिदान से प्रसन्न हो जाँय। प्रसन्न होकर इस यज्ञ की पूरी रक्षा करें ॥१९॥

तारत्रयं वदेत्तारं श्रीप्रासादपरामनुः ।
ह्रां ह्रीं ह्रूं युगश्चादौ भैरवाधिष्ठिताय च ॥२०॥
अक्षोभ्यानन्दतः पश्चाद्धृदयाभीष्टदः परम् ।
सिद्धार्थपदमाभाष्य पश्चादवतरद्वयम् ॥२१॥
क्षेत्रपालपदं पश्चात् महाशान्तपदं ततः ।
मातृपुत्रपदं पश्चात् कुलपुत्रपदं तथा ॥२२॥
सिद्धिपुत्रपदं चास्मिन् स्थानाधिपपदं ततः ।
ग्रामाधिपतयेऽस्मिन् स्याद्देशाधिपतये ततः ॥२३॥
वदेद्बटुकनाथेति देवीपुत्रपदं ततः ।
मेघनादपदं पश्चात् प्रचण्डोग्रपदं वदेत् ॥२४॥
कपालीति पदं पश्चाद्भीषणेति पदं वदेत् ।
स्यात्सर्वविघ्नाधिपतये इमां पूजां बलिं वदेत् ॥२५॥
गृह्ण गृह्ण कुरुद्वन्द्वं मम दूरययुग्मकम् ।
ज्वलयुक्प्रज्वलयुगं सर्वविघ्नानितीरयेत् ॥२६॥
नाशयद्वितयं क्षां क्षं पश्चाद् बुद्धिमितीरयेत् ।
क्षेत्रपालाय वौषट् हूं षष्ट्युत्तरशताक्षरः ॥२७॥

यहाँ १६० अक्षरों वाले महामन्त्र का उद्धार कर रहे हैं । इसमें तारत्रय (ॐ ॐ ॐ) पुनः एकतार (ॐ) पुनः श्रीप्रासादपरामन्त्र और ह्र्आं ह्र्ईं ह्र्ऊं ये तीनों पहले बोलकर भैरवाधिष्ठिताय, पुनः अक्षोभ्यानन्द शब्द के आगे हृदयाभीष्टदः बोलना चाहिये । पुनः सिद्धार्थ के बाद दो बार अवतर, पुनः क्षेत्रपाल महाशान्त, पुनः मातृपुत्र, कुलपुत्र और सिद्धिपुत्र पद बोलने के बाद अस्मिन् स्थानाधिप पद, पुनः ग्रामाधिपतयेऽस्मिन् देशाधिपतये बोलना चाहिये । फिर बटुकनाथ देवीपुत्र और मेघनाद के साथ प्रचण्डोग्रकपाली पद, भीषण पद बोलकर सर्वविघ्नाधिपतये बोलना चाहिये । इसके बाद इमां पूजां बलिं के बाद दो-दो बार गृह्ण और कुरु पदों को बोलना चाहिये । पुनः द्वन्द्वं दूरय दूरय बोलकर ज्वल और प्रज्वल पदों को बोलकर सर्वविघ्नान् कहकर दो बार नाशय पद बोलकर पुनः क्ष में आं लगाकर क्षं पर बिन्दु जोड़कर 'बुद्धिं' पुनः क्षेत्रपालाय वौषट् हूं बोलना चाहिये । इस तरह यह मन्त्र इस रूप में निर्मित होता है—

"ॐ ॐ ॐ ॐ ह्सौः स्हौः ह्रां ह्रीं ह्रूं भैरवाधिष्ठिताय अक्षोभ्यानन्दहृदयाभीष्टदः सिद्धार्थ अवतर अवतर क्षेत्रपाल महाशान्त मातृपुत्र, कुलपुत्र, सिद्धिपुत्र, अस्मिन् स्थानाधिप ग्रामाधिपतयेऽस्मिन् देशाधिपतये बटुकनाथ देवीपुत्र मेघनाद प्रचण्डोग्रकपाली भीषण सर्वविघ्नाधिपतये इमां पूजां बलिं गृह्ण गृह्ण कुरु कुरु द्वन्द्वं दूरय दूरय ज्वल प्रज्वल सर्वविघ्नान् नाशय नाशय क्षां क्षं बुद्धिं क्षेत्रपालाय वौषट् हूं ।"

यह क्षेत्रपाल और बटुक आदि का मन्त्र है ॥२०-२७॥

तारत्रयं वदेत् पश्चादमुक क्षेत्रपाल च ।
राजराजेश्वर इमां पूजां बलिमतः परम् ॥
गृह्णयुग्मं द्विठान्तोऽयमष्टाविंशाक्षरो मनुः ॥२८॥

यह श्लोक भी मन्त्रात्मक ही है। इसे पढ़कर ही बलि अर्पित करनी चाहिये। २०-२७ श्लोकों में निर्दिष्ट मन्त्र के बाद इस श्लोक को ज्यों का त्यों अमुक के स्थान पर नाम लिखकर पहले तीन ॐकार लगाने के बाद क्षेत्रपाल का नाम कहकर हे राजराजेश्वर क्षेत्रपाल इस बलि को कहकर दो बार गृह्ण गृह्ण कहना चाहिये। बाद में दो ठः का प्रयोग करना चाहिये। यह अट्ठाइस अक्षरों का मन्त्र माना जाता है। मन्त्र रूप में इसे "ॐ ॐ ॐ अमुकक्षेत्रपाल राजराजेश्वर इमां पूजां बलिं गृह्ण गृह्ण ठः ठः" बोलना चाहिये ॥२८॥

अनेन बलिदानेन वटुवंशसमन्वितः ।
राजराजेश्वरो देवो मे प्रसीदतु सर्वदा ॥२९॥

इस बलि प्रदान कर्म से बटुक वंश से सम्बद्ध और समन्वित हे राजराजेश्वर देव मेरे ऊपर सर्वदा प्रसन्न रहें और कृपा करते रहें ॥२९॥

पश्चिमे वटुकं देवमुत्तरे योगिनीबलिम् ।
पूर्वे भूतबलिं दद्यात् क्षेत्रपालञ्च दक्षिणे ॥
राजराजेश्वरं मध्ये पूजयेत् कुलनायिके ॥३०॥

देव बटुक की बलि पश्चिम दिशा में होनी चाहिये। योगिनी शक्तियों की बलि उत्तर दिशा में दी जानी चाहिये। पूरब दिशा में भूतबलि अर्पित की जाती है। क्षेत्रपाल की बलि दक्षिण दिशा में अर्पित करने की आज्ञा शास्त्र देता है। भगवान् शिव कहते हैं कि, देवि कुलेश्वरि! जहाँ तक राजराजेश्वर का प्रश्न है, इनकी बलि मध्य मण्डप में दी जानी चाहिये ॥३०॥

अङ्गुष्ठानामिकाभ्याञ्च वटुकस्य बलिः स्मृतः ।
तर्जनीमध्यमानामिकाङ्गुष्ठैर्योगिनीबलिः ॥३१॥
अङ्गुलीभिश्च सर्वाभिरुक्तो भूतबलिः प्रिये ।
अङ्गुष्ठतर्जनीभ्याञ्च क्षेत्रपालबलिर्भवेत् ॥
अङ्गुष्ठमध्यमाभ्याञ्च राजराजेश्वरस्य च ॥३२॥

अँगूठे और अनामिका से बटुक की बलि अर्पित की जाती है। तर्जनी और मध्यमा तथा अनामिका इन तीनों अँगुलियों से योगिनियों की बलि दी जानी चाहिये। भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति! भूतों के लिये बलि अर्पित करनी हो, तो इसमें यह ध्यान रखना चाहिये कि, सभी अँगुलियों का प्रयोग करना चाहिये। क्षेत्रपालों की बलि में अँगूठे और तर्जनी का प्रयोग करने की प्रथा है। अंगुष्ठ और मध्यमा इन दोनों से राजराजेश्वर की बलि अर्पित की जाती है ॥३१-३२॥

वटुकादीन् समर्च्यैवं कुलदीपान् प्रदर्शयेत्।
ईषद्रक्तसुपिष्टेन चतुरङ्गुलिमानतः ॥३३॥
दीपान् डमरुकाकारान् त्रिकोणानतिशोभनान्।
कर्षाज्यग्राहिणः कुर्य्यान्नव सप्ताथ पञ्च वा ॥३४॥
अन्तस्तेजो बहिस्तेज एकीकृत्यामितप्रभान्।
त्रिधा देव्युपरि भ्राम्य कुलदीपान् निवेदयेत् ॥३५॥

इस प्रकार बटुक, क्षेत्रपाल, योगिनियों और भूतों की अर्चना के अनन्तर कुलदीपकों का प्रदर्शन करना चाहिये। दीपकों का मान कितना हो, इस जिज्ञासा का स्पष्टीकरण कर रहे हैं। इनके अनुसार दीपक चार अंगुल लम्बा होना चाहिये। अच्छी तरह पिष्ट गोधूमादि चूर्ण, जिसमें हल्की लाली के लिये सादा गुलाबी रंग मिला देने से उसमें दिव्यता और सुन्दरता का आधान हो जाता है। जहाँ तक दीपक की आकृति का प्रश्न है, यह डमरुकाकार निर्मित करना चाहिये। त्रिकोण दीपक अतीव प्रिय और सुन्दर हो, यह ध्यान रखना चाहिये। उसमें इतनी पात्रता हो कि, एक कर्ष घी आ जाय। दीपक या तो पाँच हों अथवा सात होने चाहिये। श्रद्धा के कारण नौ दीपक भी प्रज्वलित किये जा सकते हैं। दीपक का प्रकाश बाहर-भीतर उभयतः किरणों को विकीर्ण कर प्रकाशमान होना चाहिये। उनमें सम्मिलित प्रभाव से एकात्मक औज्वल्य का विकास दृष्टिगोचर होना चाहिये। देवी के ऊपर तीन बार घुमाकर इन कुलदीपकों को निवेदित करना चाहिये ॥३३-३५॥

समस्तचक्रचक्रेशि देवेशि सकलात्मिके।
आरात्रिकमिदं देवि गृहाण मम सिद्धये॥
कुलदीपान् प्रदर्श्याथ शक्तिपूजां समाचरेत् ॥३६॥

भगवान् शंकर कहते हैं कि, "आरार्त्तिक्य के अर्पण के समय, एकमात्र चक्रेश्वरि! देवों की हे स्वामिनि कुलेश्वरि! आप सकलात्मिका हैं। आप मेरे द्वारा अर्पित इस आरती को स्वीकार करें। इससे मेरी सिद्धि के लिये आप प्रसन्न हो जाँय" इस तरह देवी से निवेदन करना चाहिये। इस प्रकार कुलदीपों का प्रदर्शन कर शक्तिपूजा का प्रारम्भ करना उचित माना जाता है ॥३६॥

स्वशक्तिं वीरशक्तिं वा दीक्षितां गुरुमार्गतः।
पाययित्वा चरेत् पानमिति शास्त्रस्य निश्चयः ॥३७॥

शक्तिपूजा के सन्दर्भ के प्रथम कृत्य के रूप में कारण द्रव्य को स्वीकार करने की प्रथा है। शास्त्रों द्वारा यह समर्थित सत्य तथ्य है। स्वयं मधुपान पहले न करें। सर्वप्रथम इस यज्ञ में अपनी शक्ति रूप में चयनित किया गया हो, उसी को कारण द्रव्य देना चाहिये। उसको मधुपान कराने के बाद वहाँ जो वीर नायिका आमंत्रित हो, उसे पान कराना चाहिये। उसके बाद गुरुमार्ग के अनुसार कौल सिद्धान्त से दीक्षित वहाँ विराजमान शक्ति को मधुपान कराना चाहिये। इसके बाद ही साधक स्वयं अलिपदार्थ का सेवन करे ॥३७॥

अदीक्षितां स्त्रियं कुर्यात् सद्यः संस्कारमम्बिके ।
मन्त्रदीक्षाविधानेन शुद्धा भवति नान्यथा ॥३८॥

पूजा के समय यदि कोई स्त्री वहाँ ऐसी आ जाय, जो अभी दीक्षित न हो, तो भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि ! अम्बिके ! उसे सद्यः अर्थात् तत्काल ही संस्कार-सम्पन्न करना चाहिये। यह ध्यान देने की बात है कि, यह संस्कारसम्पन्नता रूप शुद्धि मन्त्रदीक्षा विधि से ही होती है। इसका दूसरा कोई उपाय नहीं है ॥३८॥

तस्मात् सुलक्षणां शक्तिं गन्धपुष्पाक्षतादिभिः ।
अभ्यर्च्य देवताबुद्ध्या भोगपात्रं निवेदयेत् ॥३९॥

शक्ति का कुलशास्त्र में अप्रतिम महत्त्व है। उसे सभी लक्षणों से सम्पन्न रहना चाहिये। ऐसी स्त्री की ही सुलक्षणा संज्ञा होती है। उसकी अभितः अर्चना करनी चाहिये। अभितः कहने का तात्पर्य है कि, अर्चना सर्वांगपूर्ण होनी चाहिये। कहीं कोई कमी न रहने पाये, यह ध्यान रखना चाहिये। गन्ध, पुष्प, अक्षत आदि जितने पूजा के द्रव्य स्वीकृत हैं, उन सबसे पूजा करनी उचित है। उसमें स्त्रीभाव कभी नहीं रखना चाहिये। उसमें देवता भाव का ही प्राधान्य शास्त्र में स्वीकृत है। देवता भाव से ही उसे भोग पात्र अर्पित करना चाहिये ॥३९॥

तदन्ते कन्यकाश्चापि प्रमदाश्च मनोहराः ।
सम्पूज्य देवताबुद्ध्या दद्यात् पात्रं पृथक् पृथक् ॥४०॥

तत्पश्चात् कन्याओं और मन को आकृष्ट कर लेने वाली मादकता की प्रतीक देवांगनासदृश कामिनियों की भी अच्छी तरह पूजा करने के बाद पृथक्-पृथक् सबको भोगपात्र अर्पित करना चाहिये ॥४०॥

अनिवेद्य तु यः शक्त्यै कुलद्रव्यं निषेवते ।
पूजितं निष्फलं तस्य देवता न प्रसीदति ॥४१॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं, कि शक्ति के लिये पानपात्र अर्पित किये बिना स्वयं कुलद्रव्य का जो निषेवन करता है, वह जो कुछ पूजा करता है, उसकी वह पूजा निष्फल हो जाती है। उसके ऊपर देवता भी प्रसन्न नहीं होते ॥४१॥

चण्डाली चर्मकारी च मागधी पुक्कसी तथा ।
श्वपची खट्टकी चैव कैवर्त्ती विश्वयोषितः ॥४२॥

भले ही वह शक्ति चण्डाल के घर की हो, चर्मकार कुल में उत्पन्न हो, मतंगवंशजा हो अथवा पुक्कस कुल की हो, वह श्वपच, खट्टक, कैवर्त्त (केवट) वंश की हो, ये आठों कुल (कुलाष्टक) अत्यन्त पवित्र माने जाते हैं ॥४२॥

कुलाष्टकमिदं प्रोक्तमकुलाष्टकमुच्यते ।
कन्दुकी शौण्डिकी चैव शस्त्रजीवी च रञ्जकी ॥४३॥

गायकी रजकी शिल्पी कौलिकी च तथाष्टमी ।

उक्त श्लोक की शक्तियाँ कुलाष्टक श्रेणी की हैं। यहाँ कुलाष्टक श्रेणी की आठ शक्तियों का कथन करने जा रहे हैं—१. कन्दुकी (कन्दुक-व्यापारी), २. शौण्डिकी (मदिराजीवी कलाली), ३. शस्त्रजीवी (शस्त्र-व्यापारी), ४. रञ्जकी (रंगरेज), ५. गायकी (घरों में गाकर ज़ीने वाली), ६. रजकी (धोबिन), ७. शिल्पी (शिल्पजीवी) और ८. कौलिकी (जुलाहा, विधर्मी और कौल कुल वाली इन तीनों प्रकार की युवतियाँ) ये आठ प्रकार की शक्तियाँ अकुलाष्टक वर्ग में आती हैं ॥४३॥

तन्त्रमन्त्रसमायुक्ता समयाचारपालिका ॥४४॥
कुमारी च व्रतस्था च योगमुद्राधरापि वा ।
पूजाकाले स्वतः प्राप्ता सा ज्ञेया सहजा बुधैः ॥४५॥

जो सभी तन्त्र और मन्त्र की प्रक्रिया में नित्य लगी रहती हैं। समयाचार का पालन करती हैं। कुमारी और व्रत में अवस्थित रहती हैं। योगमुद्रा धारण करने में सिद्धा होती हैं। पूजा के समय ये स्वतः आकर उपस्थित होती हैं और ये सभी सहज रूप से इस प्रक्रिया के उपयुक्त मानी जाती हैं। इनको 'सहजा' संज्ञा से भी विभूषित करते हैं। इस विधा के विशेषज्ञों के द्वारा इन्हें महत्त्व देना चाहिये ॥४४-४५॥

उक्तजात्यङ्गनाभावे चातुर्वर्ण्याङ्गनां यजेत् ।
सुरूपा तरुणी शान्ता कुलाचारयुता शुचिः ॥४६॥

इस यजन प्रक्रिया में जाति विशेष की अंगनाओं का सर्वप्रथम उल्लेख किया गया है। इसका कारण उन जातियों की अंगनाओं को पूजा में उत्कृष्ट स्थान देकर उनका सम्मान करना है। इनके न मिलने पर चातुर्वर्ण्य व्यवस्था में उत्पन्न अंगनाओं का प्रयोग यज्ञ में निःस्वार्थ रूप से करने का विधान है। इसमें यह ध्यान देना चाहिये कि, यज्ञ में प्रयोग में लायी जाने वाली अंगना रूपवती हो, तारुण्य की ताजगी से भरपूर हो, शान्त हो, अर्थात् उसमें चिलबिलापन न हो। यह भी आवश्यक है कि, वह कुलदर्शन की इस याज्ञिक प्रक्रिया से परिचित हो। सबसे महत्त्व की बात यह है कि, इसमें चारित्रिक शुचिता की दृढता हो ॥४६॥

शङ्काहीना भक्तियुक्ता गूढा शास्त्रोपजीविनी ।
अलोलुपा सुशीला च स्मितास्या प्रियवादिनी ॥४७॥

यज्ञ में स्वीकरणीय अंगनाओं के अन्य गुणों की चर्चा करते हुए भगवान् कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! ऐसी स्त्री इन गुणों से अवश्य विभूषित हो—१. उसके मन में इस प्रक्रिया के प्रति तनिक भी सन्देह न हो। २. कुलाचार के प्रति श्रद्धा और भक्ति हो। ३. इधर की बात उधर और उधर की इधर न कर अपने मन में ही गुप्त रखने की उसमें क्षमता हो। ४. शास्त्र में उल्लिखित इस यज्ञ प्रक्रिया की पूर्ति में सम्मिलित होने से जो आय होती हो, उसी से वह अपनी जीविका चला लेने में सक्षम हो। ५. वह लालची न

हो। ६. सुशीलता से सम्पन्न हो। ७. हँसमुख हो, अर्थात् मुस्कानभरी आकर्षक आकृति से युक्त हो। ८. उसमें मीठी-मीठी बातें करने की कला हो। इन गुणों से युक्त विशिष्ट युवती ही कुलयज्ञ प्रक्रिया में स्वीकर्त्तव्य मानी जाती है ॥४७॥

गुरुदैवतसम्भक्ता सुचित्ता कौलिकप्रिया।
विमत्सरा विशेषज्ञा देवताराधनोत्सुका॥
मनोहरा सदाचारा शक्तिरेषा सुलक्षणा ॥४८॥

कुलयज्ञ प्रक्रिया में स्वीकर्त्तव्य कामिनी के अन्यान्य विशिष्ट गुणों का उल्लेख कर रहे हैं—१. वह गुरु और देवताओं के प्रति श्रद्धा और भक्ति से युक्त होनी चाहिये। २. उसके चित्त में बुराई के विचार कभी न आते हों। इससे ऐसी स्त्रियों के मन पवित्र रहते हैं। ३. वह सदा कुलाचार को प्रिय मानती हो। ४. उसका किसी के प्रति किसी प्रकार का डाह न हो। ५. वह सभी विषयों की विशेषज्ञ हो। ६. देवों की आराधना में उत्सुकता से सम्मिलित होने में प्रसन्न रहती हो। ७. मन का हरण करने की उसमें क्षमता हो अर्थात् मनोहर हो। ८. आचार में उसकी निष्ठा हो। ९. सभी लक्षणों से विलक्षण ऐसी तरुणी कुलयाग प्रक्रिया में शक्तिरूप मानी जाती है ॥४८॥

दुष्टोग्रा कर्कशा क्रूरा दुःखिता कुलदूषणी।
दुराचारा पराधीना भीता लुब्धातुराऽलसा ॥४९॥
निद्रासक्तातिदुर्मेधा हीनाङ्गी व्याधिपीडिता।
दुर्गन्धा कुत्सिता मूढा वृद्धोन्मत्ता रहस्यभित् ॥५०॥
कुतर्का कुत्सितालापा निर्लज्जा कलहप्रिया।
विरूपोन्मार्गगा स्तब्धा पङ्ग्वन्धविकृतानना॥
ईदृशीं मन्त्रयुक्ताञ्च शक्तिं यागे विवर्जयेत् ॥५१॥

यहाँ तक याग में स्वीकर्त्तव्य कुलांगना के सद्गुणों की चर्चा की गयी है। इसके बाद ऐसी अंगनाओं के विषय में कहने जा रहे हैं, जिनके दुर्गुणों के कारण उन्हें यज्ञ प्रक्रिया में स्वीकार नहीं करना चाहिये। उनके एक-एक दुर्गुण के विषय में कह रहे हैं—१. दुष्ट स्वभाववाली, २. अत्यन्त गरम मिजाजवाली, ३. कर्कशा, ४. क्रूर (दूसरों को पीड़ित करने में प्रसन्न), ५. दुःख में निमग्न रहने वाली, ६. कुल में दूषण का विस्तार करने वाली, ७. दुराचारिणी, ८. दूसरे की अधीनता में रहने वाली, ९. डरपोक स्वभाव वाली, १०. प्रत्येक पदार्थ को ललचायी आँखों से देख-देख कर चकित, ११. आतुर (उतावली) और १२. प्रत्येक कार्य में आलस्यमय व्यवहार करने वाली नारी कभी भी कुलयाग प्रक्रिया में स्वीकार नहीं करनी चाहिये। १३. हमेशा नींद में उनींदी रहने वाली, १४. बुद्धि से अत्यन्त जड़, १५. अवयवों की पूर्णता से रहित, १६. विशिष्ट प्रकार की बीमारी से ग्रस्त, १७. उसके शरीर से हमेशा दुर्गन्ध निकलती हो, १८. कुत्सित विचारों वाली, १९. मूढ़, २०. वृद्धावस्था से ग्रस्त, २१. पागलपन से पीड़ित, और २२. कुल-

पूजा के रहस्य का भेदन करने वाली—ये सभी कुलपूजा में वर्ज्य हैं। इनके अतिरिक्त २३. कुतर्क करने वाली, २४. हमेशा बुरी-बुरी काम, लोभ आदि बातों में रत, २५. निर्लज्ज, २६. हमेशा झगड़ा करने में प्रसन्न रहने वाली, २७. अत्यन्त कुरूप और विकृत अंगों वाली, २८. उन्मार्ग अर्थात् स्त्रियोचित आचरणों के विपरीत आचरण वाली, २९. हर बात में ठिठक जाने वाली अथवा जिसके कुछ अंगों में लकवा जैसी स्तब्धता हो, ३०. लंगड़ी, ३१. अन्धी, और ३२. टेढ़-मेढ़े मुँह वाली अथवा जिसका मुँह स्वाभाविक रूप से विकारग्रस्त हो, ऐसी तथा ३३. किसी गुरु से विशिष्ट मन्त्र लेने वाली दीक्षिता (साम्प्रदायिकी) अंगनाओं को कुलयाग में विवर्जित माना जाता है ॥४९-५१॥

ततोऽर्चनादिकं सर्वं मन्त्रोदकपुरःसरम्।
इतः पूर्वादिमनुना मन्त्री देव्यै समर्पयेत् ॥५२॥

श्लोक ३९-४० के बाद प्रसंगवश अंगनाओं के वर्ज्यावर्ज्य स्वरूप की चर्चा करने के उपरान्त पुनः पूजा प्रक्रिया की ओर ध्यान आकर्षित कर रहे हैं। भगवान् कहते हैं कि, कुलाचार के अनुसार सुलक्षणा सर्वगुणोपेता मनोहरा कामिनी की यथाविधि अर्चना करनी चाहिये। इसमें मन्त्रों के प्रयोग में जल का उपयोग कर मन्त्रोदक की विधि भी पूरी करनी चाहिये। एतद्विषयक निर्धारित मन्त्र से मन्त्रप्रयोक्ता को प्रस्तुत पदार्थों को देवी को अर्पित कर देना चाहिये ॥५२॥

तारत्रयमितः पूर्वं प्राणबुद्धी ततः परम्।
देहधर्माधिकारान्ते जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ॥५३॥
मनसा चेतसा वाचा कर्मणा तत्परं वदेत्।
हस्ताभ्याञ्च ततः पद्भ्यामुदरेण ततः परम् ॥५४॥
शिश्ना च यत् स्मृतं पश्चाद् यदुक्तं यत् कृतं वदेत्।
तत् सर्वं गुरवे चान्ते मत्समर्पितमस्त्विति ॥
स्वाहान्तो मनुरित्युक्तस्त्रिसप्तत्यक्षरः प्रिये ॥५५॥

तीन बार ॐकार का उच्चारण कर इसके बाद प्राण-बुद्धि + देहधर्माधिकार के बाद् जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु का प्रयोग करे। पुनः मनसा चेतसा वाचा कर्मणा कहना चाहिये। इसके उपरान्त हस्ताभ्यां फिर पद्भ्यां फिर उदरेण, फिर शिश्ना च यत् स्मृतं, पुनः यत्कृतं, पुनः तत्सर्वं गुरवे, पुनः मत्समर्पितमस्तु पुनः स्वाहा बोलना चाहिये। इस तरह समर्पण के मन्त्र का पूरा उद्धार हो जाता है। पूरा मन्त्र इस प्रकार होता है—

"ॐ ॐ ॐ पूर्वं प्राणबुद्धि-देहधर्माधिकार-जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु मनसा चेतसा वाचा कर्मणा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना च यत्स्मृतं यत्कृतं यदुक्तं तत्सर्वं गुरवे मत्समर्पितमस्तु स्वाहा।"

तिहत्तर (७३) अक्षरों का मन्त्र गुर्वर्थ समर्पण का मन्त्र है। इसको बोलकर मन्त्रार्थानुसार भावन करते हुए समर्पण करना चाहिये। इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

हे ओङ्कारस्वरूप परब्रह्मस्वरूप परशिवात्मक सर्वकुलेश्वर ! इस श्रद्धापूर्ण समर्पण के पहले प्राणबुद्धि, देहधर्माधिकार दृष्टि में, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में मन, चित्त, वाणी, कर्म, हाथ-पैर, जननेन्द्रिय आदि से मेरे द्वारा जिस प्रकार स्मृत किया गया, सोचा-समझा गया, कार्य रूप में परिणत किया गया और जो कुछ वाणी द्वारा कहा गया, यह सब कुछ गुरुदेव के चरणों में अर्पित कर रहा हूँ। यह श्रद्धापूर्ण अर्पण स्वीकृत कर अनुगृहीत करें। गुरुदेवरूप परमात्मन्! मेरा यह समर्पण सिद्ध हो। इस तरह तिहत्तर अक्षरों का मन्त्र पूर्ण माना जाता है ॥५३-५५॥

ज्ञानतोऽज्ञानतो वापि यन्मया क्रियते शिवे।
तव कृत्यमिदं सर्वमिति ज्ञात्वा क्षमस्व मे ॥५६॥

इस समर्पण के उपरान्त माँ जगदीश्वरी कुलेश्वरी रूप शिवा से यह प्रार्थना करनी चाहिये कि, हे देवस्वामिनी माँ, जान में या अनजान में मेरे द्वारा जो क्रिया सम्पन्न हो रही है, यह सब तो तुम्हारी क्रियाशक्ति का उल्लास है। हे माँ, यही जानकर मुझ अबोध को क्षमा करो ॥५६॥

एवं सम्प्रार्थ्य देवेशि स्तुत्वा नत्वा च भक्तितः।
प्रधानदेवतामूर्त्तौ परिवारान् समर्चयेत् ॥
एवं सावरणां देवीं चिन्तयेत् स्वहृदम्बुजे ॥५७॥

भगवान् श्री शिव कह रहे हैं कि, देवस्वामिनी हे पार्वति ! इस प्रकार प्रार्थना करने के उपरान्त अन्य प्रकार यथासम्भव स्तुतियों का गान कर प्रणाम करना चाहिये। स्तुति-पूर्वक प्रणाम प्रार्थना का ही अंग माना जाता है। इसमें भक्ति-भावना का प्राधान्य रहना चाहिये, अन्यथा सारे कार्य प्रदर्शन मात्र रह जाते हैं। इस क्रिया के उपरान्त प्रधान देवता की मूर्ति पर प्रतिष्ठित देव परिवार की पूजा करनी चाहिये।

साधक भक्ति-भावना की ही मुख्यता से पूरी पूजा करता है। पूजा करने के बाद देवी के ध्यान और चिन्तन का क्रम आता है। देवी का हृदयकमल में श्रद्धापूर्वक चिन्तन करना चाहिये। देवी का पूजन आवरणों के साथ ही करना उचित है ॥५७॥

शेषिकायै समर्प्यात्ममूलमन्त्रेण शोधयेत्।
स्याद्वाग्भवं हृदुच्छिष्टचाण्डालि तदनन्तरम् ॥५८॥

श्रद्धा के साथ शेषिका देवी को स्वात्म का मूलमन्त्र से समर्पण करना चाहिये। पूरी पूजा सम्पन्न होने के बाद शेष को स्वीकार करने के लिये वात्सल्यमयी माँ शेषिका बन जाती हैं। इसलिये ध्यानपूर्वक सावधानी से इस प्रक्रिया का निर्वाह करना चाहिये। इसके बाद मातंगी देवी के मन्त्रोद्धार के साथ ही अन्यान्य विषयों की चर्चा कर रहे हैं। इसमें सर्वप्रथम मन्त्र के स्वरूप को उद्धृत करने के लिये वाग्भव बीज का प्रयोग करते हैं। वाग्भव बीज 'ऐं' को कहते हैं। ऐं के साथ हृत् (नमः) का प्रयोग कर उच्छिष्ट-चाण्डालि बोलना चाहिये ॥५८॥

वदेन्मातङ्गि सर्वन्ते वश्यङ्कुरुयुगन्ततः ।
एकविंशतिवर्णैश्च शेषिकामनुरीरितः ॥५९॥

इसके बाद मातंगि शब्द के बाद फिर सर्वं ते वश्यं कुरु कुरु का प्रयोग करना चाहिये। यह २१ वर्णों का मन्त्र इस रूप में उद्धृत होता है—"ऐं नमश्चाण्डालि मातङ्गि ! सर्वं ते वश्यं कुरु कुरु"। इसी मन्त्र को शेषिका मन्त्र कहते हैं ॥५९॥

मन्त्रेणानेन निर्माल्यं शेषिकायै समर्पयेत् ।
देवीमुच्छिष्टमातङ्गीं ध्यायेत् त्रैलोक्यमोहिनीम् ॥६०॥

इस मन्त्र के माध्यम से ही शेषिका देवी के लिये निर्माल्य अर्पित करना चाहिये। उच्छिष्ट मातंगी नामक यह देवी तीनों लोकों को मोहित कर लेने की शक्तिसमन्वित देवी है। श्रद्धा और भक्तिपूर्वक इसका ध्यान करना चाहिये ॥६०॥

वीणावाद्यविनोदगीतनिरतां नीलांशुकोल्लासिनीं
बिम्बोष्ठीं नवयावकार्द्रचरणामाकीर्णकेशालकाम् ।
मृद्वङ्गीं सितशङ्खकुण्डलधरां माणिक्यभूषोज्ज्वलां
मातङ्गीं प्रणतोऽस्मि सुस्मितमुखीं देवीं शुकश्यामलाम् ॥६१॥

माता मातंगी की प्रार्थना का यहाँ एक श्लोक दे रहे हैं। इसी को पढ़कर प्रार्थना करनी चाहिये—

हे माँ मातंगिके ! तुम वीणावादिनी हो। इसी से तुम्हारा विनोद होता है। अन्यान्य मधुर गीतों की आनन्दधारा में तुम सदा निरत रहती हो। तुमसे नील परिधान सदा उल्लसित रहते हैं और उनसे तुम्हारे अस्तित्व में उल्लास होता रहता है। तुम्हारे ओष्ठ बिम्ब के समान अरुण वर्ण के हैं। इसीलिये बिम्बोष्ठी कहते हैं। तुम्हारे चरणों में नया आर्द्रयावक (महावर) लगा हुआ है। तुम्हारे केश और तुम्हारी अलकें खुली हुई होने के कारण विकीर्ण हो रही हैं। तुम्हारे अंग-प्रत्यंग नितान्त मृदुल अर्थात् सुकुमार हैं। श्वेत शंखों के कुण्डल तुम्हारे कानों की शोभा बढ़ा रहे हैं। तुम उन्हें नित्य धारण करती हो। मणि-माणिक्य-जटित आभूषणों से तुम उज्ज्वल लग रही हो। इन समस्त विशिष्टताओं से विशिष्ट हे देवियों में उत्कृष्ट स्थान वाली श्रेष्ठ देवी, मैं तुमको प्रणाम कर रहा हूँ। हे सुस्मितवदने ! हे शुकवत् श्यामलाङ्गी जगदम्बिके ! तुम्हें बारम्बार प्रणाम ॥६१॥

ततः श्रीगुरुरूपाय साक्षात् परशिवाय च ।
कराभ्यां पात्रमुद्धृत्य सद्वितीयं समर्पयेत् ॥६२॥

शिवसूत्र का वचन है, 'गुरुरुपायः'। उसी वचन को ज्यों का त्यों इस श्लोक में उद्धृत किया गया है। परमशिव की उपलब्धि के लिये गुरु साक्षात् उपाय होता है। इस तरह वह स्वयं परमशिव में समुल्लासित है। ऐसे गुरुदेव के लिये पात्र से स्वयं चषक

में रखकर हाथ से उठाकर सद्वितीय अर्थात् मांस के साथ कारण द्रव्य का अर्पण करना चाहिये ॥६२॥

स्वसम्प्रदायसंयुक्तैर्वीरैश्च सह पूजयेत् ।
अन्योन्यवन्दनं कृत्वा पिबेत्तत्तदनुज्ञया ॥६३॥

अपने सम्प्रदाय के अनुसार दीक्षा और समयाचार से सम्बन्धित नियमों से संयुक्त 'वीर' नामक साधक वहाँ हों, तो उनको साथ लेकर परमशिव रूप गुरुदेव की पूजा करनी चाहिये। इसके बाद एक-दूसरे के अभिमुख होकर गुरुदेव से आज्ञा लेकर सर्वश्रेष्ठ साधक के क्रम से एक-एक आज्ञा से पेय पदार्थ का पान करना चाहिये ॥६३॥

सव्येनोद्धृत्य पात्रन्तु मुद्रां कृत्वाऽपसव्यतः ।
यथाविधि द्वितीयेन गृह्णीयान्मन्त्रमुच्चरन् ॥६४॥

पात्र को सव्य हाथ से उठाना चाहिये। मुद्रा अपसव्य भाव में की जाती है। शास्त्र की विधियों के अनुसार ही सारा कर्मकाण्ड होना चाहिये। सारी विधियाँ पूरी करने के उपरान्त मांस के साथ मद्य को मन्त्रोच्चारपूर्वक पीना चाहिये ॥६४॥

पिशितं माषमात्रन्तु द्रव्यं चुल्लुकसम्मितम् ।
आत्मदेहत्रयं तत्त्वं त्रयेणाथ विशोधयेत् ॥६५॥

पिशित अर्थात् पक्वमांस एक 'माष' की मात्रा के तौल के बराबर और मद्य एक चुल्लूक मात्र—ये दोनों तत्त्व मुख्य तत्त्व हैं। तीसरा तत्त्व अपना शरीर ही है। ये तीनों गुरु को अर्पित करें। गुरु द्वारा मन्त्रसिद्ध अर्थात् मन्त्रपूत करने के उपरान्त इन तीनों से तत्त्व का विशोधन करना चाहिये। शरीर-शोधन में आय, अस्तित्व और श्रद्धा सबका शोधन हो जाता है। मद्य, मांम और स्वात्म शरीर का अर्पण करने से तत्त्व का शोधन होता है। यह शास्त्रीय मत है ॥६५॥

तरुणोल्लाससहितः प्रसन्नवदनेक्षणः ।
गुरुः शिष्यान् समाहूय दद्यात्तत्त्वत्रयं प्रिये ॥६६॥

तारुण्य के उल्लास अर्थात् जोश के साथ, प्रसन्न रहने के कारण खिली और खुली आँखों तथा शोभासम्पन्न मुखारविन्द से आकर्षक गुरुदेव शिष्यों को एकत्र आवाहित करें। एक जगह बुलाकर उन्हें उक्त तीनों तत्त्व प्रदान करें—१. मद्य, २. मांस और ३. अपना आशीर्वाद प्रदान करने से शिष्य धन्य हो जाता है ॥६६॥

शिष्योपायनमादाय शुद्धात्मा कुसुमादिकम् ।
यथाशक्ति निवेद्याथ वित्तशाठ्यविवर्जितः ॥६७॥

शुद्धात्मा शिष्य अनेक प्रकार के उपायन गुरुदेव को अर्पित करता है। ऐसे भेंट में दिये हुए पूजायोग फल-फूल-द्रव्य आदि जो भी वस्तु होते हैं, उन्हें शिष्योपायन कहते हैं। शुद्धात्मा शिष्य ऐसे उपायनों को लाकर यथाशक्ति शिवरूप गुरु के लिये निवेदित

करता है। इसमें यह निर्देश दिया गया है कि, शिष्य धन सम्बन्धी शाठ्य (शठता-कृपणता कंजूसी) न करे, अर्थात् हृदय खोलकर यथाशक्ति उदारतापूर्वक गुरुदेव के लिये अर्पित करे। अभी वह मण्डप के बाहर से ही यह प्रक्रिया पूरी करे ॥६७॥

प्रणम्य बहिरष्टाङ्गं प्रविश्यान्तः शनैः प्रिये।
समर्प्योपायनं भक्त्या शिवाय गुरुरूपिणे ॥६८॥
ग्रथिताङ्गुष्ठकौ कृत्वा करौ सक्ताग्रतर्जनी।
जानुभ्यामवनिं गत्वा पञ्चाङ्गं प्रणमेद् गुरुम् ॥६९॥

उपायन अर्पित कर शिष्य साष्टांग प्रणाम करे। आठ अंगों से (प्रणति करने पर) भूमि का स्पर्श जिसमें हो जाता है, उसे ही अष्टांग प्रणाम कहते हैं। प्रणाम करने के बाद धीरे-धीरे मण्डप में प्रवेश करे। भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति ! यह शिष्य का अन्तःप्रवेश होता है। अन्तः प्रवेश शब्द में श्रद्धाभाव और हार्दिक्य आदि के रहस्य का ऊहन करना चाहिये। गुरुरूप में प्रत्यक्ष विग्रहधारी शिव को ही ये उपायन अर्पित होते हैं। इस तरह उपायनों को अर्पित कर लेने के उपरान्त अँगूठों को ग्रथित कर तर्जनी सहित अंगुलियों को अग्रसारित कर हाथों को मिलाकर प्रणति मुद्रा बनावें। पुनः घुटनों को भूमि पर टेक लगाकर पंचांग प्रणाम करें। पंचांग प्रणाम में मिले हाथ, घुटने, ललाट, आँखें और वाक् इन पाँचों द्वारा प्रणाम किया जाता है। गुरुदेव को प्रणाम करने की इस तरह दो विधियों का प्रयोग किया जाता है। पहली विधि को अष्टांग और दूसरी विधि को पंचांग प्रणाम विधि कहते हैं। मण्डप के बाहर साष्टांग प्रणाम और अन्दर पंचांग प्रणाम करने की विधि शिष्य को अपनानी चाहिये ॥६८-६९॥

वामाङ्गुष्ठानामिकाभ्यां दक्षहस्तप्रसारितम्।
स्पृष्ट्वा विशुद्धहृदय ईषदानतमस्तकः ॥७०॥

यहाँ ७०, ७१ और ७२ इन तीन श्लोकों द्वारा शिष्य के शोधन की एक प्रक्रिया का चित्रण कर रहे हैं। भगवान् शंकर कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! सर्वप्रथम सद्गुरुदेव अपने वामबाहु के अंगुष्ठ और अनामिका के मेलन से बनने वाली मुद्रा से शिष्य का स्पर्श करें। इस स्पर्श के समय गुरु का शिरोभाग कुछ-कुछ झुका रहना चाहिये। दूसरी एक बात पर भी गुरु को ध्यान देना चाहिये। स्पर्श के समय गुरुदेव का दाहिना हाथ फैला होना चाहिये ॥७०॥

वामाङ्गुष्ठानामिकाभ्यां शिष्याय श्रीगुरुः प्रिये।
प्रकृत्याद्यैः पृथिव्यन्तैश्चतुर्विंशतिभिः प्रिये ॥७१॥
स्वैरशुद्धतत्त्वैश्च वाग्भवेन कुलेश्वरि।
संयुक्तेनात्मतत्त्वेन स्थूलदेहं विशोधयेत् ॥७२॥

बायें अँगूठे और अनामिका से ही श्री गुरुदेव शिव को ऊर्जा से समन्वित करें। ये दोनों अंगुलियाँ शिष्य के लिये अमृततत्त्व उड़ेलती हैं। इसीलिये इन्हीं से स्पर्श का

विधान है। इसके साथ पृथ्वी से प्रकृतिपर्यन्त मालिनी के ट से फ तक २४ अक्षर स्वर सहित आते हैं। इन वर्णों की शक्तियों के २४ नाम भी हैं। इन २४ तत्त्वों के इन अक्षरों के पहले वाग्भव बीज (ऐं) का प्रयोग कर लेना चाहिये। आत्मतत्त्व के साथ जोड़ देने से जो मन्त्र बनता है, उसको बोलकर शिष्य के आत्मतत्त्व का गुरु शोधन करें। मन्त्र इस प्रकार बनेगा—"ऐं टं रं जं भं यं पं षं क्षं छं लं आं सं हं : म श. तं एं ऐं ॐ औं दं फं शिष्यस्य आत्मतत्त्वं शोधयामि नमः स्वाहा।" वस्तुतः तीन तत्त्वों का ही शोधन किया जाता है—१. आत्मतत्त्व (स्थूलदेह), २. विद्यातत्त्व (श्लोक ७३) और ३. शिवतत्त्व (श्लोक ७४)। गुरुदेव ही शिष्य के इन तत्त्वों का शोधन करें, यह शास्त्र का निर्देश है ॥७१-७२॥

मायादिपुरुषान्तैश्च शुद्धाशुद्धैश्च सप्तभिः ।
तत्त्वैः स्पर्शाह्वयैर्वर्णैः कामराजेन मन्त्रवित् ॥
युक्तेन विद्यातत्त्वेन सूक्ष्मदेहं विशोधयेत् ॥७३॥

इस श्लोक में विद्यातत्त्व के शोधन की बात कही गयी है। भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति ! माया से लेकर पुरुषतत्त्व तक ७ अक्षर हैं—"ठं ढं ऊं वं भं यं ञं"। इन सात[1] अक्षरों रूप स्पर्शवर्णों के पहले कामराज बीज (क्लीं) लगाकर विद्यातत्त्वं शोधयामि नमः स्वाहा जोड़कर गुरुदेव शिष्य के सूक्ष्मदेह का शोधन करें। मन्त्र का रूप "क्लीं ठं ढं ऊं वं भं यं ञं शिष्यस्य विद्यातत्त्वं (सूक्ष्मदेहं) शोधयामि नमः स्वाहा" इस प्रकार बनता हैं ॥७३॥

शुद्धैः शिवादिविद्यान्तैः पञ्चतत्त्वैश्च व्यापकैः ।
परया शिवतत्त्वेन परं देहं विशोधयेत् ॥७४॥

शिव से विद्यापर्यन्त पाँच तत्त्व व्यापक तत्त्व माने जाते हैं। इसमें 'ग' से 'न' पर्यन्त १६ वर्ण आते हैं[2]; किन्तु बीजरूप से पराबीज ही लगाते हैं। इसका मन्त्रोद्धार इस प्रकार सम्पन्न होगा—"सौः [पराबीज] शिवादिविद्यान्तैः व्यापकैः शिष्यस्य परदेहरूपं शिवतत्त्वं शोधयामि नमः स्वाहा।" इन मन्त्रों में स्वाहा नहीं भी लगा सकते हैं। इस प्रकार शिष्य के नर, शक्ति और शिव रूपों का शोधन हो जाता है ॥७४॥

षट्त्रिंशत्तत्त्वसहितमालिन्या बालया प्रिये ।
सर्वतत्त्वाश्रयं बीजं सर्वतत्त्वैर्विशोधयेत् ॥७५॥

इसके बाद बाला बीज से षट्त्रिंशत्तत्त्व सहित ह्रीं नफ ह्रीं सर्वतत्त्वाश्रय बीज रूप सभी तत्त्वों का शोधन कर रहा हूँ। यह कहकर व्यापक मुद्रा से सभी तत्त्वों का शोधन करना गुरु का कर्त्तव्य है। मन्त्र इस प्रकार बनेगा—"ऐं क्लीं सौः षट्त्रिंशत्तत्त्वसहितेन 'ह्रीं नफ ह्रीं' मन्त्रेण सर्वतत्त्वाश्रयं सर्वतत्त्वं शोधयामि नमः स्वाहा।" इस मन्त्र से सभी

---

१. मालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्-४:१६
२. तदेव-४:१७

तत्त्वों का विशोधन हो जाता है। शिवभक्त के लिये इनका शोधन अत्यन्त आवश्यक माना जाता है ॥७५॥

शोधयेति पदं दद्यात् सद्वितीयमलिं गुरुः।
चुल्लुकं गुरुणा दत्तं शोधयामीति चोच्चरन्॥
भक्त्या चावनतः शिष्यो निःशब्दं त्रिः पिबेदलिम् ॥७६॥

शिष्य को कारण द्रव्य देने के बाद गुरुदेव उससे 'शोधय' इस आदेश का अनुशंसन करें। चुल्लुक एक मदिरापात्र है, जिसमें चुल्लू भर मद्य अँटता है। उसे प्रसाद रूप में शिष्य को स्वयं गुरु प्रदान करते हैं। चुल्लुक में मदिरा लेकर शिष्य कहे कि, करद्रव्यं शोधयामि। इतना कहकर भक्तिपूर्वक प्रणत शिष्य बिना कुछ दूसरी बात बोले चुपचाप तीन बार आत्मतत्त्व शोधन के लिये, विद्यातत्त्व और शिवतत्त्व शोधन के लिये पहले निर्दिष्ट मन्त्रों का उच्चारण करते हुए पान करे ॥७६॥

पाणिभ्यां संस्पृशेद्देहं सर्वतत्त्वं समुच्चरन्।
शिरःप्रभृतिपादान्तं शुद्धं देहं विचिन्तयेत् ॥७७॥

दोनों हाथों से देह का शिर से पाँव तक पूरी तरह स्पर्श करें। स्पर्श करते हुए 'सर्वतत्त्वानि शोधयामि नमः स्वाहा' इस मन्त्र का उच्चारण करते रहना चाहिये। तत्पश्चात् मानस स्तर पर शुद्ध देह का चिन्तन करना चाहिये, अर्थात् यह सोचना चाहिये कि, अब मैं पूरी तरह शुद्ध हो गया हूँ ॥७७॥

स्थूलान्तमात्मतत्त्वं स्यात् सूक्ष्मं विद्यान्तगोचरम्।
परान्तं शिवतत्त्वं स्यादिति तत्त्वत्रयं जगत् ॥७८॥

इस श्लोक में आत्मतत्त्व, विद्यातत्त्व और शिवतत्त्व के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण कर रहे हैं। इसके अनुसार स्थूल पर्यन्त आत्मतत्त्व माना जाता है। सूक्ष्मसत्ता पर्यन्त विद्यातत्त्व का परिवेश है और परात्मक सत्ता का सम्बन्ध शिवतत्त्व से है। अपने शरीर का सम्बन्ध तीनों प्रकार की स्थितियों और परिवेशों से प्रकृति द्वारा ही समायोजित है। इसलिये तीनों तत्त्वों का शोधन साधक के लिये अनिवार्यतः आवश्यक है ॥७८॥

एवं तत्त्वत्रयज्ञानं गुरोर्ज्ञात्वा य आचरेत्।
स जीवन्नेव मुक्तः स्यादिति शङ्करभाषितम् ॥७९॥

इस तत्त्वत्रय विज्ञान की जानकारी शिष्य को अवश्य होनी चाहिये। इसे सद्गुरुदेव से जान लेना चाहिये। इसके बिना साधना की प्रक्रिया में प्रवेश अधूरा रह जाता है। गुरुदेव द्वारा इस प्रक्रिया की जानकारी और उसके आचरण में संलग्न साधक जीता हुआ ही मुक्त हो जाता है। भगवान् शंकर द्वारा कही गयी यह बात कभी असत्य नहीं हो सकती। अतः प्रत्येक साधक इसे ध्यानपूर्वक अपनाये ॥७९॥

ततः स्वीकृत्य च गुरुः शिष्येभ्यः शेषदो भवेत्।
आदाय गुरुणा दत्तं सद्वितीयासवं पिबेत् ॥८०॥

शिष्यों द्वारा प्रदत्त कारण द्रव्य को गुरु द्वारा स्वीकार कर शेष द्रव्य पुनः शिष्यों को लौटा देना चाहिये। गुरु द्वारा आशीर्वाद रूप प्राप्त उस अमृत तत्त्व को शिष्य द्वितीय द्रव्य (मांस) के साथ उस गुरुप्रदत्त कारण द्रव्य का अवश्य पान करें ॥८०॥

श्रीगुरुज्येष्ठपूज्यानां पुरतः कुलनायिके।
नोपविश्य पिबेन्मद्यम् इति शास्त्रस्य निर्णयः ॥८१॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, कुलमार्ग की सिद्धान्तवादिता की रहस्यमयी स्वामिनी देवि! गुरुदेव, गुरु से भी ज्येष्ठ और अन्य पूज्य व्यक्तियों के समक्ष बैठकर कभी भी मद्य का सेवन नहीं करना चाहिये। यह शास्त्र का निर्णय है। कार्य, अकार्य के निर्णय में शास्त्र ही प्रमाण होते हैं ॥८१॥

प्राणभेदफलोल्लासप्रणामस्थितिलक्षणम्।
अविज्ञायाचरेद् यस्तु स भवेदापदाम्पदम् ॥८२॥

प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान प्राणों का संचार देह को जीवन्त रखता है। इन भेदों का फल शारीरिक उल्लास के रूप में सब अनुभव करते हैं। प्रणाम की स्थिति में इनका ध्यान रखकर ही साष्टांग प्रणाम का विधान किया गया है। इन लक्षणों को जानकर ही गुरुजनों के समक्ष प्रणाम आदि का आचरण करना चाहिये। यह न जान विपरीत भाव के प्रदर्शन से आपत्तियों की सम्भावना रहती है। अतः इससे बचना चाहिये ॥८२॥

निर्मन्त्रं न पिबेन्मद्यं प्रायश्चित्तं विधीयते।
तस्मान्मन्त्रविधानेन कर्तव्यं कुलनायिके ॥८३॥

इसी तरह मद्य ग्रहण करने के आचार भी हैं। जैसे मद्यपान मन्त्रपूर्वक होना चाहिये। इसके विपरीत आचरण से प्रायश्चित्त करना पड़ता है। भगवान् कहते हैं कि, कुलेश्वरि! पार्वति! इसीलिये मन्त्र विधान को पूरा करने के उपरान्त ही मद्यपान में प्रवृत्त होना चाहिये ॥८३॥

इदं पवित्रममृतं पिबामि भवभेषजम्।
पशुपाशसमुच्छेदकारणं भैरवोदितम् ॥८४॥
चित्ते स्वातन्त्र्यसारत्वात्तदानन्दमयात्मनः।
तन्मयत्वाच्च भावानां भावाश्चान्तर्हिता रसे ॥८५॥
सुषुम्नान्तं विकाशाय सुरसस्तेन पीयते।
तस्मादिमां सुरां देवीं पूर्णोऽहं त्वां पिबाम्यहम् ॥८६॥

मन्त्र के सम्बन्ध में ऊपर चर्चा की गयी है। उसी मन्त्र का उल्लेख इस श्लोक में किया जा रहा है। इनके तीन मन्त्र हैं; क्रमशः एक-एक श्लोक में वे व्यक्त हैं—

(१) मैं सांसारिकता रूप रोग को दूर करने वाली इस ओषधि का पान कर रहा हूँ, जो अमृत रूप है और अत्यन्त पवित्र है। यह पशुता प्रदान करने वाले पाशों के समुच्छेद की कारण है। यह तथ्य स्वयं भगवान् भैरव ने व्यक्त किया है ॥८४॥

(२) इसके प्रयोग से सारे भाव रस रूप में परिणत हो जाते हैं। ये सारे भाव तीन प्रकार से इस रूप में परिणत होते हैं —१. चित्त से शैव स्वातन्त्र्य के मूल रहस्य के उद्घाटन के कारण ऐसा सम्भव होता है। २. तदनन्तर वहाँ आनन्दमयता का इतना बढ़ाव होता है कि, आत्मानन्द का साक्षात्कार होने लगता है। ३. सारे भाव आनन्दनिमग्न हो जाते हैं। इन तीन प्रमुख कारणों से सुरा को स्वीकार कर रहा हूँ ॥८५॥

(३) मूलाधार की संकोच-विकास प्रक्रिया के बाद सुषुम्ना के ऊर्ध्वोच्छलन का अन्त नाद में होता है। वहाँ सुषुम्ना का व्यापार बन्द हो जाता है। ऐसे महत्त्वपूर्ण कारण द्रव्य का मेरे द्वारा पान किया जा रहा है। साधक कहता है—उक्त कारणों से यह सुरा हमारे लिये देवीरूप हो जाती है। वह बोल उठता है—हे देवि सुरे ! यद्यपि मैं परमपूर्ण हूँ। अतः पूर्णाहंपरामर्शपूर्ण शिवरूप तुम्हें पी रहा हूँ ॥८६॥

मन्त्रेणानेन देवेशि मूलमन्त्रेण मन्त्रवित्।
अनाकुलमनाः कुर्यादलिपानं शनैः शनैः ॥८७॥

उक्त अर्थों के प्रतिपादक ८४, ८५ और ८६ श्लोक स्वयं मन्त्र स्वरूप हैं। इन तीनों मन्त्रों के संस्कृत श्लोकों को पढ़ने के बाद ही कारण द्रव्य का पान करना चाहिये। इनके साथ मूल मन्त्र का जप भी करना आवश्यक है। मूलमन्त्र गुरुदेव से प्राप्त करना ही उत्तम होता है। इन मन्त्रों के उच्चारण के पश्चात् शान्त चित्त होकर धीरे-धीरे पीते हुए इस द्रव्य का आनन्द लेना चाहिये ॥८७॥

स्वात्ममूलत्रिकोणस्थे कोटिसूर्यसमप्रभे।
कुण्डल्याकृतिचिद्रूपे हुनेद् द्रव्यं समन्त्रकम् ॥८८॥

स्वात्म भाव में अवस्थित शिवरूप साधक को मूलाधार चक्र मध्यवर्ती त्रिकोण में प्रतिष्ठित करोड़ों सूर्य के समान प्रभा से भासमान और कुण्डलिनी के आकार में भासमान चिन्मय की चैतन्य अग्नि में इन मन्त्रों के साथ इस हव्य-द्रव्य का हवन करना चाहिये। इसे मन्त्र रूप में इस प्रकार बोलना चाहिये—

"स्वात्ममूलत्रिकोणस्थे, सूर्यकोटिसमप्रभे, कुण्डल्याकृतिचिद्रूपे इमं कारणद्रव्यं जुहोमि स्वाहा।" इसी मन्त्र को बोलकर हव्य के समान द्रव्य का हवन करना चाहिये ॥८८॥

अहन्तापात्रभरितमिदन्तापरमामृतम्।
पराहन्तामये वह्नौ होमस्वीकारलक्षणम् ॥८९॥

यह द्रव्य 'अहन्ता' रूपी पात्र में भरा हुआ है। यह 'इदन्ता रूप परम अमृततत्त्व' है। मैं इसे पराहन्ता रूप प्रज्वलित अग्नि में होम कर रहा हूँ। इस यज्ञ को मैंने स्वीकार कर लिया है। इसे भी इस तरह मन्त्र बनाकर बोला जा सकता है—

"अहन्तापात्रभरितम् इदन्तापरमामृतं पराहन्तामये वह्नौ जुहोमि स्वाहा।" इस मन्त्र के प्रयोग से यज्ञ की स्वीकृति परिलक्षित होती है ॥८९॥

गुरुदैवतमन्त्राणामैक्यं सञ्चिन्तयेद्धिया।
यावदुल्लासपर्यन्तमुपदेशे पिबेन्मधु ॥९०॥

पीते समय साधक अपनी बुद्धि में इस बात का ध्यान करे कि, गुरुदेव, इष्टदेव और मन्त्र ये तीनों एक रूप हैं। गुरु के उपदेश की दिव्यता में रहते हुए जब तक मद-मयता का उल्लास न होने लगे, अर्थात् कुछ-कुछ नशे का प्रभाव परिलक्षित न होने लगे, तब तक इसका सेवन करते रहना चाहिये, अर्थात् मधु का पान करते रहना चाहिये ॥९०॥

चुल्लनं सिद्धिदं प्रोक्तं दीपो ज्ञानप्रदायकः।
पानात् परपदप्राप्तिः कौले त्रयमितीरितम् ॥९१॥

कारण द्रव्य का पान तीन प्रकार से किया जा सकता है—१. चुल्लन विधि, २. दीपक (सकोरा, चषक आदि) विधि और ३. पात्र (कुल्हड़ या पुरवा आदि) विधि।

१. पहली विधि से अर्थात् दोनों हाथों की अंजलि जोड़कर मुँह से लगा लिया जाय और कोई दूसरा पिलावे। यह विधि समस्त सिद्धियों को प्रदान करती है। २. चषक से पीने पर ज्ञान की प्राप्ति होती है और तीसरी विधि से पान करने पर परमपद की प्राप्ति होती है। कौल समयाचार में ये तीनों विधियाँ अपनायी जाती हैं ॥९१॥

भोजनान्ते विषं मद्यं मद्यान्ते भोजनं विषम्।
अमृतं तद्विजानीयाद् यदन्नं सुरया सह ॥९२॥

भोजन करने के बाद मद्यपान कभी नहीं करना चाहिये। उस समय वह मद्य विष का काम करता है। इसी तरह मद्य पीने के बाद भोजन भी जहर का काम करता है। उसे अमृत की तरह जानना चाहिये, यदि सुरा के साथ अन्न भी लिया जाय, अर्थात् सुरा के साथ-साथ अन्न लेने पर वह सुरा अमृत का काम करती है ॥९२॥

चर्वणेन युतं पानममृतं कथितं प्रिये।
चर्वणेन विना पानं केवलं विषवर्द्धनम् ॥९३॥

इसे और स्पष्ट करते हुए भगवान् शंकर कहते हैं कि, प्रिये पार्वति! चर्वण (चबेना) युक्त सुरापान करना अत्यन्त लाभदायक होता है। इस तरह के पान को अमृत-पान ही कहते हैं। चर्वण के बिना सुरापान शरीर में विष का वर्द्धन करता है, अर्थात् केवल सुरापान करना जहर के समान हानिकारक होता है। कुछ न कुछ खाते हुए ही सुरापान करना चाहिये ॥९३॥

पानञ्च त्रिविधं प्रोक्तं दिव्यवीरपशुक्रमात्।
दिव्यं देव्यग्रतः पानं वीरं मुद्रासने कृतम् ॥९४॥
स्वेच्छया पशुवत्पीतं पशुपानमितीरितम् ॥९५॥

सुरापान को भी तीन भागों में बाँटा गया है—१. दिव्य सुरापान, २. वीर सुरापान और ३. पशु सुरापान। दिव्य सुरापान आराध्य को अर्पित कर उसके समक्ष ही प्रसाद रूप से पीना माना जाता है। मुद्राबद्ध स्थिति में आसन पर बैठकर वीर भाव में समाविष्ट होकर सुरापान करने को वीर सुरापान कहते हैं। इनके अतिरिक्त स्वेच्छा से अपनी अनियन्त्रित आदत से मजबूर होकर जानवर की तरह बोतल की बोतल चढ़ाते जाना पशुभाव का सुरापान माना जाता है। ऐसा करना शास्त्रविरुद्ध माना जाता है ॥९४-९५॥

भुक्तिमुक्तिप्रदं दिव्यं वीरं भुक्तिप्रदं भवेत्।
पशुपानं नरकदं प्रोक्तं पानफलं प्रिये ॥९६॥

दिव्य सुरापान से भुक्ति और मुक्ति रूप उभयप्रकारक फल प्राप्त होता है। वीर भाव में सुरापान करना भुक्तिप्रद माना जाता है, किन्तु पशुभाव में पशुता के आवेश में स्वैर भाव में पान करना नारकीय फल देने वाला माना जाता है। भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! यह तीसरी विधि नितान्त हेय है ॥९६॥

दृष्टिमानसवाक्काये यावन्नो भवति भ्रमः।
तावत् पानं प्रकुर्वीत पशुपानमतः परम् ॥९७॥

पीने का एक सामान्य नियम होता है। इसके अनुसार सुरापान की भी एक सीमा बाँध दी गयी है। इसके अनुसार दृष्टि में, मन में, वाणी और शरीर में चक्कर के लक्षण आने के पहले ही पीना बन्द कर देना चाहिये। अर्थात् शरीर में दृष्टि, मन, वाक् और काय में किसी प्रकार के विकार के आने से पहले ही पीना बन्द कर देना चाहिये। इससे अधिक अर्थात् उक्त अंगों के चक्कर आदि वैकारिक लक्षणों से युक्त होने के उपरान्त भी पीते जाना पशुपान के अन्तर्गत ही माना जा सकता है ॥९७॥

यावन्नेन्द्रियवैकल्यं यावन्नो मुखवैकृतम्।
तावदेव पिबेन्मद्यमन्यथा पतनं भवेत् ॥९८॥

जब तक इन्द्रियों में किसी प्रकार की कोई विकृति न होने लगे, अर्थात् जब तक इन्द्रियाँ अपनी स्वाभाविक दशा में ही रहें, तभी तक पीना उचित है। इसी तरह मुख में किसी प्रकार की विकृति न दिखायी दे, तभी तक मद्य पीना उचित है। इसके विपरीत मनुष्य का पतन हो जाता है ॥९८॥

पूर्णाभिषेकयुक्तानां पानं देवि निगद्यते।
कराभ्यां पात्रमुद्धृत्य स्मरेन्मूलञ्च पादुकाम् ॥
आगलान्तं पिबेद्द्रव्यं स मुक्तो नात्र संशयः ॥९९॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! वास्तविकता यह है और शास्त्रों में भी यही प्रतिपादित है कि, सुरापान का वही अधिकारी है, जिसका पूर्णाभिषेक हो चुका है। पूर्णाभिषेक दीक्षा की अन्तिम प्रक्रिया है। इसको पार कर लेने के बाद ही व्यक्ति सुरापान कर सकता है।

दोनों हाथों से मदिरापात्र (चषक आदि) उठाकर साधक सर्वप्रथम मूलमन्त्र (गुरुमन्त्र या इष्टमन्त्र) और गुरुपादुका मन्त्र आराध्या पादुका मन्त्रों का स्मरण करे। इस तरह सुरा और साधक दोनों में दिव्यता आ जाती है। तत्पश्चात् उतना ही मद्य पिये, जिसकी डकार गले तक आकर मुक्त्यानन्दप्रदायिनी सिद्ध हो ॥९९॥

पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत् पतति भूतले।
उत्थाय च पुनः पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥१००॥

पशुपान का एक विकृत चित्र प्रस्तुत कर रहे हैं, जिसमें मद्यपों के प्रति मन में एक प्रकार की विरसता उत्पन्न हो जाती है। वह चित्र इस प्रकार है—

पिये और पीता ही जाय, फिर पिये और बार-बार पीता ही रहे। तब तक पिये, जब तक कि, कीड़ों से बजबजाती नालियों में औंधे मुँह गिर न जाय। मूर्खता की पराकाष्ठा और बेहोशी में जमीन न पकड़ ले। होश में आकर लड़खड़ते हुए उठकर पुन: पिये कि, फेफड़े भी काम करना बन्द कर दें। एक तरह की यह ऐसी बेहोशी की मौत हो कि सारे जन्म-जन्मान्तर के सब झगड़े ही समाप्त हो जाँय। अब पुनर्जन्म की कौन बात करे ? ॥१००॥

आनन्दात्तृप्यते देवी मूर्च्छया भैरवः स्वयम्।
वमनात् सर्वदेवाश्च तस्मात्त्रिविधमाचरेत् ॥१०१॥

यह और इस प्रकार के कुछ श्लोक 'अति' के उस स्तर की बात करते हैं कि, ये क्षेपक लगते हैं। एक तरफ ९७-९९ वें श्लोक और दूसरी तरफ मूर्च्छा से भैरव के प्रसन्न होने की बात बड़ी बेतुकी लगती है। श्लोक के अनुसार भगवान् शंकर कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! सुरापान की मत्तता के आनन्द से अर्थात् घने नशे की आनन्दमयी अनुभूति से देवी तृप्त होती हैं। जब शराबी पीकर मूर्च्छित हो जाता है, तो स्वयं भैरवदेव भी प्रसन्न हो जाते हैं। जब शराबी उल्टी करने लगता है, तो शराब के देवता प्रसन्न हो जाते हैं ॥१०१॥

दिव्यपानरतानां वै यत् सुखं कुलयोगिनाम्।
तत् सुखं सार्वभौमस्य नृपस्यापि न विद्यते ॥१०२॥

जो साधक दिव्यपान करते हैं, उनका सुख आध्यात्मिक सुख माना जाता है। कुलाचार में अधिकारी योगसम्पन्न व्यक्तियों को यही सुख आनन्दित करता है। ऐसा सुख सार्वभौम सम्राट् के लिये भी दुर्लभ है; क्योंकि वह मूलमन्त्र आदि से वंचित रहता है और उसे इस प्रकार की दिव्यता नहीं मिल पाती ॥१०२॥

यत् सुखं कुलनिष्ठानां कुलद्रव्यनिषेवनात् ।
तत् सौख्यमेव मोक्षः स्यात् सत्यमेव वरानने ॥१०३॥

कुलद्रव्य के निषेवन से कुलाचारनिष्ठ साधक को जो सुख प्राप्त होता है, वह सुख का भाव ही 'मोक्ष' है, यह निश्चय है। हे सुमुखि ! शिवे ! मेरा कथन नितान्त सत्य है। इसमें सन्देह को अवकाश नहीं ॥१०३॥

इति ते कथितं किञ्चिद् वटुशक्त्यादिपूजनम् ।
समासेन कुलेशानि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥१०४॥

भगवान् शंकर कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! इस पटल में मैंने तुमसे संक्षेप में बटुकपूजन, शक्ति-पूजन आदि सन्दर्भों के साथ अन्य प्रासंगिक तथ्यों के सम्बन्ध में कुछ कहा है। अर्थात् तुमको सम्बोधित कर तुम्हें सुनाया है।

तुम बताओ, आगे क्या सुनने की समीहा है ? क्या सुनना चाहती हो ? तुम कुलेश्वरी हो। तुम्हारी इच्छा की पूर्त्ति के लिये मैं तत्पर हूँ ॥१०४॥

सर्वागमोत्तमोत्तम महारहस्यमय ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकुलार्णवतन्त्रान्तर्गत डॉ. परमहंस-मिश्रविरचित नीर-क्षीर-विवेक-भाषाभाष्यसंवलित 'बटुकशक्त्यादिपूजन' नामक सप्तम उल्लास परिपूर्ण ॥७॥

॥ शुभं भूयात् ॥

○

अष्टम उल्लासः

श्रीदेव्युवाच

कुलेश श्रोतुमिच्छामि करुणामृतवारिधे।
उल्लासभेदं देवेश द्रव्यपात्रादिसङ्गमम् ॥१॥
रत्युद्वासनकालञ्च श्रीचक्रस्थितिमेव च।
चेष्टां कौलिकशक्तीनां वद मे परमेश्वर ॥२॥

श्रीविद्या की साक्षात् प्रतीक, दिव्यशक्तिसम्पन्न देवी पार्वती ने तादात्म्य भाव से अवस्थित भगवान् शंकर से वाक्तत्त्व को स्पन्द के माध्यम से स्फुरित कर अपनी जिज्ञासाओं को इस प्रकार व्यक्त किया—

करुणारूपी अमृत के महासागर हे कुलेश्वर ! आप स्वयं देवेश्वर भी हैं और विश्व के परमेश्वर हैं। भगवन् ! आपसे कोई रहस्य छिपा नहीं है। मैं आपसे यह प्रार्थना कर रही हूँ कि, आप मुझे 'उल्लास' के भेद-प्रभेद के विषय में सुनाने की कृपा करें। आपसे हमें द्रव्य और पात्र के सम्बन्ध में भी सुनने की इच्छा है। इसके साथ ही साथ भगवन् ! 'रति' 'उद्वासन' का समय, चक्रों की स्थितियाँ और कौलिक शक्तियों की चेष्टा के स्वरूप के सम्बन्ध में भी आपसे सुनना चाहती हूँ। कृपा कर इन बातों के रहस्य समझाकर अनुगृहीत करें ॥१-२॥

ईश्वर उवाच

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
तस्य श्रवणमात्रेण जायते दिव्यभावना ॥३॥

भगवान् शिव ने पार्वती के प्रश्नों का उत्तर देना प्रारम्भ किया—देवि ! कुलेश्वरि ! तुम जो कुछ भी सुनना चाहती हो, मैं सुनाने जा रहा हूँ। तुम ध्यानपूर्वक इसे सुनो। इन तथ्यों के श्रवणमात्र से दिव्य भावना की उत्पत्ति होती है ॥३॥

आरम्भस्तरुणश्चैव यौवनं प्रौढमेव च।
तदन्तश्चोन्मनाश्चैव ततोल्लासश्च सप्तमः ॥४॥

देवि ! सर्वप्रथम मैं तुम्हें 'उल्लास' के सम्बन्ध में बता रहा हूँ। 'उल्लास' सात प्रकार का होता है—१. आरम्भ, २. तरुण, ३. यौवन, ४. प्रौढ, ५. प्रौढान्त, ६. उन्मना और ७. उन्मनान्तोल्लास। इन सातों के क्रम से जीवन व्यापार सम्पन्न होता है ॥४॥

तत्त्वत्रयं स्यादारम्भः कथितः कुलनायिके।
कथितस्तरुणोल्लासस्तरुणं सुखमम्बिके ॥५॥

भगवान् कह रहे हैं कि, कुलेश्वरि पार्वति ! उल्लास का प्रथम भेद, जिसे आरम्भ कहते हैं, वह तीन कालतत्त्वों में घटित होता है—१. पिण्ड, २. शिशु (शैशव) और ३. कौमार। जहाँ तक दूसरे तरुणोल्लास का प्रश्न है, यह यौवन की पूर्वावस्था होती है, जिसमें तारुण्य की सुखानुभूति विश्व में आकर्षण उत्पन्न करती है ॥५॥

यौवनं मनसः सम्यगुल्लासः सुस्थितिः प्रिये।
स्खलनं दृङ्मनोवाचां प्रौढमित्यभिधीयते ॥६॥

'यौवन' वह अवस्था है, जिसमें मानसिकता सन्तुलित हो जाती है। सोचने-विचारने में स्थिरता का सम्पुट रहता है। इसे मनःस्थिति प्रथा कहते हैं। प्रिये पार्वति ! जहाँ तक 'प्रौढ' अवस्था का प्रश्न है, उसमें दृष्टि, मानसिकता और वाणी इन तीनों का स्खलन प्रारम्भ हो जाता है ॥६॥

समुल्लासपरे चक्रे य इच्छेत् पात्रमेलनम्।
अर्वाक् प्रौढसमुल्लासं नैव कुर्यात् कदाचन॥
यथाधिकारं तत्रापि कर्त्तव्यं पात्रमेलनम् ॥७॥

इसके बाद प्रौढान्तोल्लास का वर्णन श्लोक ५६, 'उन्मना' का वर्णन श्लोक ८१ और उन्मनोल्लास का वर्णन श्लोक ८३ में किया गया है। यहाँ द्रव्य और पात्र आदि के मेलन के सम्बन्ध में बतला रहे हैं—

समुल्लासपरक चक्रसाधना में दक्ष साधक पुरुष यदि कुलाचारानुकूल पात्रमेलन की भी इच्छा रखता है, तो उसे प्रौढ समुल्लास के पहले कभी भी ऐसा नहीं करना चाहिये। पात्रमेलन प्रक्रिया भी अधिकार के उपरान्त ही सम्पन्न की जाती है। गुरु द्वारा प्राप्ताधिकार समुल्लासी ही पात्रमेलन की प्रक्रिया अपनाये। यही शास्त्र की आज्ञा है ॥७॥

अदीक्षितैरनाचारैरतन्त्रज्ञैरदैवतैः।
दूषकैः समयभ्रष्टैर्न कुर्याद् द्रव्यसङ्गतिम् ॥८॥

पात्रमेलन की प्रक्रिया को द्रव्यसंगति भी कहते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि इस प्रक्रिया में प्रवेश के लिये दीक्षित होना आवश्यक है। जो दीक्षित नहीं है, जो कुलाचार से अनभिज्ञ है और फलस्वरूप अनाचार से ग्रस्त है, वह पात्रमेलन नहीं कर सकता। इसी तरह तन्त्रशास्त्रों के कुछ मान्य रहस्य, सिद्धान्त होते हैं। इन्हें जानने वाले को ही तन्त्रज्ञ कहते हैं। इसके विपरीत जो अतन्त्रज्ञ होते हैं, वे भी पात्रसंगति प्रक्रिया की पद्धति के अयोग्य होते हैं। देवशक्तियों के अस्तित्व को न मानने वाले, दूसरों के दूषण दिखाकर दुष्प्रचाररत और समयाचार पालन की स्तरीयता से भ्रष्ट लोग भी पात्रसंगति के अधिकारी नहीं होते ॥८॥

अभिज्ञं मन्यमानैश्च प्रपञ्चव्रतधारिभिः।
पशुभिः क्षुद्रकर्मस्थैर्न कुर्याद् द्रव्यसङ्गतिम् ॥९॥

इसी क्रम में वे लोग भी आते हैं, जो मिथ्या अभिमान से ग्रस्त होते हैं और वस्तुतः न जानते हुए भी जानकार होने की मिथ्या मान्यता से ग्रस्त होते हैं। ऐसे लोग जो प्रपंच का आश्रय लेकर व्रती होने का ढोङ रचते हैं। जो सभी पाशों से ग्रस्त होने के कारण पशुतुल्य जीवन जी रहे हैं और नीचकर्म में निरत होते हैं, ऐसे लोगों के साथ द्रव्यपात्रमेलन नहीं करना चाहिये ॥९॥

स्त्रीद्विष्टैर्गुरुभिः शप्तैर्भक्तिहीनैर्दुरात्मभिः।
कुलोपदेशहीनैश्च न कुर्याद् द्रव्यसङ्गतिम् ॥१०॥

१. स्त्रीमात्र से द्वेष करने वाले, २. गुरुजनों द्वारा अभिशप्त, ३. भक्ति से रहित, ४. दुरात्मा लोग और ५. कुलाचार के उपदेश से हीन व्यक्तियों के साथ कभी भी द्रव्य-मेलन नहीं होना चाहिए। इस श्लोक में जिन पाँच प्रकार के लोगों की चर्चा है, ऐसे व्यक्ति समाज के लिये भी बोझ बन जाते हैं। इनसे सदा बचना चाहिये ॥१०॥

पदवाक्यप्रमाणज्ञाः श्रुतिस्मृत्यर्थवेदिनः।
कुलधर्मानभिज्ञाश्चेत्तत्सङ्गं परिवर्जयेत् ॥११॥

पद और वाक्य के विशारद वैयाकरण और प्रमाण विद्या के विशारद नैयायिक विद्वान् होते हैं। समाज में ये आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। इसी तरह श्रुति विद्या के जानकार श्रौत वैदिक आचार्य, स्मृतिविद्या के विशारद स्मार्त्त धर्मशास्त्री होते हैं। ये श्रुतियों और स्मृतियों में वर्णित रहस्यार्थ के तत्त्ववेत्ता माने जाते हैं; किन्तु यदि ऐसे तत्त्वार्थविद् व्यक्ति भी कुलधर्मों के अनभिज्ञ हों, तो उनके साथ द्रव्यसंगति निषिद्ध है ॥११॥

सत्कुले च प्रसूता वा वृद्धाश्चाचारवर्त्तिनः।
त्वत्पूजाविमुखाः स्युश्चेत्तत्संसर्गं परित्यजेत् ॥१२॥

संसर्ग परित्याग एक वैज्ञानिक तथ्य पर निर्भर करता है। व्यक्ति भले ही बहुत बड़ा हो, उसमें अध्यात्म और सृष्टि के मूल रहस्य को समझने की प्रवृत्तिपूर्ण आस्था होनी ही चाहिये। जो इससे विमुख होता है, वह संसर्ग के अयोग्य माना जाता है। इसी तथ्य को भगवान् शंकर इन शब्दों में व्यक्त कर रहे हैं। उनके अनुसार भले सद्वंश में कोई उत्पन्न हो, वृद्ध हो और आधार का पालन भी करता हो; किन्तु देवि पार्वति! यदि तुम्हारी पूजा से अर्थात् विनम्र तादात्म्य भाव से पराङ्मुख है, तो वह निश्चित रूप से परित्याज्य है, उसका संसर्ग नहीं होना चाहिये ॥१२॥

स्त्रीपुत्रमित्रबन्धूनां स्निग्धानामपि पार्वति।
कुलाचारानभिज्ञानां सङ्गतिं वर्जयेत्प्रिये ॥१३॥

भगवान् इस तथ्य पर जोर देकर कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति! कुलाचार से अनभिज्ञ पुरुष की संगति सर्वथा परित्याज्य है। उसका वर्जन अनिवार्यतः आवश्यक है। भले ही ऐसे लोग आत्मीयतापूर्ण स्त्री, पुत्र, मित्र, बन्धु और अत्यन्त स्निग्ध सम्बन्धों से भी ग्राह्य लगें, सर्वथा बहिष्करणीय और त्याज्य हैं ॥१३॥

अदृष्टपौरुषाणाञ्च देशान्तरनिवासिनाम् ।
विना सङ्केतयोगेन न कुर्याद् द्रव्यसङ्गतिम् ॥१४॥

देशान्तरों में निवास करने वाले लोग, जिनके पुरुषार्थ के सम्बन्ध में कोई ज्ञान न हो, अपना संस्कार न हो, से भी द्रव्यसंगति नहीं होनी चाहिये। हाँ, जब किसी प्रकार के संकेत के माध्यम मिलें और उन सूत्रों से उसकी एतत्सम्बन्धी गति का पता चल जाय, तो उससे द्रव्यसंगति की जा सकती है ॥१४॥

एकपात्रं न कुर्वीत यदि साक्षात् कुलेश्वरः ।
मन्त्राः पराङ्मुखा यान्ति विघ्नश्चैव पदे पदे ॥१५॥

कारणद्रव्य को कभी एकपात्रगत व्यवहार का साधन नहीं बनाना चाहिये। अर्थात् एकपात्रद्वारक पान नहीं करना चाहिये। भले ही कुलेश्वर ही क्यों न उपस्थित हो जाँय। इससे मन्त्र पराङ्मुख हो जाते हैं और पदे पदे विघ्न उपस्थित होने लगते हैं ॥१५॥

स्वपात्रस्थितहेतुञ्च न दद्याद्भैरवाय च ।
यदि दद्यात्कुलेशानि देवताशापमाप्नुयात् ॥१६॥

अपने पात्र में रखे हेतुद्रव्य को साक्षाद् भैरव को भी नहीं देना चाहिये। भगवान् कहते हैं कि, कुलेश्वरि ! ऐसा करने पर देवताओं का शाप प्राप्त होता है। अर्थात् शरीरस्थ देववर्ग हेतुद्रव्य का स्वयं के प्रेय और श्रेय के लिये प्रयोग करने का पक्षधर होता है ॥१६॥

आसनं भोजनं पात्रमम्बरं शयनादिकम् ।
अनभिज्ञैरनर्हैश्च सङ्गमं नैव कारयेत् ॥१७॥

आसन, भोजन, पात्र, वस्त्र (परिधानीय) और शयनार्थ प्रयुक्त विस्तर आदि का प्रयोग अनजान व्यक्तियों के द्वारा कभी न किया जा सके, इसका ध्यान रखना चाहिये। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देना आवश्यक है कि, अयोग्य व्यक्ति भी ऐसा न कर सकें ॥१७॥

स्रोतोभेदेन वा कुर्यात्कौलिकः पात्रमेलनम् ।
पूर्वदक्षिणयोरैक्यमुदक्पश्चिमयोस्तथा ॥१८॥

इस प्रक्रिया में एक और मुख्य दृष्टि से विचार करना चाहिये। हेतु द्रव्य के व्यवहार के समय आम्नाय के स्रोतों का पता लगा लेना आवश्यक है। यदि अपने गुरु द्वारा स्वीकृत अपना ही स्रोत हो और एक ही स्रोत में दीक्षित शिष्य या साधक हो, तो उसके साथ पात्रमेलन किया जा सकता है। यह कौलिक का कर्त्तव्य है और शास्त्र में प्रतिपादित है। इस प्रक्रिया में पूर्वाम्नाय और दक्षिणाम्नाय के स्रोतोभेद के रहने के बावजूद मेलन स्वीकार्य है। इसी प्रकार से उत्तर-पश्चिम के स्रोतसैक्य में भी पात्रमेलन किया जा सकता है ॥१८॥

तस्मिन् क्रमार्चनपरैर्वीरैः स्वसदृशैरपि ।
कामिनीभिश्च तत्कुर्यात् स्त्रोतसाञ्च चतुष्टये ॥१९॥

इसी तरह इन चार प्रकार के स्त्रोतोभेद के सन्दर्भ में शास्त्र यह निर्णय करता है कि, कुलाचार की अर्चना में लगे 'वीर' साधक अपने समान साधना में लगे लोगों से जो समान स्त्रोतों वाले हों, भले ही वे पुरुष हों या कामिनियाँ हों, सबसे पात्रमेलन किया जा सकता है ॥१९॥

योगिभिर्योगिनीभिश्च प्रदत्तं पूर्णपात्रकम् ।
स्वमातृपादुकामूलमन्त्रजप्तं पिबेत्प्रिये ॥२०॥

योगियों या योगिनियों द्वारा प्रदत्त पूर्णपात्र में भरे कारण-द्रव्य का पान अपनी आराध्या की पादुका के निर्धारित मूलमन्त्र का 'पाठ' 'जप' करते हुए करना चाहिये ॥२०॥

क्वचिद् यदृच्छया प्राप्तमलिपात्रन्तु भक्तितः ।
आदाय पूर्ववज्जप्त्वा पिबेद्देवि गुरुं स्मरन् ॥२१॥

कहीं हों, यदि 'अलिपात्र' (चषक) प्राप्त हो जाय, यह एक शुभलक्षण माना जाता है। उसे भक्तिपूर्वक प्रणाम करना चाहिये। उसे लेकर उसका सदुपयोग करना चाहिये अर्थात् उससे कारण-द्रव्य स्वीकार करना चाहिये। पूर्ववत् पादुका मूलमन्त्र जप करने के उपरान्त द्रव्य पदार्थ पीना—यह शास्त्र का उद्देश्य और उपदेश, आदेश है। पीने के साथ ही साथ गुरुदेव का स्मरण भी करना उचित है ॥२१॥

गुरुशक्तिसुतानाञ्च गुरुज्येष्ठकनिष्ठयोः ।
स्वज्येष्ठस्यापि चोच्छिष्टं खादेन्नान्यस्य पार्वति ॥२२॥

गुरु एक तत्त्व है। इस पद पर प्रतिष्ठित व्यक्ति का समादर देवताओं से भी बढ़कर करने का उपदेश शास्त्र करता है। गुरु, उनकी शक्ति (पत्नी), उनके आत्मज (पुत्र), गुरुदेव के ज्येष्ठ और कनिष्ठ भाई और अपने ज्येष्ठ पुरुष भाई आदि लोगों का उच्छिष्ट भोजन करना विहित माना जाता है। पहले गुरुतत्त्व का प्रतिपादन करने के उपरान्त भगवान् शिव अन्त में कहते हैं कि, पार्वति ! इनके अतिरिक्त किसी का उच्छिष्ट नहीं ग्रहण करना चाहिये ॥२२॥

शक्त्युच्छिष्टं पिबेद् द्रव्यं वीरोच्छिष्टञ्च चर्वणम् ।
आत्मोच्छिष्टं न दातव्यं परकीयं न भक्षयेत् ॥२३॥

शक्ति का उच्छिष्ट द्रव्य पान करना चाहिये। वीर साधकों द्वारा उच्छिष्ट चर्वण (चबेना) ग्रहण करना विहित है। पर यह ध्यान रखना चाहिये कि, अपना उच्छिष्ट कभी किसी को प्रदान न करें। इसके अतिरिक्त यह ध्यान रखना चाहिये कि, परकीय किसी व्यक्ति का उच्छिष्ट कभी भी ग्रहण न करें ॥२३॥

उच्छिष्टं भक्षयेत् स्त्रीणां ताभ्यो नोच्छिष्टमर्पयेत् ।
चक्रमध्येऽपि देवेशि अन्यथा पतनं भवेत् ॥२४॥

स्त्रीवर्ग का उच्छिष्ट ग्रहण किया जा सकता है । हाँ अपना उच्छिष्ट उन्हें कभी नहीं देना चाहिये । यही सिद्धान्त चक्र में स्थित रहने पर भी अपनाना चाहिये । इसके न मानने पर कुलमार्ग से पतन सम्भव है ॥२४॥

कनिष्ठानां स्वशिष्याणां दद्यादुच्छिष्टमम्बिके ।
दद्यात् स्नेहेन योऽन्येभ्यः स भवेदापदाम्पदम् ॥२५॥

अपने कनिष्ठ शिष्यों को अपना उच्छिष्ट प्रसाद दे सकता है । भगवान् कहते हैं कि, प्रिये अम्बिके ! यदि स्नेह से भावित होकर किन्हीं दूसरे को अपना उच्छिष्ट प्रदान करता है, तो इसे अच्छा नहीं माना जाता । इससे उसे विपत्ति का सामना करना पड़ता है ॥२५॥

आसवोच्छिष्टपात्रन्तु यो वा गृह्णाति मोहतः ।
स्नेहाल्लोभाद् भयाद्वापि देवताशापमाप्नुयात् ॥२६॥

आसव पी लेने के उपरान्त पात्र उच्छिष्ट हो जाता है । ऐसे पात्रों को जो व्यक्ति मोहवश, स्नेहवश, लोभ के वशीभूत होकर अथवा भयभीत होकर भी ग्रहण करता है, वह देवता का अर्थात् आराध्य देव का शाप प्राप्त करता है ॥२६॥

प्रौढोल्लासे कुलेशानि कुर्याद्बलिविसर्जनम् ।
पूजागृहाद्बहिः कुर्यात्त्रिकोणे तु गृहान्तरे ॥२७॥

जहाँ तक प्रौढ उल्लास का प्रश्न है, हे कुलेश्वरि ! बलि का विसर्जन करना चाहिये । बलि के विसर्जन के स्थान के सम्बन्ध में भगवान् कहते हैं कि, यह पूजागृह के बाहर अथवा त्रिकोण में अथवा दूसरे घर (गृहान्तर) में होना चाहिये ॥२७॥

गन्धपुष्पाक्षतैः पूज्य ध्यायेदुच्छिष्टभैरवम् ।
गदात्रिशूलडमरुपात्रहस्तं त्रिलोचनम् ॥
कृष्णाभं भैरवं ध्यायेत् सर्वविघ्ननिवारणम् ॥२८॥

बलि विसर्जन के द्रव्य के रूप में गन्ध, फूल और अक्षत आदि से पहले उच्छिष्ट भैरव की पूजा करनी चाहिये । पूजा के बाद उनका ध्यान भी आवश्यक है । भैरव के उस रूप का वर्णन कर रहे हैं, जिसका ध्यान करना चाहिये । उच्छिष्ट भैरव के एक हाथ में 'गदा', दूसरे हाथ में त्रिशूल, तीसरे हाथ में डमरू और चौथे हाथ में द्रव्य पात्र का प्रकल्पन करना चाहिये । उनके तीन नेत्र हैं । उन्हें त्रिलोचन कहते हैं । उनके कृष्णवर्ण की आभा में बड़ा ही आकर्षण है । विशेषताओं से विशिष्ट भैरव भक्त के सारे विघ्नों का विनाश करते हैं । इसी रूप में उनका ध्यान करना चाहिये ॥२८॥

तारत्रयं समुच्चार्य पश्चादुच्छिष्टभैरवम् ।
एहियुग्मं बलिं गृह्णयुग्मं फट् च द्विठान्तकः ॥२९॥

उच्छिष्ट भैरव को बलि अर्पित करने का विशिष्ट मन्त्र शास्त्र में निर्धारित है। इसका उद्धार इस प्रकार किया जाता है। सर्वप्रथम तीन तार अर्थात् तीन ॐकार बोलना चाहिये। पुनः उच्छिष्टभैरव, पुनः दो बार एहि शब्द, पुनः बलिं गृह्ण गृह्ण, पुनः फट् बोलकर दो बार 'ठः' बोलना चाहिये। पूरा मन्त्र बनता है—

'ॐ ॐ ॐ उच्छिष्टभैरव ! एहि एहि बलिं गृह्ण गृह्ण फट् ठः ठः' ॥२९॥

बल्युद्वासनमन्त्रोऽयं द्वाविंशतिभिरक्षरैः ।
शान्तिस्तवं पठेत्पश्चात्तर्पयेदलिबिन्दुभिः ॥३०॥

इसे बलि के उद्वासन का मन्त्र कहते हैं। इसमें २२ अक्षर होते हैं। मन्त्रोच्चार के साथ उच्छिष्टभैरव को बलि अर्पित करना चाहिये। बलि के उपरान्त शान्ति मन्त्र का पाठ करना चाहिये। इसके उपरान्त अलिबिन्दुओं से उच्छिष्टभैरव का तर्पण करना चाहिये ॥३०॥

शान्तिस्तवः

यजन्ति देव्यो हरपादपङ्कजम्
प्रसन्नधामामृतमोक्षदायकम् ।
अनन्तसिद्धान्तमयप्रबोधकं
नमामि चाष्टाष्टकयोगिनीगणम् ॥३१॥

भगवान् शंकर की एक संज्ञा 'हर' अत्यन्त पावन मानी जाती है। 'हर हर महादेव' का उद्घोष भारतीयता के गौरव का ही उद्घोष है। उनके चरणकमलों की पूजा में दिव्यशक्तिसम्पन्न देवियाँ सर्वदा संलग्न रहती हैं। उनके चरणकमल प्रसन्नता और हर्ष के परमधाम हैं। वे शाश्वत रूप से अमरत्व और मोक्ष प्रदान करते हैं। वे अनन्त 'विष्णु' या शाश्वत सिद्धान्तों से समन्वित स्वबोध के उद्बोधक हैं, अर्थात् इन चरणों की सेवा में संलग्न रहने से भक्त साधक स्वबोधसिद्ध हो जाता है। ऐसे पदारविन्द के प्रति मैं अपनी प्रणति अर्पित कर रहा हूँ। साथ ही भगवान् की चरणसेवा में लगी रहने वाली अष्टाष्टक अर्थात् ६४ योगिनियों को भी प्रणाम कर रहा हूँ। जीवन की परमशान्ति के लिये, प्रसन्नता और अमृतमोक्ष के लिये तथा सत्य सिद्धान्तों के साथ ही स्वबोधसिद्धि के लिये भगवान् के चरणवन्दन की ही आवश्यकता है ॥३१॥

योगिनीचक्रमध्यस्थं मातृमण्डलवेष्टितम् ।
नमामि शिरसा नाथं भैरवं भैरवीप्रियम् ॥३२॥

इस श्लोक द्वारा भगवान् भैरव को साष्टांग प्रणाम अर्पित कर रहे हैं। भगवान् भैरवयोगिनी मण्डल के मध्य में विराजमान रहते हैं। ऐसे ब्राह्मी आदि अष्ट मातृकाओं से घिरे रहने वाले भैरवीप्रिय भगवान् भैरव को मैं प्रणाम अर्पित कर रहा हूँ ॥३२॥

अनादिघोरसंसारध्वान्तैकध्वंसकारिणे ।
नमः श्रीनाथवैद्याय कुलौषधिविधायिने ॥३३॥

अनादिकाल से चले आ रहे इस दारुण संसार में अज्ञानरूप ध्वान्त अर्थात् अन्धकार व्याप्त है। इसे ध्वंस करने में एकमात्र समर्थ भगवान् श्रीविद्या के अधिपति भूतनाथ ही हैं। ये विशिष्ट वैद्य हैं। इन्होंने प्रसिद्ध कुलौषधि का प्रवर्त्तन विधान किया है। इससे परमकल्याण होता है। ऐसे रहस्यविद् वैद्य को बारम्बार प्रणाम ॥३३॥

आपदो दुरितं रोगाः समयाचारलङ्घनात् ।
ये ते सर्वे व्यपोहन्तु दिव्यचक्रस्य मेलनात् ॥३४॥

समयाचार के उल्लंघन से अनेक प्रकार के रोग, अनेक प्रकार के पाप और अनेक प्रकार की विपत्तियाँ आती हैं। इन सबका व्यपोहन अर्थात् सर्वनाश दिव्य चक्र के मेलन से हो जाता है ॥३४॥

आयुरारोग्यमैश्वर्य्यं कीर्त्तिर्लाभः सुखं जयः ।
कान्तिर्मनोहरा चास्तु पान्तु सर्वाश्च देवताः ॥३५॥

सभी देवता हमारी रक्षा करें। उनकी कृपा से भक्तों के आयुष्य का वर्द्धन हो। जीवन में आरोग्य का वरदान प्राप्त हो, ऐश्वर्य की वृद्धि हो, कीर्त्तिपताका आकाश में फहर उठे, हर एक व्यापार में लाभ ही लाभ हो, सुख और जय की प्राप्ति हो और मनोहर कान्ति प्राप्त हो ॥३५॥

सम्पूजकानां प्रतिपालकानां
यतीन्द्रयोगीन्द्रतपोधनानाम् ।
देशस्य राष्ट्रस्य कुलस्य राज्ञः
करोतु शान्तिं भगवान् कुलेशः ॥३६॥

राष्ट्र के उत्कर्ष और सभी दृष्टियों से अग्रणी होने की कामना करते हुए भक्त कुलेश्वर की प्रार्थना कर रहा है। वह कहता है—भगवन् ! इस राष्ट्र की सर्वतोमुखी उन्नति की प्रार्थना मैं कर रहा हूँ। यहाँ इस देश में विविध प्रकार से अर्चना में लीन 'संपूजक' हैं, राष्ट्र के पालन में रत प्रतिपालक हैं, अध्यात्म को आत्मसात् करने वाले यतीन्द्र, साधक-शिरोमणि योगीन्द्र हैं, तपोधन तपस्वी हैं, इसी से राष्ट्र की संस्कृति का संवर्धन होता है। भगवन् ! इस देश, इस राष्ट्र और राजकुल में भी सार्वत्रिक शान्ति के साम्राज्य का विस्तार हो। यह सब आप कुलेश्वर की कृपा से ही सम्भव है। अतः आप ऐसी ही कृपा करें ॥३६॥

नन्दन्तु साधककुलाद्व्यदर्शका ये
सिंहासनाद्युषितशाक्तमहान्वया ये ।
नन्दन्तु सर्वकुलकौलरताः परे ये
चान्ये विशेषपदभेदकशाम्भवा ये ॥३७॥

साधकों के सम्प्रदाय-भेद से विविध कुलाचार भले हों; किन्तु इनमें एक अद्वय भाव का ही पारस्परिक सम्बन्ध होता है। कुलमार्ग में उपासना भी अद्वय भाव की ही की जाती है। इस प्रकार से कुलाद्वयदर्शन के समर्थक लोग साधना में संलग्न कौलों की व्यापक एकता को अवश्य अनुभव करते हैं। ऐसे लोगों का अभिनन्दन इस श्लोक में है। 'नन्दन्तु' क्रिया उनके आनन्दपूर्ण जीवन की कामना में निहित है।

इसी तरह माण्डलिक रूप से मण्डलेश्वररूप से प्रतिष्ठा प्राप्त जो व्यक्ति सिंहासनों पर आसीन होने के सौभाग्य के पात्र हैं और शाक्त भाव के व्यापक अन्वय (वंश या परम्परा) के पोषक हैं, उनका भी अभिनन्दन है। वे जीवन में अद्वय आनन्द का शाश्वत अनुभव करें।

इसके अतिरिक्त सभी कुलों में कौल दर्शन के उत्कर्ष में रत जो कौल प्रचार-प्रसार में लगे हैं, उनको भी माता महाकाली आनन्द प्रदान करें।

इसके अतिरिक्त विशेषरूप से पदवाद के क्रम में भेदात्मक सामग्रीवाद की एकता में जो शाम्भव दृष्टि से उपासना करते हैं, उनके जीवन में भी आनन्द की वर्षा हो ॥३७॥

नन्दन्तु सिद्धगुरवस्तदनुक्रमज्ञा
ज्येष्ठान्वया समयिनो वटुकाः कुमार्यः।
ये योगिनीप्रवरवीरकुले प्रसूता
नन्दन्तु भूमिपतिगोद्विजसाधुलोकाः ॥३८॥

कुलमत के सिद्ध गुरुवर्य, गुरुक्रम के विशेषज्ञ, उनकी सम्प्रदाय परम्परा में ज्येष्ठ गुरुस्तरीय पुरुष, समयाचार में संलग्न साधक, बटुक, कुमारियाँ, योगिनीवर्ग की साधना के कारण उत्कृष्ट 'वीर' साधक, राजन्य वर्ग, गोवर्ग, द्विजवर्ग और परोपकार में लगे उदात्त विचार के सभी लोग आनन्द प्राप्त करें ॥३८॥

नन्दन्तु नीतिनिपुणा निरवद्यनिष्ठा
निर्मत्सरा निरुपमा निरुपद्रवाश्च।
नित्यं निरञ्जनरता गुरवो निरीहाः
शान्ताश्च शान्तमनसो हतशोकशङ्काः ॥३९॥

अत्यन्त प्रौढ भाव से विशुद्ध निष्ठासम्पन्न नीति-निपुण लोग नित्य अभिनन्दनीय होते हैं। वे सर्वदा निर्विघ्न भाव से आनन्द का अनुभव करते हुए समाज में सुनीति और न्याय की व्यवस्था करें।

जिनके मन में मत्सर भाव का लेशमात्र नहीं होता, ऐसे लोग निर्मत्सर कहलाते हैं। ये छोटे-बड़े सबको आगे बढ़ाने में लगे रहते हैं। कुछ ऐसे भी सामाजिक लोग होते हैं, जो नित्य अनुपमेय होते हैं। समाज में उपद्रवों के निवारण में आजीवन लगे समाजसेवी लोगों का भी जीवन में बड़ा महत्त्व होता है। भगवान् इन्हें सदा आनन्द-मंगलमय रखें।

ऐसे गुरुवर्य, जो नितान्त निरीह और निःस्पृह होते हैं, सदा निरञ्जन के अनुचिन्तन में रत रहते हैं, ऐसे शान्त और प्रशान्तमना गुरुवर्यवर्ग सभी प्रकार के शोक और चिन्ताओं से मुक्त होकर आनन्द का अनुभव करें ॥३९॥

नन्दन्तु योगनिरताः कुलयोगयुक्ता
ह्याचार्यसामयिकसाधकपुत्रकाश्च ।
गावो द्विजा युवतयो यतयः कुमार्य्यो
धर्मे चरन्तु निरता गुरुभक्तलोकाः ॥४०॥

अनवरत योगसाधना में निरत रहने वाले, कुलमार्ग के विशिष्ट यौगिक प्रक्रियाओं के आधार, आचार्य लोग, समयाचारसाधक और पुत्रकदीक्षा में दीक्षित लोग, गायें, द्विज, युवतियाँ, यतिवर्ग, कुमारियाँ ये सभी अपने धर्म के आचरण में लगे रहें, गुरुभक्ति से संयुक्त लोग भी अनुशासित और मर्यादापालन में लगे रहें ॥४०॥

नन्दन्तु साधककुला ह्यलमात्मनिष्ठाः
शापाः पतन्तु समयद्विषि योगिनीनाम् ।
सा शाम्भवी स्फुरतु कापि ममाप्यवस्था
यस्यां गुरोश्चरणपङ्कजमेव सत्यम् ॥४१॥

साधककुल का सदा अभिनन्दन हो, वे सदा प्रसन्न रहें। सब तरह से आत्मनिष्ठ लोग प्रसन्न रहें। समयाचार में द्वेषबुद्धि रखने वाले लोगों को योगिनी वर्ग ने रुष्ट होकर जो शाप दिया है, उसका अपनोदन हो जाय। जीवन में चैतन्य का चमत्कार भर देने वाली आश्चर्यमयी शाम्भवी दशा साधकों में सरलता से स्फुरित हो। इस अवस्था में गुरु के चरणारविन्द के प्रपद में प्रतिष्ठित तैजसी का सत्य ही सर्वस्व बन जाता है ॥४१॥

याश्चक्रक्रमभूमिकावसतयो नाडीषु याः संस्थिता
याः कायोद्गतरोमकूपनिलया याः संस्थिता धातुषु ।
उच्छ्वासोर्मिमरुत्तरङ्गनिलया निश्वासवासाश्च या-
स्ता देव्यो रिपुपक्षभक्षणरता नन्दन्तु कौलार्चिताः ॥४२॥

यह श्लोक कौलमार्ग की उच्चार साधनारूप क्रियायोग की साधना का महत्त्वपूर्ण चित्र उपस्थित करता है। शरीर में शक्तिरूप देवी के व्यापकत्व के बावजूद कुछ विशिष्ट बिन्दु होते हैं। जहाँ शाक्त स्फुरण का अनुभव साधक को होता रहता है। उनका क्रमिक चित्रण इस प्रकार है। सबको यह प्रक्रिया अपनानी चाहिये। इससे साधना में चमत्कार घटित होता है—

(१) चक्रसाधना में क्रम से एक-एक चक्र का भेदन कर मूलाधार से उन्मना तक की योगयात्रा साधक करता है। प्रत्येक चक्र की वृत्ताकार वर्णात्मक पुष्पिकायें शक्तियों की आवास-भूमि बन जाती हैं। ये ही 'वसतियाँ' मानी जाती हैं।

(२) उच्चार का क्रम इडा, पिंगला और सुषुम्ना नामक तीन प्रधान नाड़ियों से चलता है। इनमें जब प्राणयात्रा होती है, तो वहाँ भी शाक्त उल्लास की अनुभूति होती है। वही देवी की वसति बन जाती है।

(३) पूरे शरीर में रोमराजियाँ उद्‌गत हैं। ये जहाँ से निकलती हैं, उन्हें रोमकूप कहते हैं। जब पूरे शरीर में सोमतत्त्व से स्रवित सुधा को शरीर के अणु-अणुकणों में भरने की क्रिया योगी करता है, तो ये रोमकूप भी योगिनियों के निलय रूप में अनुभूत होते हैं।

(४) अस्थि, मज्जा, मांस आदि धातुओं से ही शरीर की संरचना होती है। इनकी प्रत्येक की शक्तियाँ होती हैं, जिनका अनुभव योगी को होता है।

(५) उच्छ्वास की अवस्था में जब वायु की सवारी कर अपान के साथ प्रधान-रूप से प्राणमरुत् बाहर चितिकेन्द्र या आमावस्य केन्द्र में बाहर जाने के लिये निकलता है, उस समय उन्मेष ऊर्मि बन जाता है। वे ऊर्मियाँ तरंगवत् स्पन्दित रहती हैं। ये तरंग भी शक्तिस्पन्द की भूमियाँ हैं।

(६) इसी तरह भीतर आने वाली श्वासों में भी तिथि-नित्याओं की भूमियाँ होती हैं, जो प्रतिपदा से पूर्णिमा तक चलने पर अनुभूत होती हैं। ये शाक्त भूमि मानी जाती हैं। ये सारी शक्ति मृत्युरूपी रिपुपक्ष को भक्षित करती रहती हैं। अन्यथा श्वास निकलते ही आदमी मर जाय। कौल साधक साधना में अवस्थित होकर इनके ऐक्य में रमता हुआ तादात्म्यभाव का अद्वय अर्चन करता है। ये सभी योगिनी शक्तियाँ आनन्दमय रहकर व्यष्टि पुष्टि से समष्टि को मंगलमय बनावें ॥४२॥

या देव्यः कुलसम्भवाः क्षितिगता या देवतास्तोयगा
या नित्यं प्रथितप्रभाः शिखिगता या मातरिश्वालयाः ।
या व्योमाहितमण्डलामृतमया याः सर्वगाः सर्वदा-
स्ताः सर्वाः कुलमार्गपालनपराः शान्तिं प्रयच्छन्तु मे ॥४३॥

इस श्लोक द्वारा विश्वभाव के साथ तादात्म्य की अनुभूति का भावन किया गया है। यह सत्य सिद्धान्त है कि, शाक्तसत्ता और उसकी स्फुरत्ता से सारा विश्व अनुप्राणित है। वह सत्ता समानरूप प्रकृति में भी व्याप्त है। शाक्त सत्ता पृथक्-पृथक् तत्त्वों में पृथक्-पृथक् रूप से रहकर उन्हें रूपायित करती है। इसका अनुभव सब को नहीं होता। केवल कौल साधकों को होता है। इसीलिये उन शक्तियों को 'कुलसम्भवाः' कहते हैं। इसी क्रम में जब शक्ति गन्ध और धृति का आश्रय करती है, तो वह क्षितिगता रूप से व्यक्त अनुभूत होती है। द्रवत्वयोग में वे 'तोयगा' कहलाती हैं। अग्निगत होकर 'प्रथितप्रभा' मानी जाती हैं। वायुगत होकर 'मातरिश्वालया' कहलाती हैं। आकाश-योगिनी शक्तियाँ 'अमृतमया' मानी जाती हैं। सर्वभाव में ये 'सर्वगा' हैं, शाश्वत हैं। ये सभी कुलमार्ग की अद्वय भावना की रक्षा करती हैं। ये सबको शान्ति प्रदान करें ॥४३॥

ऊद्ध्वें ब्रह्माण्डतो वा दिवि गगनतले भूतले वा तले वा
पाताले वानले वा सलिलपवनयोर्यत्र कुत्र स्थिता वा।
क्षेत्रे पीठोपपीठादिषु च कृतपदा धूपदीपादिकेन
प्रीता देव्यः सदा नः शुभबलिविधिना पान्तु वीरेन्द्रवन्द्याः ॥४४॥

आप ब्रह्माण्ड के विस्तार का प्रकल्पन करें। यदि इस प्रकल्पित अनन्त विराट् विस्तार का भी ऊर्ध्व होता हो, तो उसमें भी ये वीरेन्द्र साधकों से भी वन्दनीय देवियाँ व्याप्त हैं। हम उन्हें भी बलि प्रदान करते हैं। वे हमारी रक्षा करें। वे द्युलोक, स्वर्ग, महाकाश मण्डल, भूतल, भूतल का भी तल प्रदेश, पाताल, वायु, अग्नि और जल आदि जहाँ कहीं भी व्याप्त हैं, वे क्षेत्रों, पीठों, उपपीठों, जहाँ कभी भी अपनी सत्ता में कृतास्पदा हैं, उन्हें मैं धूप आघ्रापित कर रहा हूँ, उन्हें दीप दिखा रहा हूँ। वे हमारी इस सामान्य पूजा से भी प्रसन्न होकर हमारी रक्षा करें ॥४४॥

ब्रह्मा श्रीः शेषदुर्गागुहवटुकगणा भैरवाः क्षेत्रपाद्या
वेतालादित्यरुद्रग्रहवसुमनुसिद्धाप्सरोगुह्यकाद्याः ।
भूता गन्धर्वविद्याधरऋषिपितृयक्षासुराः किन्नराद्या
योगीशाश्चारणाः किम्पुरुषमुनिवराश्चक्रगाः पान्तु सर्वे ॥४५॥

विश्वविधाता ब्रह्मा, सर्वसौन्दर्यसत्तामयी 'श्री' लक्ष्मी, शेष, दुर्गा, गुह, बटुक, भैरव, क्षेत्रपाल, वेताल, आदित्य, रुद्र, ग्रह, अष्टवसु, मनु, सिद्ध, अप्सरावर्ग, गुह्यक आदि भूत, गन्धर्व, विद्याधर, ऋषिवर्ग, पितरवर्ग, यक्ष और असुर, किन्नर आदि, योगीश, चारण, किंपुरुष, मुनिवर्य जो भी हों, हमारे इस कुलचक्र में सब का स्वागत है, अभिनन्दन है। ये सभी सबकी सदा रक्षा करें ॥४५॥

देहस्थाखिलदेवता गजमुखाः क्षेत्राधिपा भैरवा
योगिन्यो वटुकाश्च यक्षपितरो भूताः पिशाचा ग्रहाः ।
अन्ये भूचरखेचरा दिशिचरा वेतालकाश्चेटका-
स्तृप्यन्तां कुलपत्रकस्य पिबतः पानं सदीपञ्चरुम् ॥४६॥

त्रिकदर्शन[1] और कुलदर्शन दोनों में देहस्थ देवताओं के अर्चन का अनन्यतम महत्त्व है। इन देवताओं की विविध आकृतियों के अनुदर्शन ऋषितुल्य साधकों को हो चुके हैं। इसी आधार पर यहाँ उनके आकार का भी वर्णन है। उनमें से कुछ के हाथी के समान मुख होते हैं। उन्हें गजमुख कहते हैं। कुछ आंगिक क्षेत्र की रक्षा के लिये नियुक्त रहते हैं। उन्हें क्षेत्राधिप कहते हैं। ये भैरव रूप ही होते हैं। इनमें योगिनियाँ, बटुक, यक्ष, पितर, भूत, पिशाच, ग्रह, अन्य देवशक्तियाँ भूचरी, कुछ खेचरी, कुछ सर्वदिक्चर होते हैं, वेताल और चेटक आदि सबंको सम्बोधित करते हुए कह रहे हैं कि, देवों ! आप सभी यहाँ कुलपुत्र के आपानक स्थल पर सदीप चरु को स्वीकार करें और तृप्त हो जाँय ॥४६॥

---

१. श्रीतन्त्रालोक, भाग ८, पृ. ५१०; भाग ५, १५।२८४, २८५।

सत्यञ्चेद् गुरुवाक्यमेव पितरौ देवाश्च चेद् योगिनी
प्रीता चेत् परदेवता यदि भवेद्वेदाः प्रमाणं हि चेत् ।
शाक्तेयं यदि दर्शनं भवति चेदाज्ञाप्यमोघापि चेत्
सत्यञ्चापि च कौलधर्मपरमं स्यान्मे जयः सर्वदा ॥४७॥

यदि गुरुदेव के वाक्य सत्य हैं, यदि देव, पितर, योगिनीवर्ग प्रसन्न हैं, यदि परा आराध्या शक्ति मुझ पर प्रसन्न है, यदि वेदों की प्रामाणिकता की बात सत्य है, यदि यह शाक्त दर्शन सत्य, मौलिक और प्रामाणिक है और यदि कुलेश्वर शिव की आज्ञा भी सत्य और अमोघ है तथा यह कुलधर्म सर्वोत्कृष्ट है, तो इनका ही प्रमाण मानकर धर्माचरण में प्रवृत्त होने वाले मुझ कौल की सदा विजय हो, जय हो ॥४७॥

नन्दन्तु साधकाः सर्वे नश्यन्तु कुलदूषकाः ।
अन्तःस्था शाम्भवी मेऽस्तु प्रसन्नोऽस्तु गुरुः सदा ॥४८॥

सभी साधक साधना में संलग्न रहते हुए आनन्द का अनुभव करें । इस कुलमार्ग को दूषित करने में प्रवृत्त कुलदूषकों का सर्वनाश हो । आराध्या 'शाम्भवी' आन्तर अन्तराल में शाश्वतरूप से विराजमान रहे । मेरे पूज्य गुरुवर्य मेरे ऊपर सदा प्रसन्न रहें ॥४८॥

यद्येषा भैरवी देवी यदि भैरवशासनम् ।
यद्येष कुलधर्मः स्यात्तदा नश्यन्तु दूषकाः ॥४९॥

भैरवी देवी स्वयं भैरव शक्ति सम्पन्न होती हैं । यह शत्रुनाश में शश्वत् समर्थ हैं । भैरव शासन स्वयं भैरवीभाव से सम्पन्न होता है और इन्हीं के अनुशासन में चलने वाला यह कुलधर्म भी है । ऐसी दशा में इसकी भैरवता से इसके दूषक निश्चितरूप से नष्ट हो जाँय ॥४९॥

यासामाज्ञाप्रभावेण स्थापितं भुवनत्रयम् ।
नमस्ताभ्यः समस्ताभ्यो योगिनीभ्यो निरन्तरम् ॥५०॥

जिनकी आज्ञा और अनुशासन से यह सारा त्रिभुवन स्थापित है और इसकी पूरी व्यवस्था हो रही है, उन समस्त योगिनी-महाशक्तियों को मेरी विनम्र प्रणति सातत्यरूप से अर्पित हो, अर्थात् मैं उनको श्रद्धापूर्वक प्रणाम कर रहा हूँ ॥५०॥

पिबन्तु मातरः सर्वाः पिबन्तु कुलसत्तमाः ।
पिबन्तु भैरवाः सर्वे मम देहे व्यवस्थिताः ॥५१॥

मेरा शरीर अष्टमातृकाओं का आवास है । इसमें कुलसत्तम अर्थात् पूज्य पितर भी किसी न किसी तरह सम्बन्धित रहते हैं । भैरव का तो प्रत्यक्ष शरीर ही होता है । मेरे देह में अवस्थित ये सभी मेरे कुलद्रव्य पान के साथ श्रद्धापूर्वक अर्पित इसका पान कर प्रसन्न हों ॥५१॥

तृप्यन्तु मातरः सर्वाः समुद्राः सगणाधिपाः।
योगिन्यः क्षेत्रपालाश्च मम देहे व्यवस्थिताः ॥५२॥

आदरणीय मातायें तृप्ति का अनुभव करें। इसी क्रम में सारे समुद्र जो सारी पृथ्वी को तृप्त करते हैं, स्वयं भी तृप्त हो जाँय। समुद्रों के साथ ही गणाधिपति गणेश की तृप्ति के लिये भी प्रार्थना करता हूँ। मेरे शरीर में ही अवस्थित सभी योगिनियाँ और क्षेत्रपाल भी तृप्ति का अनुभव करें ॥५२॥

शिवाद्यवनिपर्यन्तं ब्रह्मादिस्तम्बसंयुतम्।
कालाग्न्यादिशिवान्तञ्च जगद् यज्ञेन तृप्यतु ॥५३॥

यह सारा विश्व ३६ तत्त्वों से समन्वित है। यह शरीर और जगत् षट्त्रिंशत्तत्त्वमय ही है। इसे शिव से पृथ्वी तक के तत्त्वों के रूप में सारे शास्त्र प्रतिपादित करते हैं। यह सारा विश्व-विस्तार ब्रह्मादि स्तम्बों से संयुक्त है। ब्रह्मस्तम्ब अनन्त ब्रह्माण्डमण्डल अर्थ में ही प्रयुक्त है। कालाग्निरुद्र भूमण्डल के रुद्र हैं। भूमण्डल से लेकर शिवपर्यन्त समग्र जगत् मेरे द्वारा सम्पन्न कुलयज्ञ से तृप्त हो जाय ॥५३॥

द्वारस्था मणिमण्डपस्य परितः श्रीनन्दने कानने
शून्यागारविहारकन्दरमठे व्योम्नि श्मशाने स्थिताः।
कूपस्थानगताश्चतुष्पथगताः सन्देशसंस्थाश्च ये
पङ्कार्थावहकेतुमानकुसुमाद् गृह्णन्तु ते पान्तु च ॥५४॥

विभिन्न स्थानों में विविध रूपों में विराजमान देवी शक्तियों को अपनी श्रद्धासुमनावली अर्पित करते हुए कुलमार्ग साधक कह रहा है—

१. मणिद्वीप में निर्मित मणिमण्डप के द्वार पर नियुक्त योगिनी शक्तियाँ हमारी श्रद्धास्पदा हैं।

२. मणिद्वीप में चारों ओर नन्दन कानन का विस्तार शास्त्रों में प्रतिपादित है। वहाँ भी देवी शक्तियाँ विराजमान हैं।

३. मणिद्वीप के शून्यागारविहारकन्दर मठ में भी महादेवी की सेवा में योगिनी शक्तियाँ सन्निरत हैं।

४. आकाश की रिक्त अवकाश शून्यता में,

५. श्मशान की मृतात्मा मण्डली की व्यवस्था में,

६. समस्त कूप समुदाय, जहाँ से वरुण की वारुणी का क्षरण होता है,

७. चतुष्पथों (चौराहों) की चक्राकारिता की आन्तरिकता में शान्ति के लिये तथा

८. शास्त्रीय सन्देशों में सम्प्रेषित प्रक्रिया के वागर्थ विकास को नियन्त्रित करने के लिये विधाता की ओर से अदृश्य शक्तियाँ काम कर रही हैं। कुलसाधक सब के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करता है।

पंक कीचड़ या कलुष असद्वृत्तियों को भी कहते हैं। यही पंकार्थ है। उससे

आरोह प्राप्त करने वाले (केतु) ध्वज के समान कुसुम रूप में कमल खिलते हैं और कमल के समान मकरन्दभरे वाक्य कुसुम भी खिलते हैं। साधक कहता है कि, उक्त देवियाँ हमारे ये प्रार्थना वाक्य कुसुम ग्रहण करें और प्रसन्न हो जाँय। ये सदा मेरी रक्षा भी करें ॥५४॥

पठित्वाभ्यर्चनापात्रं समुद्धृत्य गुरुः प्रिये।
ततो दद्यात् स्वशिष्याय प्रसादं कुलनायिके ॥५५॥

श्लोक ३१ से ५४ तक को 'शान्तिस्तव' की संज्ञा प्रदान की गयी है। इनके पढ़ने से और नियमित पाठ करने से जीवन में सर्वत्र शान्ति रहती है। भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, प्रिये! कुलेश्वरि पार्वति! गुरु का यह कर्त्तव्य है कि, सर्वप्रथम इस 'शान्तिस्तव' का पाठ करें। तत्पश्चात् अभ्यर्चना पात्र को उठाकर उसमें से प्रसादरूप अपने शिष्यों को वितरित करें। यह पूजा में प्रयुक्त पावन द्रव्य प्रसाद रूप में ही ग्रहण योग्य माना जाता है ॥५५॥

स्वाभीष्टचेष्टाचरणं प्रौढान्तः परिकीर्त्तितः।
प्रौढान्तोल्लासिताद्देवि मुदिते योगिमण्डले।
योगिनीमण्डले चैव क्रमादानन्दमुच्यते ॥५६॥

उक्त वर्णन प्रौढान्त अवस्था का वर्णन है। इससे भी बड़ी दो अवस्थायें होती हैं, जिनका वर्णन आगे किया जाना है। इस प्रौढान्तोल्लास में कुलमार्गी साधक और उनकी दूती रूप साधिकायें स्वाभीष्ट आचरण करने का अधिकार प्राप्त कर लेती हैं। (यह स्वैराचरण सामाजिक उत्कर्ष की दृष्टि नहीं है। पश्चिमी सभ्यता में पले मँहगे क्लबों के मेम्बर इसी स्वैर आचरण के आनन्द के आदी हो गये हैं। उनका यह आनन्द प्रौढान्तोल्लास के सदृश है। श्लोक ६६ से ८० तक के श्लोकों में इस स्वैराचरण का चित्र दिया गया है।)

भगवान् शंकर कहते हैं कि, देवि! प्रौढान्तोल्लास के आवेश से कुलमार्गी योगी अत्यन्त प्रसन्न और आनन्दित हो जाते हैं। साथ ही उनकी सहयोगिनी योगिनियों के भी आनन्द का पारावार नहीं होता। उमड़ते हुए आनन्दप्रवाह में निर्बाध बह जाने का विलक्षण सुख भौतिक सुख को अतिक्रान्त कर जाता है ॥५६॥

तदारूढेषु वीरेषु कार्याकार्यं न विद्यते।
इच्छैव शास्त्रसम्पत्तिरित्याज्ञा परमेश्वरि ॥५७॥

प्रौढान्तोल्लास में वीर साधकों के लिये कार्य-अकार्य रूप विधि-निषेध की कोई मर्यादा नहीं रहती है। उनकी इच्छा ही शास्त्र बन जाती है। इसको बुरा इसलिये नहीं माना जाता; क्योंकि कौलशास्त्री ही इसकी आज्ञा देते हैं ॥५७॥

तत्र यद् यत् कृतं कर्म शुभं वा यदि वाऽशुभम्।
तत्सर्वं देवताप्रीत्यै जायते सुरसुन्दरि ॥५८॥

भगवान् शंकर कहते हैं कि, हे परमैश्वर्यसम्पन्ने देववन्दनीये पार्वति ! उस अवस्था में वहाँ जो भी शुभ या अशुभ कर्म किये जाते हैं, वे सभी देवताओं की प्रीति के लिये ही होते हैं। उनमें शुभाशुभ भाव का सर्वथा अभाव होता है ॥५८॥

जल्पो जपफलं तन्द्रा समाधिरभिजायते ।
विक्रिया पूजनं देवि उदितं भैरवीबलिः ॥५९॥
मुक्तिः स्याच्छक्तिसंयोगः स्तोत्रं तत्कालभाषितम् ।
न्यासोऽवयवसंस्पर्शो भोजनं हवनक्रिया ॥६०॥

उसमें किये गये जल्प जप का फल प्रदान करते हैं। उसमें आने वाली तन्द्रा समाधि मानी जाती है। उस दशा में उत्पन्न कामुकतामयी विक्रिया पूजा सदृश होती है। उदित अर्थात् नशे में बड़बड़ाना भैरवी बलि के सदृश, शक्ति योगिनी के साथ संभोग संयोग मुक्ति, संभोगभाव में प्रेमालाप स्तोत्र, उनके आलिंगन में अवयवों का संस्पर्श न्यास के समान और उस समय जो कुछ खाया जाता है, वह हवन क्रिया मानी जाती है ॥५९-६०॥

वीक्षणं ध्यानमीशानि शयनं वन्दनं भवेत् ।
तदुल्लासे कृता नाना या चेष्टा सा च सत्क्रिया ।
कार्याकार्यविचारन्तु यः करोति स पातकी ॥६१॥

योगिनियों का अंग-प्रत्यंग दर्शन ध्यान, एक साथ मिलकर शयन ही वन्दन, इस उल्लास की मदहोशी में किये गये व्यापार व सारे कार्य देवता के प्रति की गयी सत्क्रिया माने जाते हैं। इस उल्लास में क्या करणीय और क्या अकरणीय, इसका विचार नहीं होता। जो ऐसे विचार से ग्रस्त होता है, उसे 'पातकी' कहते हैं ॥६१॥

एतच्चक्रगता वीरा विज्ञेयाः परयोगिनः ।
येनाप्नुवन्ति मनुजाः साक्षाद्भैरवरूपताम् ॥६२॥

इस प्रौढान्तोल्लास के सहचार को चक्र कहते हैं। (आधुनिक (क्लब) ऐसे ही चक्र हैं) इस चक्र में आने वाले योगी 'वीर' कहलाते हैं। भगवान् कहते हैं कि, ऐसे वीरों को परमयोगी की संज्ञा से विभूषित किया जा सकता है। इस अवस्था में आने वाले मानव साक्षाद् भैरवरूप ही हो जाते हैं। यह उस उल्लास की बहुत बड़ी उपलब्धि है ॥६२॥

सम्मोदः परमानन्दः पतनं ज्ञानवर्द्धनम् ।
वेणुवीणादिवाद्यञ्च कवितारचनादिकम् ॥६३॥
रोदनं भाषणं पातः समुत्थानं विजृम्भणम् ।
गमनं विक्रिया देवि योग इत्यभिधीयते ॥६४॥

इस अवस्था का आनन्द-मोद 'परमानन्द' माना जाता है। नशे में गिर जाना ज्ञान की वर्धमान दशा है। मदहोशी की इस दशा में वेणुवादन, वीणा आदि वादन, कविता

या अन्य रचना का व्यापार, रोना, भाषण या प्रवचन करने लगना, गिर जाना, उठना, लुढ़कना, विजृम्भा में मुँह बाना, इधर-उधर चलने लगना या अन्य किसी प्रकार की विक्रिया का प्रवर्त्तन दोष नहीं होता। कुलाचार में इसे 'योग' कहते हैं ॥६३-६४॥

चक्रेऽस्मिन् योगिनो वीरा योगिन्यो मदमन्थराः ।
समाचरन्ति देवेशि यथोल्लासं मनोगतम् ॥६५॥

इस आपानकमय उल्लास चक्र में कुलयोगी और कौल योगिनियाँ मदमत्त होकर मन्थर गति वाली हो जाती हैं। भगवान् कहते हैं कि, देवि पार्वति ! ये दोनों उल्लास-प्रक्रिया से प्रभावित स्वैर मनोगत इच्छानुसार मनमाना आचार अपना लेते हैं ॥६५॥

शनैः पृच्छन्ति पार्श्वस्थान् विस्मृत्यात्मविवक्षितम् ।
निधाय वदने पात्रं निर्विण्णा निवसन्ति च ॥६६॥

बेहोशी कहें या मदहोशी कहें, उस आनन्दवैक्लव्य में वे व्यक्तिगत वैयक्तिक पहचान खो बैठते हैं। चाहे योगी हो या योगिनी, पास में पड़े मदहोश से ही धीरे से यह भी पूछते देखे जाते हैं कि, हम कहाँ हैं ? तुम कौन हो ? वे अपनी बात जो पूछनी थी, उसे भूल कर कुछ उल्टा ही पूछने लगते हैं। उनके मुख में सटा रिक्त चषक उन्हें दुःखी कर जाता है और इसी परानन्दावस्था में वे निवास करते हैं ॥६६॥

मत्ता स्वपुरुषं मत्वा कान्तान्यमवलम्बते ।
तथैव पुरुषश्चापि प्रौढान्तोल्लाससंयुतः ॥६७॥
पुरुषः पुरुषं मोहादालिङ्गत्यनाङ्गनाम् ।

मदमत्त योगिनी दूसरे कुलयोगी को अपना ही पुरुष मान लेती है। उसी का आलम्बन लेकर आनन्दविह्वल हो उठती है। इसी प्रकार पुरुष योगी दूसरी कुलयोगिनी को अपनी पत्नी मानकर उसके साथ पत्नी का व्यवहार करता है। बेहोश पुरुष पुरुष को भी अंगना समझकर अंगनावत् व्यवहारलिप्त हो जाते हैं। यह सब प्रौढान्तोल्लास अवस्था का ही चमत्कार होता है ॥६७॥

पृच्छति स्वपतिं मुग्धा कस्त्वं काहम् इमे च के ॥६८॥
किं कार्यं वयमायाताः किमर्थमिह संस्थिताः ।
उद्यानं किमिदं हन्त गृहं किं प्राङ्गणं किमु ॥६९॥

कोई योगिनी मदहोशी में अपने पति से पूछ बैठती है, 'तुम कौन हो ?' 'मैं कौन हूँ ?' 'ये सभी जो यहाँ पड़े हैं, ये कौन हैं ?' 'हम सब यहाँ किस उद्देश्य से एकत्रित हुए हैं ?' 'यहाँ किस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये उपस्थित हैं ?' 'यह स्थान क्या कोई उद्यान है ?' 'यह घर है तो किसका है ?' 'या अन्य किसी का प्रांगण है क्या यह ?' इन प्रश्नों में उसका पागलपन नहीं, मात्र कुलद्रव्य पान करने का आनन्दविह्वल भाव होता है ॥६८-६९॥

मुखे आपूर्य मदिरां पाययन्ति स्त्रियः प्रियान्।
उपदंशं मुखे क्षिप्त्वा निक्षिपन्ति प्रियानने ॥७०॥

मुख में मदिरा भरकर योगिनी स्त्रियाँ अपने प्रिय को मुख से ही पिला रही हैं। यह आत्मीयता की पराकाष्ठा में ऐक्य का उदाहरण है। उपदंश मदिरापान के साथ लिये जाने वाले भोज्य पदार्थ को कहते हैं। प्रिय कुलयोगी भी मुख में चबेना द्रव्य लेकर प्रिया योगिनियों के मुख में डालकर प्रीतिवर्द्धन कर रहे हैं ॥७०॥

गृह्णन्त्यन्योन्यपात्राणि व्यञ्जनानि च शाम्भवि।
धृत्वा शिरसि नृत्यन्ति मद्यभाण्डानि योगिनः ॥७१॥

मद के आधिक्य में योगिनी नायिकायें अन्य-अन्य के मदिरापात्र लेकर और उनके साथ खाद्यरूप में लिये जाने वाले व्यंजनों को लेकर कभी तो स्वयं उपयोग करती हैं और कभी उन पात्रों को शिर पर धारण कर नर्त्तन करने लगती हैं। कभी योगी कौलिक पूरा मद्यभाण्ड ही शिर पर लेकर नाचने लग जाते हैं ॥७१॥

अज्ञानकरतालान्तमस्पष्टाक्षरगीतकम्।
प्रस्खलत्पदविन्यासं नृत्यन्ति कुलशक्तयः ॥७२॥

बजाती तो वे करताल हैं, पर मदहोशी में उनका अज्ञान ही प्रकट होता है। वाद्य बेसुरा हो जाता है। राग पर घटता ही नहीं। वे गीत भी गाने लगती हैं; किन्तु उच्चारित अक्षर स्पष्ट नहीं हो पाते और एक अलौकिक आनन्द ही उभर आता है। नाचने में उनके पदविन्यास विशृंखलित हो उठते हैं। ऐसा आनन्द कुलयोगी और कुलयोगिनियों के स्खलन में भी उद्वेलित हो आता है ॥७२॥

योगिनो मदमत्ताश्च पतन्ति प्रमदोरसि।
मदाकुलाश्च योगिन्यः पतन्ति पुरुषोपरि ॥७३॥

मदमत्त कौलयोगी साधक शबाब में आकर लड़खड़ा कर प्रमदाओं के वक्ष पर ही गिर पड़ रहे हैं। इसी तरह मदविह्वल कुलयोगिनियाँ पुरुषों के ऊपर गिर पड़ रही हैं। इस प्रकार की आनन्दवादिता का उन्मुक्त विहार इस चक्र में चलता ही रहता है ॥७३॥

मनोरथसुखं पूर्णं कुर्वन्ति च परस्परम्।
इत्यादिविविधां चेष्टां कुर्वन्ति कुलनायिके ॥७४॥

अपने मनमुताबिक इस भौतिक सुख में वे आध्यात्मिक भाव 'कामकलाविलास' भर देती हैं। इनका यह पारस्परिक सुख एक अभिनव माहौल की रचना करता है। भगवान् कहते हैं कि हे कुलनायिकाओं की स्वामिनी देवि पार्वति ! उनका यह व्यापार अनेक प्रकार की विधिक चेष्टाओं का केन्द्र बन जाता है ॥७४॥

विकृतिं मनसो हित्वा यदोल्लासः प्रवर्त्तते।
तदा तु देवताभावं भजन्ते योगिपुङ्गवाः ॥७५॥

इस उल्लास के मूल में मानसिक काम आदि के विकार वहाँ नहीं निष्पन्न होते हैं। इनका परित्याग इस मार्ग में आवश्यक है। निर्मल मन से जो उल्लास प्रवर्त्तित होता है, वह महान् होता है और इस चक्र में सम्मिलित योगी लोग देवता भाव को प्राप्त हो जाते हैं। इन्हें योगिपुंगव कहते हैं ॥७५॥

कौलिकान् भैरवावेशान् यो वा निन्दति मूढधीः ।
तं नाशयन्त्यसन्देहं योगिन्यः कुलनायिके ॥७६॥

इस भैरवी भाव के आवेश में आने वाले कौलिक योगीवर्ग की जो निन्दा करता है, वह बौद्धिक दिवालियेपन का शिकार है। कुलमार्गी लोगों द्वारा वन्दनीय शिवे ! योगिनी शक्तियाँ निन्दकों का नाश कर देती हैं ॥७६॥

न निन्देन्न हसेत् क्वापि चक्रे मधुमदालसान् ।
एतच्चक्रगतां वार्त्तां बहिर्नैव प्रकाशयेत् ॥७७॥

भैरव आवेश में आविष्ट कौलिकों की यह असाधारण और असामान्य दशा सामाजिकता के सन्दर्भों से बहुत ऊँची है। उनकी स्तरीयता का अनुभव कर उनकी निन्दा नहीं करनी चाहिये। उनकी उस उच्च आवेश दशा को देखकर उनकी हँसी भी नहीं उड़ानी चाहिये। वे चक्र में भैरवीय मधुपान से उत्पन्न प्रभाव से प्रभावित रहते हैं। उनकी इस क्रिया-प्रक्रिया की चर्चा कहीं बाहर नहीं करनी चाहिये; क्योंकि समाज उन कौलिकों के उस उच्चभाव की गहराई में जाकर सोच नहीं पाता। अतः यह सामान्य जन के व्यवहारयोग्य नहीं होता ॥७७॥

तेभ्यो द्रोहं न कुर्वीत नाहितञ्च समाचरेत् ।
भक्त्या सत्कारयेदेतान् गोपयेच्च प्रयत्नतः ॥७८॥

कौलिकों से द्रोह की कल्पना भी नहीं करनी चाहिये। उनके हित की बात ही सोचनी चाहिये, अहित की कभी नहीं। भक्तिपूर्वक उनका सत्कार ही अपेक्षित है, असत्कार से बचना चाहिये। प्रयत्नपूर्वक उनके क्रियायोग का ज्ञापन कभी दूसरे से नहीं करना चाहिये। हमेशा उनका गोपन शास्त्रविहित है ॥७८॥

चक्रे मदाकुलान् दृष्ट्वा चिन्तयेद्देवताधिया ।
मोदते वन्दते भक्त्या स गच्छेद् योगिनीपदम् ॥७९॥

चक्र में मदहोश कौलिक साधक को देखकर उसमें मानवभाव का नहीं, अपितु भैरवदेव का भावन कर देवबुद्धि से उन्हें देखना उचित है। उस दशा में उन्हें देखकर हर्ष और आमोद का अनुभव करने वाला और उनका वन्दन करके अपनी भक्ति प्रदर्शन करने वाला सज्जन पुरुष योगिनियों के पद को प्राप्त करने का अधिकारी होता है ॥७९॥

पश्येदेवंविधं चक्रं यो भक्त्या कौलिकः प्रिये ।
व्रततीर्थतपोदानयज्ञकोटिफलं लभेत् ॥८०॥

जो पुरुष इस कौलिक चक्र में भैरव समावेश की भावना से उन्हें देखता है और उनका समादर करता है, भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति ! उसे करोड़ों व्रत, तीर्थ, तप, दान और यज्ञों का फल प्राप्त होता है, क्योंकि उसकी भावशुद्धि उसे इसके योग्य बना देती है। परिणामतः उसका परमकल्याण सिद्ध हो जाता है। यहाँ तक प्रौढान्तोल्लास का वर्णन किया गया है ॥८०॥

उन्मनाः पतनोत्थाने मूर्च्छना च मुहुर्मुहुः ।
उन्मनाख्यतदुल्लासे चक्रे वीरसमर्चिते ॥८१॥

यहाँ से उन्मना उल्लास का वर्णन कर रहे हैं। उस उल्लास की अवस्था में मदहोश कौलिक मधुपान कर बेहोशी में गिर पड़ता है। इसे पतन कहते हैं। इसके तुरत बाद वह उससे उठने का प्रयत्न करता है। नशे के कारण वह मूर्च्छित भी हो जाता है। उसके कानों में अनजाने नादों की मूर्च्छनायें भी सुनायी पड़ती हैं। यह दशा उसकी बार-बार होती है, रह-रह कर होती रहती है। हे वीरों द्वारा वन्दनीय देवि ! यह उस चक्र का चित्र है, जिसमें अनेक कौलिक इसी तरह पड़े रहते हैं। उठते, गिरते-पड़ते उनको अपनी सुध नहीं रहती ॥८१॥

चिरं संविदधाते तौ यौ हि कर्मपराक्षरौ ।
परं ब्रह्मानुसन्धानाकाङ्क्षिणौ कुलनायिके ॥८२॥

स्त्री और पुरुष दोनों कुलमार्ग के पथिक हैं। प्रिये ! कुलेश्वरि ! इस कौलिकी प्रक्रिया के इस भैरवावेशरूप कर्म में परायण रहकर अक्षर आनन्द की उपलब्धि का अनुसन्धान करते हैं। यह ब्रह्म के अनुसन्धान के सदृश महती अवस्था होती है, जिसमें झूठा अहम् मर जाता है और मात्र आनन्द ही उच्छलित रहता है ॥८२॥

देहेन्द्रियाणामवशः समवस्था निगद्यते ।
समवस्थाभिधे तस्मिन् ततोल्लासे समं भवेत् ॥८३॥

ऐसा कौलिक पुरुष और ऐसी कुलपथानुगामिनी योगिनीरूपा स्त्री भी देहभाव और इन्द्रियानुभूति के भाव को अतिक्रान्त कर अवश की तरह आनन्द समुद्र में लहर ले रहे होते हैं। उनकी इस अवस्था को क्या कहेंगे ? भगवान् की दृष्टि में जैसे वैषम्य को अतिक्रान्त कर प्रकृति की साम्य अवस्था होती है, उसी तरह देहेन्द्रियवैषम्य को पार कर ये साम्य भाव में पहुँचने के अधिकारी हो जाते हैं। यह कहा जा सकता है कि, यह समावस्था का सामरस्य उनका सातवाँ उल्लास होता है। सातवें उल्लास को उन्मनान्त उल्लास कहते हैं ॥८३॥

परामन्त्रस्वरूपोऽसौ जायते मूर्च्छना परा ।
मूर्च्छनासन्निकर्षो हि मूलं मुक्तेः परं विदुः ॥८४॥

वह परामूर्च्छा की अवस्था पराभावोपलब्धि की तादात्म्य दशा ही होती है। वह कौलिक परामन्त्रमय बन जाता है। उसका दर्शन भी अभिनन्दनीय हो जाता है। भगवान्

कहते हैं कि, सिद्ध योगी पुरुष यह स्वानुभूतिसिद्ध रूप से जानते हैं कि, यह मूर्च्छना सन्निकर्ष मूल रूप से मुक्ति ही होती है। मुक्ति के मूल में इसी प्रकार देहेन्द्रियातीत मूर्च्छा होती है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि, मूर्च्छा अर्थ में ही मूर्च्छना शब्द का प्रयोग किया गया है ॥८४॥

अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जितः।
एषा तु शाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥८५॥

समस्त तन्त्रशास्त्र एक ऐसी रहस्यमयी मुद्रा को अत्यन्त गोपनीय कहते, मानते और प्रतिपादित करते हैं, जिसे 'शाम्भवी' मुद्रा कहते हैं। इस मुद्रा के लक्षण निम्नवत् माने जाते हैं—

१. इस मुद्रा में स्वात्मभाव की आन्तरिकता की उपलब्धि का ही लक्ष्य होता है।

२. यद्यपि प्रधानतः आन्तर रुझान होती है, फिर भी दृष्टि बाहर की ओर होती है, अर्थात् यह बाह्य गौण बन जाता है। भाव यह होता है कि, यह बाह्य उल्लास भी आन्तर चमत्कार ही होता है।

३. उस अवस्था में निमेष और उन्मेषमयी पलकों के उठने, गिरने की क्रिया के साथ उच्चारयोग भी हो जाता है। क्रियायोग की यह एक सिद्ध अवस्था है। उन्मनान्तोल्लास भी शाम्भवी मुद्रा के समान ही है, शास्त्रकार यही कहना चाह रहे हैं ॥८५॥

सर्वोत्तीर्णा सदाऽहन्ता सामरस्यसमाकृतिः।
अनयोल्लासिनो वीराः शिवा एव न संशयः ॥८६॥

१. यह दशा सर्वोत्तीर्ण दशा होती है। परमशिव का एक नाम विश्वोत्तीर्ण भी है। अर्थात् यह सर्वोत्तीर्ण दशा शाम्भव समावेश दशा ही कही जा सकती है।

२. इसमें शाश्वत अहन्ता का ही उल्लास होता है। इदन्ता विगलित हो जाती है; क्योंकि इस दशा में कौलिक देहेन्द्रियातीत भाव में ही रहता है।

३. समरसभाव की समाकृति अर्थात् साम्यावस्था ही पूर्णतः उल्लसित रहती है। इस सामरस्य दशा में उल्लासप्राप्त वीर साधक शिवरूप ही नहीं, साक्षात् शिव ही हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं ॥८६॥

नराः किमपि जानन्ति स्वात्मध्यानपरायणाः।
तदा यत्परमं सौख्यमिति वक्तुं न शक्यते ॥८७॥
स्वयमेवानुभूयन्ते शर्कराः क्षीरपानवत्।
ईदृशं तादृशं सौख्यमिति वक्तुं न शक्यते॥
दृश्यते पुलकाद्यैर्यत्तद्ब्रह्मध्यानमुच्यते ॥८८॥

स्वात्म के ध्यान में परायण मनुष्यों को अध्यात्म के एक अप्रतिम और अप्रतर्क्य अमृत आनन्द की उपलब्धि होती है। वह गूँगे के गुड़ के समान अवर्णनीय और अनिर्वचनीय सुख देने वाली मानी जाती है। इस सुख को वही जानते हैं, जो स्वात्म की

अनुभूतियों में रमण करते हैं। वह परम सुख इतना अनुपम होता है कि, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

उदाहरण के रूप में हमने गूँगे के गुड़ की चर्चा की है। भगवान् शर्करा की बात कर रहे हैं। वे कहते हैं—शर्करा और दूध मिलाकर व्यक्ति उसका आनन्द लेता है। वह केवल अनुभव के स्तर की बात होती है। वाणी दूध-चीनी नहीं पीती। यह सुख जीभ के जिम्मे है। जीभ बोलती तो है, पर उस सुख की परानुभूति को नहीं बता सकती। वह सुख इस प्रकार का है कि, उस प्रकार का है, कहा नहीं जा सकता ॥८७-८८॥

यत्सुखं विद्यते ध्याने देहावेशकरं परम्।
कथितुं नैव शक्नोमि प्रबुद्धस्तत्समाहितः ॥८९॥

इन अवस्थाओं में एक पुलक होता है, एक सूक्ष्म सुख स्फुरित होता रहता है। वस्तुतः यही ब्रह्मात्मक ध्यान का सुख होता है। ध्यान में देवता का आवेश भी एक महान् सुखानुभव है। इसके कई प्रकार के लक्षण होते हैं। वे सभी लक्षण ध्यान सुख में ही समाहित होते हैं। भगवान् शिव कहते हैं कि, देवि ! यद्यपि मैं प्रबुद्ध हूँ, फिर भी उसी धन में समाहित रहने के कारण उस सुखानुभव को मैं वाणी का विषय नहीं बना सकता ॥८९॥

ब्रह्मध्यानपरानन्दपराः सुकृतिनो नराः।
क्षणेऽप्यन्तर्हिते तस्मिन् शोचयन्ति हतप्रभाः ॥९०॥
सप्तमोल्लासयुक्तानां त्वद्भक्तानां महाफलम्।

ब्रह्मध्यान में परायण लोग परानन्दपरायण ही होते हैं। वे मनुष्य कल्याणकारी होते हैं और धन्य हैं। कभी जब कुछ क्षण ऐसे भी आते हैं, जब किसी अन्य विषयों में मन चला जाता है, तो वे सिहर उठते हैं। उनको वह अच्छा नहीं लगता। वे हतप्रभ रह जाते हैं। वे सप्तम उन्मनान्तोल्लास में ही रहना चाहते हैं। उनका यह उल्लास उनके जीवन में महाफल का साक्षात्कार बनकर प्रस्तुत रहता है ॥९०॥

अष्टौ त्रिकालज्ञानोत्थाः प्रत्ययाश्च कुलेश्वरि।
अष्टावस्थाश्च कम्पाद्या जायन्ते नात्र संशयः ॥९१॥

भगवान् शिव कह रहे हैं कि, देवि कुलेश्वरि ! इस अवस्था में भूत, भविष्य और वर्त्तमान कालों से सम्बद्ध आठ प्रकार के प्रत्यय होते हैं। ये तीनों कालों के ज्ञान से युक्त होते हैं। ऐसे लोगों को त्रिकालदर्शी कहते हैं। इसके साथ ही कम्प आदि आठ अवस्थायें और भी आती हैं। उन्हें कम्प, रोमांच, स्फुरण, प्रेमाश्रु, स्वेद, हास्य, लास्य और गान कहते हैं। इन अवस्थाओं में रहने वाला योगी धन्य हो जाता है ॥९१॥

बहुनात्र किमुक्तेन अणिमाद्यष्टसिद्धयः।
प्रतीहारिपदं प्राप्ताः सेवन्ते मन्दिरं चिरम् ॥९२॥

इस विषय में और कुछ कहने की विशेष आवश्यकता नहीं है। इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि, इस उल्लास के आवेश में रहने वाले योगी की सेवा में अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व ये आठ सिद्धियाँ स्वयम् उपस्थित होती हैं। (कुछ लोग गरिमा सिद्धि को महिमा के अन्दर मानते हैं। उनकी दृष्टि में कामावसायित्व नामक आठवीं सिद्धि मानी जाती है) एक तरह की प्रतिहारी अर्थात् द्वारपाल स्त्री की तरह उस योगी के घर में सेविकायें बनकर ये सिद्धियाँ निवास करती रहती हैं ॥९२॥

ये गुणाः परमेशस्य पञ्चवक्त्रतनोः शुभाः।
ते गुणाः कुलतत्त्वज्ञे तत्त्वज्ञानसमाहृताः ॥९३॥

परमेश्वर पंचवक्त्र भगवान् शंकर के जितने शुभ गुण हैं, वे सभी कुलतत्त्वज्ञ योगी के होते हैं। अर्थात् जैसे भगवान् सर्वज्ञ, सर्वकर्त्ता, सर्वव्यापक, पूर्ण और सर्वकालस्वामी होते हैं, उसी तरह सर्वज्ञता आदि गुणों से युक्त कुलतत्त्वज्ञ योगी भी होता है। इसके साथ ही वह सर्वतत्त्वज्ञान के द्वारा समादृत अर्थात् विश्ववन्द्य बन जाता है ॥९३॥

आरम्भस्तरुणश्चैव यौवनं प्रौढमेव च।
तदन्तो जाग्रदित्युक्तश्चोन्मनाः स्वप्न उच्यते ॥९४॥
समवस्था सुषुप्तिः स्यादवस्थात्रयसंयुता।
सप्तोल्लासश्च यो वेत्ति स मुक्तः स च कौलिकः ॥९५॥

जन्म से लेकर कैशोर और पौगण्ड की अवस्थायें आरम्भ कही जाती हैं। इसके बाद तरुण अवस्था आती है। उसे तारुण्य कहते हैं। तुरत यौवन आता है। फिर प्रौढ हो जाता है। इसके बाद की अवस्था को प्रौढान्त कहते हैं। ये पाँच अवस्थायें जाग्रत् अवस्था के अन्तर्गत हैं। इसके बाद छठी उन्मना अवस्था स्वप्न है और उन्मनान्त नामक सातवाँ उल्लास सुषुप्ति है। इस सातवें में जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों ही समाहित हो जाती हैं। जो व्यक्ति इन सातों उल्लासों का मर्मज्ञ होता है, उसे परम-कौलिक कहते हैं ॥९४-९५॥

प्रवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णा द्विजातयः।
निवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णाः पृथक् पृथक् ॥९६॥

भैरवीचक्र कुलाचार की एक व्यवस्था का अंग है। इसके प्रवृत्त हो जाने पर (सारी जातियों के इस चक्र में अधिकार के कारण) सभी द्विज ही हो जाते हैं। अर्थात् कुलाचार में जातिवाद का कोई महत्त्व नहीं है। भैरवीचक्र के समाप्त होने पर वे अपने को पृथक्-पृथक् रूप से मानकर व्यवहार करती हैं ॥९६॥

स्त्री वाथ पुरुषः षण्डश्चण्डालो वा द्विजोत्तमः।
चक्रेऽस्मिन्नैव भेदोऽस्ति सर्वे शिवसमाः स्मृताः ॥९७॥

स्त्री, पुरुष, नपुंसक, चाण्डाल या द्विजोत्तम कोई भी हो, इस भैरवीचक्र में सभी बराबर हो जाते हैं। इसमें किसी प्रकार का कोई भेद नहीं रहता। सभी यहाँ साक्षात् शिवरूप ही हो जाते हैं ॥९७॥

नागरि निर्झराद्यम्बु गङ्गां प्राप्य यथैकताम्।
याति श्रीचक्रमध्येऽपि चैकत्वं सर्वमानवा: ॥९८॥

भगवान् शंकर माता पार्वती को नागरि! सम्बोधन द्वारा अपनी ओर आकृष्ट करते हुए कह रहे हैं कि, देवि पार्वति! जैसे सारे निर्झर, नालों से प्रवहमान जल पहले तो पृथक्-पृथक् रूप से अपनी पहचान लेकर ही बहता रहता है, पर गंगा में मिलकर गंगा के साथ ऐक्य प्राप्त कर गांगेय जल की संज्ञा से विभूषित हो जाता है, उसी तरह श्री भैरवीचक्र में सम्मिलित होकर सारे मानव समुदाय के लोग अपनी पृथक् पहचान खोकर एक ही हो जाते हैं। वहाँ उनमें कोई अन्तर नहीं रहता ॥९८॥

क्षीरेण सहितं तोयं क्षीरमेव यथा भवेत्।
तथा श्रीचक्रमध्ये तु जातिभेदो न विद्यते ॥९९॥

दूध में मिला हुआ जल, अपना अम्बुभाव त्याग कर दूध ही हो जाता है। वही दशा श्रीचक्र के बीच आ जाने पर सभी मनुष्यों की हो जाती है। यहाँ जातिभेद नामक प्रथा की समाप्ति हो जाती है। यहाँ पर भी भैरवीचक्र के लिये श्रीचक्र शब्द का प्रयोग है ॥९९॥

स्वर्गादिपुण्यलोकेषु देवादन्यद् यथा नहि।
तथैव चक्रमध्येऽपि देवता: सर्वमानवा: ॥१००॥

स्वर्ग आदि पुण्य लोकों में देवों के अतिरिक्त जैसे कोई दूसरा नहीं रह सकता, उसी तरह इस भैरवीचक्र में भी सभी मानव मानव नहीं रह जाते, अपितु मानवत्व आदि का परित्याग कर देवताभाव में ही आ जाते हैं, अर्थात् देव बन जाते हैं ॥१००॥

जातिभेदो न चक्रेऽस्मिन् सर्वे शिवसमा: स्मृता:।
वेदेऽपि स्थितमेवं हि सर्वं हि ब्रह्म चाब्रवीत् ॥१०१॥

इसमें जातिभेद की प्रकल्पना तक नहीं की जा सकती। यह ऐसा महत्त्वपूर्ण चक्र है, जो सम्मिलित होते ही देवत्व की पदवी से विभूषित कर देता है। इसमें सभी शिवरूप ही हो जाते हैं। वेदविद्या भी इसी भाव का समर्थन करती है। उसके अनुसार भी इस अवस्था में आकर ब्रह्मरूप ही हो जाते हैं ॥१०१॥

बहुनात्र किमुक्तेन चक्रमध्ये कुलेश्वरि।
मद्रूपा: पुरुषा: सर्वे त्वद्रूपा: प्रमदा: प्रिये ॥१०२॥

अधिक कहने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं। कुलमार्ग की अधीश्वरी देवि

पार्वति ! इस चक्र में सम्मिलित होने वाले सभी पुरुष मेरे समान अर्थात् शिवरूप ही हो जाते हैं। इसी तरह इसमें आने वाली सभी स्त्रियाँ और प्रमदायें तुम्हारे रूप की ही माने जाने की अधिकारिणी हो जाती हैं ॥१०२॥

चक्रमध्ये तु मूढात्मा जातिभेदं करोति यः ।
तं भक्षयन्ति योगिन्यस्त्वां शपे कुलनायिके ॥१०३॥

वह व्यक्ति मूढात्मा ही कहा जा सकता है, जो इस चक्र में सम्मिलित होने वाले सदस्यों को जाति की दृष्टि से देखता है। कुलाधीश्वरि ! पार्वति ! मैं तुम्हारी शपथ लेकर ही यह कह रहा हूँ कि, ऐसे पृथक् जातिभेद की दृष्टि वाले लोगों को योगिनियाँ अपना ग्रास बना लेती हैं ॥१०३॥

स्त्रीणामन्यतमं स्थानं पुंसामन्यतमं पृथक् ।
अथवा मिथुनं कृत्वा क्रमात्समुपवेशयेत् ॥१०४॥

इस चक्र में बैठने की भी एक अनुशासनमयी व्यवस्था है। कभी स्त्रियों का उपवेशन अलग और इसी तरह पुरुषों का उपवेशन भी पृथक्-पृथक् करते हैं। नियमतः मिथुन-भाव से भी बैठने की प्रथा अपनायी जाती है। मदहोशी के आवेश में तो सभी उपवेशन एक में मिल जाते हैं; किन्तु नियम पृथक् समुपवेशन का है। ऐसा ही करना चाहिये ॥१०४॥

पङ्क्त्याकारेण वा सम्यक् चक्राकारेण वा प्रिये ।
शिवशक्तिधिया सर्वं चक्रमध्ये समर्चयेत् ॥१०५॥

अथवा पंक्तिबद्ध होकर विशेषरूप से बैठाने का प्रबन्ध चक्र चलाने वाले मालिक को करना चाहिये। कभी वृत्ताकार बैठाकर कारण-द्रव्य पिलाने की व्यवस्था भी करनी पड़ती है। यहाँ सम्मिलित स्त्री-पुरुषमात्र सभी को शक्ति और शिवरूप मानकर आदर दिया जाना चाहिये ॥१०५॥

अविभक्तौ यथा आवां लक्ष्मीनारायणौ यथा ।
यथा वाणीविधातारौ तथा वीरः सशक्तिकः ॥१०६॥

भगवान् कहते हैं कि, देवि ! जैसे हम दोनों शिव-शक्तिरूप से अविभक्त हैं, अर्थात् एक ही हैं तथा जैसे लक्ष्मी और नारायण भी शक्ति-शक्तिमान् रूप से एकीभाव की दृष्टि से पूज्य माने जाते हैं, इसी तरह जैसे ब्रह्मा और सरस्वती के तादात्म्य की मान्यता है, उसी तरह इस चक्र में वीर साधक शिव और प्रमदायें शक्तिरूपा सभी मिलकर एक हो जाते हैं, अर्थात् देवभाव से भावित करने योग्य हो जाते हैं ॥१०६॥

मधुकुम्भसहस्रैस्तु मांसभारशतैरपि ।
न तुष्यामि वरारोहे भगलिङ्गामृतं विना ॥१०७॥

भगवान् यहाँ एक रहस्य की बात बता रहे हैं। वस्तुतः भगवान् कामेश्वर होते हैं। कामेश्वर की कामकला का विलास विश्व को भग और लिंग के संघट्टजन्य आनन्दामृतरूप में ही अनुभूत होता है। इसका अर्थ है—विश्व की कामकला-तृप्ति में विश्वनियन्ता की तृप्ति निहित है। यही रहस्य वैखरी वाक् द्वारा व्यक्त है। यह नासमझ लोगों को बुरी भी लग सकती है। इसलिये हजारों घड़े शराब और सौ-गुना भारवान् मांस के प्रयोग में भी वह आनन्द उद्रेक नहीं होता, जो स्त्री-पुरुष के भग-लिंग संयोजनजन्य आनन्दामृत उल्लास में होता है। यह विश्व का एवं विश्वोत्तीर्ण का उभयभावभावित आनन्द है ॥१०७॥

न चक्राङ्कं न पद्माङ्कं न वज्राङ्कमिदं जगत्।
लिङ्गाङ्कञ्च भगाङ्कञ्च तस्माच्छक्तिशिवात्मकम् ॥१०८॥

बहुत सम्प्रदायों में चक्रांक, बहुतों में पद्मांक और बहुतों में वज्रांक लगाने से स्वर्ग और मुक्ति का पथ प्रशस्त माना जाता है। इस कौल सम्प्रदाय में केवल लिंगांक और भगांक ही प्रिय है। इस तरह शास्त्रों का यह कथन कि, विश्वशक्ति और शिव का परस्पर सामरस्य है, इसका साक्षात्कार हो जाता है ॥१०८॥

शिवशक्तिसमायोगो यस्मिन् काले प्रजायते।
सा सन्ध्या कुलनिष्ठानां समाधिः स विधीयते ॥१०९॥

जिस समय शिव और शक्ति का समायोग होता है, वह बड़ा पुण्यकाल है। वह सन्ध्या का समय है, जब दिन का शिव रात की दुल्हन से समायोग कर लेता है। जब उषा, अरुण के मिलन का प्रातःसंगीत झंकृत हो उठता है। वह सम्भोग में समाधि का समाधान माना जाता है। यह कुलाचार का ही माहात्म्य है ॥१०९॥

कामुको न स्त्रियं गच्छेद् यदीच्छन्तीमदीक्षिताम्।
सद्यः संस्कारसंशुद्धां विहितत्वात् स्त्रियं व्रजेत् ॥११०॥

कामुकता के आवेश में स्त्री-सम्भोग के लिये आतुर होकर इस दिशा में आगे बढ़ना जड़ता का निदर्शन है। साथ ही जो स्त्री अदीक्षित है, अर्थात् कुलदीक्षा से रहित है तथा मैथुन की इच्छा वाली भी हो, तो उसे तत्काल कुलाचार के संस्कार से पवित्र बनाकर और रतिवृत्ति को शाक्त उल्लास की बात समझाकर उसकी कामभावना को शैव-शक्तिसामरस्य भाव में बदल दे। उसके बाद स्वयं शिवरूप भावित कर शक्ति का संगम करे। यही कुलोचित प्रक्रिया है ॥११०॥

इति तत्त्वत्रयोल्लासपानभेदादि चोदितम्।
समासेन कुलेशानि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥१११॥

भगवान् कह रहे हैं कि, कुलाधीश्वरी देवि ! पार्वति ! मैंने यहाँ तक तुम्हारे समक्ष जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति के तीनों उल्लासों के सन्दर्भ में सात उल्लासों की कुलदृष्टि की रूपरेखा प्रस्तुत की है। इसके साथ ही कारण-द्रव्य के पान के सम्बन्ध में भी बातें

की हैं। यह सब बहुत विस्तार से भी बताया जा सकता था; किन्तु मैंने तुम्हें संक्षेप में ही ये सारी बातें बतायी हैं। अब तुम बताओ, आगे तुम किस शास्त्रीय रहस्य का श्रवण करना चाहती हो। तुम्हारे कहने पर मैं वह विषय भी तुम्हारे सामने रखकर प्रसन्नता का अनुभव करूँगा। बोलो क्या चाहती हो ? ॥१११॥

सर्वागमोत्तमोत्तम महारहस्यमय ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकुलार्णवतन्त्रान्तर्गत डॉ. परमहंस-मिश्रविरचित नीर-क्षीर-विवेक-भाषाभाष्यसंवलित 'तत्त्वत्रितयपानादि-कथन' नामक अष्टम उल्लास परिपूर्ण ॥८॥

॥ शुभं भूयात् ॥

○

नवम उल्लासः

श्रीदेव्युवाच

कुलेश श्रोतुमिच्छामि योगं योगीशलक्षणम् ।
कुलभक्तार्चनफलं वद मे करुणानिधे ॥१॥

श्री देवी ने विनम्रतापूर्वक कहना प्रारम्भ किया। इस कथन में देवी के तादात्म्य भाव का उद्रेक भी परिलक्षित हो रहा था। उनका कहना था—कुलेश्वर प्रभो ! मेरी इच्छा आप से छिपी नहीं है। मैं योग के विषय में सुनने और साथ ही साथ योगविद्या में विचक्षण योगीन्द्र साधकों के लक्षण जानने की इच्छा रखती हूँ। हे करुणावरुणालय परमेश्वर ! इसी क्रम में मैं यह भी चाहती हूँ कि, भगवन् ! कुलमार्ग में भक्तिपूर्वक पूजा-अर्चना का बड़ा महत्त्व है। इसका फल क्या होता है ? कृपा कर यह बताकर भी अनुगृहीत करें ॥१॥

ईश्वर उवाच

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
तस्य श्रवणमात्रेण योगः साक्षात् प्रकाशते ॥२॥

देवेश्वर देवाधिदेव महादेव ने कहना प्रारम्भ किया—देवि ! तुम जो कुछ भी मुझसे सुनना और जानना चाहती हो, उसे मैं बताने जा रहा हूँ। तुम ध्यानपूर्वक इन बातों को सुनो। इन मेरे वचनों में योग के सारे लक्षण, अर्थ, क्रम और रहस्य उल्लसित हैं। इन कुलमार्गीय वचनों के श्रवण मात्र से योगविद्या का प्रकाश प्राप्त हो जाता है ॥२॥

ध्यानन्तु द्विविधं प्रोक्तं स्थूलसूक्ष्मप्रभेदतः ।
साकारं स्थूलमित्याहुर्निराकारन्तु सूक्ष्मकम् ॥३॥

योगशिक्षण के सन्दर्भ में सर्वप्रथम 'ध्यान' की चर्चा कर रहे हैं। भगवान् कह रहे हैं कि, ध्यान दो प्रकार के होते हैं। पहला ध्यान स्थूल ध्यान कहलाता है। दूसरे प्रकार के ध्यान को सूक्ष्म ध्यान कहते हैं। साकार ध्यान स्थूल ध्यान कहलाता है और निराकार ध्यान को सूक्ष्म ध्यान कहते हैं ॥३॥

स्थिरार्थं मनसः केचित् स्थूलध्यानं प्रचक्षते ।
स्थूलेऽपि निश्चलं चेतो भवेत् सूक्ष्मेऽपि निश्चलम् ॥४॥

कुछ लोग कहते हैं कि, मन जब किसी विशेष अर्थ पर अर्थात् किसी उद्देश्य, किसी लक्ष्य, किसी व्यापार अथवा किसी वस्तु को लेकर एकाग्र और स्थिर रहे, तो ऐसे ध्यान को स्थूल ध्यान कहते हैं। ध्यान के सन्दर्भ में भी स्थूल ध्यान में चित्त अत्यन्त रूप में निश्चल अर्थात् स्थिर हो जाय, तो वह ध्यान भी सूक्ष्म ध्यान हो जाता है; क्योंकि स्थूल ध्यान में चित्त में आत्यन्तिक रूप से स्थिरता और निश्चलता होती है ॥४॥

करपादोदरास्यादिरहितं परमेश्वरम् ।
सर्वतेजोमयं ध्यायेत् सच्चिदानन्दनिष्कलम् ॥५॥

हाथ-पैर, पेट और मुँह आदि अंग सामान्य प्राणियों के होते हैं। इन अंगों से रहित व्यापक रूप से तेजवन्त सत्, चित् और आनन्द रूप सच्चिदानन्द परमेश्वर का ध्यान करना चाहिये। ये सभी कलाओं से रहित होने के कारण निष्कल कहलाते हैं ॥५॥

नोदेति नास्तमभ्येति न वृद्धिं याति न क्षयम् ।
स्वयं विभात्यथान्यानि भासयन् साधनं विना ॥६॥

सूर्य तो उदित और अस्त होते हैं। परमेश्वर न कहीं कभी उगते और डूबते ही हैं। सारा जीव जगत् बढ़ता है और क्षीण हो जाता है। परमेश्वर न बढ़ते और न घटते ही हैं। वे एकरस परमेश्वर भाव में ही रहते हैं। वे परम प्रकाश रूप हैं। स्वयं प्रकाश होने के कारण बिना अन्य किसी साधन के ही अपने शाक्त प्रभाव के उल्लास के कारण ही स्वयं प्रकाशमान रहते हैं। इसी भासमानता के कारण सारे जागतिक पदार्थों और प्राणियों को भी प्रकाशमान करते हैं ॥६॥

अनन्तं गतभारूपं सत्तामात्रमगोचरम् ।
मनसा मात्रसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम् ॥७॥

ज्ञान के सम्बन्ध में भगवान् का कथन है कि, ज्ञान का कोई अन्त नहीं होता। इसलिये उसे अनन्त कहते हैं। उसे प्रकाशमयता से ओत-प्रोत मानते हैं; क्योंकि भा अर्थात् प्रकाशरूप बोध को वह प्राप्त करता है। अत: बोधमय ही होता है। सत्ता तो प्रतीत होती है; किन्तु वह नितान्त अगोचर होता है। यह केवल मन से ही गोचर होता है। यहाँ मन बुद्धि अर्थ में प्रयुक्त है। मन केवल इन्द्रियों की विषयसीमा में ही सक्रिय रहता है। इस प्रकार का उक्त ज्ञान ब्रह्मज्ञान की संज्ञा से विभूषित किया जाता है ॥७॥

प्रणष्टवायुसञ्चारः पाषाण इव निश्चलः ।
परजीवैकधामज्ञो योगी योगविदुच्यते ॥८॥

वायु अर्थात् प्राणवायु के संचार को जिसने जीत लिया है और प्राणसंयम के द्वारा श्वास-प्रश्वास के आने-जाने के क्रम को जिसने अपने अधिकार में कर लिया है, वह उत्तम योगविद्या का जानकार माना जाता है। प्राणजेता पुरुष पाषाण की तरह जब तक चाहे तब तक निश्चल बना रह सकता है। अर्थात् सर्वोत्तम सर्वातिशायी जीवशक्ति का सर्वोत्तम धाम अर्थात् स्थान उसे ज्ञात होता है। ऐसा योगी योगिराज माना जाता है ॥८॥

यदत्र नात्र निर्भासः स्तिमितोदधिवत् स्थितम् ।
स्वरूपशून्यं तद्ध्यानं समाधिरभिधीयते ॥९॥

ध्यान ही उसकी समाधि बन जाता है, जिस समय योगी को यहाँ-वहाँ आदि का ज्ञानात्मक बोध शून्य हो जाता है। ऐसा निर्भास उसे नहीं रहता कि, मैं कहाँ हूँ। वह

शान्त समुद्र की तरह निस्तरंग भरे-पूरे भाव में अवस्थित रहता है। उसे अपना भी ध्यान नहीं रहता। इस अवस्था को स्वरूपशून्य अवस्था कहते हैं। ऐसे ध्यान की दशा ही समाधि कही जाती है ॥९॥

न किञ्चिच्चिन्तनादेव स्वयं तत्त्वं प्रकाशते।
स्वयं प्रकाशिते तत्त्वे तत्क्षणात्तन्मयो भवेत् ॥१०॥

जिस समय साधक सभी प्रकार के चिन्तनों को अतिक्रान्त कर अकिंचित् चिन्तन की दशा में पहुँचता है, उसी समय वस्तु तत्त्व का प्रकाशन हो जाता है। शिव तत्त्व उस रिक्त अवस्था को भर देता है और तत्त्व इस तरह निर्भासित हो उठता है। जिस समय तत्त्व प्रकाशमान हो जाय, उसी समय सावधान साधक तादात्म्य भाव में समाहित हो जाय। भवेत् क्रिया विधि क्रिया है। विधि में यह तन्त्र तुरन्त उतार देता है। इस विधि से तन्मयता सिद्ध हो जाती है ॥१०॥

स्वप्नजाग्रदवस्थायां सुप्तवद् योऽवतिष्ठते।
निश्वासोच्छ्वासहीनश्च निश्चितं मुक्त एव सः ॥११॥

भले ही जाग्रत् अवस्था में साधक व्यवहाररत हो अथवा स्वप्न में चित्र-विचित्र रचनाओं का आनन्द ले रहा हो, सावधान साधक इन दशाओं को पारकर ऐसे रहता है, मानो वह स्वयं अपने स्तर पर इनसे अप्रभावित सो रहा हो। वह प्राणजेता होता ही है। अजपाजाप को अतिक्रान्त कर वह मुक्त ही हो जाता है ॥११॥

निष्पन्दकरणग्रामः स्वात्मलीनमनोऽनिलः।
य आस्ते मृतवत्साक्षाद् जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥१२॥

समस्त करण अर्थात् इन्द्रियों का ग्राम (समूह) निष्पन्द अवस्था में जिस साधक का हो जाता है, वह निष्पन्दकरणग्राम कहलाता है। ऐसे साधक धन्य होते हैं। उनके मन और प्राणवायु सब उनमें ही आत्मसात् हो जाते हैं। ऐसे योगी आत्मलीन कहलाते हैं। वह जीवित ही होता है वरन् महान् जीवन्त रहता है; किन्तु उसे सामान्य संसारी मृतवत् मानते हैं। वस्तुतः ऐसे लोग ही जीवन्मुक्त माने जाते हैं ॥१२॥

न शृणोति न चाघ्राति न स्पृशति न पश्यति।
न जानाति सुखं दुःखं न सङ्कल्पयते मनः ॥१३॥
न चापि किञ्चिज्जानाति न च बुध्यति काष्ठवत्।
एवं शिवे विलीनात्मा समाधिस्थ इहोच्यते ॥१४॥

वह ऐसे शान्त रहता है, मानो किसी की बात सुनता ही नहीं। उसे किसी गन्ध ग्रहण की इच्छा नहीं होती। न तो वह स्वयं ही किसी पदार्थ के स्पर्श की बात ही सोचता है। किसी विशेष वस्तु को देखने की बात भी नहीं सोचता। सुख और दुःख जैसी चीजों का उसके लिये कोई महत्त्व नहीं होता। उसके मन में किसी प्रकार का कोई संकल्प नहीं उठता। प्रतीत होता है कि, वह कुछ जानता ही नहीं। उसे सांसारिक बोध का कभी

उद्भावन नहीं होता। काष्ठवत् कहीं पड़े रहने में उसे कोई परहेज नहीं रहता। उसका आत्मा शिवभाव में विलीन हो जाता है। वस्तुत: ऐसे सिद्ध पुरुष ही समाधिस्थ माने जाते हैं ॥१३-१४॥

यथा जले जलं क्षिप्तं क्षीरे क्षीरं घृते घृतम्।
अविशेषो भवेत्तद्वज्जीवात्मपरमात्मनोः ॥१५॥

जल में जल को मिला देने से किसी प्रकार का कोई अन्तर नहीं पड़ता। उसकी एकरूपता ही उल्लसित रहती है। उसी तरह दूध को दूध में, घी को घी में मिला देने से किसी प्रकार के विशेष का उत्सर्जन नहीं होता। यही दशा जीवात्मा और परमात्मा की होती है। दोनों का तादात्म्य शाश्वत हो जाता है ॥१५॥

यथा ध्यानस्य सामर्थ्यात् कीटोऽपि भ्रमरायते।
तथा समाधिसामर्थ्याद्ब्रह्मभूतो भवेन्नरः ॥१६॥

ध्यान के बल से कीट भी भृंगी योनि में परिणत हो जाता है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण-सिद्ध तथ्य है। यही दशा समाधिजन्य सामर्थ्य की है। ध्यान की गहन अवस्था अर्थात् समाधि में साधक और साध्य का तादात्म्य फूल की तरह खिल उठता है। साधक स्वयं ब्रह्म हो जाता है। यह नरत्व की महती उपलब्धि होती है ॥१६॥

क्षीरोद्धृतं घृतं यद्वत्तत्र क्षिप्तं न पूर्ववत्।
पृथक्कृतो गुणेभ्यः स्यादात्मा तद्वदिहोच्यते ॥१७॥

दूध को मथ कर निकाला हुआ घी पुन: दूध में मिलकर एकाकार नहीं होता, भले ही दूध में ही उसे क्यों न रख दिया जाय। इसी प्रकार अभ्यास के सामर्थ्य से गुणों के दुस्तर प्रभाव से बाहर कर लेने पर शुद्ध आत्मभाव नीचे नहीं गिरता ॥१७॥

यथा गाढान्धकारस्थो न किञ्चिदिह पश्यति।
अलक्ष्यञ्च तथा योगी प्रपञ्चं नैव पश्यति ॥१८॥

जिस तरह घने अन्धकार में रखी किसी वस्तु को कोई दर्शक देखने में असमर्थ रहता है; क्योंकि गहन अन्धकार के आवरण से पदार्थ आवृत रहता है। आँखें अन्धकार को भेद नहीं पातीं। वह दर्शक भी निबिड तमस् से स्वयं आच्छन्न रहता है।

यही दशा उस योगी की होती है, जो प्रकाश में रहता है। उसे अज्ञान का गहन अन्धकार कैसे दीख पड़ सकता है। प्रकाश के पथ को अन्धकार आवृत नहीं कर सकता ॥१८॥

यथा निमीलने काले प्रपञ्चं नैव पश्यति।
तथैवोन्मीलनेऽपि स्यादेतद्ध्यानस्य लक्षणम् ॥१९॥

आँख को बन्द करना निमीलन कहलाता है और खोलना उन्मीलन। दोनों में अन्तर यह है कि, निमीलन दशा में विश्वप्रपंच का छोटा से छोटा अंश भी दिखायी नहीं

देता। उसी तरह उन्मीलन दशा में भी उसे कुछ दिखायी न दे। अर्थात् आँख शैवभाव में इतनी भरित हो कि, सर्वत्र शिव की व्याप्ति ही उसे दीख पड़े। यही ध्यान का शुभ लक्षण है। ध्यान का यह सर्वोत्तम लक्षण है ॥१९॥

जनः स्वदेहकण्डूतिं विजानाति यथा तथा।
परं ब्रह्मस्वरूपी च वेत्ति विश्वविचेष्टितम् ॥२०॥

मनुष्य या सभी जीव-जन्तु अपने शरीर में उत्पन्न खुजली को अपने शरीर में (व्याप्त स्वात्म संविद् के आधार पर) स्वयं जान लेता है। यह स्वाभाविक तथ्य है और अयत्नज सूचना के आधार पर यह जान लेता है। उसी तरह जो व्यक्ति परब्रह्मात्मक 'स्व' रूप में अधिष्ठित हो जाता है, विश्व में कहीं भी किसी प्रकार की हलचल (विचेष्टित) का पता उसे निश्चित रूप से लग जाता है ॥२०॥

विदिते परमे तत्त्वे वर्णातीते ह्यविक्रिये।
किङ्करत्वं हि गच्छन्ति मन्त्रा मन्त्राधिपैः सह ॥२१॥

परमतत्त्व के ज्ञान के लिये विचारक, मनीषी और साधक सदा तत्पर रहते हैं। इसके विदित हो जाने पर जीवन में चमत्कार घटित हो जाता है। परमतत्त्वज्ञ मर्मज्ञ साधक के समक्ष समस्त मन्त्र अपने मन्त्रेश्वरों के साथ किंकर भाव में उपस्थित और सेवा में तत्पर रहते हैं। परमतत्त्व असामान्य महत्त्व का तत्त्व होता है। इसे शास्त्रकार वर्णातीत और अविक्रिय कहते हैं। इन दोनों विशेषणों से विशिष्ट परमतत्त्व की जानकारी साधक के लिये अत्यन्त आवश्यक मानी जाती है ॥२१॥

आत्मैकभावनिष्ठस्य या या चेष्टा तदर्चनम्।
यो यो जल्पः स स मन्त्रस्तद्ध्यानं तन्निरीक्षणम् ॥२२॥

आत्मैक्य भाव में परिनिष्ठित साधक जिन-जिन व्यापारों का सम्पादन करता है, जिन विधिनिर्दिष्ट पूजा प्रक्रियाओं को पूरा करता है, इसके अतिरिक्त जो जल्प आदि करता है, वही उसके लिये मन्त्र, वही अर्चन और वही उसकी दार्शनिकता बन जाती है ॥२२॥

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः ॥२३॥

देह का अभिमान स्वाभाविक है। इसका विगलित होना आवश्यक है। इसके विगलित हो जाने पर व्यक्ति का आध्यात्मिक स्तर बहुत ऊँचा उठ जाता है। परिणामतः परमेश्वर की वास्तविक जानकारी सम्भव हो जाती है। साधक के माध्यम से परमेश्वर का ज्ञान हो जाता है। परमेश्वर का ज्ञान जिस व्यक्ति को हो जाता है, उस व्यक्ति का मन भी परिनिष्ठित हो जाता है। वह जहाँ-जहाँ जाता है, उसकी वहीं-वहीं समाधि हो जाती है ॥२३॥

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परात्मनि ॥२४॥

समाधि की अवस्था के दो हेतु ऊपर बताये गये हैं—१. देहाभिमान का विगलित हो जाना और २. परमात्मा का ज्ञान हो जाना। ये दोनों बातें यदि साधना द्वारा साधक को सिद्ध हो जाती हैं, तो परिणामस्वरूप तीन बातें अवश्य सिद्ध हो जाती हैं—१. हृदय में पड़ी हुई गाँठ खुल जाती है। २. उस साधक में किसी प्रकार के संशय का लेश नहीं रहता और ३. उस परमात्मा के ज्ञान द्वारा दर्शन हो जाने पर उसके समस्त कर्म भी ज्ञान की आग में दग्ध होकर नष्ट हो जाते हैं, अर्थात् कर्म के नये अंकुर नहीं उग पाते हैं ॥२४॥

योगीन्द्रेण यदा प्राप्तं निर्मलं परमं पदम्।
देवासुरपदं यत्तत्प्राप्तञ्चापि न गृह्यते ॥२५॥

ऐसे योगीन्द्र जिस समय इस प्रकार का निर्मल पद प्राप्त कर लेते हैं, वे उतने उच्च स्तर पर पहुँच जाते हैं, जहाँ से उन्हें देवेन्द्र का पद भी छोटा लगने लगता है। यदि किसी तरह वह प्राप्त भी हो जाय, तो उसे ग्रहण या स्वीकार नहीं करते ॥२५॥

यः पश्येत् सर्वगं शान्तमानन्दात्मकमव्ययम्।
तस्य किञ्चिदनालभ्यं ज्ञातव्यं नावशिष्यते ॥२६॥

जो श्रेष्ठ योगी सर्वव्याप्त, शान्त, आनन्दस्वरूप व्यक्त और अव्यक्त भाव सम्पन्न परमेश्वर का दर्शन कर लेता है, अर्थात् आत्मभाव में समाहित कर उसी की महानुभूति से भर जाता है, उसके लिये संसार में कुछ भी अप्राप्य नहीं रह जाता। कोई तत्त्व उसके लिये अज्ञेय नहीं रहता तथा उसकी सारी इच्छाओं की तत्काल पूर्त्ति हो जाती है। इसलिये जीवन का लक्ष्य ब्रह्मप्राप्ति ही होनी चाहिये ॥२६॥

सम्प्राप्ते ज्ञानविज्ञाने ज्ञेये च हृदि संस्थिते।
लब्धे शान्तिपदे देवि न योगो नैव धारणा ॥२७॥

ज्ञान-विज्ञान के इसी जीवन में प्राप्त हो जाने पर और परमज्ञेय परमोपास्य परमेश्वर के साधक-हृदय में अवस्थित हो जाने पर परमेश्वर तादात्म्यदार्ढ्य की अवस्था में परमशान्ति उपलब्ध हो जाती है। भगवान् कह रहे हैं कि, देवि! इस अवस्था में योग और धारणा आदि व्यर्थ हो जाते हैं ॥२७॥

परे ब्रह्मणि विज्ञाते समस्तैर्नियमैरलम्।
तालवृन्तेन किं कार्यं लब्धे मलयमारुते ॥२८॥

परब्रह्म जिस समय विज्ञात हो जाता है, जीवन का वह महत्त्वपूर्ण क्षण होता है। वस्तुत: जीवन की सार्थकता भी इसी में है। जीवन धन्य हो जाता है। साधक ज्ञानवान् गुरुवर्य हो जाता है। उस समय यम और नियम आदि जो योग के आठ अंगों के आधार-भूत अंग हैं, इनके अभ्यास की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। नियम शब्द में बहुवचन प्रयोग के कारण सभी अंगों का ग्रहण नियम शब्द से हो जाता है। जैसे मलय वायु के उपलब्ध हो जाने पर तालवृन्त द्वारा वायुसेवन का कोई मूल्य नहीं रहता। परब्रह्म

का विज्ञान उसी मलय मारुत के समान है और नियम आदि महत्त्वहीन तालवृन्त से उपलब्ध वायु के समान। अर्थात् ब्रह्मविज्ञान ही मुख्य लक्ष्य है ॥२८॥

आसिकाबन्धनं नास्ति नासिकाबन्धनं न हि।
न यमो नियमो नास्ति स्वयमोमिति पश्यताम् ॥२९॥
न पद्मासनतो योगो न नासाग्रनिरीक्षणम्।

श्लोक में प्रयुक्त आसिका शब्द कई अर्थों की ओर संकेत करता है। आस धातु से आसन शब्द की ओर सर्वप्रथम ध्यान जाता है। साधना में आसनबन्धों का बड़ा महत्त्व है। इसी क्रम में सारी चक्रसाधना प्रक्रिया आती है। ऐसे आसिकाबन्ध परब्रह्म के विज्ञात हो जाने पर आवश्यक नहीं रह जाते।

दूसरा अर्थ आसिकाबन्ध शब्द का परिकरबद्ध शस्त्र (कटार) ग्रहणशीलता है जिसमें सावधान सांसारिक अपनी हानोपादानमयी बुद्धि से विभ्रान्त रहता है। वह स्वरूपसाक्षात्कार से कोसों दूर हटता जाता है। ये दोनों बन्ध आसिकाबन्ध हैं और दोनों उस साधक के लिये हेय हैं, जो "ॐ" का स्वरूपसाक्षात्कार कर लेता है।

नासिकाबन्ध प्राणायाम को कहते हैं। स्वरूपसाक्षात्कार हो जाने पर प्राणायाम का भी कोई अर्थ नहीं रहता। प्राणायाम साधना में सहायक होता है। अब तो साध्य ही उपलब्ध है, साधना पूरी हो चुकी है। अतः आसिका, नासिका आदि परब्रह्मरूप ॐकारसाक्षात्कार के बाद व्यर्थ हैं। न तो पद्म आदि आसनों से योगसिद्धि होती है और न ही नासा के अग्रभाग के निरीक्षण से ही सम्भव है ॥२९॥

ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः ॥३०॥
ध्यायतां क्षणमात्रं हि श्रद्धया परमन्त्विह।
यद्भवेत् सुमहत् पुण्यं तस्यान्तो नैव गण्यते ॥३१॥

जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य ही जीवन का ध्येय है। जीव अलग रहकर मलों से आवृत रहता हुआ अपने संकोच को समझ नहीं पाता। उसका आत्मा में समाहित होना ही वास्तविक योग है। यह योग सांसारिकता और संकोचरूप अज्ञान को ग्रस लेने वाला 'राहु' माना जाता है। सभी योगविशारद विद्वान् इसका समर्थन करते हैं।

यह निश्चय है कि, एक क्षण भी निश्चयात्म रूप से यदि ध्यान में श्रद्धा और आस्थापूर्वक परमात्मा का ध्यान किया जाय और यह सध जाय, तो जीवन में एक चमत्कार घटित होता है। एक महान् पुण्य का उदय होता है। ऐसे पवित्र योग का कोई अन्त नहीं होता ॥३०-३१॥

क्षणं ब्रह्माहमस्मीति यः कुर्यादात्मचिन्तनम्।
स सर्वं पातकं हन्यात्तमः सूर्योदयो यथा ॥३२॥

साधना में रत साधक साधना के क्रम में यदि कभी एक क्षण के लिये भी आत्म-

चिन्तन करते हुए यह सोच लेता है कि, 'मैं स्वयं ब्रह्म ही हूँ', वह एक क्षण मात्र के इस चिन्तन से अपने समस्त पापों का नाश कर लेता है। एक क्षण के इस चिन्तन में ऊर्जा की वह आग है, जो सारे पापों को जला डालती है। हाँ, शर्त्त यह है कि, वह चिन्तन आस्था और श्रद्धा से भरा हुआ हो। जैसे सूर्योदय होते ही अन्धकार का विध्वंस हो जाता है, उसी तरह 'अहं ब्रह्मास्मि' का चिन्तन पापों को नष्ट कर डालता है ॥३२॥

व्रतक्रतुतपस्तीर्थदानदेवार्चनादिषु ।
यत् फलं कोटिगुणितं तदवाप्नोति तत्त्ववित् ॥३३॥

व्रतों का आचरण, तीर्थाटन, क्रतु अर्थात् दानादि यज्ञों का सम्पादन, दान और देवपूजा आदि सारे कार्य पुण्यप्राप्ति के उद्देश्य से किये जाते हैं। पुण्य ही इनका फल होता है। इसके अतिरिक्त तत्त्व का साक्षात्कार करने वाला तत्त्ववेत्ता पुरुष तत्त्वज्ञान से ही उक्त व्रतादि के माध्यम से होने वाले पुण्यों से करोड़ों गुना पुण्य प्राप्त करता है ॥३३॥

उत्तमा सहजावस्था मध्यमा ध्यानधारणा ।
जपस्तुतिः स्यादधमा होमपूजाऽधमाधमा ॥३४॥

सहजावस्था एक अनिर्वचनीय सर्वोच्च शान्त दशा होती है। राजानक जयरथ ने श्रीतन्त्रालोक में उद्धृत किया है—

'मा किञ्चित्त्यज, मा गृहाण, विरम, स्वस्थो यथावस्थितः[1]'।

यह यथावस्थित स्थिति ही सहजावस्था मानी जाती है। यह सबसे ऊँची अवस्था मानी जाती है। दूसरे स्तर की अवस्था ध्यान और धारणा की मानी जाती है। इससे भी निम्न अवस्था जप और स्तोत्र पाठ आदि की होती है; किन्तु सबसे निम्न अवस्था जिसे अधम से भी अधम अधमाधमा कहते हैं; वह है होम और पूजा। इसके आडम्बर में रहकर द्वैतभाव की पुष्टि ही होती है। अतः उत्तरोत्तर ऊपर उठने का अभ्यास करना चाहिये ॥३४॥

उत्तमा तत्त्वचिन्ता स्याज्जपचिन्ता तु मध्यमा ।
शास्त्रचिन्ताऽधमा ज्ञेया लोकचिन्ताऽधमाधमा ॥३५॥

इसी तरह चार दशाओं की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं। सबसे उत्तम अवस्था वह होती है, जब साधक या कोई पुरुष तत्त्वचिन्तन में निमग्न रहता है। वह अवस्था मध्यम मानी जाती है, जिसमें जप का चिन्तन आदमी करता है, अर्थात् जप से उत्तम तत्त्वचिन्तन माना जाता है। जो शास्त्र की चिन्ता में ही रत रहता है, वह भी उत्तम नहीं वरन् अधम ही माना जाता है; किन्तु लोक की चिन्ता में ही रत रहना अधम से भी अधम दशा मानी जाती है। इसलिये केवल लोकचिन्ता में रत रहना ठीक नहीं। क्रमशः ऊपर उठने की चेष्टा करनी चाहिये ॥३५॥

पूजाकोटिसमं स्तोत्रं स्तोत्रकोटिसमो जपः ।
जपकोटिसमं ध्यानं ध्यानकोटिसमो लयः ॥३६॥

---

१. श्रीतन्त्रालोक – १:३३१; पृ. २८३।

पूजा बाह्य याग कहलाती है। इसमें द्वैतभाव की ही पुष्टि होती है। इसलिये शास्त्र कहते हैं कि, करोड़ों प्रकार की पूजा से महत्त्वपूर्ण स्तोत्रपाठ माना जाता है। वहीं करोड़ों स्तोत्रपाठ से उत्तम जप माना जाता है। करोड़ों जप से भी उत्तम फलप्रद ध्यान माना जाता है। शास्त्र यह भी प्रतिपादित करते हैं कि, करोड़ों ध्यान से भी उत्तम आराध्य में अपना लय करना है ॥३६॥

न हि ध्यानात् परो मन्त्रो न देवस्त्वात्मनः परः।
नानुसन्धात् परा पूजा न हि तृप्तेः परं फलम् ॥३७॥

ध्यान से बढ़कर कोई मन्त्र नहीं होता। स्वात्मदेव से बढ़कर कोई देव नहीं होता। परमात्मा के अनुसन्धान से बढ़कर कोई पूजा नहीं हो सकती। तृप्ति से बढ़कर कोई फल नहीं होता। इस श्लोक में ध्यान, स्वात्मानुसन्धान और तृप्ति के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है ॥३७॥

अक्रियैव परा पूजा मौनमेव परो जपः।
अचिन्तैव परं ध्यानमनिच्छैव परं फलम् ॥३८॥

सबसे बड़ी पूजा किसे कहते हैं ? इस जिज्ञासा के उत्तर में भगवान् कह रहे हैं कि, सारी क्रिया परमात्मा को अर्पित कर अक्रिया भाव में अवस्थिति सबसे सुन्दर पूजा मानी जाती है। जप भी मौन रहकर किया जाता है; किन्तु केवल मौन रहना (वाणी से भी और विचार से भी) सब से उत्तम जप माना जाता है। ध्यान का भी बड़ा महत्त्व है। वह ध्यान सर्वोत्तम माना जाता है, जिसमें चिन्तन की स्फूर्त्ति भी न हो। फल में तरह-तरह की इच्छा का योग होता है। जब इच्छा का योग न हो और प्राप्ति के प्रति अनिच्छा का उदय हो जाय, तो यह अनिच्छारूप महाफल माना जाता है ॥३८॥

मन्त्रोदकैर्विना सन्ध्यां पूजाहोमैर्विना तपः।
उपचारैर्विना पूजां योगी नित्यं समाचरेत् ॥३९॥

'सन्ध्या' समय में 'सन्ध्या' नामक आचार का पालन नित्यकर्म में परिगणित है। इसके लिये वैदिक रीति के अनुसार विनियोग आदि मन्त्रों के साथ जल का प्रयोग अनिवार्य माना जाता है। कुलार्णवतन्त्र कहता है कि, योगी के लिये यह आवश्यक नहीं है। वह मन्त्रोदक के बिना ही नित्य सन्ध्या का प्रयोग करता रहे। इसी तरह पूजा और हवन आदि के बिना, तप उपचारों के बिना पूजा का भी नित्य आचरण करे ॥३९॥

निःसङ्गश्च विसङ्गश्च निस्तीर्णोपाधिवासनः।
निजस्वरूपनिर्मग्नः स योगी परतत्त्ववित् ॥४०॥

निःसंगता और किसी प्रकार की आसक्ति के प्रति वैराग्य, समस्त प्रकार की सोपाधिक वासनाओं का अतिक्रमण और स्वात्म 'स्व'भाव में तादात्म्य पूर्ण ऐक्यमय निमग्नता ये योगी के प्रधान गुण हैं। ऐसा योगी परतत्त्ववेत्ता माना जाता है ॥४०॥

देहो देवालयो देवि जीवो देवः सदाशिवः ।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहम्भावेन पूजयेत् ॥४१॥

भगवान् शंकर कहते हैं कि, देवि पार्वति ! यह शरीर दिव्य शक्तियों और शक्ति-मन्त्रों का अपना अधिष्ठान है। इसीलिये इसे देवालय कहते हैं। इसमें प्रधान रूप से जिस देव का निवास है, वही 'जीव' कहलाता है। शास्त्र में इसे 'सदाशिव' कहते हैं। इसके ऊपर आवरणरूप अज्ञान का निर्माल्य चढ़ा हुआ है। इसको हटाना चाहिये। 'त्यजेत्' विधि क्रिया है। अर्थात् साधक का कर्त्तव्य है कि, अज्ञान का आवरण दूर करे। इसके बाद 'सोऽहं' भाव से 'अजपाजप' के माध्यम से उसकी पूजा करे ॥४१॥

जीवः शिवः शिवो जीवः स जीवः केवलः शिवः ।
पाशबद्धः स्मृतो जीवः पाशमुक्तः सदाशिवः ॥४२॥

जीव वस्तुतः शिव ही है। दूसरे शब्दों में कहा जाय, तो यह कहा जा सकता है कि, शिव ही जीव है। जीवभाव में स्वयं आत्मसंकोच की स्वतन्त्रता के कारण स्वयं शिव ही आते हैं। यह कोई अन्य नहीं, केवल शिव ही हैं। संकोच को दूसरे शब्दों में पाश कहते हैं। स्वयं गृहीतसंकोच-भाव शिव पाशबद्ध होकर जीव कहलाने लगते हैं। जीव ही जब पाशमुक्त हो जाता है, तो वही सदाशिव भाव में परिगणित होने लगता है ॥४२॥

तुषेण बद्धो व्रीहिः स्यात्तुषाभावे हि तण्डुलः ।
कर्मबद्धः स्मृतो जीवः कर्ममुक्तः सदाशिवः ॥४३॥

यह प्रत्यक्ष देखा जा सकता है कि, 'धान' की संज्ञा तभी चरितार्थ होती है जब उस पर तुष (भूसी का छिलका) लगा होता है। तुष के हटा देने के उपरान्त धान तण्डुल (चावल के दाने) के रूप में परिणत हो जाता है। यही दशा शिव या सदाशिव की है। जब कर्मपाश में शिव बद्ध रहते हैं, तो उनकी संज्ञा 'जीव' हो जाती है। ज्यों ही पाश-मुक्ति की दशा आती है, सदाशिव भाव उल्लसित हो जाता है ॥४३॥

अग्नौ तिष्ठति विप्राणां हृदि देवो मनीषिणाम् ।
प्रतिमास्वप्रबुद्धानां सर्वत्र विदितात्मनाम् ॥४४॥

दिव्यशक्तिसम्पन्न शिवदेव विभिन्न अधिकारियों को विभिन्न वस्तुओं में अभिव्यक्त होते हैं, जहाँ उनका साक्षात्कार विभिन्न स्तर पर किया जा सकता है। जैसे विप्रों के लिये शिव देव अग्नि में वास करते हैं। मनीषी पुरुषों को उनका साक्षात्कार हृदय में ही हो जाता है। जिनकी चेतना अभी सुषुप्त है, अर्थात् जो प्रतिबुद्ध नहीं हैं, ऐसे लोगों को प्रतिमा में ही देवदर्शन हो जाता है; किन्तु विदितात्मा लोगों के लिये उस सदाशिव देव का दर्शन सर्वत्र होता रहता है ॥४४॥

यो निन्दास्तुतिशीतोष्णसुखदुःखारिबन्धुषु ।
सम आस्ते स योगीन्द्रो हर्षाहर्षविवर्जितः ॥४५॥

निन्दा-स्तुति, शीत-उष्ण, सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, हर्ष और विषाद—ये सभी जागतिक द्वन्द्व हैं। इनसे प्रभावित पुरुष निरन्तर उद्विग्न रहते हैं। जो साधक पुरुष इन द्वन्द्वों में भी अनुद्विग्न अर्थात् शान्त और सम बना रहता है, वह सचमुच योगीन्द्र है। इसमें सन्देह नहीं ॥४५॥

निस्पृहो नित्यसन्तुष्टः समदर्शी जितेन्द्रियः।
आस्ते देहे प्रवासीव योगी परमतत्त्ववित् ॥४६॥

स्पृहा से रहित, नित्य सन्तुष्ट, सर्वत्र सम दर्शन करने वाला समदर्शी, इन्द्रिय-जेता, योगीश्वर सचमुच परमतत्त्वरूपी रहस्य का वेत्ता अर्थात् द्रष्टा होता है। ऐसा योगी इस शरीर में प्रवासी की तरह जीवन व्यतीत करता है। अन्त में वह स्वात्मसत्तारूप परमात्मा में समाहित हो जाता है ॥४६॥

निःसङ्कल्पो निर्विकल्पो निर्लिप्तोपाधिवासनः।
निजस्वरूपनिर्मग्नः स योगी परतत्त्ववित् ॥४७॥

संकल्प से रहित साधक को निःसंकल्प कहते हैं। इसी तरह विकल्पों से रहित साधक निर्विकल्प कहलाता है। वासनाओं के प्रभाव से जो सांसारिकता में सना रहता है, उसे लिप्त कहते हैं। जो लिप्त नहीं रहता, वह निर्लिप्त कहलाता है। इस प्रकार समस्त औपाधिक वासनाओं में भी निर्लिप्त रहने वाला साधक उत्तम कोटि का साधक होता है। इन विशेषताओं से विशिष्ट साधक यदि और भी ऊर्ध्व सोपान की ओर अग्रसर होकर जो स्वात्म 'स्व' स्वरूप में निमग्न हो जाने का अभ्यास कर लेता है, वह और भी अच्छा साधक होता है। उक्त सभी अर्थात्—१. निःसंकल्प, २. निर्विकल्प, ३. निर्लिप्तोपाधि-वासन, ४. निजस्वरूपनिमग्न योगी परतत्त्ववेत्ता माने जाते हैं ॥४७॥

यथा पङ्ग्वन्धबधिरक्लीबोन्मत्तजडादयः।
निवसन्ति कुलेशानि तथा योगी च तत्त्ववित् ॥४८॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि कुलस्वामिनि! यह तथ्य है कि, तत्त्ववेत्ता योगी अपने व्यक्तित्व को गुप्त भाव से सुरक्षित रखते हुए ऐसा व्यवहार करता है, जिससे लोग उसे तत्त्व रूप से पहचान न सकें। कभी वह पंगु की तरह, कभी अन्धवत् और कभी बहरे की तरह व्यवहार करने लगता है। कभी वह क्लीब, उन्मत्त और जड आदि की तरह रहते हुए जीवन व्यतीत करता है ॥४८॥

पञ्चमुद्रासमुत्पन्नपरमानन्दनिर्भरः।
य आस्ते स तु योगीन्द्रः पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥४९॥

कुलमार्ग में कुलमुद्रा का महत्त्व शास्त्रों द्वारा समर्थित है। कुलमुद्रायें पाँच मुद्राओं के रूप में प्रसिद्ध हैं। कुछ लोग करंकिणी और खेचरी आदि मानते हैं। कुछ लोग पाँच मुद्राओं को पंचमकार (मद्य, मांस, मैथुन, मत्स्य और मुद्रा) को ही कहते हैं। इनसे

उत्पन्न होने वाली आनन्दात्मक अनुभूति पर योगीन्द्र साधक निर्भर रहते हैं। वे स्वात्म में स्वात्मतत्त्व का दर्शन कर अपने को धन्य बना लेते हैं ॥४९॥

अलिमांसाङ्गनासङ्गे यत् सुखं जायते प्रिये।
तदेव मोक्षो विदुषामबुधानान्तु पातकम् ॥५०॥

मद्य, मांस और अंगना—ये तीनों आध्यात्मिक सुख के मूल और महान् साधन हैं। भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति ! इनसे मिलने वाला सुख ही मोक्ष है। तत्त्ववेत्ता इस आनन्द को मोक्षरूप से स्वीकार करते हैं। जो तत्त्व के जानकार नहीं होते, ऐसे अबुध लोग भले ही इसे पातक कहें, वस्तुसत्य में कोई अन्तर नहीं पड़ता ॥५०॥

सदा मांसासवोल्लासी सदा चरणचिन्तकः।
सदा संशयहीनो यः कुलयोगी स उच्यते ॥५१॥

वह योगसाधक कुलयोगी कहलाता है, जिसने अपने जीवन की धारा कौलाचार के अनुसार नियमित और नियन्त्रित कर ली हो। इसके लिये वह मुख्य रूप से तीन कार्य अपनाता है—१. नित्य मद्य और मांस के सेवन से शरीर में होने वाले उल्लास अर्थात् मदमयता से प्रभावित नशे की मदहोशी से उल्लसित रहता है। २. सदाचरण (कुलाचरण अथवा सत्य रूप ब्रह्ममयता का आचरण अथवा मिथुनीभावार्थ चरणचिन्तक) बना रहता है। ३. सभी प्रकार के संशयों से रहित होता है। वही कुलयोगी है ॥५१॥

पिबन्मद्यं पलं खादन् स्वेच्छाचारपरायणः।
अहं तदनयोरैक्यं भावयन्निवसेत् सुखी ॥५२॥

मद्य का सेवन करने में रत और मांस के आस्वाद में सन्निहित स्वैर आचार में परायण रहने वाला कुलाचारनिरत कौल साधक 'अहं' और 'सः' इन दोनों में भेदबुद्धि नहीं रखता। इन दोनों की एकता के अमरभाव से सदा भावित रहता है ॥५२॥

आमिषासवसौरभ्यहीनं यस्य मुखं भवेत्।
प्रायश्चित्ती स वर्ज्यश्च पशुरेव न संशयः ॥५३॥

जिस कुलाचार में प्रविष्ट पुरुष का मुख मद्य और मांस के सौरभ्य से सुगन्धित नहीं रहता, उस दीक्ष्य को कुलमार्ग से निष्कासित कर देना चाहिये। यदि वह इसमें रहना चाहता है, तो उसे प्रायश्चित्त करना ही चाहिये। फिर भी इस पावन मार्ग से यदि वह विरत ही रहता है, तो निःसंशय वह पशु है, ऐसा समझना चाहिये ॥५३॥

यावदासवगन्धः स्यात् पशुः पशुपतिः स्वयम्।
विनालिमांसगन्धेन साक्षात् पशुपतिः पशुः ॥५४॥

जब तक मुख में आसव का गन्ध विराजमान है, उसे पशु नहीं कहा जा सकता। निश्चित ही वह पशुपति है, अर्थात् स्वयं शिवरूप ही है। मद्य और मांस के गन्ध के बिना साक्षात् पशुपति ही क्यों न हो, वह पशु के ही समान है ॥५४॥

लोके निकृष्टमुत्कृष्टं लोकोत्कृष्टं निकृष्टकम्।
कुलमार्गं समुद्दिष्टं भैरवेण महात्मना ॥५५॥

कुलमार्ग अलौकिक मार्ग है। इसे लौकिक दृष्टि से कुछ लेना-देना नहीं। यह अपने लक्ष्य की चिन्ता करता है, लोक की नहीं। इसीलिये लोक में जिसे निकृष्ट कहते हैं, वह कुलमार्ग में उत्कृष्ट माना जाता है। इसी तरह लोक में जिसे उत्कृष्ट कहते हैं, वह कुलाचार की दृष्टि से निकृष्ट अतएव हेय माना जाता है। भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि! यह महात्मा भैरव का सनातन सत्य वचन है ॥५५॥

अनाचारः सदाचारस्त्वकार्यं कार्यमुत्तमम्।
असत्यमपि सत्यं स्यात् कौलिकानां कुलेश्वरि ॥५६॥

इस मार्ग में अनाचार भी सदाचार बन जाता है। जिसे सभी अकरणीय कार्य कहते हैं, वही उत्तम कार्य कहलाता है। यहाँ असत्य भी सत्य हो जाता है। भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, कुलेश्वरि! यह कौलिकों का मार्ग ही अलौकिक माना जाता है ॥५६॥

अपेयमपि पेयं स्यादभक्ष्यं भक्ष्यमेव च।
अगम्यमपि गम्यं स्यात् कौलिकानां कुलेश्वरि ॥५७॥

यहाँ अपेय ही पेय है। इस मार्ग में अभक्ष्य भी भोजन के रूप में ग्रहण करने योग्य है। जिसे लोक अगम्य मानता है, इस मार्ग में उसे गम्य माना गया है। कुलेश्वरी देवि! पार्वति! यह मार्ग ही ऐसा है ॥५७॥

न विधिर्न निषेधः स्यान्न पुण्यं न च पातकम्।
न स्वर्गो नैव नरकं कौलिकानां कुलेश्वरि ॥५८॥

कौलिक विधि-निषेध से ऊपर होता है। पुण्य और पाप का अन्तर यहाँ अमान्य है। स्वर्ग और नरक की प्रकल्पना का यहाँ कोई मूल्य नहीं है। हे कुलस्वामिनी पार्वति! यह मार्ग ही ऐसा है ॥५८॥

अनभिज्ञा अभिज्ञन्ति दरिद्रा धनयन्ति च।
विनष्टा अपि वर्द्धन्ते कौलिकाः कुलनायिके ॥५९॥

इस अलौकिक आचार-मार्ग में अनभिज्ञ भी अभिज्ञ हो जाते हैं। दरिद्र भी धनी की तरह आचरण करने लगते हैं। ऐसे लोग जो हर तरह से बरबाद हो गये रहते हैं, इस मार्ग में आकर आगे बढ़ जाते हैं, अर्थात् उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो जाते हैं। भगवान् कहते हैं कि, देवि! कुलेश्वरि! कुलमार्ग को अपनाने वालों की यह विशेषता है ॥५९॥

रिपवश्चापि मित्रन्ति साक्षाद्दासन्ति भूमिपाः।
बान्धवन्ति जनाः सर्वे कौलिकानां कुलेश्वरि ॥६०॥

यहाँ शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। भूपति, जिनकी बड़ी प्रतिष्ठा होती है, अपनी प्रतिष्ठा के असत्य अहं का परित्याग कर भृत्यवत् आचरण करने में गौरव का अनुभव

करने लगते हैं। अन्य सारे जन, सारी प्रजा जो कौलमार्ग अपना लेती है, परस्पर बान्धव भाव का व्यवहार करने लगती है। भगवान् कहते हैं कि, यह इस मार्ग की बहुत बड़ी विशेषता है ॥६०॥

विमुखाः सुमुखाः सर्वे गर्विताः प्रणमन्ति च।
बाधकाः साधकायन्ते कौलिकानां कुलेश्वरि ॥६१॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि कुलेश्वरि! जो विमुख रहकर प्रतिकूल आचरण में संलग्न रहते हैं, वे निश्चित ही सुमुख हो जाते हैं, अर्थात् उनकी जीवन-धारा नितान्त अनुकूल बन जाती है। जो गर्व से मुँह फुलाये विपरीत रहते हैं, वे विनम्र होकर प्रणय अर्थात् प्रेम का व्यवहार करने लगते हैं। जो बाधक होते हैं, वे साधक बन जाते हैं। यह इस मार्ग का महत्त्व है ॥६१॥

निर्गुणाः सगुणायन्ते अकुलं सुकुलायते।
अधर्माश्चापि धर्मन्ति कौलिकानां कुलेश्वरि ॥६२॥

निर्गुण अर्थात् गुणों से सर्वथा रहित अगुणी व्यक्ति भी गुणवन्तों की तरह आचरण करने लगता है। जो सुन्दर कुलवाला नहीं है, इस मार्ग में आकर सुन्दर कुलवान् पुरुष की तरह आचरण करने लगता है। जो कभी धर्म की बात नहीं करते, अर्थात् धर्म का धकार भी नहीं जानते, वे धार्मिकता के प्रतिमान बन जाते हैं। भगवान् कहते हैं कि, देवि कुलेश्वरि! यह कौलिकों की विशेषता है ॥६२॥

मृत्युर्वैद्यायते देवि साक्षात् स्वर्गायते गृहम्।
पुण्यायन्तेऽङ्गनासङ्गाः कौलिकानां कुलेश्वरि ॥६३॥

देवि! पार्वति! यहाँ साक्षात् यमराज भी चिकित्सक बनकर आश्चर्यवत् आचरण करते हैं। गृह भी साक्षात् स्वर्ग बन जाता है और अंगनाओं के आसंग में पुण्य की पावनता की प्रतिष्ठा हो जाती है। यह और कहीं नहीं, मात्र कौलिक मार्ग में ही सम्भव है ॥६३॥

बहुनात्र किमुक्तेन कुलयोगीश्वराः प्रिये।
सदा सङ्कल्पसिद्धाः स्युर्नात्र कार्या विचारणा ॥६४॥

भगवान् शंकर ने इस प्रकार कौलिक मार्ग के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहा कि, देवि पार्वति! इस विषय में अधिक कितना और क्या कहा जाय? बातों की एक ही बड़ी बात मैं कह रहा हूँ कि, प्रिये! कुलयोगीश्वर संकल्पसिद्ध योगीश्वर होते हैं। मेरी इस बात पर पुनः विचार की कोई आवश्यकता नहीं। यह शाश्वत सत्य तथ्य है ॥६४॥

येन केनापि वेशेन येन केनाप्यलक्षितः।
यत्र कुत्राश्रमे तिष्ठेत् कुलयोगी कुलेश्वरि ॥६५॥

कुलयोगी का कोई निर्धारित वेश नहीं होता। भगवान् कह रहे हैं कि, कुलेश्वरि! कुलयोगी जिस किसी वेश में रहे, कोई अन्तर वहाँ नहीं पड़ता। उसकी सबसे बड़ी

विशेषता यह है कि, वह जिस किसी के द्वारा लक्षित भी नहीं होता। सब उसे पहचान भी नहीं पाते। वह जहाँ कहीं भी किसी आश्रम में रह लेता है। इससे उसकी साधना बाधित नहीं होती ॥६५॥

योगिनो विविधैर्वेशैर्नराणां हितकारिणः ।
भ्रमन्ति पृथिवीमेतामविज्ञातस्वरूपिणः ॥६६॥

एक विशेष तथ्य की ओर भगवान् सबका ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं। वे कहते हैं कि, योगी लोग विविध अनेकानेक वेश धारण कर लेते हैं। इससे शीघ्र उन्हें कोई पहचान भी नहीं पाता। लोककल्याण की दृष्टि से लोगों की हित की कामना से वे सारी पृथिवी का पर्यटन किया करते हैं। इधर से उधर, यहाँ से वहाँ, एक गाँव से दूसरे गाँव में स्वात्मगोपन भाव से ही कि, कोई हमारे मूल स्वरूप को पहचान भी न सके, बराबर घूमते रहते हैं ॥६६॥

सकृन्नैवात्मविज्ञानं क्षपयन्ति कुलेश्वरि ।
उन्मत्तमूकजडवन्निवसेल्लोकमध्यतः ॥६७॥

भगवान् कह रहे हैं कि, कुलेश्वरि ! पार्वति ! ये कुलसंकल्पसिद्ध योगी कहीं किसी अवस्था में रहते हैं, अपनी साधना में बाधा नहीं आने देते। स्वात्मविचार को कभी क्षीण नहीं होने देते। उनका सिद्धान्त है कि, लोक में उन्मत्त (पागलपनग्रस्त) की तरह, गूँगे की तरह, जड़ बनकर भी कहीं रह लें। समय बिता लें। रहें वह लोक में ही; पर अपनी समयाचारिता के प्रति सजग रहें ॥६७॥

अलक्ष्यो हि यथा लोके व्योम्नि चन्द्रार्कयोगतः ।
नक्षत्राणां ग्रहाणाञ्च तथा वृत्तन्तु योगिनाम् ॥६८॥

आकाश में चन्द्र और सूर्य के योग का परिणाम नक्षत्रों और ग्रहों के वृत्त पर यह प्रभाव पड़ता है कि, दिन में उनके दर्शन ही नहीं होते। रात को दीख पड़ने की शोभा भी आश्चर्यजनक ही होती है। इन दृश्यों से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि, योगियों के प्राण-अपान संघट्ट से दिन और रात के वे अंग प्रकाशित होते हैं, जिनसे जीवनवृत्त के विभिन्न स्वरूपों के दर्शन होते हैं ॥६८॥

आकाशे पक्षिणां देवि जलेऽपि जलचारिणाम् ।
यथा गतिर्न दृश्येत तथा वृत्तं हि योगिनाम् ॥६९॥

आकाश में आकाशचारी पक्षियों का प्राबल्य रहता है। उसी तरह जल में जलचरों का प्राधान्य होता है। उनकी गतिविधियों का परिज्ञान भूतल-वासियों को नहीं हो पाता। वही दशा योगियों की होती है। उनकी गतिविधियों का ज्ञान सामान्य व्यक्तियों को नहीं हो पाता ॥६९॥

असन्त इव भाषन्ते चरन्त्यज्ञा इव प्रिये ।
पामरा इव दृश्यन्ते कुलयोगविशारदाः ॥७०॥

यद्यपि वे परमतत्त्वज्ञ होते हैं; किन्तु व्यवहार जगत् में वे अपने को ऐसा व्यक्त करते हैं मानो ये सामान्य पुरुष हैं। वे ऐसी बातें करते हैं, जिससे लोग अदक्ष मानकर कह देते हैं कि, यह कोई सन्त पुरुष नहीं हैं। भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! वे अज्ञ की तरह आचरण करते हैं। देखने में तो वे नितान्त पामर व्यक्ति प्रतीत होते हैं; किन्तु वास्तविकता यह है कि, ऐसे लोग कुलयाग के विशारद होते हैं ॥७०॥

जना यथावमन्यन्ते गच्छेयुर्नैव सङ्गतिम्।
न किञ्चिदपि भाषन्ते तथा योगी प्रवर्त्तते ॥७१॥

कुलयोगी आत्मरक्षा के उद्देश्य से ऐसा व्यवहार करें, जिससे लोग उनका आदर करने की अपेक्षा उनकी अवमानना ही करें। आदर से झूठे अहं की सम्भावना होती है तथा योगभ्रष्ट होने का डर बना रहता है। ये कभी भी किसी दशा में भी लौकिक लोगों से संगति न बढ़ावें। ये ऐसा व्यवहार करें, जिससे ये दुनियावी लोग उनसे बात करने से भी कतरायें। भगवान् कहते हैं कि, महास्वामिनी देवि ! इसी में योगी का लाभ है ॥७१॥

मुक्तोऽपि बालवत् क्रीडेत् कुलेशो जडवच्चरेत्।
वदेदुन्मत्तवद्विद्वान् कुलयोगी महेश्वरि ॥७२॥

यद्यपि योगी जीवन्मुक्त हैं, फिर भी उसे स्वात्मगोपन के लिये शिशु और बालभाव में रहना चाहिये। बाल व्यवहार ही उनके हित में है। कुलेश्वर की दशा में अधिष्ठित रहते हुए भी जड़ की तरह आचरण करना ही अच्छा मानें और वैसा ही करें। विद्वान् होते हुए भी उन्मत्त और नासमझ की तरह बातें करें। महास्वामिनी देवि पार्वति ! इसी में उनका हित है ॥७२॥

यथा हसति लोकोऽयं जुगुप्सति च कुत्सति।
विलोक्य दूरतो याति तथा योगी प्रवर्त्तते ॥७३॥

योगी को अपने व्यवहार द्वारा यह प्रदर्शन और कार्य का ऐसा प्रवर्त्तन करना चाहिये, जिससे प्रभावित लोग उस पर छींटाकशी करने लगें, हँसी और खिल्ली उड़ायें। कुछ उसकी जुगुप्सा करते दिखायी दें। दोषदर्शन के बाद की निन्दा को जुगुप्सा कहते हैं। उसकी कुत्सा अर्थात् बुराई करें। उसे देखकर लोग दूर से उसकी राह छोड़ दें। इससे योगी को योगक्रिया में आगे बढ़ने का और भी अवकाश मिल जाता है ॥७३॥

क्वचिच्छिष्टः क्वचिद्भ्रष्टः क्वचिद् भूतपिशाचवत्।
नानावेशधरो योगी विचरेज्जगतीतले ॥७४॥

भगवान् कह रहे हैं कि, कुलयोगी विभिन्न वेशभूषा भी धारण कर विश्व में स्वच्छन्द विचरण करे। उसे इसकी छूट है। कहीं तो वह सद्गुणसम्पन्न माननीय विनम्र नागरिक की तरह आदर्श उपस्थित करे। कहीं वह भ्रष्ट अर्थात् पतित, दुश्चरित्र की तरह निष्कासित भी किया जाय, तो कोई हर्ज नहीं। कहीं लगे कि, वह भूत-पिशाच की तरह विभिन्न उपद्रवों का ही निमित्त है। इस तरह उसके व्यक्तित्व का परिष्कार ही होता है ॥७४॥

योगी लोकोपकाराय भोगान् भुङ्क्ते न काङ्क्षया ।
अनुगृह्णन् जनान् सर्वान् क्रीडेच्च पृथिवीतले ॥७५॥

योगी भोगों का उपभोग अपने आनन्दवाद के लिये नहीं करता । वह केवल लोक-कल्याण की कामना से भोगवाद में प्रवृत्त होता है । लोकोपकार ही उसका लौकिक आदर्श होता है । वह विश्व जीव समुदाय पर अनुग्रह की अनवरत वर्षा करता है। भूमण्डल में केवल अन्तर्लक्ष्य को ध्यान में रखता हुआ बाह्य आचार की क्रीड़ा करता है । कुलयोगी का यह रहस्य ही उसके महत्त्व का संवर्द्धन करता है ॥७५॥

सर्वशोषी यथा सूर्यः सर्वभोगी यथाऽनलः ।
योगी भुक्त्वाखिलान् भोगान् तथा पापैर्न लिप्यते ॥७६॥

सूर्य का एक विशेषण 'सर्वशोषक' है । सब का रस वह अपनी किरणों के माध्यम से चूस लेता है । इसमें शुद्धि-अशुद्धि का भेद वह नहीं करता, फिर भी उसमें किसी प्रकार के दोष की सम्भावना नहीं होती । जहाँ तक आग का प्रश्न है, इसे सर्वभोग करने वाला माना जाता है। यह शुद्ध-अशुद्ध का अन्तर नहीं करता । इस पर भी कोई दोष नहीं लगता । जिस प्रकार इन दोनों को सारे भोगों के उपभोग के बाद भी कोई दोष नहीं लगता, उसी तरह कुलयोगी भी निखिल भोग का अधिकारी है । उसे भी कोई दोष नहीं लग सकता । सूर्य और अग्नि से भी बढ़कर इसका महत्त्व शास्त्रों द्वारा स्वीकार्य है ॥७६॥

सर्वस्पर्शी यथा वायुर्यथाकाशश्च सर्वगः ।
सर्वे यथा नदीस्नातास्तथा योगी सदा शुचिः ॥७७॥

वायु यथा सर्वस्पर्शी है । उसे भी किसी के स्पर्श का दोष नहीं लगता । स्पर्श दोष से यह लिप्त नहीं होता । आकाश को देखिये, यह सर्वग है, अर्थात् सर्वत्र व्याप्त है, फिर भी सदा शुचि है । इसमें किसी प्रकार की अपवित्रता नहीं आती । नदी में सभी स्नान करते हैं । सारी गन्दगी नदियों में गिरती है । नदियों में नहाने वाले सभी फिर भी पवित्र होते हैं । इसी तरह कुलाचारसिद्ध योगी सब कुछ करता हुआ भी सर्वदा पवित्र होता है ॥७७॥

यथा ग्रामगतं तोयं नदीयुक्तं भवेच्छुचि ।
तथा म्लेच्छगृहान्नादि योगिहस्तार्पितं शुचि ॥७८॥

बरसात का गाँव-गिराँव में गिरा हुआ बरसाती पानी बहता हुआ सारी गन्दगी के साथ जब नदी को प्राप्त कर लेता है, तो एकदम पुनीत और पावन हो जाता है । उसमें स्नान कर लोग पवित्रता एवं शुचिता का अनुभव करते हैं । उसी तरह भले ही वह म्लेच्छ का अन्न हो, कुलयोगी के हाथ में अर्पित होते ही पावनतम हो जाता है ॥७८॥

यथाऽऽचरन्ति देवेशि ! कुलज्ञानविशारदाः ।
तदेव विदुषां मान्यमात्मनो हितकाङ्क्षिणाम् ॥७९॥

भगवान् कह रहे हैं कि, देवस्वामिनी पार्वति ! कुलज्ञानविशारद कुलयोगी जिस

प्रकार का जैसा भी आचरण करता है, वह आत्मकल्याण की कामना से जीवन को उत्कर्ष की दिशा में ले चलने के लिये अभ्यासरत विद्वद्वरेण्य व्यक्तियों को भी सर्वथा मान्य होता है ॥७९॥

यस्मिंश्चरन्ति योगीशाः स मार्गः परमो मतः ।
यस्यामुदेति सूर्यो हि पूर्वाशा सा निगद्यते ॥८०॥

जिस मार्ग में ऐसे योगीन्द्रवर्य चल रहे होते हैं, ऐसे कुलमार्ग को ही परमोत्कृष्ट मार्ग कह सकते हैं, यह मेरा भी मत है । यह सभी मानते हैं कि, जिस दिशा में सूर्योदय होता है, वही दिशा पूर्व दिशा मानी जाती है ॥८०॥

यत्र यत्र गजो याति तत्र मार्गो यथा भवेत् ।
कुलयोगी चरेद् यत्र स स मार्गः कुलेश्वरि ॥८१॥

हाथी जिस रास्ते से चलते हैं, वही मार्ग न होते हुए भी मार्ग बन जाता है । भगवान् कहते हैं कि, कुलेश्वरि ! उसी तरह कुलाचारसिद्ध योगी जिस मार्ग से चलता है, जिस आचार को आत्मकल्याणार्थ अपनाता है, वही वास्तविक मार्ग है ॥८१॥

नदीं वक्रामृजुं कर्त्तुं निरोद्धुं तत्प्रवाहकम् ।
स्वेच्छाविहारिणं शान्तं को वा वारयितुं क्षमः ॥८२॥

नदियाँ पृथ्वी की ढलान और धरातल की उच्चावच स्थिति के आधार पर वक्रमार्ग अपनाती हैं, अर्थात् टेढ़ी-मेढ़ी बहती हैं । इसके साथ ही वे धाराप्रवाह बहा करती हैं । इनके टेढ़े-मेढ़ेपन और इनके प्रवाह को कौन रोक सकता है, अर्थात् कोई नहीं । उसी प्रकार स्वेच्छापूर्वक आचरण करने वाले शान्त कुलाचारसिद्ध योगी को कोई भी नहीं रोक सकता । विशेष—आज के यान्त्रिक युग में नदी की वक्रता सीधी की जा सकती है और प्रवाह को भी रोक लिया जाता है ॥८२॥

यद्वन्मन्त्रबलोपेतः क्रीडनीयैर्न दृश्यते ।
तद्वत्र दृश्यते ज्ञानी क्रीडन्निन्द्रियपन्नगैः ॥८३॥

जिस प्रकार मन्त्रबल से संवलित मान्त्रिक मदारी मन्त्र के प्रभाव से साँपों से खेलता है; किन्तु उनके द्वारा वह दंशित नहीं देखा जाता, उसी प्रकार इन्द्रिय-सर्पों से खेलने वाला ज्ञानवान् पुरुष कभी इनके प्रभाव में नहीं आता ॥८३॥

निवृत्तदुःखसन्तुष्टा निर्द्वन्द्वा गतमत्सराः ।
कुलज्ञानरताः शान्तास्त्वद्भक्तास्ते च कौलिकाः ॥८४॥

दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति से कुलयोगी सर्वदा सन्तुष्ट रहता है । वह किसी प्रकार के हर्षामर्ष आदि द्वन्द्व में नहीं फँसता । उनके हृदय में मत्सर के लिये कोई स्थान नहीं होता । वे सदा सर्वदा शान्त रहते हैं । ऐसे कुलमार्ग के ज्ञाता विज्ञानवान् भक्त महान् होते हैं । भगवान् कह रहे हैं कि, देवि कुलेश्वरि ! ऐसे तुम्हारे भक्त ही कौलिक होते हैं ॥८४॥

अमदक्रोधदम्भाशाहङ्काराः सत्यवादिनः ।
कौलिकेन्द्रा ह्यचपला ये नेन्द्रियवशानुगाः ॥८५॥

मद, क्रोध, दम्भ, आशा और अहंकार से रहित सत्यवादी और शान्त रहने वाले अर्थात् किसी प्रकार के चांचल्य और चपलता से मुक्त कुलमार्ग के योगीश्वरेन्द्र कभी भी इन्द्रियों के वश में नहीं होते ॥८५॥

कीर्त्त्यमाने कुले येषां रोमाञ्चो गद्गदस्वरः ।
आनन्दाश्रु पतेद्देवि कथिताः कौलिकोत्तमाः ॥८६॥

जिसके समक्ष कुलमार्ग के महत्त्व का बखान करने का यह प्रभाव होता है कि, सुनते ही उसे रोमहर्ष हो उठे और प्रसन्नता से उसका गला भर आये, गद्गद कण्ठ से वाणी न फूट सके, आँखों से आनन्द के आँसू छलक उठें, भगवान् कहते हैं कि देवि ! ऐसे सहृदयशिरोमणि कौलिकों में श्रेष्ठ माने जाते हैं ॥८६॥

सर्वधर्माधिको लोके कुलधर्मः शिवोदितः ।
इति ये निश्चितधियः प्रोक्तास्ते कौलिकोत्तमाः ॥८७॥

कौलिक धर्म शिवोक्त धर्म है । स्वयं शिव द्वारा प्रवर्त्तित होने के कारण यह सभी धर्मों के प्रति उदात्त और उत्तम है, इसमें सन्देह नहीं । इस प्रकार की निश्चित धारणा जिस कुलमार्ग के साधक की होती है, वह कौलिकोत्तम है, यह कहा जा सकता है ॥८७॥

यो भवेत् कुलतत्त्वज्ञः कुलशास्त्रविशारदः ।
कुलार्चनरतः स स्यात् कौलिको नापरः प्रिये ॥८८॥

कुलमार्ग के रहस्य का जानकार कुलतत्त्वज्ञ माना जा सकता है । इसके साथ यदि वह कुलशास्त्रों का विशारद हो तथा कुलपद्धति से पूजन-अर्चन करने में लगा रहने वाला श्रद्धालु हो, तो भगवान् कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति ! वस्तुतः सच्चे अर्थ में वही कौलिक है ॥८८॥

कुलभक्तान् कुलज्ञानान् कुलाचारकुलव्रतान् ।
प्रीतो भवति यो दृष्ट्वा कौलिकः स च मे प्रियः ॥८९॥

कुलमार्ग में भक्तिपूर्वक प्रवण रहने वालों, कुलमार्ग की शास्त्रीय परम्परा को अच्छी तरह जानने वालों—विज्ञों, कुलमार्ग में निर्धारित समयाचार और व्रतों के पालन में अनवरत संलग्न रहने वालों तथा इन प्रक्रियाओं के वस्तुसत्य को सुनकर प्रसन्नता से खिल उठने वालों को देखकर जो प्रसन्न हो उठता है, भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! वही व्यक्ति सच्चा कौलिक है और वही मुझे भी बड़ा प्रिय है ॥८९॥

तत्त्वत्रयश्रीचरणमूलमन्त्रार्थतत्त्ववित् ।
देवतागुरुभक्तश्च कौलिकः स्याच्च दीक्षया ॥९०॥

तीन तरह से कौलिक हो सकते हैं । प्रथम दृष्टि से कौलिक होने के लिये तीन तत्त्वों को जानना आवश्यक है । तीन तत्त्व के कई अर्थ हो सकते हैं । (१. निष्कल शिव

संहार, २. जीव स्थिति और ३. देह सृष्टि), (१. शिव, २. शक्ति और ३. नर), (१. श्रीगुरुचरण, २. मूलमन्त्र और ३. भक्ति) यही तीन तत्त्वमय माने जा सकते हैं। इस श्लोक में तीसरी ओर ही संकेत है। दूसरी दृष्टि से श्रीचरण-ध्यान, मूलमन्त्र के अर्थ-तत्त्व का ज्ञान और देव-गुरु भक्ति कौलिक में आवश्यक है। तीसरी दृष्टि दीक्षा है। दीक्षा से भी कौलिक होता है। कौलिक के लिये यह श्लोक एक प्रमाण है ॥९०॥

दुर्लभं सर्वलोकेषु कुलाचार्यस्य दर्शनम्।
सुपाकेनैव पुण्यानां लभ्यते नान्यथा प्रिये ॥९१॥

विश्व का वह अत्यन्त दुर्लभ क्षण होता है, जिस समय किसी उस व्यक्ति का दर्शन होता है, जो कुलमार्ग का आचार्य हो। भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि ! पार्वति ! निश्चित है कि यह पुण्य के परिपाक से ही सम्भव होता है। इसका और कोई दूसरा कारण नहीं होता ॥९१॥

संस्मृतः कीर्त्तितो दृष्टो वन्दितो भाषितोऽपि वा।
पुनाति कुलधर्मिष्ठश्चाण्डालोऽपि यदृच्छया ॥९२॥

कुलधर्म में निष्ठा रखने वाला कोई भी हो, यहाँ तक कि, वह चाण्डाल भी क्यों न हो ? शास्त्र की दृष्टि से वह नितान्त पवित्र, पावन और दूसरों को भी पावन करने में समर्थ हो जाता है। उसका स्मरण भी स्मरण करने वाले को पवित्र कर देता है। दूसरों द्वारा कीर्त्तित, दृष्ट होने पर वन्दित और बातचीत में सम्मिलित किये जाने पर वह निश्चित ही स्मर्त्ता, कीर्त्तनकर्त्ता, वन्दिता और वार्त्तालापकर्त्ता को पवित्र कर देता है ॥९२॥

सर्वज्ञो वापि मूर्खो वाप्युत्तमो वाऽधमोऽपि वा।
यत्र देवि कुलज्ञानी तत्राहञ्च त्वया सह ॥९३॥

यहाँ सर्वज्ञता और अल्पज्ञता का कोई प्रश्न ही नहीं है। वह भले ही सर्वज्ञ हो या अल्पज्ञ मूर्ख, उत्तम हो या अधम, भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! उसे कुलमार्ग का जानकार होना चाहिये। वह कुलज्ञ हो। जहाँ कुलज्ञ रहता है, वहाँ तुम्हारे साथ मैं भी सदा विद्यमान रहता हूँ ॥९३॥

नाहं वसामि कैलासे न मेरौ न च मन्दरे।
कुलज्ञा यत्र तिष्ठन्ति तत्र तिष्ठामि भाविनि ॥९४॥

लोग कैलास का दर्शन करने के लिये लालायित रहते हैं; क्योंकि वे लोग यह जानते हैं कि, मैं कैलास में रहता हूँ। कुछ लोग मेरु और कुछ लोग मन्दराचल को मेरा वासस्थान मानते हैं। भगवान् शंकर कहते हैं कि, प्रिये ! वास्तविकता यह है कि, जहाँ कुलज्ञ साधक रहते हैं, मैं वहीं रहता हूँ ॥९४॥

सुदूरमपि गन्तव्यं यत्र माहेश्वरो जनः।
द्रष्टव्यश्च प्रयत्नेन तत्र सन्निहितो ह्यहम् ॥९५॥

जहाँ महेश्वरमार्गनिष्णात महामाहेश्वरों का आवास होता है अथवा जहाँ वे अपने जीवन का यापन करते हैं, भले ही वह सुदूर देश का भाग क्यों न हो, वहाँ अवश्य जाना चाहिये। ऐसे लोगों का दर्शन करना चाहिये। इससे जीवन धन्य हो जाता है। सब से बड़ी बात यह है कि, मैं वहाँ स्वयं सन्निहित रहता हूँ ॥९५॥

अतिदूरस्थितो वापि द्रष्टव्यः कुलदेशिकः।
समीपे वर्त्तमानोऽपि न द्रष्टव्यः पशुः प्रिये ॥९६॥

कुलज्ञ देशिकशिरोमणि भले ही अत्यन्त दूर देश में रहता हो, वहाँ अवश्य जाना चाहिये और उसके दर्शन से कृतार्थ होना चाहिये। इसके विपरीत कोई पाशबद्ध साधक पास में भी हो, तो वहाँ नहीं जाना चाहिये। भगवान् प्रिय पार्वती को सम्बोधित कर कुलज्ञ के महत्त्व का प्रतिपादन कर रहे हैं ॥९६॥

कुलज्ञानी वसेद् यत्र स देशः पुण्यभाक् ततः।
दर्शनादर्चनात्तस्य त्रिसप्तकुलमुद्धरेत् ॥९७॥

कुलमार्गनिष्णात माहेश्वर जहाँ पर भी निवास करते हैं, वह देश सचमुच अत्यन्त पुण्यप्रद और पावन प्रदेश होता है। वहाँ जाने, दर्शन करने और उसकी पूजा करने का बड़ा ही महत्त्व है। इससे इक्कीस पीढ़ियों का उद्धार हो जाता है ॥९७॥

कुलज्ञानिनमालोक्य स्वसन्तानगृहे स्थितम्।
शंसन्ति पितरस्तस्य यास्यामः परमां गतिम् ॥९८॥

अपने सन्तान के घर में कुलमार्गनिष्णात ज्ञानवान् व्यक्ति का दर्शन कर उसके पितर अत्यन्त प्रसन्न हो जाते हैं। वे परस्पर कहते हैं कि, अब तक हम लोगों की परमगति में सन्देह था, किन्तु अब यह निश्चय हो गया है कि, हम मोक्ष को प्राप्त हो जायेंगे ॥९८॥

समाश्वसन्ति पितरः सुवृष्टिमिव कर्षकाः।
योऽस्मत्कुलेषु पुत्रो वा पौत्रो वा कौलिको भवेत् ॥९९॥

जैसे कृषक सुवृष्टि से प्रसन्नता का अनुभव करता है, उसी तरह पितर अपनी सन्तान परम्परा में उत्पन्न पुत्रों और पौत्रों की उत्पत्ति से प्रसन्न होते हैं और वे यह चाहते हैं कि, इनमें से कोई भी कुलज्ञानवान् विशिष्ट कौलिक हो ॥९९॥

स धन्यः खलु लोकेऽस्मिन् पुरुषः क्षीणकल्मषः।
यत्समीपं समायान्ति कुलाचार्या मुदा प्रिये ॥१००॥

वह इस लोक में धन्य है, जो पुरुष यहाँ के दोषों से उन्मुक्त रहता हुआ क्षीण-कल्मष अर्थात् पापरहित पुण्यात्मा बना रहता है। भगवान् शंकर कहते हैं कि, प्रिये पार्वति! उनकी क्षीणकल्मषता का यही प्रमाण है कि, उनके पास कुलाचार्य (देशिक-शिरोमणि माहेश्वर) प्रसन्नतापूर्वक आते और उनका आतिथ्य स्वीकार करते हैं ॥१००॥

कौलिकेन्द्रे समायाते कौलिकावसथं प्रति ।
समायान्ति मुदा देवि योगिन्यो योगिभिः सह ॥१०१॥

जिस निवासगृह (आवसथ) में कौलिकेन्द्र आकर निवास करते हैं, वह कौलिकावसथ धन्य हो जाता है। वहाँ योगियों का समूह ज्ञानार्जन और दर्शन हेतु आता ही रहता है। इसमें भी विशेषता यह है कि, योगियों के साथ योगिनी शक्तियाँ भी वहाँ पहुँचती हैं ॥१०१॥

प्रविश्य कुलयोगीन्द्रं भजन्ते पितृदेवताः ।
तस्मात् सम्पूजयेद्भक्त्या कुलज्ञानपरायणान् ॥१०२॥

पितृ-देवताओं के प्रसन्न होने की चर्चा पहले की गयी है। भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, कुलयोगीन्द्र महाकौलिक के पास वे स्वयं भी आते हैं। उनके सान्निध्य से प्रसन्न होते हैं। इस आधार पर हम सब लोगों का कर्त्तव्य हो जाता है कि, पितृ समुदाय द्वारा आदरणीय इन कुलज्ञानपरायण पुरुषों की सभक्ति पूजा हम भी करें ॥१०२॥

अभ्यर्चयित्वा त्वां देवि त्वद्भक्तान्नार्चयन्ति ये ।
पापिष्ठास्त्वत्प्रसादस्य भाजनं न भवन्ति ते ॥१०३॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! तुम्हारे भक्त भक्तिपूर्वक तुम्हारी पूजा करते हैं। तुम्हारी पूजा के बाद वे तुम्हारे भक्त इन शाक्त कौलिकों की पूजा करते हैं। भगवान् शंकर के कथनानुसार जो लोग ऐसा नहीं करते, उन्हें पापिष्ठ अर्थात् पापियों में भी बड़ा पापी कहना चाहिये। वे तुम्हारी कृपा के पात्र नहीं हो सकते ॥१०३॥

नैवेद्यं पुरतो न्यस्तं दर्शनात् स्वीकृतं त्वया ।
रसान् भक्तस्य जिह्वाग्रादश्नामि कमलेक्षणे ॥१०४॥

भगवान् शंकर कहते हैं कि, देवि ! तुम अत्यन्त करुणामयी और कुलभक्त के ऊपर कृपा करने वाली हो । कुलभक्त तुम्हारे समक्ष नैवेद्य निवेदित करता है। तुम्हारे सामने उसे लाकर स्नेहपूर्वक रखता है। तुम उसे मात्र देख भर लेती हो और वह तुम्हारे द्वारा स्वीकृत कर लिया जाता है। ऐसे नैवेद्य को प्रसाद रूप से कुलभक्त जब ग्रहण करता है, तो उसके जिह्वाग्र से एक प्रकार के 'रस' की निष्पत्ति होती है। देवि ! वह रस मुझे बड़ा प्यारा लगता है। हे कमलनयनिके पार्वति ! मैं उसे स्नेहपूर्वक स्वीकार करता हूँ ॥१०४॥

त्वद्भक्तपूजनाद्देवि पूजितोऽहं न संशयः ।
तस्मान्मम प्रियाकाङ्क्षी त्वद्भक्तानेव पूजयेत् ॥१०५॥

तुम्हारे भक्तों की पूजा से ही मैं भी पूजित हो जाता हूँ। इसमें किसी प्रकार की शंका करने की कोई आवश्यकता नहीं। यह उक्ति भगवान् शंकर की है, जो उन्होंने देवी को सम्बोधित करते हुए कही है। इसलिये भगवान् कहते हैं कि, मेरी प्रियता की चाह

रखने वाला सहृदय साधक तुम्हारे भक्तों की ही पूजा करे, अर्थात् उन्हें सभी तरह सत्कृत, सन्तुष्ट और तृप्त रखे ॥१०५॥

यत् कृतं कुलनिष्ठानां तद्देवानां कृतं भवेत् ।
सुराः कुलप्रियाः सर्वे तस्मात् कौलिकमर्चयेत् ॥१०६॥

कुलनिष्ठ सिद्ध कौलिक के हित और प्रेय-श्रेय की सिद्धि के लिये जो कुछ किया जाता है, वह सारा का सारा कार्य देवों के लिये किया गया ही मान लिया जाता है। इसका कारण यह है कि, देवता कुलप्रिय माने जाते हैं। इसलिये कौलिक साधक की अर्चना ही करणीय है ॥१०६॥

न तुष्याम्यहमन्यत्र तथा भक्त्या सुपूजितः ।
कौलिकेन्द्रेऽर्चिते सम्यग् यथा तुष्यामि पार्वति ॥१०७॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! कौलिकेन्द्र श्रेष्ठ साधकशिरोमणि होता है। उसके सम्यक् पूजे जाने पर मैं जितना प्रसन्न होता हूँ, उतना प्रसन्न कहीं अन्यत्र किसी प्रकार की भक्तिपूर्वक पूजा से नहीं हो पाता हूँ ॥१०७॥

यत् फलं कौलिकेन्द्राणां पूजया लभते प्रिये ।
तत् फलं नाप्नुयात्तीर्थतपोदानमखव्रतैः ॥१०८॥

हे प्रिये ! कौलिकेन्द्रों की पूजा से जिस प्रकार के सुन्दर फलों की प्राप्ति होती है, वैसे फलों की प्राप्ति किसी तीर्थयात्रा से नहीं मिलती। किसी प्रकार के तप से नहीं प्राप्त होती। किसी प्रकार के दान, किसी प्रकार के यज्ञ और व्रतों के आचरण से भी नहीं प्राप्त होती ॥१०८॥

दत्तमिष्टं हुतं तप्तं पूजितं जप्तमम्बिके ।
कौलिकस्य भवेद्व्यर्थं कुलज्ञं योऽवमानयेत् ॥१०९॥

कौलिक के उद्देश्य से भक्ति और श्रद्धापूर्वक बहुत से लोग दान करते हैं। बहुत लोग उनकी प्रसन्नता के लिये यज्ञ आदि का आयोजन करते हैं। कुछ लोग हवन, जप, तप और पूजा आदि सम्पन्न किया करते हैं। भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि अम्बिके ! ये सब कार्य उत्तम, करणीय और सुफल प्रदान करने वाले माने जाते हैं; किन्तु एक ध्यान देने की बात यह है कि, यदि ऐसे श्रद्धालु लोग किसी कुलज्ञानवान् कौलिक को अपमानित कर देते हैं, तो उनके सारे पुण्य कार्य व्यर्थ हो जाते हैं ॥१०९॥

श्मशानं तद् गृहं देवि स पापी श्वपचाधमः ।
यः प्रविश्य कुलं धर्मं कुलाचारं न वेत्ति चेत् ॥११०॥

वह घर श्मशान के सदृश है और वह व्यक्ति अधम चाण्डाल के सदृश है, जो कुलधर्म में प्रवेश करता तो है; किन्तु कौलिक ज्ञान नहीं प्राप्त कर पाता है। भगवान् शिव कह रहे हैं कि, कुलधर्म में प्रवेश कर कुलाचार का ज्ञान आवश्यक है ॥११०॥

कुलनिष्ठान् परित्यज्य यच्चान्यस्मै प्रदीयते ।
तद्दानं निष्फलं देवि दाता च नरकं व्रजेत् ॥१११॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! (दान देने का संकल्प होने पर यह प्रश्न होता है कि, किसे दिया जाय ?) ऐसे समय कुलनिष्ठ साधक को छोड़कर जिस व्यक्ति द्वारा दान किन्हीं अन्य को दे दिये जाते हैं, वे दान निष्फल हो जाते हैं। केवल इतना ही नहीं, वरन् वह दाता नरकगामी होता है ॥१११॥

भिन्नभाण्डे जलं यद्वत् शिलायामुप्तबीजवत् ।
भस्मनीव हुतं हव्यं तद्वद्दानमकौलिके ॥११२॥

फटे पात्र में जल कभी ठहर नहीं सकता। उसी तरह शिलाखण्ड पर बीज बोना भी निष्फल हो जाता है। भस्म में हव्य का हवन करना भी निष्फल कार्य ही माना जाता है। उसी तरह अकौलिक को दिया गया दान भी निष्फल हो जाता है ॥११२॥

यथाशक्त्या तु यत् किञ्चिद् यो दद्यात् कुलयोगिने ।
विशेषतिथिषु प्रीत्या तत्फलं नैव वर्ण्यते ॥११३॥

अपनी शक्ति के अनुसार दानकर्त्ता यदि कुलयोगी के लिये जो कुछ दान करता है और वह भी विशेष तिथियों और पर्वों पर विशेष रूप से दिया जाता है और प्रेम-पूर्वक दिया जाता है, ऐसे दान के फल अनन्त होते हैं, उनका वर्णन नहीं किया जा सकता ॥११३॥

यो देवि स्वयमाहूय कुलज्ञानान् शुभे दिने ।
अभ्यर्च्य देवताबुद्ध्या गन्धपुष्पाक्षतादिभिः ॥११४॥
मादिभिः पञ्चमुद्राभिः सद्भक्त्या परितोषयेत् ।
तेषु तुष्टेष्वहं तुष्टस्तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः ॥११५॥

भगवान् कहते हैं कि, देवि ! शुभ दिन और शुभ समय में कुलज्ञ साधकों को अपने घर बुलाकर उनकी पूजा कर देवभाव से गन्ध, पुष्प, अक्षत आदि से उनका जो सम्मान करता है एवं मादि पंचमुद्राओं से सद्भक्तिपूर्वक उन्हें सन्तुष्ट करता है, उससे कौलिकों के सन्तुष्ट होने के फलस्वरूप मैं भी सन्तुष्ट होता हूँ तथा उससे सारे देव अत्यन्त प्रसन्न होते हैं ॥११४-११५॥

भगिनीं वा सुतां भार्यां यो दद्यात् कुलयोगिने ।
मधुमत्ताय देवेशि तस्य पुण्यं न गण्यते ॥११६॥

भगिनी (बहन), सुता (पुत्री), भार्या (धर्मपत्नी)—ये तीनों व्यक्ति के जीवन के सबसे बढ़कर प्रिय आत्मीय पात्र हैं तथा व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार हैं। इन्हें वैदिक विधि के अनुसार सामाजिकता के सांस्कारिक नियमों के आधार पर दिया जाता है। इन्हें कुलाचार के अनुसार कारणद्रव्य रूप मधु के मद से

प्रभावित कुलयोगी को दिया जा सकता है। इसी आचार का समर्थन शिव ने यहाँ किया है। वे कहते हैं कि, देवेश्वरि शिवे ! कुलयोगी को उक्त के अर्पण से जो पुण्य अर्जित होता है, उसकी गणना नहीं की जा सकती ॥११६॥

अनिखातविनिक्षिप्तमप्रयत्नेन वर्द्धितम् ।
परलोकस्य पाथेयं वीरचक्रेऽर्पितं मधु ॥११७॥

अनिखात[1], विनिक्षिप्त[2] और अनायास रूप से बिना प्रयत्न के संवर्धित[3]—ये तीनों मधु के विशेषण शब्द हैं। ऐसा मधु वीरचक्र में अर्पित करना बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य है। यह परलोक की महायात्रा का पाथेय अर्थात् महायात्रा को सरल बनाने वाला सम्बल है ॥११७॥

पापाचारसमायुक्तं सर्वलोकबहिष्कृतम् ।
जायते हि कुलद्रव्यं कुलयोगीश्वरार्पितम् ॥११८॥

कुलयोगीश्वरों के लिये अर्पित किया गया कुलद्रव्य (मधु) इतना पावन और महत्त्वपूर्ण होता है कि, पापाचार में रत और सारे लोक द्वारा बहिष्कृत व्यक्ति को भी परलोक में सुख की रोशनी पहुँचाता है। अतः वीरचक्र में इसका अर्पण अवश्य करें ॥११८॥

यस्मिन् देशे वसेद् वीरः कुलपूजारतः प्रिये ।
सोऽपि देशो भवेत् पूतः किं पुनस्तत्पुरस्थिताः ॥११९॥

जिस देश में 'वीर' साधक निवास करते हैं और कुलपूजा में अनवरत निरत रहते हैं, भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! वह देश परमपावन हो जाता है। उस देश, भूभाग, भूखण्ड के पुर (गाँव और नगर) के विषय में क्या कहा जाय ? वे भी परम पावन हो जाते हैं ॥११९॥

कौलिकेन्द्रे सकृद्भुक्ते पुण्यं कोटिगुणं भवेत् ।
किं पुनर्बहुभिर्भुक्तैस्तत् पुण्यं नैव गण्यते ॥१२०॥

घर में भोजन के निमन्त्रण पर पधारा कौलिकेन्द्र महासाधक कभी यदि एक बार भी कृपा कर जूठन गिराता है, तो गृहस्थ को कोटिगुणित फल प्राप्त होता है। यह फल तो मात्र एक बार के भोजन का है। यदि कई बार और बार-बार उन्हें भोजन से तृप्त कराया जाय, उसके फल के आनन्त्य की तो प्रकल्पना ही नहीं की जा सकती ॥१२०॥

---

१. अनिखात—कुछ मद्य भूमि में खोदकर उसी गड्ढे में दबा देते हैं। नियम के अनुसार माह-दो माह में उसे निकालते हैं। ऐसे मद्य को निखात कहते हैं। जो ऐसी नहीं होती, वह अनिखात मधु है।

२. भाप द्वारा निष्कासित विनिक्षिप्त होती है।

३. इसी तरह रखे-रखे स्वयं बन जाती है। यह भी अच्छा मद्य होता है।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन सर्वावस्थासु सर्वदा।
कुलधर्मरतो भूयात् कुलज्ञानिनमर्चयेत् ॥१२१॥

ऐसी स्थिति में हमारा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि, हम सभी कुलधर्म का आचरण करें। इसके लिये सारे प्रयत्न करने चाहिये। सभी अवस्थाओं में सर्वदा कुलाचार के अनुसार ही अपनी जीवनपद्धति का निर्माण करें। साथ ही यह ध्यान में रखें कि, कुलधर्म को अपनाने वाले कुलज्ञ विद्वान् की सदा पूजा-अर्चना होती रहे ॥१२१॥

ज्ञानिनोऽज्ञानिनो वापि यावद् देहस्य धारणा।
तावद्वर्णाश्रमाचारः कर्त्तव्यः कर्ममुक्तये ॥१२२॥

चाहे कोई ज्ञानवान् हो या ज्ञानहीन सामान्य पुरुष ही क्यों न हो! जीवन का धारण करना स्वाभाविक है। अतः देह की धारणा जब तक निर्धारित है, तब तक वर्ण और आश्रमों के शास्त्रकारों, ऋषियों द्वारा प्रवर्त्तित आचारों का पालन इसलिये करना चाहिये, जिससे कर्मबन्ध न मिले, वरन् कर्म से मुक्ति प्राप्त हो ॥१२२॥

कर्मणोन्मूलितेऽज्ञाने ज्ञानेन शिवतां व्रजेत्।
शिवे तेनैव मुक्तिः स्यादतः कर्म समाचरेत् ॥१२३॥

सत्कर्म से अज्ञान का विनाश हो जाता है। अज्ञान के अन्धकार के ध्वंस के उपरान्त ही ज्ञान का उदय होता है। ज्ञान के प्रकाश के प्रभाव से साधक शिवता को उपलब्ध हो जाता है। शिवसद्भाव के महाभाव से भावित होते ही मुक्ति हस्तामलकवत् अपने वश में हो जाती है। अतः जीवन में कर्म का ही महत्त्व स्वीकार कर सत्कर्म का आचरण करना चाहिये ॥१२३॥

कुर्यादनिन्द्यकर्माणि नित्यकर्माणि वा चरेत्।
कर्ममुक्तः सुखाकाङ्क्षी कर्मनिष्ठः सुखं व्रजेत् ॥१२४॥

कर्म इस प्रकार हों, जिससे समाज में कोई निन्दा न करे। अनिन्द्य कर्म करने का आदेश शास्त्र देता है। अतः ऐसे कार्यों का ही आचरण करना चाहिये। जीवन के निर्धारित नित्य कर्मों का सम्पादन भी पर्याप्त माना जाता है। जगत् में दो प्रकार के पुरुष होते हैं—१. कर्ममुक्त और २. कर्मनिष्ठ। कर्ममुक्त पुरुष परमसुखरूप मोक्ष का ही आकांक्षी होता है। जो कर्मनिष्ठ पुरुष होता है, वह जीवन को सुखपूर्वक जीता हुआ अन्त में दिव्यलोक की यात्रा करता है ॥१२४॥

सर्वकर्माणि संत्यक्तुं न शक्यं देहधारिणा।
त्यजेत् कर्मफलं यो वा स त्यागीत्यभिधीयते ॥१२५॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, शरीरधारी के लिये यह असम्भव है कि, वह सारे कर्मों का परित्याग कर दे। कोई देहधारी बिना कर्म के नहीं रह सकता। इसलिये कर्मत्याग की बात को छोड़कर कर्मफल का त्याग करना चाहिये। जो पुरुष कर्म के फल को छोड़कर अर्थात् फल की लालसा को छोड़कर निष्काम कर्म करता है, वही त्यागी कहलाता है ॥१२५॥

स्वकार्येषु प्रवर्त्तन्ते करणानीति चिन्तयेत्।
अहम्भावमपास्यैव यः कुर्यात् स न लिप्यते ॥१२६॥

यह सोचना चाहिये कि, शरीर में इन्द्रियाँ भगवान् की वरदान हैं। ये करण कहलाती हैं। ये अपने अनुरूप कार्य में प्रवृत्त होती हैं। सारे झगड़े की जड़ झूठा अहं है। इस झूठे अहं का परित्याग कर देना चाहिये। इसको दूर कर जो निरहंकार और निरीह भाव से कर्म में लगता है, वह कर्मलेप से मुक्त रह पाता है ॥१२६॥

क्रियमाणानि कर्माणि ज्ञानप्राप्तेरनन्तरम्।
न च स्पृशन्ति तत्त्वज्ञं जलं पद्मदलं यथा ॥१२७॥

जो क्रियमाण कर्म हैं, ये ज्ञान के बोधात्मक प्रकाश के प्राप्त होने के बाद तत्त्वज्ञ पुरुष को प्रभावित नहीं करते, उनका स्पर्श भी नहीं कर पाते; क्योंकि अन्धकार प्रकाश को छू नहीं सकता। जल में रहने वाले कमलदल को जैसे जल नहीं छू पाता, उसी तरह निष्काम पुरुष को कर्म भी नहीं छू पाते ॥१२७॥

तन्निष्ठस्य च कर्माणि पुण्यापुण्यानि संक्षयम्।
प्रयान्ति नैव लिप्यन्ते क्रियमाणानि वा पुनः ॥१२८॥

ज्ञाननिष्ठ ज्ञानवान् पुरुष द्वारा किये गये पुण्य और पापमय कर्म स्वयं नाश को प्राप्त हो जाते हैं। वे उसे लिप्त नहीं कर सकते। जिन कार्यों का वह सम्पादन कर रहा है, वे क्रियमाण कर्म हैं। इन्हें भी वह निष्काम भाव से सम्पन्न करता है। अत: इनमें भी उसे लिप्त करने की क्षमता नहीं होती ॥१२८॥

उत्पन्नसहजानन्दतत्त्वज्ञानरतः प्रिये।
संत्यक्तसर्वसङ्कल्पः स विद्वान् कर्म सन्त्यजेत् ॥१२९॥

भगवान् शंकर कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! जो ज्ञानवान् होता है, उसे सहज भाव से अर्थात् स्वाभाविक रूप से आनन्द की अनुभूति होती रहती है। यह सिद्धान्त है कि— 'यत्रानन्दो भवेद्भावे तत्र चित्सत्त्वयोः स्थितिः'। अर्थात् सहजानन्द में चैतन्यात्मक तत्त्वज्ञान रहता है। उसी तत्त्वज्ञान में ज्ञानी पुरुष रमता रहता है। उसके सारे संकल्प संत्यक्त अर्थात् स्वत: अपास्त हो जाते हैं। वही वास्तविक रूप से विद्वान् कहा जा सकता है। यह सब मनन करते हुए सबका यह कर्त्तव्य है कि, उसे कर्मों का परित्याग करना चाहिये ॥१२९॥

वृथैव यैः परित्यक्तं कर्मकाण्डमपण्डितैः।
पाषण्डाः पण्डितम्मन्यास्ते यान्ति नरकं प्रिये ॥१३०॥

पण्डित कर्म करते हैं। कर्म में लिप्त नहीं होते। जो अपण्डित होते हैं, वे झूठ-मूठ ही कर्मकाण्ड के परित्याग का पाखण्ड करते हैं। कर्म तो छोड़ा ही नहीं जा सकता। हाँ कर्मफल को छोड़ना ठीक है। जो अपने को पण्डित मानने का झूठा ही अभिमान करते हैं, वो सचमुच पाखण्डी हैं। ऐसे लोग केवल नरक के अधिकारी होते हैं ॥१३०॥

फलं प्राप्य यथा वृक्षः पुष्पं त्यजति निस्पृहः ।
तत्त्वं प्राप्य तथा योगी त्यजेत् कर्मपरिग्रहम् ॥१३१॥

वृक्ष हमारे लिये एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है। फल आ जाने पर वह निःस्पृह भाव से पुष्पों का परित्याग कर देता है। ठीक इसी तरह तत्त्वभाव को प्राप्त योगी समस्त प्रकार के कर्मों के परिग्रह का परित्याग कर देता है ॥१३१॥

अश्वमेधायुतेनापि ब्रह्महत्यायुतेन च ।
पुण्यपापैर्न लिप्यन्ते येषां ब्रह्म हृदि स्थितम् ॥१३२॥

जगत् में हजारों हजार अश्वमेध यज्ञ करके अपरम्पार पुण्य का उपार्जन किया जाता है। इसी तरह केवल ब्रह्महत्यासदृश हजारों हजार पाप ही पाप भी इस संसार में होते रहते हैं। ऐसे पुण्यों और ऐसे पापों से वे पुरुष लिप्त नहीं होते, जिनके हृदय में ब्रह्म की प्रतिष्ठा हो चुकी है। अर्थात् ब्रह्मज्ञानवान् पुरुष किसी प्रकार के पुण्यों और पापों से उपलिप्त नहीं होते ॥१३२॥

पृथिव्यां यानि कर्माणि जिह्वोपस्थनिमित्ततः ।
जिह्वोपस्थपरित्यागी कर्मणा किं करिष्यति ॥१३३॥

भगवान् कह रहे हैं कि, पृथ्वी में जितने भी कर्म होते हैं, उनके मूलकारण मात्र दो इन्द्रियाँ ही हैं—१. जिह्वा और २. उपस्थ (जननेन्द्रिय)। जीभ रसलोलुप बनाकर मनुष्य को निम्न स्तर की ओर धकेल देती है और बुरी बातें कह असत्य के गर्त्त में गिराने का काम करती है। उपस्थ कामशक्ति का दुरुपयोग कर ब्रह्मानन्द से वंचित कर देता है। अतः जीभ और उपस्थ दोनों पर विजय प्राप्त करने वाले महापुरुष का काम कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते ॥१३३॥

इति ते कथितं किञ्चिद् योगं योगीशलक्षणम् ।
समासेन कुलेशानि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥१३४॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, कुलस्वामिनी देवि ! पार्वति ! तुम्हारे अनुरोध पर मैंने संक्षेप रूप से कुलयोग मार्ग और कुलयोगीश्वरों के लक्षण बताये। तुमने इसे यथावत् सुना। अब बताओ, तुम्हें आगे क्या सुनने और जानने की इच्छा है ? मैं उसका कथन करने को तत्पर हूँ ॥१३४॥

सर्वागमोत्तमोत्तम महारहस्यमय ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकुलार्णवतन्त्रान्तर्गत डॉ. परमहंस-मिश्रविरचित नीर-क्षीर-विवेक-भाषाभाष्यसंवलित 'योगसंस्थापनकथन' नामक नवम उल्लास परिपूर्ण ॥९॥

॥ शुभं भूयात् ॥

दशम उल्लासः

श्रीदेव्युवाच

कुलेश श्रोतुमिच्छामि विशेषदिवसार्चनम् ।
तत्सपर्याफलं देव वद मे परमेश्वर ॥१॥

श्री कुलेश्वर शिव के वचनों का श्रवण कर देवी पार्वती ने कहा—भगवन् ! मेरी आकांक्षा आपसे छिपी नहीं है, फिर भी आप मेरे अभीष्ट श्रोतव्य के विषय में पूछ रहे हैं । देवेश्वर ! मैं विशेष दिवसों पर सम्पन्न होने वाले पूजन-अर्चन के सम्बन्ध में जानने की इच्छा रखती हूँ । साथ ही इस प्रकार की सपर्या के क्या फल होते हैं, यह जानना चाहती हूँ । कृपा कर भगवन् ! मुझे यही सुनाकर अनुगृहीत करें ॥१॥

ईश्वर उवाच

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
तस्य श्रवणमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥२॥

भगवान् शिव (ईश्वर) ने कहना प्रारम्भ किया—देवि ! तुम जो भी मुझसे पूछना चाहती हो, मैं यथावत् तुम्हें वह सब कुछ सुनाऊँगा । यह बड़ा ही पावन और महत्त्वपूर्ण विषय है । इसके श्रवण मात्र से जीवन समस्त पापों से छूट जाता है ॥२॥

उत्तमा नित्यपूजा स्याद् मध्यमं पर्वपूजनम् ।
मासपूजाऽधमा देवि मासादूद्र्ध्वं पशुर्भवेत् ॥३॥

देवि ! जितने प्रकार की पूजा-अर्चनायें होती हैं, उनमें सर्वोत्तम पूजा 'नित्यपूजा' मानी जाती है । जहाँ तक पर्व दिनों में पूजा की बात है, यह मध्यम पूजा होती है । मास-मास पर पूजा करने की प्रथा अधम पूजा के रूप में परिगणित होती है । मासपूजा भी जो नहीं कर पाता और समय को यों ही बिता देता है, ऐसे व्यक्ति मनुष्य नहीं, पशु कहलाने के योग्य होते हैं । उन्हें पशु ही होना चाहिये ॥३॥

विहितैर्मादिभिर्द्रव्यैर्मासादूद्र्ध्वं समर्चनम् ।
पशोर्भूयः प्रवेशेच्छा यदि स्याद्दीक्षयेत् पुनः ॥४॥

विहित मकारपंचक के पदार्थों के द्वारा मासाधिक समय तक जो पूजा की जाती है, यह पूजा पशुपूजा ही मानी जाती है । ऐसे पशुजनों में भी यदि कुलधर्म में प्रवेश की इच्छा जागृत हो जाय, तो उन्हें अवश्य ही दीक्षा दी जानी चाहिये । दीक्षा से उनमें आचार की प्रवृत्ति बढ़ सकती है ॥४॥

मद्यं मांसञ्च मत्स्यश्च मुद्रा मैथुनमेव च ।
मकारपञ्चकं देवि देवताप्रीतिकारकम् ॥५॥

पंचमकार में इन मकारादि पदार्थों की गणना होती है—१. मद्य, २. मांस, ३. मत्स्य, ४. मुद्रा और ५. मैथुन। भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! ये पाँचों मादिपंचक माने जाते हैं। ये देवताओं की प्रीति-सम्वर्द्धन के प्रधान कारण माने जाते हैं ॥५॥

मादिपञ्चकमीशानि देवताप्रीतये सुधीः ।
यथाविधि निषेवेत तृष्णया चेत् स पातकी ॥६॥

इन पदार्थों से देवताओं की प्रीति बढ़ाने के लिये सम्यक्रूप से बौद्धिक जीवन जीने वाले बुद्धिमान् लोग विधिपूर्वक इनका स्वयं सेवन करें। लक्ष्य देवप्रीति-संवर्द्धन होना चाहिये। यदि इसमें तृष्णा से प्रवृत्ति होती है, तो यह पातक माना जाता है ॥६॥

कृष्णाष्टमीचतुर्दश्यावमावास्याथ पूर्णिमा ।
संक्रान्तिः पञ्च पर्वाणि तेषु पुण्यदिनेषु च ॥७॥

कृष्णपक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या, पूर्णिमा तिथियाँ और संक्रान्ति मिल-कर पाँच 'पर्व' मानी जाती हैं। इन पर्वों पर तथा इनके अतिरिक्त किसी भी पुण्यपवित्र दिवस पर विशेष पूजा होनी चाहिये ॥७॥

गुरुजन्मदिने प्राप्ते तद्गुरोस्तद्गुरोरपि ।
मानवौघादिपुंसाञ्च स्वजन्मदिवसे तथा ॥८॥

गुरुदेव का जन्मदिन भी शिष्य के लिये पावनपर्व माना जाता है। परमगुरु और परमेष्ठी गुरु का जन्मदिवस भी उतना ही महत्त्वपूर्ण मानना चाहिये। यदि मानवौघ के किसी गुरु का जन्मदिन ज्ञात हो, तो उस दिन भी पर्व के रूप में उत्सव का आयोजन करना चाहिये। इसी क्रम में अपने जन्मदिवस पर भी पर्व की तरह उत्सव करना उचित है ॥९॥

सम्पत्तौ च यजेल्लाभे तपोदीक्षाव्रतोत्सवे ।
पीठोपगमने वीरपीठे स्वजनदर्शने ॥९॥

सम्पत्ति के लाभ, तप का प्रारम्भ, दीक्षा का दिन, व्रत का आरम्भ दिवस अथवा उपर्युक्त सभी कार्यों के लिये आयोजित उत्सव पर पूजा के विशेष आयोजन करने उचित हैं। सौभाग्यवश पीठों की समीप से यात्रा करनी पड़ जाती है। वीर पीठों के भी आयोजन में भाग लेना होता है। अकस्मात् आत्मीयतम व्यक्ति मित्र, कलत्र आदि के वियोगोपरान्त मिलन की खुशी के अवसर भी आते हैं। इनमें भी ये पर्वरूप आयोजन होने चाहिये ॥९॥

देशिकागमने पुण्यतीर्थदैवतदर्शने ।
एवमादिषु देवेशि विशेषदिवसेषु च ॥१०॥

कोई भी अपने विषय के पारंगत विद्वान् यदि अपने स्थान पर पधारे हों, पुण्यतीर्थ और समादरणीय देवदर्शन के अवसर हों, भगवान् कह रहे हैं कि, देवेश्वरि ! पार्वति !

इस प्रकार के या अन्य प्रकारों में से भी कोई विशेष दिवस हो या समायोजन हो, तो उसमें यथाशक्ति कुलमार्ग और आचारों के अनुसार पूजा करनी चाहिये ॥१०॥

यथाधनं यथाश्रद्धं यथाद्रव्यं यथोचितम् ।
यथाकालं यथादेशं तथा पूजां समाचरेत् ॥११॥

पूजा में किसी प्रकार की कृपणता नहीं होनी चाहिये। अपने धन और वैभव के अनुसार इसका आयोजन अपेक्षित है। इसमें श्रद्धा के अनुसार जितने द्रव्यरूप उपकरणों की औचित्य के अनुसार व्यवस्था की जा सके, यथाशक्ति पूजा में कोई कमी नहीं होनी चाहिये। विशेषत: देश और काल का ध्यान रखकर ही कुलपूजा पूरी करनी चाहिये ॥११॥

आचार्येण विधानेन कारयेच्चक्रपूजनम् ।
स्वयं वा पूजयेद्देवि बिन्दुपूजापुर:सरम् ॥१२॥

आचार्य द्वारा विधानपूर्वक चक्रपूजन कराना चाहिये। यदि कुलाचार्य न उपलब्ध हो सकें, तो स्वयं पूजा करनी चाहिये। भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि पार्वति! चक्रपूजा बिन्दुपूजापूर्वक ही होनी चाहिये। यहाँ पूजा के क्रम में बिन्दुपूर्वक चक्रपूजा की बात की गयी है। इसका विशेष विवरण नहीं दिया गया है। आगे श्लोक १९ में श्रीचक्र और वृन्द का उल्लेख है। इस पद्धति पर विशेषरूप से विश्लेषण की आवश्यकता है ॥१२॥

स ते लोकमवाप्नोति पुनरावृत्तिवर्जितम् ।
अकुर्वन् कौलिको मोहाद्देवताशापमाप्नुयात् ॥१३॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि! बिन्दुपुर:सर चक्र की पूजा करने वाला साधक तुम्हारे पवित्र धाम को प्राप्त करता है, वहाँ जाने पर पुन: उसका आवागमन बन्धन समाप्त हो जाता है। कौलिक होकर भी जो यह पूजा मोहवश नहीं करते, वह निश्चय ही देवता का शाप पाकर अभिशप्त हो जाते हैं ॥१३॥

मासे वापि त्रिमासे वा षण्मासे वत्सरेऽपि वा ।
श्रीगुरुं पूजयेद्भक्त्याऽप्राप्ते तत्स्त्रीसुतादिकान् ॥१४॥

मास-मास पर, तीन-तीन महीने पर अथवा वर्ष पर श्रीसद्गुरुदेव की पूजा होनी चाहिये। संयोगवश यदि वे इन अवसरों पर उपलब्ध न हो सकें, तो ऐसी अवस्था में गुरुदेव की धर्मभार्या (पत्नी), उनके पुत्र अथवा उनके औरस पुत्र आदि की ही पूजा आवश्यक मानी जाती है ॥१४॥

तदभावे कुलज्ञञ्च तच्छिष्यं वान्ययोगिनम् ।
सन्तोषयेत् कुलद्रव्यैः कुलपूजापुर:सरम् ॥१५॥

मान लीजिये समय पर कोई भी उसमें से उपलब्ध न हो सके, तो शास्त्र आज्ञा

देता है कि, इस निर्धारित अवसर को व्यर्थ न जाने दें। उस समय गुरुवत् पूज्यों के स्थान पर कुलाचार विज्ञानवान् की ही पूजा करनी चाहिये। ऐसा कुलज्ञ न मिलने पर, उसके शिष्य की, शिष्य के न मिलने पर किसी भी योगी की पूजा की जानी चाहिये। ऐसे लोगों को कुलद्रव्यों से ही सन्तुष्ट करने का उपक्रम करना चाहिये। इसमें कुलपूजन-पूर्वक ही सारी पूजा पूरी करनी चाहिये ॥१५॥

रोगेष्वापत्सु दोषेषु दुःसङ्गे दुर्निमित्तके।
पूजयेद् योगिनीवृन्दं देवि तद्दोषशान्तये ॥१६॥

१. रोगग्रस्त अवस्था में, २. आपदा-विपदा की अवश्यंभावी परवशता में, ३. अनेक प्रकार के दोषों से प्रभावित होने पर और दुर्निमित्तिक दुःसंग की दशा में देवि ! पार्वति ! योगिनीवृन्द की ही आराधना करनी चाहिये। इससे सारे दोषों की शान्ति हो जाती है। दोषशमन के लिये इससे अच्छा कोई उपाय और पूजा नहीं होती ॥१६॥

यत्रैकाम्नायतत्त्वज्ञः कुलाचार्यः कुलेश्वरि।
कौलिकास्त्रिचतुःपञ्च शक्तयश्च तथा प्रिये ॥१७॥

भगवान् कह रहे हैं कि, देवि कुलेश्वरि ! जहाँ एक आम्नाय के तत्त्वदर्शन के विशेषज्ञ विद्यमान हों, वहीं उनके साथ तीन, चार या पाँच कौलिक पुरुष तथा इनकी शक्तिरूपिणी देवियाँ विद्यमान होती हैं (यह कौलिक समुदाय अत्यन्त पावन होता है) ॥१७॥

पृथग्वा पूजयेद्देवि मिथुनाकारतोऽपि वा।
गन्धपुष्पाक्षताद्यैस्तु देवेशि समलङ्कृताः ॥
भक्ष्यभोज्यादिपिशितैः पदार्थैः षड्रसान्वितैः ॥१८॥

ऐसे समुदाय द्वारा पृथक्-पृथक् अथवा मिथुनभाव से अथवा समुदायरूप से ही कुलपूजा सम्पन्न की जाय। इस पूजा में सम्मिलित सभी सदस्य गन्ध, फूल, अक्षत आदि द्रव्यों से सुसज्जित और समन्वित तथा समलंकृत हों, साथ ही सभी सुन्दर भोजनीय कारणद्रव्यों और मांसादि के सुपक्व पदार्थों से तथा छः रसों के आस्वाद से समन्वित खाद्य पदार्थों को साथ लाये हों (वह समुदाय पावन माना जाता है) ॥१८॥

प्रौढोल्लासेन सहिता यदि ता निवसन्ति च।
तच्छ्रीचक्रमिति प्रोक्तं वृन्दश्चापि तदुच्यते ॥१९॥

उक्त प्रकार से समलंकृत और पदार्थादि समन्वित समुदाय यदि प्रौढोल्लास से उल्लसित होकर एकत्रित होता है, तो ऐसे प्रौढोल्लाससमुल्लसित कौलिक चक्र को 'श्रीचक्र' कहते हैं। इसे 'वृन्द' संज्ञा से भी विभूषित करते हैं। कुलाचार में श्रीचक्र की पूजा की बड़ी मान्यता है ॥१९॥

कुर्यान्नवकुमारीणां पूजामाश्विनमासके।
प्रातर्निमन्त्रयेद्भक्त्या साधकः शुद्धमानसः ॥२०॥

आश्विनमास के नवरात्र में विशेषरूप से कम से कम नौ कुमारियों की पूजा होनी चाहिये। कुलसाधक को अत्यन्त विनम्र भाव से और विशुद्ध मन से प्रात:काल ही उन्हें आकर निमन्त्रित कर देना चाहिये ॥२०॥

मनोहरामेकवर्षां बालाञ्च शुभलक्षणाम्।
मन्त्री स्नात्वाथ शुद्धात्मा कुर्याद्देवि क्रमार्चनम् ॥२१॥

कुमारीपूजा का कौलमार्ग में बड़ा महत्त्व है। इसमें अर्थात् कुमारीपूजा में क्रमार्चन पद्धति अपनायी जानी चाहिये। क्रमार्चन का तात्पर्य है, प्रतिपदा को एक वर्ष की बालिका, द्वितीया को दो वर्ष की, तृतीया को तीन वर्ष की और नवमी को नौ वर्ष की कन्यायें पूजनीय हैं। यहाँ बाला शब्द संज्ञावाचक शब्द है। एक वर्ष की कुमारी को बाला कहते हैं। ऐसी एक वर्ष की 'बाला' कुमारी, जो देखने में अत्यन्त मनोहर अर्थात् सर्वांगसौन्दर्य के कारण आकर्षक और शुभ लक्षणों से विलक्षण हो, उसको प्रतिपदा के दिन मन्त्रसाधक कौलिक अपने घर आमन्त्रित करे। शुद्धात्मा और स्नानादि नित्यकर्म से निवृत्त होकर साधक क्रमार्चन प्रारम्भ करे ॥२१॥

अभ्यङ्गस्नानशुद्धान्तां पूजासदनमानयेत्।
देवतासन्निधौ बालामुपवेश्य समर्चयेत् ॥२२॥
गन्धपुष्पादिभिर्धूपैर्दीपैश्च कुलदीपकैः।
भोग्यभोज्यान्नपानाद्यैः क्षीराज्यमधुमांसकैः॥
कदलीनारिकेलादिफलैस्तां परितोषयेत् ॥२३॥

शरीर में उद्वर्त्तन लेप करे। (उबटन लगाकर कुछ मलने के साथ शरीर को आराम देने की क्रिया का नाम अभ्यंग है।) अभ्यंग के बाद स्नान आवश्यक होता है। इससे त्वचा सुकुमार कोमल और शरीर हल्का हो जाता है। इन दोनों क्रियाओं को एकान्त कक्षान्तर में कराना उचित है। वहाँ से उसे पूजास्थान में लाना चाहिये। यों शुद्धान्त राजाओं के अन्त:पुर अर्थ में प्रयुक्त होता है। यहाँ पर सबके लिये अप्रवेश्य एकान्त कक्ष अर्थ में इसका प्रयोग है। वहीं उस बालिका को नहला-धुलाकर सजा-धजाकर रखा गया हो। वहाँ से उसे पूजास्थान में ले जाया जाता है।

अब वह पूजास्थान में पहुँच गयी है। उसे आचार्य ने देवसान्निध्य में उचित स्थान पर बिठला दिया है। अब आचार्य के लिये शास्त्र का उपदेश है कि, वे उसे समर्चित करें। अर्चा के लिये गन्ध, फूल, धूप-दीप, कुलदीप, भोग्य, भोज्य, अन्न (खाद्य), पान (पेय), दुग्धपक्व, घृतपक्व पक्वान्न कारणद्रव्य, मांस निर्मित भोज्य, केले, नारियल, आम्र आदि फल और इसी प्रकार के द्रव्यों से उसे तृप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये ॥२२-२३॥

सशक्तिकः स्वयं देवि प्रौढान्तोल्लाससंयुतः।
यथाशक्ति जपेदेकोत्तरवृद्ध्याऽथवा मनुम् ॥२४॥

बालामलङ्कृतां पश्यन् चिन्तयेत् स्वेष्टदेवताम् ।
ततस्तां देवताबुद्ध्या नमस्कृत्य विसर्जयेत् ॥२५॥

साधक अपनी शक्ति के साथ विद्यमान है । वह स्वयं प्रौढान्त नामक उल्लास से संवलित है । दोनों यथाशक्ति वहाँ 'मनु' (मन्त्र) का जप भी एक-एक बढ़ाकर कर रहे हैं । यह प्रतिपदा तिथि का दिन है । एकवर्षीया 'बाला' पूजा के लिये दोनों के सामने है । पूजा उसकी पूरी तरह सम्पन्न कर ली गयी है । श्रद्धा और भक्तिपूर्वक अलंकृत 'बाला' का दोनों दर्शन कर कृतार्थ हो रहे हैं । इस तरह देखते हुए उसमें साधक को अपनी उपास्या इष्टदेवता का दर्शन करना चाहिये । भावना की इस उच्च भूमि पर वह एक-वर्षीया बाला अपनी उपास्या के समान अनुभूत होने लगती है । देवभाव से ही उसका नमस्कार करना चाहिये । इसके बाद देवभाव का विसर्जन कर उसका भी विसर्जन कर देना चाहिये ॥२४-२५॥

द्वितीयायां द्विवर्षान्तामेकवर्षाञ्च पूजयेत् ।
एवं तिथौ कुमारीञ्च यजेत् पूर्वदिनार्चिताम् ॥२६॥

द्वितीया तिथि को एकवर्षीया और दूसरी दो वर्ष की कन्यायें होनी चाहिये । इन दोनों की पूर्ववत् पूजा होनी चाहिये । उक्तवत् इष्टभाव दर्शन और विसर्जन आदि भी अवश्यकरणीय कार्य हैं । इस क्रम से तृतीया को पहली एक वर्ष वाली, दूसरी दो वर्ष वाली और तीसरी तीन वर्ष की कन्यायें पूजनीय हैं । इसी तरह करते-करते अष्टमी तक एक, दो, तीन, चार, पाँच, छः, सात और आठ वर्ष की आठ कुमारियों का पूजन सम्पन्न करना साधक का कर्त्तव्य माना जाता है, जिसे साधक ने आज पूरा कर लिया है ॥२६॥

नवम्यामेकवर्षादिनववर्षान्तकन्यकाः ।
बाला शुद्धा च ललिता मालिनी च वसुन्धरा ॥
सरस्वती रमा गौरी दुर्गा च नव कीर्त्तिताः ॥२७॥

आज नवमी है । आज एक से लेकर नौ वर्ष की नौ कुमारी कन्यायें पूजा में उपस्थित हैं । सभी कन्यायें अत्यन्त पावन, शुद्ध शुचितम और लालित्य से ललित हैं । इनके नाम भी क्रमशः एकवर्षीया से नौवर्षीया तक के इस प्रकार हैं—१. बाला, २. शुद्धा, ३. ललिता, ४. मालिनी, ५. वसुन्धरा, ६. सरस्वती, ७. रमा, ८. गौरी और ९. दुर्गा । इन नामों के उच्चारणपूर्वक क्रमशः सब की पूजा उचित मानी जाती है ॥२७॥

त्रिताराद्यैर्नमोऽन्तैश्च देवतापदपश्चिमैः ।
नामभिश्च चतुर्थ्यन्तैः पूजयेत्ताः पृथक् पृथक् ॥२८॥

पूजा के मन्त्रों के उद्धार का संकेत इस श्लोक में किया गया है । पहले 'त्रितार' का प्रयोग, पुनः कुमारियों के नामों में क्रमशः वर्षानुसार चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग, नामों के साथ देवता का प्रयोग और उसमें भी चतुर्थी का प्रयोग होना चाहिये । इस तरह पृथक्-पृथक् सभी की पूजा करनी चाहिये । प्रथमवर्षीया का मन्त्र इस प्रकार बनाना

चाहिये—त्रितारी–ऐं ह्रीं श्रीं नाम + बाला + देवतायै + नमः । अर्थात् 'ऐं ह्रीं श्रीं बाला-देवतायै नमः' मन्त्र बनता है । इसी प्रकार नौ मन्त्र बनते हैं । देवता के नाम में भी चतुर्थी लगाने पर 'ऐं ह्रीं श्रीं बालायै देवतायै नमः' बनता है ।

सभी नौ मन्त्र इस प्रकार बनते हैं—

१. बाला मन्त्र—ऐं ह्रीं श्रीं बालायै देवतायै नमः । एकवर्षीया ।
२. शुद्धा मन्त्र—ऐं ह्रीं श्रीं शुद्धायै देवतायै नमः । द्विवर्षीया ।
३. ललिता मन्त्र—ऐं ह्रीं श्रीं ललितायै देवतायै नमः । त्रिवर्षीया ।
४. मालिनी मन्त्र—ऐं ह्रीं श्रीं मालिन्यै देवतायै नमः । चतुर्वर्षीया ।
५. वसुन्धरा मन्त्र—ऐं ह्रीं श्रीं वसुन्धरायै देवतायै नमः । पंचवर्षीया ।
६. सरस्वती मन्त्र—ऐं ह्रीं श्रीं सरस्वत्यै देवतायै नमः । षड्वर्षीया ।
७. रमा मन्त्र—ऐं ह्रीं श्रीं रमायै देवतायै नमः । सप्तवर्षीया ।
८. गौरी मन्त्र—ऐं ह्रीं श्रीं गौर्यै देवतायै नमः । अष्टवर्षीया ।
९. दुर्गा मन्त्र—ऐं ह्रीं श्रीं दुर्गायै देवतायै नमः । नववर्षीया ।

इन्हीं मन्त्रों से सबकी क्रमिक पूजा का विधान है ॥२८॥

वटुकं पञ्चवर्षञ्च नववर्षं गणेश्वरम् ।
गन्धपुष्पाम्बराकल्पैर्यथाविभवविस्तरैः ॥२९॥

इसी क्रम में बटुक और गणपति देवता के पूजन का भी विधान अपनाया जाता है । पाँच वर्ष का बालक वटुक और नौ वर्ष का बालक गणेश होता है । ऐसे दो बालकों को घर पर आमन्त्रित करना चाहिये । उन्हें पूजास्थान पर बिठाकर गन्ध, पुष्प (फूल), वस्त्र आदि आकल्पों (पूजा सामग्रियों और सज्जा सामग्रियों) से विभूषित करना चाहिये । इसके साथ ही अपनी शक्ति के अनुसार विस्तारपूर्वक दोनों का सम्मान करना साधक के लिये अवश्यकरणीय कर्त्तव्य माना जाता है ॥२९॥

अभ्यर्च्य देवताबुद्ध्या पदार्थैः परितोषयेत् ।
स्वकार्यफलसिद्ध्यर्थं वित्तशाठ्यविवर्जितः ॥३०॥

इन बालकों में देवभाव से बटुक और गणेश के रूप में पूजा होनी चाहिये । सुन्दर पदार्थों (वस्त्रों आदि) और भोज्य चोष्य लेह्य आदि रसवत्पदार्थों से उनको सुसज्जित एवं तृप्त कर परितोष प्रदान करना चाहिये । अपने अभीष्ट कार्य के सुफल की सिद्धि के उद्देश्य से कंजूसी छोड़कर उदार भाव से उन्हें सन्तुष्ट करना आवश्यक माना जाता है ॥३०॥

नवरात्रं जपेदेकोत्तरवृद्ध्या क्रमेण च ।
नवरात्रकृतां पूजां देवि देव्यै समर्पयेत् ॥३१॥

नवरात्र में विशेषरूप से यह यजन प्रक्रिया परिचालित करनी चाहिये । इसमें एकोत्तरवृद्धि की पद्धति आवश्यकरूप से अपनानी होती है । एकोत्तर वृद्धि कुमारीपूजा

के सन्दर्भ में पहले ही कही गयी है। इस तरह पूरी नवरात्र-पूजा प्रक्रिया को पूर्णतया सम्पादित कर माँ परमाम्बा के वामहस्त में अर्पित करना अनिवार्यतः आवश्यक है ॥३१॥

ताम्बूलं दक्षिणां दत्त्वा कुमारीस्ता विसर्जयेत्।
एवं नवकुमारीणामर्चनं प्रतिवत्सरम् ॥३२॥

अन्त में ताम्बूल देकर मुखशुद्धि की क्रिया पूरी करनी चाहिये। इसके बाद दक्षिणा की बारी आती है। दक्षिणा यज्ञ में अत्यन्त आवश्यक अंगरूपा होती है। दक्षिणा के तुरत बाद कुमारियों का विसर्जन कर देना चाहिये। इस तरह प्रतिवर्ष नवरात्र में नौ कुमारियों का पूजन कर्त्तव्य भाव से करना चाहिये ॥३२॥

यः करोति स पुण्यात्मा देवताप्रीतिमाप्नुयात्।
मनोऽभिलाषं सम्प्राप्य निवसेत्तव सन्निधौ ॥३३॥

ऐसा करने वाला पुण्यात्मा पुरुष होता है। वह माँ परमाम्बा का कृपापात्र होता है। अपने अभीष्ट देव की प्रीति का वह अधिकारी हो जाता है। उस पर देवकृपा की वर्षा शक्तिपात रूप से होती है। उसके सभी मनोरथ पूरे होते हैं। अपने अभिलाष की पूर्त्ति से वह प्रसन्न हो जाता है। वह माँ परमाम्बा के सान्निध्य में ही निवास प्राप्त कर लेता है। अर्थात् माँ उसे पूरी तरह अपना लेती है ॥३३॥

अथवा यौवनारूढाः प्रमदा नव पार्वति।
मनोज्ञाः पूजयेद्भक्त्या नवरात्रिषु मन्त्रवित् ॥३४॥

कुमारी-पूजा की तरह एक दूसरी पूजा भी विकल्प रूप से शास्त्र में स्वीकृत है। कुमारी-पूजा के विकल्प रूप में नव (नौ) प्रौढा प्रमदाओं का पूजन भी किया जा सकता है। यौवन में आरूढ ये प्रमदायें भी देवीरूप ही मानी जाती हैं[1]। यह ध्यान रखना चाहिये कि ये प्रमदायें अत्यन्त सुन्दर हों। सर्वांग-सौन्दर्यसमन्वित हों। इनकी पूजा भी मन्त्रवित् साधक नवरात्रों में करे। यह शास्त्रीय आदेश है ॥३४॥

हल्लेखां गगनां रक्तां महोच्छुष्मां करालिकाम्।
इच्छां ज्ञानां क्रियां दुर्गां वटुकञ्च गणेश्वरम्॥
पूर्ववत् पूर्वमद्याद्यैः पदार्थैः परितोषयेत् ॥३५॥

इन प्रौढाओं के आयुक्रम से—१. हल्लेखा, २. गगना, ३. रक्ता, ४. महोच्छुष्मा, ५. करालिका, ६. इच्छा, ७. ज्ञाना, ८. क्रिया, ९. दुर्गा, ये नाम शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट हैं। इनके साथ बटुक और गणेश भी पूर्ववत्पूज्य हैं। इनकी मद्य आदि पदार्थों से भी पूजा करनी चाहिये और इन्हें परितुष्ट करना चाहिये ॥३५॥

प्रौढान्तोल्लाससंयुक्ताः सन्तुष्टा यदि ताः प्रिये।
साधकस्तुष्टिमासाद्य निवसेत्तव सन्निधौ ॥३६॥

---

१. विद्याः समस्तास्तव देवि भेदास्स्त्रियः समस्तास्सकला जगत्सु। (दुर्गासप्तशती-११।६)

यदि प्रौढान्तोल्लास से संवलित ये सुन्दरियाँ इस पूजा से परम प्रसन्न और सन्तुष्ट हो जाती हैं, तो इनकी कृपा साधक पर हो जाती है। ये सन्तुष्ट होकर उसे वरदानरूप आशीर्वाद देती हैं। भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! उनके आशीर्वाद से साधक तुम्हारा सान्निध्य पाने का सौभाग्यशाली अधिकारी हो जाता है ॥३६॥

एवं यः पूजयेद्देवि प्रतिवर्षं यतव्रतः।
षण्मासे वा त्रिमासे वा मासे मासेऽथवा प्रिये ॥३७॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! जो साधक इस प्रकार का व्रत सावधानता और यत्नपूर्वक अनुशासित रहते हुए करता है और नियमित प्रतिवर्ष पूजन करता है अथवा तिमाही या छमाही पूजन करता है, अथवा प्रतिमास पूजन करता है, वह नियतव्रती भक्त माना जाता है ॥३७॥

तिस्रो वा पञ्च वा सप्त पूजयेद्देवताधिया।
सर्वैश्वर्यसमृद्धात्मा स भवेदावयोः प्रियः ॥३८॥

उक्त तिथि और कालक्रम से ऐसे भक्त देवता की बुद्धि से नौ न मिलने पर सात कुमारी बाला या प्रौढाओं की, सात न मिलने पर पाँच की ही या पाँच के भी न मिलने पर तीन की पूजा करता है, देवि ! यह मेरा वचन है कि, वह समग्रतया सभी ऐश्वर्यों और समृद्धियों से संयुक्त हो जाता है। वह हम दोनों का प्रियपात्र हो जाता है ॥३८॥

भृगुवारे कुलेशानि कान्तामारूढयौवनाम्।
सर्वलक्षणसम्पन्नामनुकूलां मनोरमाम् ॥३९॥
कुलाकुलाष्टकां देवि निमन्त्र्याहूय पुष्पिणीम्।
अभ्यङ्गस्नानशुद्धाङ्गीमासने चोपवेशयेत् ॥४०॥

भगवान् शंकर पूजा के एक नये विकल्प की बात कर रहे हैं। इसके अनुसार प्रति शुक्रवार को कुलाकुलाष्टकों के मध्य से एक कमनीय कान्ता का चयन करना चाहिये। कुलाष्टक की परिभाषा सप्तम उल्लास के ४२वें श्लोक में दी गयी है। उनमें से किसी एक को जो यौवन के चौखट पर आरूढ होने के साथ ही कमनीया कान्तिमती बाला सर्वांगसौन्दर्यविभूषिता हो, अपने अर्थात् कुलधर्म के अनुकूल और मन में रमने वाली प्यारी-प्यारी सी युवती हो, उसको पहले निमन्त्रित कर अपने घर पर आहूत करना चाहिये। यह ध्यान रखना चाहिये कि वह पुष्पिणी अर्थात् रजोधर्मवती हो। उसको समादरपूर्वक उबटन आदि लेपन से उपलिप्त कर स्नान कराकर सुन्दर आसन पर बैठाना चाहिये ॥३९-४०॥

गन्धपुष्पाम्बराकल्पैरलङ्कृत्य विधानवित्।
आत्मानं गन्धपुष्पाद्यैरलङ्कुर्यात् कुलेश्वरि ॥४१॥

उसके बाद गन्ध, पुष्प, सुवस्त्र और अन्य आकल्पों से उसे सज्जित करने में कुछ

उठा नहीं रखना चाहिये। इसके बाद विधि-विधान से स्वात्म को भी खूब अच्छी तरह गन्ध, पुष्प आदि आकल्पों से अलंकृत करना चाहिये ॥४१॥

आवाह्य देवतां तस्यां यजेन्न्यासक्रमेण च।
कृत्वा क्रमार्चनं धूपदीपाश्च कुलदीपकान् ॥४२॥

उस आरूढयौवना कान्ता में देवता का आवाहन करना चाहिये। इससे उसमें देवत्व उल्लसित हो जाता है। इसके बाद उसमें शास्त्रनिर्दिष्ट न्यास करना चाहिये। न्यास से प्रत्यंग शाक्त भाव भावित हो जाता है। अब उसका विधिवत् पूजन करना चाहिये। पूजन में धूप-दीप, कुलदीपक आदि का अर्पण करना चाहिये ॥४२॥

प्रदर्श्य देवताबुद्ध्या पदार्थैः षड्रसान्वितैः।
मांसादिभक्ष्यभोज्याद्यैस्तोषयेद्देवि भक्तितः ॥४३॥

दीप आदि दर्शन के उपरान्त नैवेद्य निवेदित करना चाहिये। उसमें देवभाव का भावन करना चाहिये और षड्रसमय छप्पन भोग अर्पित करना चाहिये। इसमें मकार के अन्दर गृहीत भोज्य मांस का प्रयोग भी अवश्य करना चाहिये। इस तरह भक्ष्य, भोज्य, चोष्य, लेह्य और पेय पदार्थों को अर्पित कर भक्तिपूर्वक उसको तृप्त करना चाहिये ॥४३॥

प्रौढान्तोल्लाससहितां तां प्रपश्यन् जपेन्मनुम्।
यौवनोल्लाससहितः स्वयं तद्ध्यानतत्परः ॥४४॥

फिर उसे मद्यपान कराना चाहिये। जब वह प्रौढान्त उल्लास की अवस्था में आ जाय, तो उसका दर्शन करते हुए मन्त्र का जप करते रहना चाहिये। स्वयं में यौवन के पूर्ण उल्लास का अनुभव करते हुए उसके और इष्ट के ध्यान में रत रहना चाहिये ॥४४॥

निर्विकारेण चित्तेन ह्यष्टोत्तरसहस्रकम्।
जपादिकं समर्प्याथ तया सह निशां नयेत् ॥४५॥

इस पूजा-क्रम में मन में विकार नहीं होना चाहिये। निर्विकार भाव से एक हजार आठ जप आदि पूरा कर और समर्पित कर उसी के साथ रात बितानी चाहिये ॥४५॥

त्रिपञ्चसप्तनवसु भृगुवारेषु यः प्रिये।
पूजयेद्विधिनाऽनेन तस्य पुण्यं न गण्यते ॥४६॥

तीन, पाँच, सात अथवा नौ शुक्रवारों को, भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति! जो कौल साधक इसी क्रम से इस यजन-पूजन, जप आदि को इनके साथ सम्पन्न करता है और विधिपूर्वक इन प्रयोगों को श्रद्धापूर्वक सम्पन्न करता है, उसके पुण्य का पारावार नहीं। अगणित पुण्यों से वह पुण्यात्मा बन जाता है ॥४६॥

चतुःपीठार्चनफलं स प्राप्नोति कुलेश्वरि।
यद् यत् स्वमनसोऽभीष्टं तत्तदाप्नोत्यसंशयम् ॥४७॥

जितने फल चतु:पीठों के अर्चन में किसी को प्राप्त होते हैं, उतने फलों को कौल साधक केवल इस प्रक्रिया के माध्यम से प्राप्त कर लेता है। ये बातें भगवान् शंकर ने पार्वती से तन्त्ररहस्य-कथन के सम्बन्ध में सुनायी थीं। इसके साथ यह भी कहा कि देवि ! इससे वह जिन मनोरथों की सिद्धि चाहता है, सभी पूरे हो जाते हैं। इसमें किसी प्रकार के संशय या सन्देह को अवकाश नहीं ॥४७॥

नवम्यां वार्चयेदेवं विधानेन विधानवित्।
स्तोत्रैः सम्पूजयेत् सर्वैर्महदैश्वर्यमाप्नुयात् ॥४८॥

विधिवेत्ता कौल साधक नवमी में भी इसी प्रक्रिया से कुलाष्टकस्वीकृत किसी कान्ता की पूजा कर सकता है। यह शास्त्रस्वीकृत तथ्य है। पूजनानन्तर जप और स्तोत्र का भी प्रयोग वह करे। इस तिथि की पूजा-अर्चना के फलस्वरूप वह महान् ऐश्वर्य का अधिकारी हो जाता है ॥४८॥

कुर्यात् कर्कटके वापि मकरे मिथुनार्चनम्।
तुलायां सिंहमेषे वा सर्वसंक्रान्तिषु प्रिये ॥४९॥

तन्त्रपद्धति में मिथुन अर्चन का बड़ा महत्त्व है। यह बड़ा पुण्यप्रद पूजन माना जाता है। इनके पूजन के लिये विशिष्ट राशियाँ निर्धारित हैं। जब इनमें सूर्य का प्रवेश हो, उसी समय निर्धारित राशियों में मिथुनों में से किसी एक की पूजा करनी चाहिये। ये निर्धारित राशियाँ निम्नवत् हैं—१. कर्क राशि, २. मकर राशि, ३. तुला राशि, ४. सिंह राशि, ५. मेष राशि। इन पाँच राशियों के अतिरिक्त सभी संक्रान्तियाँ भी मिथुनार्चन के लिये प्रशस्त मानी जाती हैं ॥४९॥

गौरीशिवौ रमाविष्णू वाणीसरसिजासनौ।
शचीन्द्रौ रोहिणीचन्द्रौ स्वाहाग्नी च प्रभारवी ॥५०॥
भद्रकालीवीरभद्रौ भैरवीभैरवावपि।
मिथुनानि नवाभ्यर्च्य पूर्वोक्तेनैव वर्त्मना ॥५१॥

मिथुन शास्त्र में मात्र ९ माने जाते हैं—१. शिव-पार्वती, २. लक्ष्मी और विष्णु, ३. वाणी (हिरण्यगर्भ) और विधाता, ४. शची और पुरन्दर, ५. रोहिणी और चन्द्र, ६. स्वाहा और अग्नि, ७. प्रभा और भास्कर, ८. वीरभद्र और भद्रकाली और ९. भैरव-भैरवी। ये नौ मिथुन सर्वदा पूजनीय हैं; किन्तु निश्चित समय पर निश्चित राशियों में इस पूजा का महत्त्व बढ़ जाता है। संक्रान्तियाँ भी पूजन के लिये उत्तम होती हैं ॥५०-५१॥

त्रितारादिनमोऽन्तेन तत्तन्नाम्ना विधानवित्।
गन्धपुष्पादिभिः पूज्य मद्याद्यैः परितोषयेत् ॥५२॥

त्रितार तीन ॐकार अथवा ऐं ह्रीं श्रीं को भी कहते हैं। शिव-पार्वती में और भैरव-भैरवी अर्चन में ऐं ह्रीं श्रीं ही लगाना चाहिये। शेष सात मिथुनों में तीन ॐ ॐ ॐ लगाने

चाहिये। त्रितार आदि मन्त्र के आदि में और नमः अन्त में लगाना चाहिये। मिथुन नामों में आगे द्विवचन, चतुर्थी विभक्ति सम्प्रदानकारक की लगानी चाहिये। पहले मिथुन का मन्त्र जैसे बनता है, उसी तरह सब मिथुनों के मन्त्र बनते हैं। प्रथम मन्त्र—ऐं ह्रीं श्रीं शिवपार्वतीभ्यां नमः। दूसरा मन्त्र—ॐ ॐ ॐ रमाविष्णूभ्यां नमः। इसी तरह सबका मन्त्र बना लेना चाहिये। इन सब की पूजा उन्हीं-उन्हीं के त्रितारयुक्त नमोऽन्त मन्त्र से कुलाचारविधानवेत्ता आचार्य गन्ध-पुष्प आदि उपचारों और मद्य-मांस आदि से करें ॥५२॥

प्रौढान्तोल्लासयुक्तानि कुर्वीत मिथुनानि च।
एवं कृते न सन्देहस्तुष्टा मिथुनदेवताः॥
अनुगृह्णन्ति तं देवि प्रयच्छन्ति मनोरथम्॥५३॥

प्रौढान्तोल्लासयुक्त सभी मिथुन जब तक न हों, तब तक उन्हें मद्य आदि का सेवन कराते रहना चाहिये। यह प्रौढान्तोल्लासयुक्त करने की प्रक्रिया कहलाती है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि, इस प्रक्रिया के अपनाने से मिथुन देवता निश्चित रूप से प्रसन्न होते हैं। ये मिथुन देवता पूजक पर प्रसन्न होकर उसके सम्पूर्ण मनोरथों को अवश्य ही पूरा करते हैं ॥५३॥

प्रतिवर्षन्तु यः कुर्यात् सभक्त्या मिथुनार्चनम्।
तव लोके स निवसेत् सर्वैश्वर्यसमन्वितः॥५४॥

कुलमार्ग में मिथुन-पूजन का बड़ा महत्त्व है। भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, कुलाचार में श्रद्धा रखने वाला जो कौलिक प्रतिवर्ष भक्तिपूर्वक मिथुनार्चन करता है, वह देवि पार्वति! तुम्हारे लोक में निवास करता है। इस पूजन के सुपरिणामस्वरूप वह सभी प्रकार के वैभव और ऐश्वर्यों से समन्वित हो जाता है ॥५४॥

अथ वैशाखमासस्य शुक्लप्रतिपदीश्वरि।
ब्राह्मे मुहूर्त्ते उत्थाय स्नानं सन्ध्यामुपास्य च॥५५॥
मनोज्ञे रहसि स्थाने पूर्वाशाभिमुखस्थितः।
आत्मानं गन्धपुष्पाद्यैरलङ्कृत्य विधानवित्॥५६॥

पार्वति! वैशाख मास की शुक्लपक्ष की प्रतिपदा तिथि को ब्राह्ममुहूर्त में उठकर जो नियमितरूप से संध्या-वन्दन और उपासन-अर्चन करता है तथा इसके बाद एकान्त स्थान में पूरब की ओर मुँह कर विधानपूर्वक स्वात्म को ही गन्ध-पुष्प से अलंकृत करता है (वह उत्तम कौलिक है) ॥५५-५६॥

कृत्वा पुरोदितन्यासान् देवताभावमास्थितः।
किञ्चिदभ्युदिते सूर्ये मण्डले स्वेष्टदेवताम्॥५७॥

ऐसा उत्तम साधक पूर्वकथनानुसार नियमितरूप से न्यास आदि प्रक्रियाओं को भी पूरा करता है। वह स्वयं देवताभाव में अवस्थित हो जाता है। तदनन्तर जब सूर्य ऊपर

आकाश की ओर अग्रसर होने की प्रक्रिया अपनाकर अभ्युदित होते हुए चढ़ने लगते हैं, उस समय वह कौलिक साधक अपने इष्ट आराध्य का स्मरण करता है ॥५७॥

ध्यात्वा सावरणां सम्यक् पूजयेद्विधिना प्रिये।
षोडशैरुपचारैस्तु चक्रपूजापुरःसरम् ॥५८॥

भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! इस प्रकार वह निरन्तर आराध्य का ध्यान करता है, उसकी आवरणपूजा के नियमानुसार सावरण पूजा करता है, कहीं भी कोई त्रुटि नहीं आने देता तथा षोडशोपचारों से पूजा करता है, साथ में चक्रपूजा भी सम्पन्न करता है (वह उत्तम साधक है) ॥५८॥

कुलदीपान् प्रदर्श्याथ शिवाय गुरुरूपिणे।
मत्स्यमांसादि विधिवद्भक्ष्यभोज्यसमन्वितम् ॥५९॥

इसी पूजा में कुलदीपों का भी वह प्रदर्शन करता है। वह अपने शिवरूप गुरुदेव की तृप्ति के लिये मद्य, मांस, मत्स्य आदि सुपक्व, सुगन्धमय भोजन भी अर्पित करता है (वह उत्तम कुलसाधक माना जाता है) ॥५९॥

अर्घ्यं निवेद्य तच्छेषं स्वयं भक्त्या पिबेत् प्रिये।
यौवनोल्लाससहितो निर्विकारेण चेतसा ॥६०॥

वह गुरुदेव को अर्घ्य अर्पित करता है। इसके बाद यज्ञशेष का भक्तिपूर्वक स्वयं पान करता है। वह यौवन के पूर्ण उल्लास की स्थिति में होता है, फिर भी उसके चित्त में तनिक भी विकार पैदा नहीं होता (ऐसा साधक कुलाचार के अनुसार उत्तम माना जाता है) ॥६०॥

ध्यायंस्तन्मण्डलं देवीमष्टोत्तरसहस्रकम्।
जप्त्वा समर्प्य तत्पूजां देवताञ्च समुद्धरेत् ॥६१॥

इतनी प्रक्रिया पूरा करता हुआ वह साधक सभक्ति कुलमण्डल का ध्यान करता है। मण्डल में स्थित होकर ही एक हजार आठ देवमन्त्र का जप उसी उल्लास की अवस्था में सम्पन्न करता है। पूजा कर पूरे मन्त्र को देवी के वाम हस्त में अर्पित कर देता है। ऐसा समाराधक इतना शक्तिसम्पन्न हो जाता है कि, वह देवोद्धार की विधि भी पूरी कर लेता है ॥६१॥

एवं शुक्लप्रतिपदं समारभ्य दिने दिने।
कुर्याज्जपार्चनं कृष्णाचतुर्दश्यन्तमम्बिके ॥६२॥

इस प्रकार शुक्ल-प्रतिपदा तिथि से प्रारम्भ कर प्रतिदिन पूजा सम्पन्न करना यद्यपि कठिन कार्य है, पर वह इस प्रक्रिया को निरन्तर नियमित रूप से सम्पन्न करता है। भगवान् कहते हैं कि, अम्बिके ! इस पूजन, जपादि क्रिया को वह कृष्ण-चतुर्दशी पर्यन्त पूरा करता है। यह वह नियमित करता रहे ॥६२॥

अमावास्यादिने देवि पूजयेच्छक्तिकौलिकान् ।
त्रिपञ्चसप्तनव वा वित्तलोभविवर्जितः ॥६३॥

कृष्ण-चतुर्दशी के दूसरे दिन ही अमावास्या तिथि होती है और पूजा का एक मास भी पूरा होता है। उस दिन भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि ! वह शक्तिकौलिकरूप मिथुनों की भी पूजा करे। अपनी शक्ति के अनुसार तीन, पाँच या सात मिथुनों की भी वह पूजा कर सकता है ॥६३॥

एवं यो मासमात्रन्तु कुर्यात् सूर्योदयार्चनम् ।
देवता तस्य सन्तुष्टा ददाति फलमीप्सितम् ॥६४॥

भगवान् कहते हैं कि, देवि ! कुलाचार में श्रद्धा रखने वाला जो साधक इस मासिक पूजा को सम्पन्न करता है और सूर्योदय तक इस अर्चन का सम्पादन कर लेता है। उस पर उसकी आराध्या अम्बिका परम प्रसन्न हो जाती हैं। परिणामत: उसके सारे मनोरथों को वह पूरा कर देती हैं ॥६४॥

मध्याह्ने चार्चयेद्देवं सायाह्ने चार्चयेत् प्रिये ।
स तु तत्फलमाप्नोति योगिनीनां प्रियो भवेत् ॥६५॥

मध्याह्न में भी आराध्य के अर्चन का विधान है। जो आराध्य का मध्याह्न में अर्चन करता है तथा सायंकालिक इस पूजा को भी सम्पन्न करता है, वह इस पूजन-अर्चन का फल तो प्राप्त करता ही है, योगिनियों का भी प्रिय हो जाता है ॥६५॥

त्रिसन्ध्यं योऽर्चयेदेवं मासमात्रं विधानवित् ।
काङ्क्षितां लभते सिद्धिं देववद्विचरेद् भुवि ॥६६॥

इस प्रकार त्रिसन्ध्य आराध्य का अर्चन अनुपम फल प्रदान करता है। जो विधानवेत्ता एक मास पर्यन्त त्रिसन्ध्य अर्चन सम्पन्न करता है, वह आकांक्षित सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। भूमण्डल में वह देवतुल्य विचरण करता है, अर्थात् सभी उसका देवतुल्य समादर करते हैं ॥६६॥

माघशुक्लप्रतिपदि दिवाहारविवर्जितः ।
स्नात्वा शुक्लाम्बरधरः सायं सन्ध्यामुपास्य च ॥६७॥

माघ महीने की शुक्ल-प्रतिपदा को जो कुलाचारनिष्ठ साधक दिन में निराहार रहकर सायंकालीन सन्ध्या को सम्पन्न करता है। सन्ध्या के पहले स्नान कर वह श्वेत शुद्ध वस्त्रों को धारण करता है तथा श्वेत वस्त्र धारण कर ही सन्ध्या पूरी करता है। (वह उत्तम साधक है) ॥६७॥

सूर्यार्चनोक्तमार्गेण सर्वद्रव्यसमन्वितः ।
यौवनोल्लाससहितश्चन्द्रस्थां देवतां स्मरन् ॥६८॥

सायंकालीन सन्ध्या करते समय वह सूर्य की पूजा करता है। सूर्य-पूजा में उपयोग में आने वाली समस्त सामग्री सम्भार राशि का वह प्रयोग भी करता है। वह यौवनोल्लास में उल्लसित रहता है। इसके बाद वह चन्द्रस्थ देवता का स्मरण भी करता है ॥६८॥

चन्द्रास्तमयपर्यन्तं जपेन्मन्त्रमनन्यधीः ।
एवं प्रतिदिनं शुक्लचतुर्दश्यन्तमर्चयेत् ॥६९॥

चन्द्र सोमतत्त्व का प्रतीक देवता है। वह रात्रिपर्यन्त लोक को शीत आलोक प्रदान करता है। यह लोकजीवन का वरदान रूप है। सायं से लेकर पूरे चन्द्रालोक में वह साधक जप करता है। अनन्य भाव-भक्ति से किया हुआ यह जप चन्द्रास्त पर्यन्त करता रहता है। इसमें आवश्यक नियम यह है कि, यह जप शुक्लपक्ष की चतुर्दशी तक चलना चाहिये ॥६९॥

पौर्णमास्यां यथाशक्त्या पूजयेच्छक्तिकौलिकान् ।
एवं यः कुरुते भक्त्या शुक्लपक्षार्चनं प्रिये ॥७०॥

अब पूर्णिमा की तिथि आ गयी है। पूर्णिमा में यथाशक्ति शक्तिकौलिकों की पूजा का उपक्रम करना चाहिये। भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति ! इस पूजाक्रम को शुक्लपक्ष का चन्द्रार्चन कहते हैं। यह पूजन सोमतत्त्व के उल्लास के लिये परम आवश्यक है ॥७०॥

सर्वपापविशुद्धात्मा सर्वैश्वर्यसमन्वितः ।
सर्वलोकैकसम्पूज्यः शिववन्निवसेद् भुवि ॥७१॥

इस तरह की पूजा करने वाला कौलिक सभी प्रकार के पापों से उन्मुक्त होने के कारण विशुद्ध आत्मावान् महात्मा हो जाता है। सभी प्रकार के ऐश्वर्यों से वह समन्वित हो जाता है। सारे लोगों के द्वारा पूजित वह लोकविश्रुत पुरुष शिव के समान भूमण्डल में विचरण करता है ॥७१॥

शुक्लपक्षेऽर्चनं यद्वत्तद्वत् पक्षे सितेतरे ।
यः करोति विधानेन सर्वान् कामान् समश्नुते ॥७२॥

शुक्लपक्ष की उक्त पूजा-प्रक्रिया की तरह कृष्णपक्ष की पूजा भी महत्त्वपूर्ण होती है। जो साधक इस क्रम को अपनाता है और विधिपूर्वक सारी प्रक्रिया पूरी करता है, उसके समस्त मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं ॥७२॥

इह भुक्त्वाऽखिलान् भोगान् देववत् प्रियदर्शनः ।
योगिनीवीरमेलनं लभते नात्र संशयः ॥७३॥

यावज्जीवन यहाँ इन सांसारिक भोगों का उपभोग करते हुए वह साधक देवत्व की प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। उसके दर्शन से सभी प्रसन्न होते हैं। इसलिये उसे सभी लोग प्रियदर्शन कहने लगते हैं। उसका इतना महत्त्व बढ़ जाता है कि, वह योगिनी और

वीरशक्ति-शक्तिमन्तों से मेलन कर सकता है। स्वयं योगिनी और वीरमेलन का सौभाग्य प्राप्त कर लेता है। इसमें संशय की कोई बात नहीं है ॥७३॥

अथ कार्त्तिकमासस्य शुक्लप्रतिपदीश्वरि।
स्नात्वाचम्य विशुद्धात्मा न्यासान् कृत्वा पुरोदितान् ॥७४॥

यहाँ कार्त्तिक मास के कार्यकलाप के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट कर रहे हैं। उनका कहना है कि, कुलस्वामिनी देवि! पार्वति! कार्त्तिक मास की शुक्लपक्ष की प्रतिपदा में प्रातः स्नानाचार आदि के उपरान्त पहले कहे हुए के अनुसार न्यास आदि की प्रक्रिया पूरी करनी चाहिये ॥७४॥

प्रसुप्ते जीवलोके तु मुदितात्मा महानिशि।
पूर्वार्चनोक्तविधिना सर्वद्रव्यसमन्वितः ॥७५॥

सारा का सारा जीवलोक जिस समय प्रसुप्त रहता है, प्रसन्नचित्त साधक, उस महानिशा में सभी द्रव्यों के साथ, जिनका प्रयोग उक्त पूजा की प्रक्रिया में किया जाता है, पूजा में बैठकर एकाग्रभाव से आराध्य का अनुचिन्तन करता है ॥७५॥

आज्येनानामिकास्थूलवर्त्तिं प्रज्वाल्य पार्वति।
पञ्चवर्णरजश्चित्रवसुपत्रसरोरुहे ॥७६॥

इसमें दीप प्रज्वलित करने का बड़ा महत्त्व है। दीप घी से भरा हुआ हो। उसकी बाती रूई या कपड़े की होनी चाहिये। बाती की मोटाई अनामिका की मोटाई के बराबर की होनी चाहिये। उसको जला देने से पर्याप्त प्रकाश हो जाता है। इसके साथ ही कलश की प्रतिष्ठा होनी चाहिये। कलश को मद्य से भर देना चाहिये। उसे पंचवर्णी रंगों से रंजित कर आठ पत्रों वाले सरोरुह से अलंकृत करना चाहिये ॥७६॥

मधुपूर्णे च कलसे कांस्यपात्रे मनोहरे।
दीपं संस्थाप्य पुरत उत्तराभिमुखस्थितः ॥७७॥

कलश कांस्य द्वारा निर्मित होने का आदेश शास्त्र दे रहा है। वह अत्यन्त आकर्षक होना चाहिये। मद्य से पूर्ण कलश के आगे दीप को अवस्थित करना चाहिये। साधक को उत्तराभिमुख बैठना चाहिये ॥७७॥

दीपे सावरणां देवीं ध्यात्वा विधिवदर्चयेत्।
यौवनोल्लाससहितो दीपस्थां देवतां स्मरन् ॥७८॥

दीपक प्रज्वलित करने के बाद दीपक में आवरण से समन्वित सावरण प्रक्रिया से ही सावरण देवी की पूजा करनी चाहिये। पूजा शास्त्रोक्त विधि के अनुसार होनी चाहिये। इसमें दो बातों पर विशेष बल देना उचित है—१. यौवनोल्लास से साधक परिपूर्ण हो। २. देवपूजा दीप में होनी चाहिये ॥७८॥

अष्टोत्तरसहस्रन्तु जपेन्मन्त्रमनन्यधीः ।
एवं समर्चयेत् कृष्णाचतुर्दश्यन्तमम्बिके ॥७९॥

अनन्यभाव से साधक एक हजार आठ संख्या में जप करे। भगवान् शंकर कह रहे हैं कि देवि ! अम्बिके ! जप तो पूजा का ही अंग माना जाता है। अतः कृष्णचतुर्दशी-पर्यन्त श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सम्यक् रूप से पूजन-अर्चन करना चाहिये ॥७९॥

अमावास्यादिने भक्त्या पूजयेच्छक्तिकौलिकान् ।
एवं कृते कुलेशानि देवताप्रीतिमाप्नुयात् ॥८०॥

चतुर्दशी के तुरत बाद दूसरे दिन अमापर्व होता है। इस पर्व दिवस पर शक्ति-शक्तिमन्त मिथुनरूप शक्ति-कौलिकों की पूजा करनी चाहिये। हे कुलेश्वरि ! देवि ! इस प्रकार से इस प्रक्रिया को पूरा करने पर आराध्य देव नित्य प्रसन्न होते हैं ॥८०॥

सर्वकामसमृद्धात्मा सर्वैश्वर्यसमन्वितः ।
सर्वलोकैकसम्मान्यः सञ्चरेत् स यथासुखम् ॥८१॥

साधक सभी कामनाओं की पूर्त्ति के फलस्वरूप समृद्धि प्राप्त कर समृद्धात्मा अर्थात् लक्ष्मी का पात्र बन जाता है। समस्त ऐश्वर्यों से समन्वित हो जाता है। समस्त लोक में एकमात्र सम्माननीय पुरुष सिद्ध हो जाता है और आजीवन सुखपूर्वक विचरण करता है ॥८१॥

अष्टाष्टकार्चनं कुर्यात् शक्तश्चेदेकवासरे ।
अथवाष्टाष्टदिवसेष्वथ द्व्यष्टदिनेषु वा ॥
द्वात्रिंशद्दिवसेष्वेवं चतुःषष्टिदिनेषु च ॥८२॥

सामर्थ्य और शक्ति के अनुसार एक दिन में भी अष्टाष्टक अर्चन करना चाहिये। यह सर्वोत्तम अर्चन माना जाता है। यदि यह सम्भव न हो तो इसके लिये शास्त्र समय का विकल्प भी स्वीकृत है। भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! पार्वति ! इसे आठ दिन में भी पूरा किया जा सकता है अथवा १६ दिन में भी अष्टाष्टक अर्चन करना शास्त्रसम्मत है। यदि यह भी सम्भव न हो तो चौंसठ दिनों में अर्थात् प्रतिदिन एक पूजन के क्रम से इसे करना ही चाहिये। यह शास्त्र का अनुशासन है ॥८२॥

गुरुणा कारयेद्देवि क्रमज्ञेनापरेण वा ।
क्रमज्ञश्चेत् स्वयं कुर्याद्वित्तशाठ्यविवर्जितः ॥८३॥

देवि ! यदि स्वतः सम्भव न हो, तो गुरुदेव द्वारा ही इसे सम्पन्न कराना चाहिये। गुरु के अनुपलब्ध रहने पर पूजा के क्रमविज्ञान में दक्ष किसी दूसरे के द्वारा भी इसे सम्पन्न करा लेना चाहिये। उत्तम पक्ष तो यही है कि, स्वयं क्रमज्ञ होना चाहिये। क्रमज्ञ साधक द्वारा इसे स्वयं सम्पन्न करना उत्तम माना जाता है। इसमें वित्तशाठ्य अर्थात् धनव्यय सम्बन्धी कृपणता नहीं करनी चाहिये ॥८३॥

मूलाष्टकन्तु ब्रह्माद्याश्चासिताङ्गादिभैरवाः ।
मङ्गलाद्यैश्च मिथुनैरष्टभिः शब्दिताः प्रिये ॥८४॥

मूल अष्टक में किसकी गणना होती है ? इस जिज्ञासा के उत्तर में यहाँ मात्र ब्राह्मी आदि लिख दिया गया है। वे क्रमशः इस प्रकार हैं—ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, ऐन्द्री, याम्या (वाराही), चामुण्डा और योगीशी ।[१] इसी तरह अष्ट असितांग आदि भैरव भी होते हैं। वे इस प्रकार हैं—१. असितांग, २. रुरु, ३. चण्ड, ४. क्रोधेश, ५. उन्मत्त, ६. कपाली, ७. भीषण और ८. संहारभैरव।

स्वच्छन्दतन्त्र (२।११७-११९) में भैरवाष्टक क्रम इस प्रकार है—१. कपालीश, २. शिखिवाहन, ३. क्रोधराज, ४. विकराल, ५. मन्मथ, ६. मेघनादेश्वर, ७. सोमराज, ८. विद्याराज। यह अन्तर तन्त्रों के अनुभूतिजन्य वैमत्य पर निर्भर है।[२]

इनकी मंगला आदि आठ मिथुन शक्तियाँ भी हैं। इनका उल्लेख यहाँ नहीं है। मंगला नाम के आधार पर—१. मंगला, २. काली, ३. भद्रकाली, ४. कपालिनी, ५. दुर्गा, ६. क्षमा, ७. शिवा और ८. धात्री को ऊह के आधार पर माना जा सकता है। जो हो। भगवान् की वाणी है। तन्त्रान्तरों से इसे जानना चाहिये। अनिश्चय में रहना ठीक नहीं ॥८४॥

मूलाष्टकोद्भवानीति प्रसिद्धानि कुलागमे ।
अक्षोभ्यादिचतुःषष्टिमिथुनानि समर्चयेत् ॥८५॥

ये मूलाष्टक के आधार पर परिगणनीय और 'कुल' आगम की कौलिक परम्परा में प्रचलित प्रसिद्ध 'मिथुन' माने जाते हैं। इनमें सर्वप्रथम अक्षोभ्य मिथुन का नाम आता है। इनकी कुल संख्या भी चौसठ मानी जाती है ॥८५॥

पूर्वोक्तेन विधानेन यथाविभवविस्तरम् ।
क्रमलोपं न कुर्वीत स्वेष्टकार्यार्थसिद्धये ॥८६॥

पूर्वोक्त कथन के अनुसार विधानपूर्वक और किसी प्रकार की कंजूसी नहीं करनी चाहिये। यथाशक्ति अपनी पूँजी का ध्यान रखकर ही खर्च करना उचित माना जाता है। इसमें किसी क्रम का लोप नहीं करना चाहिये। लक्ष्य कार्य की सिद्धि है। उसी को दृष्टि में रखकर श्रद्धापूर्वक कार्य पूरा करना चाहिये ॥८६॥

गन्धपुष्पाक्षताद्यैश्च मत्स्यमांसासवादिभिः ।
भक्ष्यभोज्यादिभिर्नानापदार्थैः षड्रसान्वितैः ॥
सम्यक् सन्तोषयेद्देवि मिथुनान्यतिभक्तितः ॥८७॥

गन्ध, पुष्प और अक्षत आदि पूजन द्रव्य, मद्य, मांस, मत्स्य आदि नैवेद्य को

---

१. मालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्, ३।१३-१४।

२. श्रीतन्त्रालोक-१६।१९।

अर्पित करना चाहिये। षड्रसान्वित भोज्य-भक्ष्य आदि प्रस्तुत करना उचित है। भगवान् कह रहे हैं कि, देवि! बड़ी भक्ति और श्रद्धा से इन मिथुनों का पूजन-अर्चन करना चाहिये ॥८७॥

प्रौढान्तोल्लासपर्यन्तं कुर्यात् श्रीचक्रमम्बिके।
एवं यः कुरुते देवि सकृदष्टाष्टकार्चनम् ॥८८॥

भगवान् शंकर कहते हैं कि, देवि पार्वति! प्रौढान्त उल्लासपर्यन्त श्रीचक्र की निर्मिति में संलग्न रहना चाहिये और इसे पूरा कर लेना चाहिये। अम्बिके देवि! इस प्रकार जो साधक एक बार भी अष्टकाष्टक अर्चन करता है, वह उत्तम साधक माना जाता है ॥८८॥

ब्रह्मविष्णुमहेशादिदेवताभिः स पूज्यते।
किं पुनर्मानवाद्यैश्च साक्षात् शिव इवापरः ॥८९॥

वह इतना महान् हो जाता है कि, उसका अर्चन ब्रह्मा, विष्णु, महेश देव भी करते हैं, अर्थात् उसको कृपास्पद बना लेते हैं। जब देवता ही उसका समादर करते हैं, तो मानवों की क्या बात है? वह साक्षात् शिवरूप ही हो जाता है ॥८९॥

यदर्चनाच्चतुःषष्टियोगिनीगणसंस्तुतः ।
पुनरावृत्तिरहितो निवसेत्तव सन्निधौ ॥९०॥

जिस अर्चन से चतुःषष्टि अर्थात् चौंसठ योगिनीवर्ग भी सन्तुष्ट हो जाता है, और उनके द्वारा भी वह अभिनन्दित होता है, वह उत्तम साधक पुनरावर्त्तन का भागी नहीं बनता। भगवान् कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति! वह तुम्हारे सान्निध्य का अधिकारी हो जाता है ॥९०॥

समस्तदेवताप्रीतिकारणं परमेश्वरि।
अस्मात् परतरा पूजा नास्ति सत्यं न संशयः ॥९१॥

हे परमेश्वरि! यह अष्टकाष्टकार्चन समस्त देववर्ग की प्रसन्नता का एकमात्र कारण माना जाता है। मैं यह सत्य घोषित कर रहा हूँ और इसमें किसी प्रकार का सन्देह भी नहीं कि, यह पूजा संसार की सर्वोत्तमोत्तम पूजा मानी जाती है ॥९१॥

पश्येदेवंविधं चक्रं यो भक्त्याष्टाष्टकं प्रिये।
यज्ञदानतपस्तीर्थव्रतकोटिफलं लभेत् ॥९२॥

देवि! जो साधक इस अष्टाष्टक अर्चन को ध्यानपूर्वक देखता है और चक्रपूजा का आनन्द लेता है, वह करोड़ों यज्ञों, कोटि दानों, तपस्याओं, तीर्थयात्राओं और करोड़ों व्रतों के फलों को दर्शन मात्र से अनायास ही प्राप्त कर लेता है ॥९२॥

राजा यः कारयेद् देवि! भक्त्याष्टाष्टकपूजनम्।
चतुःसागरपर्यन्तां महीं शास्ति न संशयः ॥९३॥

देवि ! इस अष्टकाष्टक अर्चन को यदि श्रद्धापूर्वक कोई राजा करने-कराने की व्यवस्था करता है, इस पूजा के प्रभाव से वह चतुर्दिक् चार सागरों से आवृत मही (पृथ्वी) का शासनकर्त्ता बन जाता है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है ॥९३॥

श्रीकण्ठादीनि पञ्चाशन्मिथुनानि समर्चयेत् ।
पूर्वोक्तेन विधानेन कुलेश्वरि विधानवित् ॥९४॥

इसी पूजा के क्रम में ५० श्रीकण्ठ आदि मिथुनों की पूजा का भी विधान है । इसे भी विधिपूर्वक सम्पन्न करना चाहिये । पहले कही गयी विधि ही इसमें भी मान्य है । हे कुलेश्वरि ! विधानवेत्ता साधक इसे अवश्य पूरा करे ॥९४॥

स्वकार्यफलसिद्ध्यर्थं वित्तशाठ्यविवर्जितः ।
प्रौढान्तोल्लासयुक्तानि मिथुनानि समर्चयेत् ॥९५॥

अपने कार्य अर्थात् कर्त्तव्य कर्म की करणीयता की कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये । अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये सदा तत्पर रहना चाहिये । इसमें धन को आड़े नहीं आने देना चाहिये । यह ध्यान रखना चाहिये कि, प्रौढान्तोल्लास से उल्लसित साधक की ही पूजा करें ॥९५॥

सन्तुष्टानि प्रयच्छन्ति साधकायेप्सितं फलम् ।
अव्याहताज्ञः सर्वत्र पूज्यते देववत् प्रिये ॥
तव लोके वसेद्देवि ब्रह्मादिसुरसंस्तुतः ॥९६॥

मिथुन पूजा से सन्तुष्ट होकर अर्चनकर्त्ता के सभी अभीष्ट फलों की पूर्त्ति का वरदान प्रदान वे करते हैं । परिणामस्वरूप साधक के आदेशों का पालन बेरोक-टोक सभी करते हैं । उसकी आज्ञा कभी किसी के द्वारा व्याहत नहीं होती । प्रिये पार्वति ! वह सर्वत्र देवताओं के समान पूज्य हो जाता है । ब्रह्मादि देववर्ग द्वारा संस्तुत वह अर्चक तुम्हारे लोक में निवास प्राप्त करता है ॥९६॥

केशवादि गणेशादि कामादि मिथुनानि च ।
श्रीकण्ठादि समभ्यर्च्य तत्फलं लभते ध्रुवम् ॥९७॥

केशव आदि, गणेश आदि, काम आदि और श्रीकण्ठ आदि मिथुनों की भक्ति और श्रद्धापूर्वक पूजा करने वाला इस पूजाफल के पुण्य का लाभ तुरत प्राप्त करता है । यह ध्रुव सत्य तथ्य है ॥९७॥

अनुग्रहन्तु यः कुर्यात् डाकिन्यादिसमर्चने ।
मासे मासेऽथवा वर्षे स्वजन्मदिवसे प्रिये ॥९८॥

अनुग्रह शब्द यहाँ इस श्लोक में आग्रहपूर्वक करणीय भाव से करने की आस्था अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है । भगवान् कह रहे हैं कि, इस पूजाक्रम में चक्रदेवियों जैसे

डाकिनी आदि की भी जो अर्चना करता है, वह सच्चा साधक है। इस पूजा को जो मास में, वर्ष में अथवा अपने जन्मदिन पर प्रतिबर्ष सम्पन्न करता है, वह उत्तम साधक माना जाता है ॥९८॥

पूर्वोक्तेन विधानेन यथाविभवविस्तरम्।
प्रौढान्तोल्लासपर्यन्तं तोषयेत्तद्विधानवित् ॥९९॥

यथाशक्ति अपने विभव और ऐश्वर्य के अनुसार विस्तारपूर्वक प्रौढान्त उल्लास-पर्यन्त विधानपूर्वक पूजा-अर्चना कर शक्तियों को जो सन्तुष्ट करता है, वह उत्तम साधक है ॥९९॥

कुर्वन्त्यनुग्रहं देवि सन्तुष्टाः सर्वदेवताः।
सर्वोपद्रवरहितः सर्वैश्वर्यसमन्वितः ॥१००॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि पार्वति! इस प्रकार अर्चन-पूजन से उसके ऊपर समस्त देवता प्रसन्न हो जाते हैं। प्रसन्न और सन्तुष्ट होकर वे उसके ऊपर अनुग्रह की वर्षा करते हैं। उसका शेष जीवन उपद्रवरहित और शान्त व्यतीत होता है। साथ ही साथ समस्त ऐश्वर्यों से भी वह समन्वित हो जाता है ॥१००॥

लोकेऽस्मिन् संस्तुतः सर्वैः स जीवेच्छरदां शतम्।
देहान्ते समवाप्नोति तव लोकं न संशयः ॥१०१॥

वर्णनात्मकता का और भी विस्तार करते हुए तथा अष्टकाष्टकार्चन विधि की प्रशंसा में अतिरेक करते हुए भगवान् कहते हैं कि, देवि! ऐसा साधक इस लोक में सब का प्रियपात्र और आदरणीय हो जाता है। इस लोकतृप्ति और शान्ति के परिणामस्वरूप सौ वर्षों की समर्थ जिन्दगी जी लेता है। देह के अन्त के अनन्तर देवि! वह तुम्हारा लोक प्राप्त करता है, इसमें सन्देह नहीं ॥१०१॥

दूतीयागन्तु यः कुर्यात् पूर्वोक्तविधिना प्रिये।
निर्विकल्पेन चित्तेन नवशक्तिसमन्वितः ॥१०२॥

प्रिये! इसी क्रम में दूतीयाग भी एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। जो साधक इसे श्रद्धापूर्वक सम्पन्न करता है, उसका चित्त निर्विकल्प हो जाता है। इस प्रकार शान्त भाव से वह नव शक्तियों से समन्वित हो जाता है ॥१०२॥

वर्षे वर्षे चतुःषष्टिपीठार्चनफलं लभेत्।
आज्ञासिद्धिर्भवेत्तस्य देवताप्रीतिमाप्नुयात् ॥१०३॥

वर्ष-वर्ष में वह चौंसठ पीठों के अर्चन का फल भी प्राप्त कर लेता है। उसकी आज्ञा सिद्ध हो जाती है। कोई उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता। वह समस्त देवताओं का प्रीतिपात्र हो जाता है ॥१०३॥

त्रिकपूजान्तु यः कुर्यादिच्छाज्ञानक्रियात्मिकाम् ।
आगमोक्तेन विधिना पूर्ववत्तद्विधानवित् ॥१०४॥

इसके साथ ही त्रिक पूजा का भी महत्त्व सर्वविदित है। जो साधक त्रिकपूजा सम्पन्न करता है और इच्छा, ज्ञान तथा क्रियाशक्तियों के याग के समस्त विधानों को पूरा करता है, वह धन्य है। आगमों में इसके विधान लिखित हैं। उन्हीं विधियों के अनुसार इनकी पूजा होनी चाहिये ॥१०४॥

पदार्थैस्तोषयेत् सम्यग् यथाविभवविस्तरम् ।
सन्तुष्टा देवतास्तिस्त्रः सर्वकर्मफलप्रदाः ॥
देवेशि साधकाभीष्टं प्रयच्छन्ति न संशयः ॥१०५॥

इस प्रक्रिया में वित्तशाठ्य नहीं अपनाना चाहिये। साथ ही उत्तम सामग्रियों से सबको यथावत् सन्तुष्ट करना चाहिये। ये इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियाँ सन्तुष्ट होकर समस्त फलों को प्रदान करती हैं। देवि ! ये शक्तियाँ उसके समस्त अभीष्ट फलों की पूर्ति करती हैं। इसमें सन्देह नहीं ॥१०५॥

इत्यादिदेवतापूजां विशेषदिवसेषु यः ।
करोति शास्त्रविधिना स भवेदावयोः प्रियः ॥१०६॥

इस प्रकार विशिष्ट पर्वदिवसों पर जो साधक श्रद्धापूर्वक इन सब देवताओं की पूजा करते हैं और शास्त्रविधि का अनुसरण कर पूरी प्रक्रिया पूरी करते हैं, भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! वह हम दोनों के प्रिय अर्थात् प्रेमास्पद हो जाते हैं ॥१०६॥

श्रीचक्रं कौलिको मोहाद्विशेषदिवसेषु यः ।
न करोति समर्थः सन् स भवेद् योगिनीपशुः ॥१०७॥

कोई कौलिक मोहवश यदि विशेष पर्वों पर या दिवसों पर श्रीचक्र की अर्चना नहीं करता, (जबकि यह उसका कर्त्तव्य कर्म माना जाता है) यद्यपि वह समर्थ होता है, फिर भी पूजा नहीं करता, ऐसा कौलिक योगिनी-पशु हो जाता है ॥१०७॥

कुलपूजां विना चक्रे नाधिकारः कथञ्चन ।
कुलपूजां सुनियतं यः करोति स कौलिकः ॥१०८॥

श्रीचक्र के बिना कुलपूजा सम्पन्न करने का विधान नहीं है। किसी को यह अधिकार नहीं है कि, वह चक्र के बिना पूजा करे। वस्तुतः शिवपूजा में विहित चक्र में किसी प्रकार का शैथिल्य नहीं करना चाहिये। क्रमिक पूजा करने वाला ही कौलिक माना जाता है ॥१०८॥

विना यन्त्रेण पूजा चेद्देवता न प्रसीदति ।
कुलपूजां सुनियतं यः करोति हि कौलिकः ॥
कुलेशि सर्वदाप्नोति योगिनीवीरमेलनम् ॥१०९॥

पूजा में यन्त्रों की महत्ता भी स्वीकार की जाती है। भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! बिना यन्त्र के जो पूजा करता है, उससे इष्ट देवता प्रसन्न नहीं हो सकते। अत: कुलपूजा सुनियत क्रम से और विधानपूर्वक होनी चाहिये। जो कौलिक इस प्रकार पूजा करता है, सर्वदा योगिनी-वीर-मेलन के कुलानन्द को उपलब्ध कर कृतार्थ होता रहता है ॥१०९॥

नीचोऽपि वा सकृद्भक्त्या कारयेद् यः कुलार्चनम् ।
स सद्गतिमवाप्नोति किमुतान्ये द्विजातयः ॥११०॥

भले ही समाज उसे नीच कहे, कुलाचार की सम्यक् दृष्टि के अनुसार वह भी कुलपूजा का अधिकारी है। कुलार्चन क्रिया को भक्तिपूर्वक वह यदि एक बार भी सम्पन्न करने की व्यवस्था करता है, वह सद्गति को प्राप्त करता है। अन्य द्विजाति के लोग तो इसका लाभ सदा प्राप्त करते ही रहते हैं ॥११०॥

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन सर्वावस्थासु सर्वदा ।
कुलपूजारतो भूयादभीष्टफलसिद्धये ॥१११॥

इसलिये सारे उपायों का आश्रय लेकर, सभी अवस्थाओं में और सार्वकालिक रूप से कुलपूजा में निरत रहना चाहिये। इससे अभीष्ट फल की अनिवार्यतः प्राप्ति होती है। अभीष्ट की उपलब्धि के लिये यह अवश्य ही करना चाहिये ॥१११॥

कुलपूजाधिको यज्ञः कुलपूजाधिकं व्रतम् ।
कुलपूजाधिकं तीर्थं कुलपूजाधिकं तपः ॥११२॥
कुलपूजाधिकं दानं कुलपूजाधिका क्रिया ।
कुलपूजाधिकं ज्ञानं कुलपूजाधिकं सुखम् ॥११३॥
कुलपूजाधिको धर्मः कुलपूजाधिकं फलम् ।
कुलपूजाधिकं ध्यानं कुलपूजाधिकं महः ॥११४॥
कुलपूजाधिको योगः कूलपूजाधिका गतिः ।
कुलपूजाधिकं भाग्यं कुलपूजाधिकाऽर्चना ॥११५॥
नास्ति नास्ति पुनर्नास्ति त्वां शपे कुलनायिके ।
बहुनात्र किमुक्तेन रहस्यं शृणु पार्वति ॥११६॥

जिज्ञासु इस अवसर पर और कुलपूजा के महत्त्व को समझते हुए कई जिज्ञासायें प्रस्तुत करता है और कुलपूजा के महत्त्व को तत्त्वतः जान लेना चाहता है। पार्वती भी यही जिज्ञासायें करती हैं। भगवान् पार्वती को ही सम्बोधित करते हुए समाधान कर रहे हैं। जिज्ञासायें क्रमिक रूप से इस प्रकार हैं—

(१) क्या कुलपूजा से यज्ञ, व्रत, तीर्थ और तप का महत्त्व अधिक है ? उत्तर— नहीं। कुलपूजा से बढ़कर यज्ञ, व्रत, तीर्थ और तप का महत्त्व नहीं है। कुलपूजा ही महत्त्वपूर्ण पूजा है।

(२) क्या कुलपूजा से अधिक महत्त्व दान, क्रियायोग, ज्ञान और सुख आदि का है ? भगवान् कहते हैं कि, कुलपूजा से अधिक महत्त्व दान, क्रियायोग, ज्ञान और सर्वविषयक सुखोपभोग का भी नहीं माना जाता। इन चारों से कुलपूजा ही महत्त्वपूर्ण है।

(३) क्या कुलपूजा से अधिक महत्त्वपूर्ण धर्म, कार्य के सुपरिणाम, ध्यान और मह अर्थात् उत्सव नहीं हैं ? उत्तर—नहीं। धर्म, फल, ध्यान और मह भी कुलपूजा से अधिक नहीं हैं।

(४) क्या योगसिद्धि, सुगति (मोक्ष), भाग्य और अर्चना ये चारों कुलपूजा से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं ? भगवान् उत्तर दे रहे हैं कि नहीं। कुलपूजा का महत्त्व इनसे भी अधिक है।

इन जिज्ञासाओं के समाधान के प्रति पार्वती को और भी दृढ़ता प्रदान करते हुए भगवान् कहते हैं कि, कुलस्वामिनी पार्वति ! मैं तुम्हारी ही शपथ लेकर यह उद्घोष करता हूँ और तीन रेखायें खींचकर जोर देकर कहता हूँ कि, कुलपूजा से बढ़कर कोई धर्म-कर्म आदि महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, नहीं हैं, नहीं हैं। इस विषय में मैं बहुत क्या कहूँ। अब अधिक कुछ कहना उचित नहीं है। देवि ! पार्वति ! सुनो, मैं तुमसे इस रहस्य का उद्घाटन कर रहा हूँ ॥११२-११६॥

वेदशास्त्रोक्तमार्गेण कुलपूजां करोति यः।
तत्समीपे स्थितं मां त्वां विद्धि नान्यत्र भाविनि ॥
इदं सत्यमिदं सत्यं सत्यं सत्यं न संशयः ॥११७॥

प्रिये पार्वति ! वेदों और शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट पद्धति से जो साधक नियमतः कुलपूजा सम्पन्न करता है, तुम यह निश्चित समझो और विश्वास करो कि, मैं वहीं रहता हूँ। इतनी प्रिय पूजा से मैं विलग नहीं रह सकता। भाविनि ! अन्यत्र मैं रह ही नहीं सकता। यह सर्वथा और ध्रुव सत्य है, ध्रुव सत्य और ध्रुवतः सत्य है ॥११७॥

खभूमिदिग्जलगिरिवनसर्वचराः प्रिये।
सहस्रकोटियोगिन्यस्तावन्तो भैरवा अपि ॥
नियुक्ता हि मया देवि कुलसंरक्षणाय च ॥११८॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति ! आकाश, पृथ्वी, समस्त दिशाओं, जलतत्त्व, समग्र पर्वत आदि में रहने वाले जितने भी शक्तिमन्त अधिष्ठापक तत्त्व हैं, साथ ही हजार करोड़ योगिनीवर्ग और इतने ही भैरव मेरे द्वारा कुलमार्ग के संरक्षण के लिये ही नियुक्त हैं ॥११८॥

दिवसे दिवसे सर्वे पार्वति मुदिताननाः।
साधकानेव वीक्षन्ते स्वस्वपूजनलिप्सया ॥११९॥

हे कुलस्वामिनि पार्वति ! प्रतिदिन और प्रतिरात्रि ये सभी प्रसन्नमुख होकर अर्थात् अपने जीवन में मेरी आज्ञापालन की प्रसन्नता से भरे हुए साधकों की ओर ही निहार रहे

हैं। उनके मन में यह भाव बराबर बना रहता है कि ये सभी मेरी पूजा भी करेंगे। यह उनकी लिप्सा साधक पूरी करते हैं ॥११९॥

अपूजितास्तु निघ्नन्ति पालयन्ति सुपूजिताः ।
गुरुभक्तान् सदाचारान् गुह्यधर्मान् सदाशिवान् ॥१२०॥

उक्त सभी शिव द्वारा नियुक्त शक्तिमन्त जब पूजा प्राप्त कर लेते हैं, तो साधक का परिपालन करते हैं। पूजा न पाने पर ये सभी विघ्न उपस्थित करते हैं। सुन्दर विधि-पूर्वक पूजित ये सभी गुरु के भक्तों की, सदाचारी साधकों की गुह्य आचरणीय शास्त्रीय धर्मों की और सदा कल्याणमार्ग में निरत कर्मण्य पुरुषों की भी रक्षा करते हैं ॥१२०॥

भक्तिहीनान् दुराचारान् नाशयन्ति प्रकाशकान् ।
श्रीचक्रे संस्मरेत्तस्माद् योगिनीभैरवान् प्रिये ॥१२१॥

भक्तिरहित, दुराचारी और गुह्य की रक्षा में असमर्थ अर्थात् रहस्यतत्त्व को प्रकट एवं प्रकाशित कर खोलकर रख देने वाले अनधिकृत लोगों का ये विनाश भी कर देते हैं। इसलिये श्रीचक्र में योगिनियों और भैरवों का स्मरण साधकों को अवश्य करना ही चाहिये ॥१२१॥

न स्मरेद् यदि मूढात्मा योगिनीनां भवेत् पशुः ।
तस्मात् श्रीचक्रमध्ये तु संस्मरेत् सर्वदेवताः ॥१२२॥

वह साधक मूढात्मा ही कहा जा सकता है, जो इन शक्तिमन्तों और शक्तियों का स्मरण नहीं करता। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि, वह योगिनियों का बलिपशु हो जाता है। इसलिये 'श्रीचक्र' में सभी देवताओं का स्मरण करना चाहिये ॥१२२॥

अनुगृह्णन्ति देवेशि साधकान् नात्र संशयः ।
अनुग्रहन्तु वक्ष्यामि शृणु देवि यथाक्रमम् ॥१२३॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, प्रिये ! इस प्रकार श्रीचक्र में स्मरण करने पर वे सभी साधकों के ऊपर अपार अनुग्रह की वर्षा करते हैं। इसमें सन्देह नहीं। पुनः पार्वती को सम्बोधित करते हुए भगवान् कहते हैं कि, देवि ! मैं तुम्हें उन अनुग्रहों की जानकारी क्रमपूर्वक देने जा रहा हूँ। इन्हें ध्यानपूर्वक सुनो ॥१२३॥

आत्मनोऽनुग्रहार्थं वा परार्थं श्रेष्ठमुत्तमम् ।
शुचिद्रव्यसमायुक्तं चक्रपूजासमन्वितम् ॥१२४॥
सर्वेषां दक्षिणां दत्त्वा होमपात्रं पृथक् पृथक् ।
प्रपूजयेच्च वर्णस्थाः सर्वाभरणभूषिताः ॥१२५॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, आत्मकल्याण की दृष्टि, आत्मानुग्रह की दृष्टि तथा परोपकार की दृष्टि परार्थ दृष्टि होती है। अतः चाहे आत्मानुग्रह का भाव हो या परार्थभाव हो, दोनों की सिद्धि के लिये कुलपूजा की प्रक्रिया अपनानी चाहिये। इसके लिये पवित्र

द्रव्यों से समन्वित 'श्रीचक्र'-पूजा का आश्रय लेना चाहिये। इस प्रक्रिया में समागत अतिथि और पूज्यवर्ग को दक्षिणा देनी चाहिये। इसमें पृथक्-पृथक् होमपात्र भी आवश्यक है, साथ ही सभी वर्णस्थ देवियों की पूजा भी करनी चाहिये। इन्हें वस्त्राभूषणों से सुसज्जित करना चाहिये ॥१२४-१२५॥

हर्षानन्दस्वयंयुक्ताः प्रसन्नाश्च पृथक् पृथक् ।
पायसाज्यौदनैर्युक्तैर्नैवेद्यैर्भक्तिसंयुतैः ॥१२६॥

ये सुसज्जित, सुसंस्कृत देवियाँ पूजा के कारण हर्ष और आनन्द से तथा स्वात्मनिष्ठ भाव से प्रसन्न होती हैं। इनकी पृथक् पूजा का बड़ा महत्त्व माना जाता है। इन्हें पायस, आज्य (घी) और ओदन (चावल का पका रूप भात) अर्पित कर तृप्त करना श्रेयस्कर माना जाता है। भक्तिभावपूर्वक नैवेद्य अर्पित कर उनको और भी प्रसन्न करना चाहिये ॥१२६॥

गन्धपुष्पादिभिः सम्यगर्चयित्वा गणेश्वरम् ।
हसखफ्रें हेसौं(ह्सौं)डां डीं डमलवरयूं ततः ॥१२७॥
श्रीपादुकां हेसौं(ह्सौं)मिति च हसखफ्रें पुटन्ततः ।
सङ्कल्प्य मनसोऽभीष्टं मधुरत्रितयैः प्रिये ॥१२८॥

इनकी पूजा के अतिरिक्त गणेश्वर भगवान् गणेश की पूजा की प्रक्रिया भी कुलाचार पद्धति में अपनायी जाती है। उनकी गन्ध-पुष्पादि से अच्छी तरह अर्चना कर नीचे लिखे मन्त्र का प्रयोग करना चाहिये। इसमें मानसिक संकल्प और अभीष्ट लक्ष्य की भी मन ही मन धारणा करनी चाहिये। पुनः त्रिमधु से पूजा कर गणेश्वर को प्रसन्न करना चाहिये। वह मन्त्र इस प्रकार का है—ह्स्ख्फ्रेंहेसौं (ह्सौं) डां डीं डमलवरयूं श्रीपादुकां हेसौं (ह्सौं) ह् स् ख् फ्रें।

ह् स् ख् फ्रें इस बीज से सम्पुटित इस बीजमन्त्र से ही पूजा होती है। इसी का जप भी करना चाहिये। इस मन्त्र को गुरुपादुका-बीजमन्त्र कहते हैं। 'त्रिमधु' शहद, शर्करा और आज्य को कहते हैं। पूजा में इनका प्रयोग करते हैं। यह सर्वोत्तम पूजा मानी जाती है ॥१२७-१२८॥

गन्धपुष्पादिभिः सम्यगर्चयित्वा पृथक् पृथक् ।
पूजयित्वेप्सितान् कामान् प्रार्थयेत् कमलानने ॥१२९॥

वर्णस्थ देवियों और गणेश्वर की पृथक्-पृथक् पूजा कर देवि पार्वति ! इनसे अपने इष्ट इच्छा और कामना की पूर्त्ति की प्रार्थना करनी चाहिये ॥१२९॥

ईप्सितानि च सर्वाणि साधको लभते वरम् ।
आत्मनश्च परस्यापि रक्षार्थं पूजयेत् प्रिये ॥१३०॥

इस तरह विधि-विधान के अनुसार इनकी पूजा करने और अभीष्ट सिद्धि की

प्रार्थना करने पर साधक अपने लिये शुभ वरदान को प्राप्त करता है। भगवान् कहते हैं कि, प्रिये ! ये रक्षाकारी प्रयोग हैं। अपने और दूसरों के हितों की सिद्धि के लिये इन्हें अवश्य सम्पन्न करना चाहिये। यह शास्त्र का आदेश है ॥१३०॥

रोगाणां नाशनार्थञ्च यथात्र पुत्रसिद्धये।
वश्यार्थं मङ्गलार्थञ्च धर्मकर्मार्थसिद्धये ॥१३१॥

इस पूजा का प्रयोग रोगों की शान्ति, पुत्रप्राप्ति, वश्य और सर्वविध कल्याण की कामना से करना चाहिये। इसका प्रयोग धर्म और कर्म सम्बन्धी कामना की पूर्त्ति के लिये भी किया जाता है ॥१३१॥

सप्ताहं पूजयेद्देवि चतुर्द्दशदिनानि च।
एकविंशदिनान्यत्र लभते चेप्सितं फलम् ॥१३२॥

इसमें समय की सीमा भी निर्धारित है। लघु प्रयोग मात्र सात दिन का होता है। बृहत्प्रयोग १४ दिनों में सम्पन्न किया जाता है। इससे भी बड़ी पूजा इक्कीस दिनों की होती है। इतने दिनों में यह निश्चय है कि, सारी मनोकामनाएँ अवश्य ही पूरी हो जाती हैं ॥१३२॥

दक्षिणाञ्च पृथग् दद्याद्वस्त्रभूषाङ्गुरीयकम्।
कुलाष्टकसमायुक्तं चतुःषष्टिसमन्वितम् ॥१३३॥

पूजा के अन्त में दक्षिणा का देना आवश्यक होता है। दक्षिणा द्रव्य के अतिरिक्त वस्त्र, आभूषण जैसे—अँगूठी आदि बनवाकर दान करना चाहिये। इस प्रक्रिया में कुलाष्टक और चौंसठ देवताओं की पूजा का विधान भी है। इन दोनों प्रक्रियाओं की चर्चा पहले की जा चुकी है ॥१३३॥

अर्चितञ्च प्रयत्नेन सिद्धिर्भवत्यनेकशः।
वित्तशाठ्यं न कुर्वीत यदीच्छेत् सिद्धिमात्मनः ॥१३४॥

प्रयत्नपूर्वक तो कोई भी कार्य करना ही चाहिये। यह पूजा तो जीवन का महत्त्व साधक प्रेय:श्रेय:प्रवर्त्तक महान् कार्य है। इसे करने के लिये विशेष प्रयत्न करना ही चाहिये। प्रयत्नपूर्वक अर्चित करने पर अनेक प्रकार की सिद्धियाँ होती हैं, इसमें सन्देह नहीं। भगवान् चेतावनी के शब्दों में यह स्पष्ट कर रहे हैं कि यदि विशेष सिद्धि की इच्छा हो, तो इस प्रक्रिया में वित्तशाठ्य नहीं करना चाहिये ॥१३४॥

एवं षट्कं समाख्यातमनुग्रहं वरानने।
अर्चितव्यं प्रयत्नेन साधकैः स्वेष्टसिद्धये ॥१३५॥

भगवान् कह रहे हैं कि, सुमुखि पार्वति ! उक्त कार्यों की सिद्धियाँ अनुग्रह रूप ही मानी जाती हैं। इनकी संख्या छः है। इनकी गणना श्लोक १३१ में की गयी है। साधकों का यह कर्त्तव्य है कि, सिद्धि की आकांक्षा से इन्हें प्रयत्नपूर्वक सिद्ध करें ॥१३५॥

ध्यात्वैव पूजयेदेता डाकिन्याद्या वरानने।
सम्पूज्य सप्तमीं देवीं पूजयेत् सर्वसिद्धये ॥१३६॥

सुमुखि पार्वति ! इस प्रक्रिया में 'डाकिनी' आदि देवताओं की पूजा भी भक्तिभाव और निष्ठापूर्वक करने का विधान है। पूजा के साथ ध्यान का महत्त्व साधक जानते हैं। अत: ध्यान की विधिसम्मत प्रक्रिया अपनाकर ही पूजा करनी चाहिये। इसमें सप्तमी देवी की पूजा का उल्लेख तो है, पर उसका नामोल्लेख नहीं है। डाकिनी के आधार पर— १. डाकिनी, २. राकिनी, ३. लाकिनी, ४.काकिनी, ५. शाकिनी, ६. हाकिनी और ७. कुण्डलिनी एवं याकिनी मानी जा सकती हैं। सातवीं देवी के रूप में परादेवी की पूजा भी की जाती है। इससे समस्त सिद्धियों की प्राप्ति होती है, यह ध्रुव सत्य है ॥१३६॥

शक्तिदेहसमुत्पन्नं शक्तिनिर्माल्यभोजने।
स्ववर्गेण समायुक्ता दत्तनिर्माल्यमित्यपि॥
प्रतिगृह्णयुगं स्वाहा इति निर्माल्यसर्जनम् ॥१३७॥

इन देवियों की पूजा हेतु मन्त्र इस श्लोक में दिया गया है। विशेषकर यह निर्माल्य का मन्त्र है। यह इस प्रकार है—

'शक्तिदेहसमुत्पन्ने ! शक्तिनिर्माल्यभोजने ! स्ववर्गेण समायुक्ता (त्वं) दत्तं निर्माल्यमपि प्रतिगृह्ण प्रतिगृह्ण स्वाहा'।

इस मन्त्र से निर्माल्य का अर्पण होना चाहिये या करना चाहिये ॥१३७॥

डाकिनी सर्पवदना वित्तजा ज्वलनप्रभा।
कमण्डलुं कर्त्तृकाञ्च धारयन्ती वरप्रदा ॥१३८॥
उलूकवदना देवी राकिणी नीलसन्निभा।
खड्गखेटकसंयुक्ता सर्वालङ्कारभूषिता ॥१३९॥
लाकिनी श्रीकपालाढ्या पाशाङ्कुशधरा सती।
पाटलीपुष्पसङ्काशा सर्वाभरणभूषिता ॥१४०॥
काकिनी हयवक्त्रा च माणिक्यसदृशप्रभा।
त्रिमुखी मुण्डसंयुक्ता सिद्धिदा सर्वशोभना ॥१४१॥
शाकिनी त्वञ्जनप्रख्या मार्जारास्या सुशोभना।
कुलिशञ्च तथा दण्डं धारयन्ती शुचिस्मिता ॥१४२॥
हाकिनी ऋक्षवदना नीलनीरदसन्निभा।
कपालशूलहस्ता च खेटकैरुपशोभिता।
एकद्वित्रिचतु:पञ्चषणमुखी सरभाभया ॥१४३॥
इति ते कथितं किञ्चिद्विशेषदिवसार्चनम्।
समासेन कुलेशानि किम्भूय: श्रोतुमिच्छसि ॥१४४॥

यहाँ श्लोक संख्या १३८ से १४३ तक छ: देवियों के ध्यान का शब्दचित्र प्रस्तुत

है। साधक प्रत्येक देवी की पृथक्-पृथक् पूजा के अवसर पर इन्हीं रूपों के अनुसार चिन्तन करे। इन्हें क्रमशः इस प्रकार करें—

(१) डाकिनी (मूलाधार)—इस देवी का मुख सर्प के समान है। इसे सर्पवदना कहते हैं। यह वित्त से उत्पन्न है। अतः इसे वित्तजा कहते हैं। इसकी कान्ति प्रज्वलित अग्नि के समान चमकदार है। यह कमण्डलु और कर्त्तृका (कटार) धारण करती है। वरदान देने के लिये सदा तत्पर है।

(२) राकिणी (स्वाधिष्ठान)—यह उलूकवदना देवी है। इसकी सदृशता नील से है। यह खड्ग और खेटक धारण करती है। यह सभी अलंकारों को धारण करने वाली सौन्दर्य की देवी है।

(३) लाकिनी (मणिपूर)—श्रीसमन्वित कपालमालावती पाश और अंकुश धारण करने वाली, पाटल की पाटलिमामयी आभा से विभूषिता सर्वालंकारशोभना लाकिनी श्रेष्ठ देवी है। यह डफ प्रत्याहार के अक्षरों के दल वाले कमल में निवास करती है।

(४) काकिनी (अनाहत)—इसका मुख घोड़ी के समान है। इसकी कान्ति माणिक्य के समान है। यह तीन मुखों वाली त्रिमुखी देवी है। यह मुण्डमाला धारण करती है। सिद्धिप्रदात्री सौन्दर्य की देवी का नाम काकिनी है।

(५) शाकिनी (साकिनी-सदाशिवा) (विशुद्ध)—अंजन के समान काली, बिल्ली के समान मुँह वाली, शोभना अर्थात् आकर्षणमयी यह देवी कुलिश और दण्ड धारण करती है। इसकी मुस्कान अत्यन्त पावन और मधुर है।

(६) हाकिनी (आज्ञाचक्र)—यह ऋक्ष के समान मुख वाली देवी काले गभुआरे बादलों की श्यामल आभा के समान सुन्दर है। यह कपाल और शूल धारण करती है। खेटकों से भी यह शोभायमान है। इसे सरभा और अभया भी कहते हैं।

सप्तमी देवी का नाम इसमें भी नहीं दिया गया है। इसलिये विलक्षण साधक कुण्डलिनी को जागृत कर पराभाव से ही भावित होते हैं। यही इस मौन का कारण है। अर्थात् सप्तमी स्वयं कुलेश्वरी 'शिवा' ही हैं।

इस प्रकार सारा दिवसार्चन सन्दर्भ भगवान् शिव ने पार्वती से कह सुनाया। देवी से भगवान् शंकर अन्त में यह भी पूछ रहे हैं कि, कुलस्वामिनी अब क्या सुनना चाहती हैं। कहिये ! मैं उसे सुनाने के लिये तत्पर हूँ ॥१३८-१४४॥

सर्वागमोत्तमोत्तम महारहस्यमय ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकुलार्णवतन्त्रान्तर्गत डॉ. परमहंस-
मिश्रविरचित नीर-क्षीर-विवेक-भाषाभाष्यसंवलित 'विशेषदिवसार्चन'
नामक दशम उल्लास परिपूर्ण ॥१०॥

॥ शुभं भूयात् ॥

○

एकादश उल्लासः

श्रीदेव्युवाच

कुलेश श्रोतुमिच्छामि सर्वलोकैकपूजित।
कुलाचारक्रमं देव वद मे करुणानिधे ॥१॥

कुलेश्वरी श्री देवी पार्वती ने भगवान् शंकर की कुलाचारविषयक श्रावणसमीहा के उत्तर में कहा—भगवन्! आप विश्व के सर्जनात्मक उल्लास में समस्त लोकों द्वारा पूजित एकमात्र देवाधिदेव हैं। इस कुलमार्ग के भी सर्वेश्वर आप ही हैं। आप की मुझ पर अहैतुकी कृपा है। आप करुणा के निधान हैं। भगवन्! मैं चाहती हूँ कि, आप कुलाचार क्रम के विषय में मेरा उद्बोधन करें। हे दिव्यता के एकमात्र आधार महादेव! कृपा कर कुलाचार क्रम ही बताकर मुझे अनुगृहीत करें ॥१॥

ईश्वर उवाच

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
तस्य श्रवणमात्रेण पशुपाशैः प्रमुच्यते ॥२॥

समस्त ऐश्वर्यों के आधार ईशितृ शक्ति के प्रवर्तक ईश्वर भगवान् शंकर ने कहना प्रारम्भ किया—देवि कुलेश्वरि! तुम अवधानपूर्वक मेरी बातों को सुनो। मैं वही कहूँगा, जिसे सुनने की इच्छा तुमने व्यक्त की है। यह इतना महत्त्वपूर्ण विषय है कि, इसके सुनने मात्र से ही पाशबद्धता के कारण पशुभाव में भावित जीव विश्वपाशों से विमुक्त हो जाता है ॥२॥

यदि चेद्दीक्षितो ज्येष्ठः कुलपूजादिवर्जितः।
तत्कनिष्ठः क्रमज्ञश्चेत् कुलपूजां समाचरेत् ॥३॥

कुलपूजा में दीक्षा और ज्येष्ठता का उतना महत्त्व नहीं है, जितना क्रमज्ञता का महत्त्व है। एक व्यक्ति है। वह दीक्षा प्राप्त है। दीक्षित है। आयु की दृष्टि और दीक्षा समय की दृष्टि से ज्येष्ठ भी है; किन्तु वह कुलपूजा के क्रम आदि की जानकारी से रहित है। दूसरा उससे सभी दृष्टियों से कनिष्ठ है, अर्थात् छोटा है। फिर भी कुलाचार के क्रम का जानकार है। ऐसी अवस्था में वह कनिष्ठ क्रमज्ञ ही कुलपूजा की प्रक्रिया प्रारम्भ करने का अधिकारी माना जाता है ॥३॥

तत्समीपं ततो गत्वा नमस्कृत्य गुरुं यथा।
तस्मै निवेद्य तत्सर्वं शेषं भुञ्जीत पार्वति ॥४॥

पूजा प्रारम्भ हो जाने पर उसके पास अनुशासित ढंग से जाकर नमस्कार करना चाहिये। गुरु के समक्ष शिष्यवत् प्रणति निवेदन करने के बाद प्रस्तुत सभी कुछ उसे ही

दे देना चाहिये। देवि पार्वति ! पूजोपरान्त यज्ञशेष ही प्रसाद रूप से उपभोग में लाना चाहिये ॥४॥

पूजामध्ये गुरौ ज्येष्ठे पूज्ये वापि समागते।
नत्वा ब्रूयात् स्थितं शिष्टमाचरेत्तदनुज्ञया ॥५॥

पूजा प्रारम्भ हो चुकी है। सारे क्रम अपनाये जा रहे हैं। मान लीजिये, उसी समय गुरुदेव आ गये, कोई ज्येष्ठ पुरुष आ गया, कोई आप्त पूज्य पुरुष ही वहाँ पधार गये, उस समय क्या करना चाहिये ? इस प्रश्न को ध्यान में रखकर भगवान् कह रहे हैं कि, सर्वप्रथम उन्हें प्रणाम करना ही चाहिये। तदनन्तर 'स्थित' अर्थात् वर्त्तमान जितना हो चुका है, जो परिस्थिति है, उसे उनको बतलाना चाहिये। 'स्थित' बताकर उनकी अनुज्ञा के अनुसार ही आगे का कार्य सम्पादित करें या करना उचित है ॥५॥

ज्येष्ठस्य च कनिष्ठस्य शिष्यावेकत्र संस्थितौ।
तत्र पूर्ववदाचारः कथितः कुलनायिके ॥६॥

ज्येष्ठ और कनिष्ठ दोनों के शिष्य भी वहाँ स्वभावतः उपस्थित होते ही हैं। उन्हें एक साथ ही एकत्र बिठलाना चाहिये। इस शिष्यवर्ग में भी ज्येष्ठ-कनिष्ठ की जगह क्रमज्ञ और अक्रमज्ञ दृष्टि सम्बन्धी पहले की तरह का क्रम ही अपनाना चाहिये। कुलनायिके ! पार्वति ! इसका ध्यान रखना चाहिये ॥६॥

अज्ञातकौलिके प्राप्ते पौर्वापर्यन्तु चिन्तयेत्।
स्मृत्वा स्वस्य गुरुं देवि स्वस्य मार्गेण तर्पयेत् ॥७॥

भगवान् शंकर कुलाचार की मर्यादा को ही महत्त्व देते हुए कह रहे हैं कि, कभी ऐसा भी समय आ जाता है, जब कि कोई अनजाना कौलिक पुरुष आ धमकता है। ऐसी स्थिति में भी पौर्वापर्य का विवेचन करना ही चाहिये। तदनुसार उसका स्वागत करना चाहिये। अपने सद्गुरुदेव का पहले स्मरण करना प्राथमिक कर्त्तव्य है। तदनन्तर स्तर के अनुसार उसको तुष्ट और तृप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये ॥७॥

नित्यार्चनं दिने कुर्याद्रात्रौ नैमित्तिकार्चनम्।
उभयोः काम्यकर्माणि चेति शास्त्रस्य निर्णयः ॥८॥

जहाँ तक नित्य और नैमित्तिक अर्चन का प्रश्न है, नित्यार्चन दिन में ही पूरा करना चाहिये। वहीं नैमित्तिक अर्चन रात्रि के समय करना उचित माना जाता है। काम्यकर्म रात-दिन दोनों समयों में सम्पादित करने का आदेश शास्त्र देता है। यही शास्त्र का सर्वमान्य निर्णय है ॥८॥

अस्नात्वाऽनासनस्थो वा भुक्त्वा वा प्रलपन्नपि।
गन्धपुष्पाक्षताकल्पवस्त्राद्यैरनलङ्कृतः ॥
अविन्यस्तशरीरो वा कुलपूजां न चाचरेत् ॥९॥

इस श्लोक के माध्यम से यह बतला रहे हैं कि, वे कैसे लोग हैं जो कुलपूजा का आचरण नहीं कर सकते। उन्हीं का वर्गीकरण कर रहे हैं—(१) जो व्यक्ति विना नहाये-धोये, अपवित्र अवस्था में भी आसन पर अवस्थित हो जाता है। (२) भोजन करते हुए प्रलाप भी करता जाता है और भोजनोपरान्त तुरन्त पूजा के आसन पर आसीन हो जाता है। (३) गन्ध, पुष्प, अक्षत आकल्पों से रहित और वस्त्रालंकार विभूषण से रहित है। (४) जो पुरुष कौलिक होते हुए न्यास विधान से रहित होता है। शरीर में न्यास का बड़ा महत्त्व है। न्यास से प्रत्येक अंग में देवत्व का उल्लास होता है। न्यास विधि रहित पुरुष अविन्यस्त शरीर कहलाता है। ऐसे लोग भी अविन्यस्त शरीर कहलाते हैं, जिनका शारीरिक विन्यास अपूर्ण होता है। ऐसे लोग कुलपूजा के आचरण के लिये अयोग्य माने जाते हैं। इनसे कुलपूजा नहीं करानी चाहिये। ऐसे लोगों को स्वयं भी इसमें भाग नहीं लेना चाहिये ॥९॥

विना मन्त्रेण या पूजा विना मांसेन तर्पणम्।
विना शक्त्या तु यत्पानं निष्फलं कथितं प्रिये ॥१०॥

कुछ लोग विना मन्त्र के ही पूजा करते हैं। इसे अमन्त्रक पूजा कहते हैं। कुलमार्ग में रहते हुए भी विना 'मांस' के ही तर्पण करते हैं। विना शक्ति को साथ रखे स्वयं एकाकी मद्यपान करते हैं। भगवान् शंकर कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! ये सभी क्रियायें निष्फल हो जाती हैं ॥१०॥

श्रीचक्रमेको वा कुर्यादेकपात्रन्तु नार्चयेत्।
नार्चयेदेकहस्तेन न पिबेदेकपाणिना ॥११॥

अधिक सम्भव न हो, तो एक ही श्रीचक्र महोत्सव सम्पन्न करें; किन्तु कभी एक पात्र से अर्चन न करें। इसी तरह किसी भी अवस्था में अर्चन में केवल एक हाथ का ही प्रयोग न करें। यह भी ध्यान में रखें कि, एक हाथ से कारण द्रव्य ग्रहण न करें ॥११॥

मत्स्यमांसासवैर्देवि नार्चयेत् पशुसन्निधौ।
प्रणम्य प्रविशेच्चक्रं विनिर्गच्छेत्प्रणम्य च ॥१२॥

भगवान् कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! पशु अर्थात् पाशबद्ध पुद्गल पुरुषों के समक्ष भगवान् की पूजा मद्य, मांस और मत्स्य आदि के द्वारा नहीं की जानी चाहिये। ऐसे अणुभावापन्न जीव इसके महत्त्व को न जानकर सामाजिक मर्यादाओं को भी अतिक्रान्त करने लगते हैं। श्रीचक्र में प्रवेश करते समय शैव महाभाव से भावित होकर उसको प्रणाम करना चाहिये। इसी तरह उससे बाहर जाते समय भी उसका प्रणाम करना आवश्यक आचार माना जाता है और अवश्य करणीय है ॥१२॥

श्रीचक्रे नासने तिष्ठेन्न च वीरासने प्रिये।
श्रीचक्रदर्शने देवि नेत्रयोः पापनाशनम् ॥
तन्नास्ति चेद् व्रणद्वन्द्वं कौलिकस्याक्षियुग्मकम् ॥१३॥

श्रीचक्र के समय में जाकर आसन पर अथवा वीरासन लगाकर न बैठें। भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! श्रीचक्र में बैठने की अपेक्षा उसका दर्शन ही श्रेयस्कर है। इससे नेत्रों द्वारा किये गये पापों का शमन हो जाता है। कौलिक होकर भी जो श्रीचक्र का दर्शन नहीं करता, उसकी आँखों को क्या कहा जाय ? वे आँखें नहीं, शरीर की कोई विक्रिया ही हो सकती हैं ॥१३॥

अनाचारान् सदाचारान् चक्रस्थान् शक्तिकौलिकान्।
शिवगौरीधिया देवि भावयेन्नावमानयेत् ॥१४॥

भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! कोई श्रीचक्र देख रहा है। उसे उसमें कोई प्रक्रिया अनाचार प्रतीत हो रही है। कोई कार्य उसे सदाचार लग रहा है। वह चक्र में स्थित पुरुषों-स्त्रियों को देख रहा है, शक्ति कौलिकों को देख रहा है, उसका यह दर्शन सम्यक् दर्शन नहीं माना जा सकता। उसका यह कर्त्तव्य है कि, श्रीचक्र में सम्मिलित सभी युग्मों को और उनकी क्रियाओं को शिवशक्ति के उल्लास रूप में ही देखे। उसी रूप में भावित करे। कभी भी अवमानना का भाव मन में न लावे ॥१४॥

कुलाचार्यगृहं गत्वा भक्त्या पापविशुद्धये।
याचेदमृतञ्चान्नञ्च तदभावे जलं पिबेत् ॥१५॥

कुलाचार्य के घर जाने का यदि उसे अवसर मिले, तो भक्तिभावपूर्वक वहाँ पहुँचे। यह सोचे कि, मेरे पापों का यह शमन हो रहा है। मैं विशुद्ध हो रहा हूँ। गुरुदेव से संकोच न करे। उनसे अमृत और अन्न की याचना कर तृप्त होने का प्रयत्न करे। इनके न मिलने पर केवल जल पीकर ही सन्तोष कर ले ॥१५॥

कुलाचार्येण तच्छक्त्या दत्तं पात्रञ्च भक्तितः।
नमस्कृत्य तु गृह्णीयादन्यथा नरकं व्रजेत् ॥१६॥

कुलाचार्य द्वारा यदि कोई पात्र (आसव-पात्र) वह प्राप्त करे, वहाँ कोई दूसरा भाव न लावे। भक्तिपूर्वक नमस्कारसहित उसे ग्रहण करे। ऐसा न करने पर शिष्य नरकगामी होता है ॥१६॥

अस्नात्वा वाप्यभक्त्या वा लोभाद्वापि कुलेश्वरि।
यः सेवेत कुलद्रव्यं दारिद्र्यं समवाप्नुयात् ॥१७॥

कुलद्रव्य एक पावन पदार्थ है। स्नान के उपरान्त ही उसका पान करना चाहिये। विना स्नान किये कभी कुलद्रव्य का सेवन न करे। भक्तिरहित होकर उसे स्पर्श भी न करें। लालच से देखे भी नहीं। कुलेश्वरी को सम्बोधित करते हुए भगवान् कह रहे हैं कि, इन मर्यादाओं के प्रतिकूल जो आचरण करता है, वह अवश्य ही दरिद्र हो जाता है ॥१७॥

उष्णीषी कञ्चुकी नग्नो मुक्तकेशो गणावृतः।
व्यग्रो रुष्टो विवादी च न सेवेत कुलामृतम् ॥१८॥

कुलद्रव्य कुलामृत कहलाता है। उसके सेवन करने की अपनी एक मर्यादा है। कुछ नियम हैं, जिन्हें अनुशासित भाव से पालन करने के बाद ही इसे पीना चाहिये। जैसे—(१) पगड़ी बाँधे-बँधाये उसे न सेवन करे। (२) कंचुक पहन कर भी न पिये। इस तरह (३) नग्न होकर, (४) केशों को खुला छोड़कर, (५) समूह रूप 'गण' से आवृत होकर, (६) घबड़ाहट में, (७) रोग में और (८) वाद-विवाद में ग्रस्त दशा में कुलामृत का सेवन कदापि न करे ॥१८॥

योगामृतेन निष्ठीवान्मद्यभाण्डपरिभ्रमात्।
ऊर्ध्वनालेन पानाच्च देवताशापमाप्नुयात् ॥१९॥

योगामृत से समन्वित कौलिक का कर्त्तव्य अमृत को आदर देना है। उसका निष्ठीवन (थूकना या उगलना) अनुचित कार्य और मर्यादा के प्रतिकूल है। इसी तरह मद्यपात्र एक स्थान पर सुरक्षित रखकर उससे शुचितापूर्वक मद्य निकाल कर वितरण करना उचित है, न कि मद्यभाण्ड को ही समवाय में घुमाना। पीने की नलिका को ऊपर करने और उसी अवस्था में पीने से मदिरा का अपमान होता है और मर्यादा भंग होती है। इस अनुकूलता और प्रतिकूलता से परिचित होना चाहिये। प्रतिकूल उक्त तीनों प्रकार के आचरण से देवता का शाप मिलता है ॥१९॥

एकासने निविष्टस्तु भुञ्जानस्त्वेकभाजने।
एकपात्रे पिबेद्द्रव्यं ते यान्ति नरकं प्रिये ॥२०॥

पार्वती को सम्बोधित इस श्लोक द्वारा यह घोषित किया जा रहा है कि, एक ही आसन पर दो कौलिक निविष्ट होकर कुछ करें, यह उचित नहीं है। एक पात्र में ही भोजन करना और उभय कौलिकों द्वारा एक ही पात्र से कारण द्रव्य को पीना अनुचित है। ये तीनों प्रकार के अनुशासन भंग करने वाले कार्य हैं। इनके करने वाले नरकगामी होते हैं ॥२०॥

यः सेवेत कुलद्रव्यमेकग्रामे स्थिते गुरौ।
तत्कुलज्ञे च तत्पुत्रे स्वज्येष्ठे कुलदेशिके ॥
विनानुज्ञां महेशानि सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् ॥२१॥

एक ग्राम में ही गुरुदेव और शिष्य दोनों के रहने की स्थिति में जो शिष्य स्वयं कारण द्रव्य का पान करता है, गुरु के न रहने पर भी यदि उसके कुल के कोई ज्ञानवान् पुरुष अथवा गुरुदेव के पुत्र, उनके ज्येष्ठ या कुलदेशिक कोई भी पुरुष हों, तो भी उनसे आसवपान का आदेश आवश्यक है। विना आदेश के कारण द्रव्य सेवन करने पर वह शिष्य नरकगामी होता है ॥२१॥

उच्छिष्टो न स्पृशेच्चक्रे कुलद्रव्याणि पार्वति।
बहिः प्रक्षाल्य च करौ कुलद्रव्याणि दापयेत् ॥२२॥

चक्र में अवस्थित होकर उच्छिष्ट आसव का स्पर्श भी नहीं करना चाहिये। भगवान् कहते हैं कि, प्रिये ! कोई भी कुलद्रव्य यदि उच्छिष्ट हो, तो उसे स्पर्श नहीं करना चाहिये। चक्र से बाहर जाकर हाथ-मुँह का प्रक्षालन कर ले। इसके बाद कुलद्रव्य का वितरण करना चाहिये ॥२२॥

मद्यभाण्डं समुद्धृत्य न पात्रं पूरयेत् प्रिये।
भोगपात्रं सुराकुण्डे निक्षिपेन्न कदाचन ॥२३॥

मद्यभाण्ड को उठाकर उसे भरने की प्रक्रिया अपनाना उचित नहीं है। उसे कभी भी उठाकर नहीं भरना चाहिये। भोगपात्र अर्थात् चषक आदि, जिससे उसका उपयोग करते हैं, उसे किसी अवस्था में भी सुराकुण्ड में नहीं निक्षेप करना चाहिये। यह सब अनुभव और व्यवहार के अनुकूल बातें हैं ॥२३॥

चक्रमध्ये शुचिधिया करप्रक्षालनादिकम्।
यः करोति हि मूढात्मा स भवेदापदाम्पदम् ॥२४॥

चक्र के मध्य में पवित्रता की दृष्टि से कभी भी हाथ आदि का प्रक्षालन नहीं करना चाहिये। जो इस प्रकार का व्यवहार करता है, उसे मूढात्मा माना जाता है। ऐसा करने से उस पर विपत्तियों का पहाड़ टूट सकता है ॥२४॥

निष्ठीवनं मलं मूत्रमधोवायुविसर्जनम्।
श्रीचक्रमध्ये यः कुर्यात् स भवेद् योगिनीपशुः ॥२५॥

निष्ठीवन (थूकना), मल (विष्ठा), मूत्र और अधोवायु (अपानवायु) का विसर्जन और इसी तरह के अकार्य चक्र के मध्य नहीं करना चाहिये। अर्थात् पूरी तरह स्वस्थ अवस्था में उसमें सम्मिलित होना चाहिये। जो उक्त अकार्य करता है, वह योगिनियों का बलि-पशु बन जाता है ॥२५॥

चक्रमध्ये घटे भग्ने पात्रे च पतिते भुवि।
दीपनाशे च शान्त्यर्थं श्रीचक्रं कारयेत् प्रिये ॥२६॥

चक्र के मध्य में यदि किसी कारणवश घट फूट जाय, अथवा मदिरापात्र के भूमि पर गिर जाने पर तथा दीपक के बुझ जाने पर इसका प्रायश्चित्त करना चाहिये। यह अशुभसूचक घटनायें मानी जाती हैं। इसकी सबसे अच्छी प्रतिक्रिया है कि, वह स्वयं श्रीचक्र का समायोजन करे। भगवान् द्वारा सम्बोधित पार्वती को सुनाये गये ये विचार अक्षरशः सत्य हैं ॥२६॥

मत्ता जपन्ति ध्यायन्ति स्तुवन्ति प्रणमन्ति च।
बोधयन्ति च पृच्छन्ति नन्दन्ति ज्ञानिनः प्रिये ॥२७॥

कारण द्रव्य के सेवन से मदातिरेक हो जाता है। नशे से प्रभावित कौल असम्बद्ध बेमेल जल्पन करने लगता है। कभी जपपरायण और कभी ध्यानस्थ भी हो जाता है।

कभी स्तुतिपाठ तो कभी प्रणति का ही निवेदन करने लगता है। कभी प्रवचन द्वारा बोधमय पाठ पढ़ाने लगता है। कभी कुछ पूछने ही लगता है। इसे देखकर ज्ञानी लोग प्रसन्न होते हैं ॥२७॥

मत्ता भ्रमन्ति गर्जन्ति हसन्ति विवदन्ति च।
रुदन्ति स्त्रियमिच्छन्ति निन्दन्त्यज्ञानिनः प्रिये ॥२८॥

मत्तता के प्रभाव से भ्रमि भी होती है और भ्रमण भी। कभी गर्जन और तर्जन भी स्वाभाविक है। हँसने लगना तो साधारण-सी बात है। आपस में विवाद ही नहीं, मारपीट तक हो जाती है। रोना-धोना, कामुकता का प्रदर्शन भी वे करने लगते हैं। इनको देखकर अज्ञानी लोग इनकी निन्दा भी करते हैं। यह उचित नहीं ॥२८॥

परिहासं प्रलापञ्च वितण्डां बहुभाषितम्।
औदासीन्यं भयं क्रोधं चक्रमध्ये विवर्जयेत् ॥२९॥

परिहास, प्रलाप, वितण्डा और व्यर्थ की बावदूकता कभी अकबक और बकबक, उदासीनताभरी तटस्थता, डर, क्रोध का नंगा नाच यह सब नशा के अवांछित बढ़त से हो जाता है। कौलिक को चाहिये कि, वह अपने में रहे। कम-से-कम चक्र में इनसे अवश्य बचे ॥२९॥

पात्रहस्तो महादेवि न भ्रमेच्चक्रमध्यतः।
पूर्णपात्रं करे कृत्वा न तिष्ठेत्तु चिरं प्रिये ॥३०॥

हाथ में मदिरापात्र लेकर चक्र के मध्य में भ्रमण करना वर्जित है। उसी तरह पूर्णपात्र अर्थात् मदिरा से भरा भाण्ड लेकर चक्र के बीच में देर तक बैठना भी उचित नहीं माना जाता। ये दोनों बातें मर्यादा और कुलाचार के नियमों के विरुद्ध हैं ॥३०॥

नालपेत् पात्रहस्तः सन् न भिन्द्यात् पात्रमम्बिके।
पादाभ्यां न स्पृशेत् पात्रं न बिन्दुं पातयेदधः ॥३१॥

हाथ में मदिरापात्र दिखाने के लिये नहीं होता। या तो उसे स्वयं पान करना होता है या वितरण के लिये होता है। हाथ में मदिराभरा पात्र लेकर देर तक किसी से बातें करना अनुचित माना जाता है। किसी भी अवस्था में पात्र को तोड़ना नहीं चाहिये। कुलाचार की मर्यादा की प्रतिष्ठा के कारण कभी पात्र को पैरों से न छुए। यह ध्यान रखना चाहिये कि, एक बूँद भी उसकी व्यर्थ न गिरने पाये ॥३१॥

नैकहस्तेन दातव्यं न मुद्रावर्जितं प्रिये।
पात्रं न चालयेत् स्थानान्न कुर्यात् पात्रसङ्करम् ॥३२॥

एक हाथ से कभी भी कारण द्रव्य का वितरण न करे। मुद्रावर्जित वितरण भी अनुचित है। यहाँ मुद्रा शब्द वितरण के समय बनायी गयी अंगुलि मुद्रा और सिक्का (द्रव्य) के अर्थ में प्रयुक्त माना जाना चाहिये। मुद्रा राजमुद्रा के लिये भी प्रयुक्त शब्द है।

अर्थात् प्रामाणिक मदिरा के लिये उसका मुद्रापित कराना उचित है। यथास्थान रखा पात्र न हिलाये न डुलाये। कभी भी पात्र-सांकर्य नहीं करना चाहिये ॥३२॥

सशब्दं न पिबेन्मद्यं तथैव च न पूरयेत्।
नान्योन्यं ताडयेत्पात्रं तथा न पातयेदधः ॥३३॥

मद्यपान प्रक्रिया के भी कुछ नियम हैं। मदिरा इस तरह पीनी चाहिये, जिसमें सुड़कने की आवाज न हो। गड़गड़ा कर भी न पिये। भाण्ड भरते समय या पात्र भरते समय भी भरणध्वनि न होने पाये, ऐसा प्रयत्न करना चाहिये। परस्पर एक-दूसरे मदिरा-पायी अपने-अपने पात्रों को न बजायें, जिससे व्यर्थ का निनाद हो और शक्ति में बाधा पड़े। यह ध्यान रखें कि, पात्र कहीं नीचे न गिर जाय ॥३३॥

साधारं नोद्धरेत् पात्रमनाधारे न निक्षिपेत्।
रिक्तपात्रं न कुर्वीत न पात्रं भ्रामयेत् प्रिये ॥३४॥

एक पात्र से दूसरे पात्र में डालते समय प्रथम पात्र को जमीन या किसी प्रकार का आधार न दें। ऊपर उठाकर पात्र उड़ेलना उचित है। निराधार निक्षिप्त भी न करें। इससे टूटने की संभावना बनी रहती है। पात्र को एकदम रिक्त नहीं करना चाहिये। इसी तरह पात्र को कहीं हाथ में लेकर नाचना नहीं चाहिये ॥३४॥

न पात्रं लङ्घयेद्धीमान् पात्रं नोत्पातयेत् प्रिये।
प्रक्षाल्य गोपयेत् पात्रमित्याज्ञा पारमेश्वरी ॥३५॥

बुद्धिमान् पुरुष पात्र का लंघन न करें। पात्र को हाथ से उछाल देना और गेंद की तरह पकड़ना अच्छा नहीं होता। उसे धो-पोंछकर छिपाकर रखना चाहिये। यह पारमेश्वरी आज्ञा है। अवश्य पालनीय है ॥३५॥

यदा सन्दीपितोल्लासः कौलिकः पशुमीक्षते।
पठेद्वा पशुशास्त्राणि सङ्गच्छेद्वा पशुस्त्रियम् ॥३६॥

जिस कौलिक में उल्लास संदीप्त हो जाता है, उस समय वह यदि पशु व्यक्ति को देख लेता है, तो उसका हितसाधन नहीं होता। उल्लास के समय पशुशास्त्रों का स्वाध्याय भी वर्जित है। इसी तरह पशुस्त्री-संगमन भी निषिद्ध माना गया है। पशु शब्द पाशबद्ध जीवों के प्रति व्यवहृत होता है। ये लोग माया के आवरण से बद्ध होते हैं और सहवास से उसको भी दूषित कर सकते हैं ॥३६॥

कुर्यात् पशुप्रसङ्गं वा पशुकार्याणि वा चरेत्।
धर्मार्थायुर्यशःपुण्यमर्थसौख्यादि नश्यति ॥३७॥

अतः किसी भी अवस्था में पशु-प्रसंग से बचना चाहिये। जैसा आचरण अणु पुद्गल पुरुष-स्त्री करते हैं, वैसा कौलिक उल्लासी साधक को नहीं करना चाहिये। ऐसा करने से उल्लासी का धर्म, अर्थ, आयु, यश, पुण्य और जीवनगत सौख्य की क्षति होती है ॥३७॥

श्रीचक्रस्थं कुलद्रव्यं यः पशुभ्यः प्रयच्छति।
स्नेहाल्लोभाद्भयाद्वापि स भवेद् योगिनीपशुः ॥३८॥

श्रीचक्र में स्थित कुलद्रव्य भी पशुजनों को नहीं देना चाहिये। ऐसा करना अनर्थकारी होता है। जो उस द्रव्य को पशुजनों को प्रदान करने का कार्य करता है, चाहे वह उसके स्नेहवश प्रदान करे या लोभ में आकर करे या भयवश करे, वह स्वयं 'योगिनी-पशु' हो जाता है ॥३८॥

रिपुणापि न कर्त्तव्यो वाग्वादश्चक्रमध्यतः।
पितृमातृसमं पश्येत्तेनोक्तं परुषं सहेत् ॥३९॥

चक्रमध्य में संयोगवश यदि शत्रु भी शात्रव व्यवहार करे या करने लगे, तो भी उससे किसी प्रकार का वाग्वाद नहीं करना चाहिये। उस समय उसमें पिता का या स्त्री हो, तो माता का व्यवहार करना चाहिये। उसके द्वारा कठोर, कर्कश, कटु और परुष वाक्यों के प्रहार को चुपचाप सह लेना चाहिये ॥३९॥

यथा स्त्रीपुत्रमित्रादि दृष्ट्वा चेतः प्रहृष्यति।
तथा चेत् कौलिकान् दृष्ट्वा स भवेद् योगिनीप्रियः ॥४०॥

स्त्री, पुत्र, मित्र या उपलक्षणतः कोई अन्य प्रिय व्यक्ति को देखकर स्वभावतः मन प्रसन्न हो उठता है। जैसे ऐसे प्रियपात्रों को देखकर मन प्रसन्न होता है, उसी तरह यदि कौलिक पुरुष भी दिख जाँय, तो हृदय हर्षित हो जाना चाहिये। ऐसे पुरुष उत्तम और योगिनियों के प्रिय होते हैं ॥४०॥

ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं यस्य मे गुरुसन्ततिः।
तस्य मे सर्वशिष्यस्य को न पूज्यो महीतले ॥
इति निश्चितबुद्धिर्यः स भवेदावयोः प्रियः ॥४१॥

ब्रह्म से लेकर ब्रह्मस्तम्ब (संसार-प्रपंच) पर्यन्त जिस कौलिक शिष्य की मेरी गुरु-परम्परा चल रही होती है और इसी तरह क्रमिक रूप से गुरुजनों के शिष्य क्रमशः गुरु में भक्ति रखते आ रहे होते हैं, वे दोनों भूमण्डल में पूज्य होते हैं। ऐसे स्थिरचेता हम दोनों के प्रिय होते हैं ॥४१॥

अहं गुरुरहं ज्येष्ठस्त्वहं वेद्मीति गर्वितः।
अहमेव गतिर्येषां कौलिका न भवन्ति ते ॥४२॥

यह अत्यन्त महत्त्व की बात है कि, किसी साधक के मन में यह दृढ़ निश्चय हो जाय कि, मैं स्वयं गुरु हूँ। मेरे अन्दर यह योग्यता है कि, मैं गुरुत्व का संवहन कर सकता हूँ। साथ ही उसे यह अनुभव हो जाय कि, मैं ज्येष्ठ और गरिष्ठ हूँ। उसकी संवित्ति में विश्ववेत्तृत्व प्रतिबिम्बित हो जाय तथा उसे सत्य के ज्ञातृत्व का गर्व हो जाय और उसके संस्कार में यह बैठ जाय कि, मेरे सब कुछ परमेश्वर शिव ही हैं, ऐसे लोग कौलिक नहीं वरन् मेरे स्वरूप ही हो जाते हैं ॥४२॥

श्रीगुरुं कुलशास्त्राणि पूजास्थानानि यानि च।
भक्त्या श्रीपूर्वकं देवि प्रणम्य परिकीर्त्तयेत् ॥४३॥

अपने श्रीयुक्त गुरुदेव को, कुलाचार के प्रवर्त्तक शास्त्रों को और कौलिकों के मान्य पूजास्थानों को भगवान् कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! भक्तिपूर्वक प्रणाम करके उनकी प्रशंसा में प्रचारात्मक स्तरीय प्रवचन भी करना उचित माना जाता है ॥४३॥

गुरुं नाम्ना न भाषेत जपकालादृते प्रिये।
श्रीनाथ देव स्वामीति विवादे साधने वदेत् ॥४४॥

अपने गुरुदेव को नामतः भाषित नहीं करना चाहिये। हाँ, जप के समय तो नाम भावन स्वाभाविक ही होता है। जपकाल के अतिरिक्त समय के लिये ही उक्त आदेश है। विवाद अथवा साधन अवस्थाओं में श्रीगुरुदेव के लिये श्रीनाथ जी, श्रीगुरुदेव तथा स्वामिन् शब्दों से उनका अभिधान करें ॥४४॥

श्रीगुरोः पादुकां मुद्रां मूलमन्त्रं स्वपादुकाम्।
शिष्यादन्यत्र देवेशि न वदेद् यस्य कस्यचित् ॥४५॥

श्रीगुरुदेव की पादुका, उनकी मुद्रा और उनके द्वारा प्रदत्त मूलमन्त्र और अपनी पादुका भी शिष्य के अतिरिक्त जिस किसी दूसरे पुरुष को नहीं बताना चाहिये। ये बातें आचार-शास्त्र की हैं। इनका उल्लंघन नहीं होना चाहिये। भगवान् का यह आदेश है ॥४५॥

पारम्पर्यागमाम्नायं मन्त्राचारादिकं प्रिये।
सर्वं गुरुमुखाल्लब्धं सफलं स्यान्न चान्यथा ॥४६॥

परम्परा से प्राप्त अपने आम्नायानुसार आगमिक ज्ञान और मन्त्राचार आदि सभी ज्ञान गुरु के द्वारा ही गुरुमुखारविन्द से प्राप्त होने पर ही फलप्रद होते हैं। अन्यथा ये फलप्रद नहीं होते। (यह बात सांसिद्धिक गुरु के ऊपर लागू नहीं होती) ॥४६॥

श्रीशास्त्राश्रयमूलञ्च पुस्तकं न वदेत् प्रिये।
नित्यं समर्चयेद्भक्त्या पशुहस्ते न निक्षिपेत् ॥४७॥

कौलिक दर्शन की शास्त्राश्रयी मूलभूत रहस्य की वास्तविकता एवं पुस्तकीय तथ्य किसी पर व्यक्त नहीं करना चाहिये। इनकी नित्य पूजा होनी चाहिये। इसे पाशबद्ध पुरुष को कभी नहीं अर्पित करना चाहिये ॥४७॥

स्वदारवन्निषेवेत कुलशास्त्राणि पार्वति।
पशुशास्त्राणि सर्वाणि वर्जयेत् परदारवत् ॥४८॥

जिस तरह अपनी धर्मपत्नी के साथ सारे व्यवहार अत्यन्त धार्मिक और सदाचरणीय होते हैं, उसी तरह कुलाचार के शास्त्रीय ग्रन्थों के साथ भी व्यवहार करना चाहिये। देवि

पार्वति ! परदार-सेवन जिस तरह सर्वथा निषिद्ध है, उसी तरह पशुशास्त्रों के साथ भी व्यवहार करना चाहिये ॥४८॥

स्वचर्मस्थं यथा क्षीरमपेयं स्याद् द्विजोत्तमैः ।
तथा पशुमुखाद्धर्मो न श्रोतव्यो हि कौलिकैः ॥४९॥

कौलिकाचार की यह मुख्य मान्यता है कि, पशु अर्थात् पाशबद्ध पुरुषों के मुख से किसी प्रकार के धर्म की बातों का श्रवण नहीं करना चाहिये । जैसे अपने शरीर के चर्म पर गिरा हुआ दूध द्विजश्रेष्ठ पान नहीं करते । अर्थात् स्वचर्म पर (हाथ को छोड़कर) गिरा हुआ दूध द्विजश्रेष्ठ निषिद्ध मानते हैं, उसी तरह पशुमुख से शास्त्र-श्रवण भी निषिद्ध है ॥४९॥

यः शृणोति कुलाचारं यथाशास्त्रञ्च यो वदेत् ।
तावुभौ गच्छतः साक्षाद् योगिनीवीरमेलनम् ॥५०॥

शास्त्र के विधान के अनुसार जो कुलधर्मी पुरुष शास्त्रों का श्रवण करता है तथा जो वक्ता यथाशास्त्र शास्त्रीय तथ्यों को सुनाता है तथा उन पर प्रवचन देता है, वे दोनों योगिनी-वीर-मेलन के आनन्द के अनुभागी होते हैं ॥५०॥

अश्रद्दधाना ये चात्र कुलधर्मे कुलेश्वरि ।
नरकान्नो निवर्त्तन्ते यावदाहूतसंप्लवम् ॥५१॥

कुलस्वामिनि पार्वति ! जो अश्रद्दधान अर्थात् शास्त्र-वचनों के प्रति श्रद्धा नहीं रखते और कुलधर्म का आदर नहीं करते, उनका नरक से उद्धार तब तक नहीं होता, जब तक महाप्रलय नहीं होता । अर्थात् तब तक वे निश्चित रूप से नरक में निवास करते हैं ॥५१॥

ऊढा धृता तथा क्रीता मूल्येन च समाहृता ।
सकृत् कामरता वापि पञ्चधा गुरुयोषितः ॥
अलङ्घ्याः पूजनीयाः स्युर्गुरुवद् गुरुयोषितः ॥५२॥

गुरु-पत्नियाँ पाँच प्रकार की होती हैं—(१) ऊढा—जो विवाह कर विधिवत् धर्मपत्नी होती है । (२) धृता—धारण की गयी । आश्रय के लिये स्वतः प्राप्त और पत्नी-धर्म में स्वीकृता । (३) मूल्य देकर क्रय की गयी । (४) समादर देने पर राजी और (५) कामरत होने पर पत्नीरूप में स्वीकृता । ये पाँचों प्रकार की गुरु-पत्नियाँ सर्वदा अलंघ्य मानी जाती हैं । इनसे एकतल्पग नहीं होना चाहिये । ये हमेशा गुरुवत्पूज्य हैं ॥५२॥

गुरुशक्तिं वीरभार्यां कुमारीं व्रतधारिणीम् ।
व्यङ्गाङ्गीं विकृताङ्गीञ्च कुब्जामपि न कामयेत् ॥५३॥

यही गुरुशक्तियाँ भी हैं । वीरधर्मा साधक भी जिस पत्नी के साथ रहे, वही पत्नी वीर-पत्नी कहलाती है । कुमारी वह कन्या है, जो अभी अक्षतयोनि होती है । व्रतधारिणी वह स्त्री होती है, जो वरण-व्रत अपना कर पार्वती की तरह शिव के लिये प्रतिज्ञा करती

है। व्यङ्गाङ्गी वह स्त्री होती है, जिसका प्रकृति से ही अंगभंग हो। विकृतांगी, जिसका कोई अंग विकृत हो चुका हो। इनके अतिरिक्त कुब्जा (कूबड़वाली) इन सात प्रकार की स्त्रियों से कामवासना-पूर्त्ति की इच्छा नहीं करनी चाहिये ॥५३॥

सुताञ्च भगिनीं पौत्रीं स्नुषां वापि प्रियामपि।
न कामयेद् गुरोरग्रे कुर्यान्नान्योन्यसंग्रहम् ॥५४॥

अपनी पुत्री, बहन, पुत्र की पुत्री, स्नुषा-पुत्र की पत्नी और अपनी प्रेमिका इनमें से किसी के प्रति कामवासना की बात श्री गुरुदेव के सामने नहीं करनी चाहिये। इसी तरह कभी भी एक-दूसरे का संग्रह नहीं करना चाहिये ॥५४॥

कृष्णांशुकां कृष्णवर्णां कुमारीञ्च कृशोदरीम्।
मनोहरां यौवनस्थामर्चयेद्देवताधिया ॥५५॥

काला वस्त्र धारण करने वाली, स्वयं कृष्णवर्णा कालिका के समान आकर्षक कुमारी कन्या जिसका उदर भाग कृश हो, देखने में मन को अच्छी लगती हो और यौवन अवस्था को प्राप्त हो गयी हो, ऐसी कुमारी की देवता की बुद्धि से पूजा करनी चाहिये ॥५५॥

एकदापि न सेवेत बलेन कुलयोगिनीम्।
चक्रमध्ये स्वयं क्षुब्धां कामयेत् कुलसुन्दरि ॥५६॥

कुलयोगिनी नारी के साथ बलपूर्वक कभी भी संसर्ग नहीं करना चाहिये। एक बार भी नहीं; किन्तु श्रीचक्र के मध्य में स्वयं क्षुब्ध अर्थात् कामोत्तेजना की अवस्था में उसके साथ सम्पर्क किया जा सकता है ॥५६॥

आममांसं सुराकुम्भं मत्तेभं सिद्धलिङ्गिनम्।
सहकारमशोकञ्च क्रीडालोलाः कुमारिकाः ॥५७॥
एकवृक्षं श्मशानञ्च समूहं योषितामपि।
नारीञ्च रक्तवसनां दृष्ट्वा वन्देत भक्तितः ॥५८॥

कच्चे मांस, मद्यकलश, पागल हाथी, सिद्धलिंगी साधक, आम, अशोक, क्रीड़ा में संलग्न कुमारिकाओं, एक वृक्ष, श्मशान को देखकर भक्तिपूर्वक प्रणाम करना चाहिये। यह कुलाचार है ॥५७-५८॥

गुरुशक्तिसुतज्येष्ठकनिष्ठान् कुलदेशिकान्।
कुलदर्शनशास्त्राणि कुलद्रव्याणि कौलिकान् ॥५९॥

गुरुशक्ति, उनके पुत्र, चाहे वे ज्येष्ठ हों या कनिष्ठ, कुलदर्शनसिद्ध देशिक-शिरोमणि, कुलदर्शन के शास्त्र, कुलद्रव्य (मदिरादि) और कुलाचारनिष्ठ कौलिकों की कभी निन्दा नहीं करनी चाहिये, उन पर छींटाकशी नहीं होनी चाहिये और अवमानना भी नहीं करनी चाहिये ॥५९॥

प्रेरकान् सूचकांश्चापि वाचकान् दर्शकांस्तथा ।
शिक्षकान् बोधकान् योगी योगिनीसिद्धिरूपकान् ॥६०॥
कन्यां कुमारिकां नग्नामुन्मत्तां वापि योषितम् ।
न निन्देन्न जुगुप्सेत न हसेन्नावमानयेत् ॥६१॥

प्रेरक, सूचक, वाचक, दर्शक, शिक्षा प्रदान करने वाले को शिक्षक कहते हैं । जो बोध का प्रकाश हृदय में भर देता है, वह बोधक होता है । योगमार्ग में निष्णात साधक योगी कहलाता है । योगिनियों को सिद्ध करने वाले रूपक योगिनीसिद्ध रूपक, कुमारी कन्या, नग्न नारी, पगली स्त्री—इन सभी की न निन्दा करें और न अपमान । इनकी हँसी न उड़ायें और न इन्हें अपमानित करें ॥६०-६१॥

नाप्रियं नानृतं ब्रूयात् कस्यापि कुलयोगिनः ।
कुरूपा चेति कृष्णेति न वदेत् कुलयोषितम् ॥६२॥

अप्रिय वाणी का प्रयोग न करें । असत्य सम्भाषण न करें । किसी कुलयोगी के समक्ष ऐसा कभी नहीं करना चाहिये । कुलयोषित् को, भले ही वह कुरूप या कृष्णवर्णा हो, किन्तु अपनी ओर से न तो उसे कुरूप कहें और न तो यही कहें कि यह काली कलूटी है ॥६२॥

परीक्षयेन्न भक्तानां वीराणाञ्च कृताकृतम् ।
न पश्येद्वनितां नग्नामुन्मत्तां प्रकटस्तनीम् ॥६३॥
दिवसे न रमेन्नारीं तद्योनिं नैव वीक्षयेत् ।

भक्तों की कभी भी परीक्षा नहीं लेनी चाहिये । वीर साधकों के कृत और अकृत किसी की कोई चर्चा नहीं करनी चाहिये । कभी भी किसी अवस्था में नग्न स्त्री को नहीं देखना चाहिये । इसी तरह उन्मत्त और प्रकटस्तनी कुमारी को भी देखना निषिद्ध है । दिन में रतिक्रिया नहीं करनी चाहिये और उसकी योनि का कभी भी निरीक्षण नहीं करना चाहिये । यह शास्त्र का आदेश है ॥६३॥

या काचिदङ्गना लोके सा मातृकुलसम्भवा ॥६४॥
कुप्यन्ति कुलयोगिन्यो वनितानां व्यतिक्रमात् ।
स्त्रियं शतापराधाञ्चेत् पुष्पेणापि न ताडयेत् ॥
दोषान्न गणयेत् स्त्रीणां गुणानेव प्रकाशयेत् ॥६५॥

लोक में जितनी स्त्रियाँ हैं, सभी माता के वंश कुल में उत्पन्न हैं । इनके व्यतिक्रम से अर्थात् इनके प्रति दुराचरण से कुलयोगिनियाँ क्रुद्ध हो जाती हैं । स्त्री सैकड़ों अपराध कर दे, फिर भी उन्हें भूल से भी फूल उठाकर न मारें । उनके दोषों की गणना कभी न करें । स्त्रियों के गुण का ही सदा बखान करना चाहिये ॥६४-६५॥

तिष्ठन्ति कुलयोगिन्यः कुलवृक्षेषु सर्वदा ।
तत्पत्रेषु न भोक्तव्यमर्चयेत्तु विशेषतः ॥६६॥

कुलयोगिनियों का निवास कुलवृक्षों पर ही होता है। इसलिये कुलवृक्षों का छेदन कभी नहीं करना चाहिये। कुलाचार में कुलवृक्ष पूज्य माने जाते हैं। कुलवृक्षों के पत्रों पर भोजन कर उन्हें अपवित्र न करें। इनका विशेष अर्चन कौलिक के लिये आवश्यक है ॥६६॥

न स्वपेत् कुलवृक्षाधो न चोपद्रवमाचरेत्।
दृष्ट्वा भक्त्या नमस्कुर्याच्छेदयेन्न कदाचन ॥६७॥

कुलवृक्षों के तले शयन नहीं करना चाहिये। किसी प्रकार का कुलवृक्षों के प्रति उपद्रव नहीं करना चाहिये। उन्हें देखकर भक्तिपूर्वक उनको नमस्कार करना चाहिये। किसी भी कारणवश उनका छेदन नहीं करना चाहिये ॥६७॥

श्लेष्मातकं करञ्जाख्यं निम्बाश्वत्थकदम्बका:।
बिल्ववटोडुम्बराश्च तिन्तिडी नवमी स्मृता ॥६८॥

श्लेष्मातक (लसोड़ा), करंज, नीम, पीपल, कदम्ब, बिल्व, वट (वट-पीपर पाकड़), बिल्व, गूलर और तिन्तिडी—ये ९ कुलवृक्ष हैं। इनकी पूजा करने से अनन्त फलों की प्राप्ति होती है ॥६८॥

प्रायश्चित्तं भृगो: पातं संन्यासं व्रतधारणम्।
तीर्थयात्राभिगमनं कौल: पञ्च विवर्जयेत् ॥६९॥

कौलिक के लिये पाँच आचारों का निषेध है। कौलिक को इन्हें कभी आचरण में नहीं लाना चाहिये। ये पाँचों इस प्रकार हैं—१. प्रायश्चित्त (प्रसिद्ध है), २. भृगुपात (आत्मघात), ३. संन्यास, ४. व्रतधारण और ५. तीर्थाटन। ये पाँचों सामान्य जनों के संस्कार के लिये होते हैं। कौल उच्चस्तरीय साधक होता है। उसके लिये इनका कोई महत्त्व नहीं ॥६९॥

वीरहत्या वृथापानं वीरपत्नीनिषेवणम्।
वीरद्रव्यापहरणं तत्संयोगश्च पञ्चम: ॥
महापातकमित्युक्तं कौलिकानां कुलान्वये ॥७०॥

वीर साधक की हत्या, अनावश्यक रहते हुए भी मद्यपान, वीर साधक की पत्नी से समागम, वीर साधक के द्रव्य का अपहरण और उस अपहृत द्रव्य का उपभोग—ये पाँचों कार्य महापातक के रूप में परिगणित हैं। इनसे बचना चाहिये। कौलिकों की कुल-परम्परा में ये निषिद्ध कर्म माने जाते हैं ॥७०॥

शैवे तत्त्वपरिज्ञानं गारुडे विषभक्षणम्।
ज्योतिषे ग्रहणं सारं कौलेऽनुग्रहनिग्रहौ ॥७१॥

शैवदर्शन के शासन के मार्ग में तत्त्वों का पूरी तरह परिज्ञान हो जाता है। गारुड शास्त्र के स्वाध्याय से ऐसे उपाय परिज्ञात हो जाते हैं, जिनसे विष भक्षण भी प्रभावहीन हो जाता है। ज्योतिषशास्त्र के स्वाध्याय से संक्रान्तियों और ग्रहण आदि का ज्ञान हो

जाता है। इन सबसे महत्त्वपूर्ण मार्ग कुलशासन है। इसमें सिद्ध हो जाने पर साधक अनुग्रह-निग्रह-समर्थ हो जाता है ॥७१॥

देवतागुरुशास्त्राणां सिद्धाचारविडम्बकाः ।
विद्याचौरो गुरुद्रोही ब्रह्मराक्षसतां व्रजेत् ॥७२॥

देवों, गुरुदेव और गुरुजनों तथा शास्त्रों के द्वारा समर्थित सिद्ध आचार के विडम्बक अर्थात् झूठे प्रदर्शक, विद्याचोर और गुरु से द्रोह करने वाले पुरुष ब्रह्मराक्षस की गति को प्राप्त करते हैं ॥७२॥

गुरुवाक्यं हतं कृत्वा वीरान् निर्भर्त्स्य च प्रिये ।
गुरुं हुङ्कृत्य तुङ्कृत्य वीरं निर्जित्य वादतः ॥
विकल्प्य कुलशास्त्राणि भवन्ति ब्रह्मराक्षसाः ॥७३॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, प्रिये ! वे लोग ध्रुव रूप से ब्रह्मराक्षस हो जाते हैं, जो—१. गुरु के आदेश का उल्लंघन करते हैं, २. वीर साधकों की भर्त्सना करते हैं, ३. गुरुदेव के वचनों का ललकारपूर्वक अहंभाव से निरादर कर देते हैं, ४. तुम-तकार से गुरुदेव को सम्बोधित करते हैं, ५. वाद-विवाद में वीरसाधक को हराकर अपने विजय का डंका पीटते हैं और ६. कुलशास्त्रों द्वारा प्रतिपादित आचार का विकल्प प्रस्तुत कर स्वैर आचार का समर्थन करते हैं। ये सभी लोग ब्रह्मराक्षस होते हैं ॥७३॥

एकाक्षरप्रदातारं यो गुरुश्चावमानयेत् ।
श्वानं योनिशतं गत्वा चण्डालत्वमवाप्नुयात् ॥७४॥

एक अक्षर का भी जो ज्ञान प्रदान करता है, वह गुरु ही माना जाता है। जो व्यक्ति ऐसे गुरु का निरादर कर अपमानित कर देता है, वह सौ बार श्वान की योनि में उत्पन्न होने के बाद पुनः चाण्डालत्व को प्राप्त करता है ॥७४॥

मातरं पितरं भार्यां भ्रातरं बान्धवं सुतम् ।
कुलनिन्दाकरं देवि हन्यादेवाविचारयन् ॥७५॥

माता-पिता, धर्मपत्नी, कुटुम्बी जन और पुत्र तक को भी यदि कुलनिन्दा करते हुए पाये, तो कौलिक का यह कर्त्तव्य है कि, उसे बिना विचारे यम के घर पहुँचने का मार्ग साफ कर दे ॥७५॥

गुर्वर्थं देवतार्थं वा कौलिकार्थं कुलेश्वरि ।
कुलागमार्थमथवा कुलधर्मार्थमेव वा ॥७६॥

गुरु के लिये, देवता के लिये और हे कुलस्वामिनि ! कौलिक के लिये अथवा कुलागम और कुलधर्म के लिये (अपने प्राणों का भी परित्याग श्रेयस्कर होता है) यह निश्चय है ॥७६॥

देवि निन्दाकरं हत्वा बाधितः स्वयमेव वा।
यस्त्यजेद्दुस्त्यजप्राणान् स परे लीयते शिवे ॥७७॥

हे देवि ! कुलागम और कुलधर्म की निन्दा करने वाले पुरुष की हत्या करने के कारण यदि वह स्वयं बाधित हो जाता है अथवा न्यायालय द्वारा उसे प्राणदण्ड देकर उसके प्राणों का अन्त कर दिया जाता है, यह भी श्रेयस्कर है। इससे वह परमशिव में लीन हो जाता है ॥७७॥

एकस्मिन्निधनं यत्र प्रापिते दुष्टचारिणि।
बहूनां भवति क्षेमं पुण्यं तस्य वधे भवेत् ॥७८॥

एक उस दुष्टव्यवहार में रत निन्दक आदि का यदि निधन भी हो जाता है, तो इससे बहुतों का मार्गदर्शन होता है कि, कुलनिन्दा नहीं करनी चाहिये। यह कल्याणकारी कार्य है। उसके वध से पुण्य ही होता है ॥७८॥

श्रीचक्रकृतवृत्तान्तं शुभं वा यदि वाऽशुभम्।
कदाचिन्नैव वक्तव्यमित्याज्ञा पारमेश्वरी ॥७९॥

यह पारमेश्वरी आज्ञा है, अतः सर्वथा अनुल्लङ्घनीय है कि, श्रीचक्रमध्य में जो भी घटना घटित हो जाय, चाहे वह शुभ हो या अशुभ, किसी भी अवस्था में उसे दूसरे से नहीं कहना चाहिये ॥७९॥

कुलधर्मप्रसङ्गञ्च पशूनां पुरतः प्रिये।
कदाचिन्नैव कुर्वीत शूद्राग्रे वेदपाठवत् ॥८०॥

प्रिये पार्वति ! कुलधर्म श्रवण के अधिकारी पशु नहीं होते। पशु पाशबद्ध होते हैं। वे पाशमुक्त पुरुषों के कर्त्तृत्व को, उनके आचार के रहस्य को समझ भी नहीं सकते। अतः उनके सामने कुलधर्म प्रसंग की चर्चा भी नहीं करनी चाहिये। इसका ध्यान रखना आवश्यक है ॥८०॥

पीठक्षेत्रागमाम्नायं तद्विद्याचारकौलिकान्।
कुलद्रव्यादिकं देवि न वदेत् पशुसन्निधौ ॥८१॥

देवि पार्वति ! पशुस्तरीय किसी व्यक्ति के सामने न तो कुलपीठों के विषय में कोई चर्चा करनी चाहिये, न ही कौलिक क्षेत्रों, कुलागम और कुलाम्नाय के सम्बन्ध में कुछ कहना चाहिये। इसी तरह कुलविद्या, कुलाचार और सिद्ध कौलिकों के विषय में अथवा कुलद्रव्य के विषय में कुछ नहीं कहना चाहिये ॥८१॥

यथा रक्षति चौरेभ्यो धनधान्यादिकं प्रिये।
कुलधर्मं तथा देवि पशुभ्यः परिरक्षयेत् ॥८२॥

प्रिये ! धन (रुपये-पैसे, सोने-चाँदी के आभूषण) और धान्य आदि की चोरों से

सभी रक्षा करते हैं। यह स्वाभाविक है। उसी तरह कुलधर्म की रक्षा भी उन लोगों से अवश्य करनी चाहिये, जो पाशबद्ध पशु हैं। ये कुलधर्म को विकृत कर सकते हैं ॥८२॥

अन्तः कौलो बहिः शैवो जनमध्ये तु वैष्णवः।
कौलं सुगोपयेद्देवि नारिकेलफलाम्बुवत् ॥८३॥

आन्तरिक दृष्टि से कौलधर्म ही महत्त्वपूर्ण माना जाता है। अत: सभी को अन्त:-कौल होना चाहिये। बाह्यरूप से शैव धर्म को महत्त्व देते हुए अपने को शैव कहना और जनता के बीच में वैष्णव बने रहना उत्तम और व्यावहारिक है। इन दृष्टियों से कुलधर्म आन्तर रहस्यपूर्ण एवं महत्त्वपूर्ण है। इसलिये नारिकेल फल के अन्दर स्वभावत: समुत्पन्न पवित्र जल की तरह पावन कुलधर्म को सुगुप्त रखने का प्रयास निरन्तर करना चाहिये ॥८३॥

कुलधर्मादिकं सर्वं सर्वावस्थासु सर्वदा।
गोपयेच्च प्रयत्नेन जननीजारगर्भवत् ॥८४॥

कुलधर्म से सम्बन्धित जितनी औपचारिकतायें होती हैं, चाहे वे पूजा सम्बन्धी हों, आचार और चर्या सम्बन्धी हों या जैसी भी हों, सभी अवस्थाओं में सर्वदा और सभी उपायपूर्वक उन्हें सुगुप्त रखने का प्रयास करना कौलिक का परमकर्त्तव्य है। जननी जार गर्भ की बात भी लोग छिपाते ही हैं ॥८४॥

वेदशास्त्रपुराणानि स्पष्टानि गणिका इव।
इयन्तु शाम्भवी विद्या गुप्ता कुलवधूरिव ॥८५॥

वेद, शास्त्र और पुराण आदि शास्त्र को गणिका की उपमा दी जा सकती है। भगवान् परशुराम ने भी 'परशुरामकल्पसूत्र' नामक कल्पसूत्र में दीक्षाविधि के सन्दर्भ में वेदादि विद्याओं को वेश्याओं के समान कहा है [१]। जहाँ तक इस विद्या का प्रश्न है, यह शाम्भवी विद्या है। इसकी रक्षा कुलवधू के समान करनी चाहिये ॥८५॥

सुगुप्तकौलिकाचारमनुगृह्णन्ति देवताः।
वाञ्छासिद्धिं प्रयच्छन्ति नाशयन्ति प्रकाशकान् ॥८६॥

अत्यन्त गोपनीय रीति से कुलधर्म के पालन करने वाले जितने भी कौलिक हैं, उन पर देवतावर्ग अनुग्रहशील रहते हैं। उनकी समस्त इच्छाओं की पूर्त्ति में सहायक होते हैं। वहीं अत्यन्त गोप्य कुलधर्म के प्रकाशित कर देने वालों का नाश भी करते हैं ॥८६॥

कुलेशि कुलशास्त्रज्ञाः कुलपूजापरायणाः।
ये त्वां रहसि सेवन्ते ते तिष्ठन्ति तवान्तिके ॥८७॥

कुलस्वामिनि ! कुलशास्त्र के विज्ञ व्यक्ति और कुलपूजा में सदा लगे रहने वाले कौलिक जितने भी साधक हैं, जो एकान्त में तुम्हारी उपासना करते हैं, वे निश्चय ही यह कहा जा सकता है कि, वे तुम्हारे साथ ही विराजमान हैं ॥८७॥

१. परशुरामकल्पसूत्र (दीक्षाविधि, सूत्र ३०)

गुरुं प्रकाशयेद्धीमान् मन्त्रं यत्नेन गोपयेत्।
अप्रकाशप्रकाशाभ्यां नश्यतः सम्पदायुषी ॥८८॥

गुरु के सम्बन्ध में, उनकी महत्ता और योग्यता के सम्बन्ध में योग्य शिष्य सदा प्रचार किया करते हैं, जिससे उनके गुणों का प्रकाश चतुर्दिक् प्रसरित होता रहे; किन्तु गुरु द्वारा प्राप्त मन्त्र को अत्यन्त गोपनीय रखना चाहिये। यह सिद्धान्त है कि, जो अप्रकाश्य है, उसे प्रकाशित करने से और जो प्रकाश्य है, उसे अप्रकाशित करने से सद्रूप लक्ष्मी और आयुष्य दोनों का ह्रास हो जाता है ॥८८॥

सर्वाचारपरिभ्रष्टः कुलाचारं समाश्रयेत्।
कुलाचारपरिभ्रष्टो रौरवं नरकं व्रजेत् ॥८९॥

समस्त आचारों से परिभ्रष्ट व्यक्ति कुलाचार का आश्रय ग्रहण करे। इससे उसका कल्याण सम्भव है; किन्तु कुलाचार से भ्रष्ट पुरुष की कहीं गति नहीं है। उसका स्थान नरक, वह भी सामान्य नहीं, रौरव में सुरक्षित हो जाता है ॥८९॥

शास्त्रेषु निष्कृतिर्दृष्टा महापातकिनामपि।
कुलभ्रष्टस्य देवेशि न दृष्टा निष्कृतिः क्वचित् ॥९०॥

शास्त्रों में महापातकी व्यक्तियों के उद्धार के उपाय निर्दिष्ट हैं। पापों से निष्कृति के लिये प्रायश्चित्त के विधान भी हैं; किन्तु देवेश्वरि पार्वति ! कुलमार्ग से भ्रष्ट हो जाने वाले अभागे पुरुष की कोई निष्कृति नहीं है। शास्त्रों में इस सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं है ॥९०॥

कुलधर्मं समाश्रित्य आचारं यो न पालयेत्।
यथेच्छचारिणस्तस्य महापातकिनः प्रिये ॥९१॥

कुलधर्म का समाश्रय ग्रहण करने के बाद भी जो व्यक्ति उसके आचार का पालन नहीं करता, उसे स्वैराचारी कहा जाता है। वह महापातकी है। पार्वती को सम्बोधित कर शिव यह तथ्य प्रकाशित कर रहे हैं ॥९१॥

आपदो दुरितं रोगा दारिद्र्यं कलहो भयम्।
योगिनीनां प्रकोपश्च स्खलितानि पदे पदे ॥९२॥

ऐसे पातकी को—१. विपत्तियाँ, २. दुरित (पाप), ३. रोग, ४. दारिद्र्य, ५. कलह, ६. भय और ७. योगिनी शक्तियों का प्रकोप सदा झेलना पड़ता है। इसके अतिरिक्त उसके जीवन में पदे-पदे स्खलितियाँ (गलतियाँ) होती रहती हैं ॥९२॥

भ्रंशमानः प्रणष्टश्च तेजोहीनोऽतिदुर्मतिः।
निन्दितः सर्वविद्विष्टो विह्वलः सङ्गवर्जितः॥
देशाद्देशान्तरं याति कार्यहानिश्च सर्वदा ॥९३॥

ऐसे व्यक्ति की दुर्दशाओं का अन्त नहीं। वह सर्वदा प्रत्येक पद से भ्रष्ट होता रहता है। यह उसके सर्वनाश का ही कारण है। इससे उसकी तेजस्विता भी नष्ट हो जाती है। उसकी बुद्धि भी मारी जाती है। सबसे निन्दित, सबका द्वेषी, विह्वल और सुसंगति से रहित हो जाता है। किसी उद्देश्य से वह यदि देश-देशान्तर की यात्रा करता है, तो वहाँ भी उसके सारे काम बिगड़ जाते हैं ॥९३॥

तत्रापि कुलमार्गस्थाः शाकिन्यः कुलपालिकाः।
भक्षयन्ति पुरा तासां वरो दत्तो मयैव तु ॥९४॥

इस पर भी कुलमार्ग में प्रतिष्ठाप्राप्त शाकिनी शक्तियाँ, जो कुलमार्ग की रक्षा में निरन्तर संलग्न और सन्नद्ध रहती हैं, वे उस पुरुष के कुलमार्ग में रहने पर मेरे द्वारा जो वर दिये गये थे, उस वरदान को ही वे अपना भक्ष्य बना डालती हैं। अर्थात् मेरा वर भी उन्हें बचाने में समर्थ नहीं हो पाता ॥९४॥

तस्मादाचारवान् देवि योगिनीनां प्रियो भवेत्।
नाशयन्ति चतुर्वेदानानाचाराः कुलेश्वरि ॥९५॥

इसलिये देवि पार्वति! आचारनिष्ठ कौलिक ही योगिनी शक्तियों का प्रिय होता है। हे कुलस्वामिनी देवि! इसके विपरीत आचारभ्रष्ट कौलिक भले ही चारों वेदों का परिनिष्ठित विद्वान् हो, उसके अनाचार से रुष्ट योगिनी शक्तियाँ उसका नाश कर देती हैं ॥९५॥

पादुकामात्रसारज्ञः सदाचारेषु यन्त्रितः।
सदाचारेण देवत्वं योगिनीवीरमेलनम् ॥
सम्प्राप्नुवन्ति तिर्यक्त्वं कौलिकास्तद्विपर्ययात् ॥९६॥

मात्र गुरुपादुका मन्त्र के सार-रहस्य का जानकार सभी कुलाचारों में निष्ठापूर्वक रत रहकर उनका यदि पालन करता है, तो इस सदाचारपालनरूप सुकर्म से वह देवत्व को उपलब्ध हो जाता है। योगिनी और वीर दोनों का उसके जीवन में मेल हो जाता है। इसके विपर्यय मात्र से कौलिक तिर्यक् योनि प्राप्त कर दुर्भाग्यपूर्ण जीवन बिताने को बाध्य हो जाता है ॥९६॥

आज्ञासिद्धमिदं कौलमनाचाराद्विनश्यति।
आचारपालनात् सत्यमाज्ञासिद्धिर्भविष्यति ॥९७॥

यह कौल शासन आज्ञासिद्ध है, अर्थात् अनुशासन द्वारा ही यह सिद्धि का आधार बनता है। इतना महत्त्वपूर्ण अनुपालनीय शासन अनाचार से नष्ट हो जाता है। यह सिद्धान्त-वाक्य है कि, आचार के पालन से ही आज्ञासिद्धि होती है ॥९७॥

नाभिषेको न मन्त्रो वा न शास्त्रपठनादिकम्।
कारणं कुलधर्मस्य सदाचारः कुलेश्वरि ॥९८॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! कुलधर्म के स्थायित्व का कारण न तो अभिषेक है, न मन्त्र है, न शास्त्र के पठन-पाठन की परम्परा या स्वाध्याय है। वस्तुतः इसके स्थायित्व का एकमात्र कारण कुलधर्म और कुलाचाररूप सदाचार का पालन है ॥९८॥

बालाश्रीपादुकातत्त्वत्रयाचारादिवासनाः ।
यो वेत्ति समयी स स्यात् कौलिकश्चापि शाम्भवि ॥९९॥

१. पराप्रासाद मन्त्र, २. पादुका तत्त्व और ३. ३६ तत्त्वों का रहस्य—इन तीनों की आचार-पद्धति से परिचित है तथा इन तीनों की वासना से वासित और इनका विज्ञ होता है, हे कुलस्वामिनि ! वही व्यक्ति ज्ञानी होता है, वही कौलिक कहलाने का अधिकारी होता है ॥९९॥

तावन्न कौलिको देवि यावन्न समयीकृतः ।
देहपाते विमोक्षः स्यात् समयाचारपालनात् ॥१००॥

देवि पार्वति ! जब तक कौलिक साधक समयी अर्थात् समयाचार का पालन नहीं करता, तब तक वह कौलिक कहलाने का अधिकारी नहीं कहा जा सकता। इससे देहपात के उपरान्त मोक्ष निश्चित प्राप्त होता है। मोक्ष का एकमात्र कारण समयाचार का पालन ही है ॥१००॥

संस्कारेण विहीनत्वाद् गुरुवाक्यस्य लङ्घनात् ।
आचारवर्जनाद्देवि कौलिकः पतितो भवेत् ॥१०१॥

समयाचार के पालन से संस्कारों का परिष्कार होता है। इससे जो विहीन हो जाता है और आचार का वर्जन कर देता है, वह कौलिक पतित हो जाता है। इसी के साथ यह भी ज्ञातव्य है कि गुरु-वाक्यों के उल्लंघन से भी कौलिक पतित हो जाता है ॥१०१॥

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं मन्त्रयन्त्रादिलोपनम् ।
अनर्हपशुदुःसङ्गमन्त्रसाङ्कर्यसम्भवम् ॥१०२॥
गुप्तप्रकटसम्भूतं ज्ञानाज्ञानकृतं प्रिये ।
एवमादिषु दोषेषु पापस्य गुरुलाघवम् ॥१०३॥

जीवन में पाप और पुण्य के चक्कर में जीव पड़ा रह जाता है। पाप को अच्छा नहीं माना जाता। प्रश्न यह है कि, यह कोई कैसे जाने कि पाप के बड़ा या छोटा होने की क्या माप है ? इसका कथन करते हुए भगवान् कह रहे हैं कि, नित्य और नैमित्तिक काम्य, मन्त्रों और यन्त्रों का लोप, अयोग्य पाशबद्ध पशुओं का संग, कुल-मन्त्रों और अन्य मन्त्रों का सांकर्य, गोपनीय और प्रकाश्य मन्त्रों का प्रकाशन और अप्रकाशन, ज्ञान और अज्ञान में किये गये सभी दोष, यह प्रमाणित करते हैं कि, यह दोष महान् है या लघु ॥१०२-१०३॥

देशं कालं वयो वित्तं सम्यग् ज्ञात्वा यथाविधि ।
प्रायश्चित्तं गुरुर्दद्यात् सर्वपापविशुद्धये ॥१०४॥

गुरु का यह उत्तरदायित्व होता है कि, वह देश में प्रचलित व्यवस्था का पूर्ण विवेचन कर, कालजन्य परिस्थिति का विचार कर, अपराधी की अवस्था और उसके आर्थिक स्तर की भी अच्छी तरह जानकारी कर लेने के उपरान्त ही उसी तरह के प्रायश्चित्त का विधान करे, जिससे उसके समस्त पापों का शमन हो जाय और वह तप्त दिव्य कंचन की तरह विशुद्ध हो जाय ॥१०४॥

शिष्योऽपि गुरुणाऽऽज्ञप्तं प्रायश्चित्तं समाचरेत् ।
अथवा सर्वपापानां गुरुनामजपः स्मृतः ॥१०५॥

शिष्य भी गुरु द्वारा आदिष्ट प्रायश्चित्त का सम्यक् रूप से आचरण करे; क्योंकि सारी स्थितियों पर विचार करके ही उन्होंने प्रायश्चित्त का विधान किया है। एक दूसरे प्रायश्चित्त के प्रकार पर ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं। वह यह कि, समस्त पापों का शमन करने वाला गुरुदेव के नाम का जप है। प्रायश्चित्त के रूप में इसे ही सम्पन्न करे ॥१०५॥

जाम्बूनदस्य कलुषं परिशुद्धं यथाग्निना ।
अनाचारस्य मालिन्यं प्रायश्चित्ताग्निना दहेत् ॥१०६॥

जिस तरह जाम्बूनद अर्थात् स्वर्ण की विशुद्धि अग्नि में तपाने से हो जाती है, उसी तरह अनाचार से उत्पन्न होने वाले सारे दोष प्रायश्चित्त की आग से भस्म हो जाते हैं और शिष्य सोने की तरह शुद्ध हो जाता है ॥१०६॥

बहुनात्र किमुक्तेन रहस्यं शृणु पार्वति ।
वर्णाश्रमाणां सर्वेषामाचारः सद्गतिप्रदः ॥१०७॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! मैंने तुम्हें बहुत समझाया है। अब और अधिक क्या कहूँ। अब मैं तुम्हें रहस्य की बात बता रहा हूँ। ध्यान से सुनो ! वर्ण और आश्रम की व्यवस्था से संचालित समाज में सर्वोत्तम फलप्रद आचार ही है। अतः सदाचार का पालन करना उत्तम होता है ॥१०७॥

गुरुस्त्रिवारमाचारं कथयेच्च कुलेश्वरि ।
न गृह्णाति हि शिष्यश्चेत्तदा पापं गुरोर्न हि ॥१०८॥

गुरु का यह कर्त्तव्य है कि, वह पथभ्रष्ट होते हुए शिष्य को कुपथ के प्रति सावधान करें। उसे कम से कम तीन बार तो प्रेम से समझाकर सुपथ अपनाने पर बल दे। यदि शिष्य इतने पर भी नहीं मानता है, तो इसमें गुरु का दोष नहीं रहता। अन्यथा शिष्य के अपराध में गुरु पर भी दोष जाता है ॥१०८॥

मन्त्रिदोषश्च राजानं जायादोषः पतिं यथा ।
तथा प्राप्नोत्यसन्देहं शिष्यपापं गुरुं प्रिये ॥१०९॥

मन्त्री का दोष राजा पर और स्त्री का दोष पति पर जाता ही है। राजा और पति क्रमश: मन्त्री और स्त्री को सत्पथ पर रख सकते हैं। यही दशा शिष्य के पाप की है। वह गुरु पर जाता है। यह निश्चित है। अत: तीन बार सावधान करना गुरु के लिये आवश्यक होता है ॥१०९॥

इति ते कथितं किञ्चित् समासेन कुलेश्वरि।
कुलाचारविधिं देवि किम्भूय: श्रोतुमिच्छसि ॥११०॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, कुलस्वामिनि देवि पार्वति! यह संक्षिप्त रूप से मैंने कुलाचार सम्बन्धी तथ्य तुमसे कहे। कुलाचार की विधि पर भी मैंने प्रकाश डाला। अब बताओ! तुम इसके बाद शास्त्र के किस रहस्य को सुनना चाहती हो? स्पष्ट करो ॥११०॥

सर्वागमोत्तमोत्तम महारहस्यमय ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकुलार्णवतन्त्रान्तर्गत डॉ. परमहंस-मिश्रविरचित नीर-क्षीर-विवेक-भाषाभाष्यसंवलित 'कुलाचारकथन' नामक एकादश उल्लास परिपूर्ण ॥११॥

॥ शुभं भूयात् ॥

○

द्वादश उल्लासः

श्रीदेव्युवाच

कुलेश श्रोतुमिच्छामि पादुकाभक्तिलक्षणम् ।
आचारमपि देवेश वद मे करुणानिधे ॥१॥

श्री देवी ने कहा—परमोपास्य कुलेश्वर ! मैं पादुका-भक्ति के लक्षण के सम्बन्ध में सुनना चाहती हूँ । देवाधिदेव ! इसे अपना सौभाग्य मानती हूँ कि, आप शास्त्र के सुनाने का अनुग्रह कर रहे हैं । कृपा कर पादुका-भक्ति के साथ एतद्विषयक आचार का भी निर्देश करेंगे । आप दयानिधान हैं । मैं आपकी कृपा इस विषय में चाहती हूँ ॥१॥

ईश्वर उवाच

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
तस्य श्रवणमात्रेण भक्तिराशु प्रजायते ॥२॥

ईश्वर ने कहा—देवि ! परमेश्वरि ! तुमने जो कुछ भी कहा है, मैं उसे सुनाने के लिए तत्पर हूँ । इस पावन विषय को सुनने से मानव जीवन पर यह प्रभाव पड़ता है कि, वह व्यक्ति भगवान् का भक्त बन जाता है ॥२॥

वाग्भवा मूलवलये सूत्राद्याः कवलीकृताः ।
एवं कुलार्णवे ज्ञानं पादुकायां प्रतिष्ठितम् ॥३॥

इस श्लोक में कुलार्णव और मूलवलय दोनों को आधार मानकर पादुका के महत्त्व को समझा रहे हैं । मूलाधार चक्र के वलय को मूलवलय कहते हैं । यह शरीर का मूल स्थान है । इसमें वाग्भव (ऐं) बीज और सूत्रादि (सूत्र = ऊ ऊर्मिबीज) आदि से कामराज आदि कई अर्थ लिये जाते हैं । ये सभी वहाँ कवलीकृत हैं, अर्थात् मूलवलय में वे प्राकृतिक रूप से तत्त्वस्वरूप से निहित हैं । ठीक इसी तरह पादुका भी मूल आधार-शक्ति है । यह सूर्य-सोम की युगल प्रतीक है । इसमें कुलदर्शन रूप अर्णव अर्थात् रत्नाकर की समस्त ज्ञानराशि प्रतिष्ठित मानी जाती है । इस तरह कुलमार्ग में पादुका का महत्त्व सर्वोपरि हो जाता है ॥३॥

कोटिकोटिमहादानात् कोटिकोटिमहाव्रतात् ।
कोटिकोटिमहायज्ञात् परा श्रीपादुकास्मृतिः ॥४॥

दान का शास्त्रों में अप्रतिम महत्त्व प्रतिपादित किया गया है । दान की तरह व्रतों और यज्ञों का महत्त्व भी है । भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, एक-दो दान नहीं, करोड़ों-करोड़ों दान दिये गये हों, इसी तरह एक-दो नहीं, करोड़ों व्रत आचरित किये गये हों और इसी तरह सैकड़ों और हजारों नहीं, करोड़ों यज्ञ किये गये हों, तो भी एक बार पादुका का स्मरण ही उक्त तीनों दान, व्रत और यज्ञों के फलों को अतिक्रान्त कर जाता है । अर्थात् पादुका-स्मृति का सर्वोत्तम महत्त्व है ॥४॥

कोटिकोटिमन्त्रजापात् कोटितीर्थावगाहनात्।
कोटिदेवार्चनाद्देवि परा श्रीपादुकास्मृतिः ॥५॥

करोड़ों-करोड़ों मन्त्रों के जप से, करोड़ों-करोड़ों तीर्थों में स्नान करने से और करोड़ों-करोड़ों देवार्चन की प्रक्रिया से भी परा अर्थात् सर्वातिशायिनी क्रिया श्रीगुरुचरण-पादुका की स्मृति मानी जाती है ॥५॥

महारोगे महोत्पाते महादोषे महाभये।
महापदि महापापे स्मृता रक्षति पादुका ॥६॥

साधारण और सामान्य नहीं अपितु महा असाध्य रोगों के उत्पन्न होने पर ब्रह्मा भी रक्षा नहीं करते। इसी तरह बहुत बड़ा अप्रत्याशित उत्पात का पहाड़ टूट पड़े, बहुत बड़े दोष और कलंक या अपराध से ग्रस्त हो जाय, महाभय का वज्र गिरने को हो, बहुत बड़ी आपत्ति आ जाय और बहुत बड़ा पाप हो जाय, तो बचाने से सभी कतराते हैं; किन्तु स्मरण करते ही पादुका रक्षा करती है ॥६॥

दुराचारे दुरालापे दुःसङ्गे दुष्प्रतिग्रहे।
दुराहारे च दुर्बुद्धौ स्मृता रक्षति पादुका ॥७॥

आचार के विकृत हो जाने पर, परस्पर बात-बात में कटुता उत्पन्न हो जाने पर, बुरी संगति में फँस जाने पर, नितान्त हेय और पापपूर्ण प्रतिग्रह ग्रहण करने पर, अगम्यागमन और मूर्खतापूर्ण व्यवहार की अवस्थाओं के संकट की धड़ी में स्मरण करते ही पादुका रक्षा करती है ॥७॥

तेनाधीतं स्मृतं ज्ञातम् इष्टं दत्तञ्च पूजितम्।
जिह्वाग्रे वर्त्तते यस्य सदा श्रीपादुकास्मृतिः ॥८॥

उस भक्त द्वारा सारे शास्त्र अधीत मान लिये जाते हैं, सारी स्मृतियाँ स्मृत मान ली जाती हैं, सारे ज्ञान ज्ञात, सारा दर्शन दृष्ट, समस्त दान आचरित और कृत तथा सारे देव पूजित मान लिये जाते हैं, जिसकी जिह्वा के अग्रभाग में पादुका-स्मृति के स्वर स्फुरित रहते हैं ॥८॥

सकृत् श्रीपादुकां देवि यो वा जपति भक्तितः।
स सर्वपापरहितः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥९॥

इसका शास्त्रों ने इतना महत्त्व ख्यापित किया है कि, यदि एक बार भी भक्ति और आस्थापूर्वक जो भक्त पादुका मन्त्र का जप कर लेता है, वह समस्त पापों से रहित हो जाता है। अन्त में परमगति मोक्ष को प्राप्त करता है ॥९॥

शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि भक्त्या स्मरति पादुकाम्।
अनायासेन धर्मार्थकाममोक्षान् लभेत सः ॥१०॥

भले ही स्मरण करने वाला पवित्र हो, अपवित्र हो, यदि भक्ति-श्रद्धा से श्रीपादुका का स्मरण करता है, वह अनायास ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चारों पुरुषार्थों को प्राप्त कर लेता है ॥१०॥

श्रीनाथचरणाम्भोजं यस्यां दिशि विराजते ।
तस्यां दिशि नमस्कुर्याद् भक्त्या प्रतिदिनं प्रिये ॥११॥

श्रीनाथ के चरणकमल जिस दिशा में विराजमान रहते हैं, भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति ! उस दिशा में प्रतिदिन भक्तिपूर्वक नमस्कार करना चाहिये । पादुका-भक्त कौलिक का यह कर्त्तव्य है ॥११॥

न पादुकापरो मन्त्रो न देवः श्रीगुरोः परः ।
न हि शाक्तात् परा दीक्षा न पुण्यं कुलपूजनात् ॥१२॥

पादुका मन्त्र से बढ़कर कोई दूसरा मन्त्र नहीं होता । श्रीसद्गुरुदेव से बढ़कर कोई देवता नहीं होता । जहाँ तक दीक्षा का प्रश्न है, शाक्तदीक्षा से बढ़कर कोई दीक्षा नहीं होती । इसी तरह कुलपूजा से बढ़कर कहीं कोई पुण्य नहीं होता ॥१२॥

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्त्तिः पूजामूलं गुरोः पदम् ।
मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोः कृपा ॥१३॥

ध्यान का मूल क्या होता है ? मूल का अर्थ जड़ या रहस्य बिन्दु अथवा मौलिक रूप होता है । यहाँ मौलिक रूप अर्थ लिया जाना चाहिये । ध्यान के अनेक प्रकार शास्त्रों में प्रतिपादित हैं । कुलार्णवतन्त्र के अनुसार गुरु की मूर्त्ति का ही मौलिक रूप में ध्यान करना चाहिये । इसी तरह पूजा के मूल में गुरु का चरणारविन्द होता है । गुरुचरण की श्रद्धा से ही पूजा-परम्परा का विकास हुआ ।

गुरुदेव के वाक्य ही मन्त्रों के मूल हैं और मोक्ष का मूल कारण गुरुदेव का अनुग्रह ही माना जाता है । अर्थात् गुरुमूर्त्ति का ध्यान, गुरुचरणों का अर्चन, गुरुदेव के वाक्यों की मन्त्रात्मक मान्यता और गुरुकृपा के प्रति श्रद्धा से व्यक्ति मुक्त हो जाता है ॥१३॥

गुरुमूलाः क्रियाः सर्वा लोकेऽस्मिन् कुलनायिके ।
तस्मात् सेव्यो गुरुर्नित्यं सिद्ध्यर्थं भक्तिसंयुतैः ॥१४॥

सारी क्रियायें गुरुमूलक हैं । भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, कुलनायिके देवि ! इस लोकजीवन में गुरु से बढ़कर किसी का महत्त्व नहीं होता । इसलिये भक्ति से समन्वित भक्त पुरुषों का यह कर्त्तव्य है कि, सब प्रकार की सिद्धि के उद्देश्य से गुरुदेव की नित्य सेवा करें ॥१४॥

तावदार्त्तिर्भयं शोको लोभमोहभ्रमादयः ।
यावन्नायाति शरणं श्रीगुरुं भक्तवत्सलम् ॥१५॥

लोक में जीवन के जीने के क्रम में आर्त्तिभय, शोक, लोभ, मोह और अनेक प्रकार की भ्रान्तियों का सामना पुरुष को करना पड़ता है। भगवान् कहते हैं कि, यह सब कुछ तब तक होता है, हे देवेश्वरि ! जब तक प्राणी में श्रीसद्गुरुदेव में भक्ति का प्रवाह नहीं बह पाता और गुरुशरण में शरणागत नहीं होता ॥१५॥

तावद् भ्रमन्ति संसारे सर्वदुःखमलीमसाः।
न भवेत् सद्गुरौ भक्तिर्यावद्देवेशि देहिनाम् ॥१६॥

संसार में आवागमन के बन्धन में मनुष्य को तभी तक भ्रमण करना पड़ता है और सभी प्रकार के दुःखों से दुःखित और मलीमस होना पड़ता है, जब तक देही समुदाय भक्ति और श्रद्धापूर्वक श्रीसद्गुरुदेव का भक्त बनकर नित्य स्मरण नहीं करता ॥१६॥

सर्वसिद्धिफलोपेतो मन्त्रः शुध्यति शोभनः।
गुरुप्रसादमूलोऽयं परतत्त्वमहाक्रमः ॥१७॥

श्रीसद्गुरुदेव का कृपा-प्रसाद वह मूल केन्द्रबिन्दु है, जहाँ से परतत्त्व में अनुप्रवेश की परम्परा का सूत्रपात होता है, उन्हीं के कृपा-प्रसाद से समस्त सिद्धियों से समन्वित फलवान् मन्त्र भी शुद्ध होते हैं और उनका स्वरूप शोभन हो पाता है ॥१७॥

यथा ददाति सन्तुष्टः प्रसन्नो वरदो मनुम्।
तथा भक्त्या धनैः प्राणैर्गुरुं यत्नेन तोषयेत् ॥१८॥

श्रद्धा-भक्तिपूर्ण सेवा से सन्तुष्ट, परम प्रसन्न वरप्रद गुरुदेव जब तक गुरुमन्त्र प्रदान नहीं करते, तब तक भक्ति से, धन-समृद्धि के समर्पण से, यहाँ तक कि, प्राण तक के अर्पण की तत्परता से भी उन्हें प्रसन्न करना चाहिये ॥१८॥

यदा दद्यात् स्वशिष्याय स्वात्मानं देशिकोत्तमः।
तदा मुक्तो भवेच्छिष्यस्ततो नास्ति पुनर्भवः ॥१९॥

जिस समय देशिकशिरोमणि श्रीसद्गुरुदेव प्रसन्न होकर शिष्य को स्वात्ममूलक मन्त्र प्रदान करते हैं, उसी समय शिष्य मुक्त हो जाता है। गुरुकृपा के प्रभाव से शिष्य का पुनर्भव नहीं होता ॥१९॥

तावदाराधयेच्छिष्यः प्रसन्नोऽसौ यदा भवेत्।
गुरौ प्रसन्ने शिष्यस्य सद्यः पापक्षयो भवेत् ॥२०॥

शिष्य का यह कर्त्तव्य है कि, वह गुरुदेव की तब तक भक्तिभाव और श्रद्धापूर्वक सेवा करता रहे, जब तक गुरुदेव प्रसन्न न हो उठें। यह सत्य सिद्धान्त है कि, गुरुदेव के प्रसन्न होते ही तत्काल समस्त पापों का क्षय हो जाता है ॥२०॥

मनसापि न काङ्क्षन्ते यान् कामाननुजीविनः।
सम्पादयन्ति तान् सर्वान् स्वामिनो भक्तवत्सलाः ॥२१॥

अनुजीवी लोग स्वामी की मन लगाकर सेवा नहीं करते। जिन कामों को वे मन से भी नहीं सोचते, उन्हें स्वामी के भक्तवत्सल शिष्य आनन-फानन में ही सम्पादित कर देते हैं ॥२१॥

ब्रह्मविष्णुमहेशादिदेवतामुनियोगिनः ।
कुर्वन्त्यनुग्रहं तुष्टा गुरौ तुष्टे न संशयः ॥२२॥

ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर आदि देववर्ग, मुनीश्वरवृन्द और योगमार्गविज्ञ योगी लोग गुरुदेव के सन्तुष्ट रहने पर अनुग्रह करते हैं, अन्यथा नहीं करते ॥२२॥

भक्त्या तुष्टेन गुरुणा यः प्रदिष्टः कृपालुना ।
कर्ममुक्तो भवेच्छिष्यो भुक्तिमुक्त्योः स भाजनम् ॥२३॥

भक्ति के कारण जब गुरुदेव प्रसन्न हो जाते हैं और कृपापूर्वक उसे दीक्षा देकर कृतार्थ कर देते हैं, उसी समय शिष्य कर्ममुक्त हो जाता है और तत्काल भुक्ति, मुक्ति दोनों का आस्पद हो जाता है ॥२३॥

शिष्येणापि तथा कार्यं यथा सन्तोषितो गुरुः ।
प्रियं कुर्याच्च देवेशि मनोवाक्कायकर्मभिः ॥२४॥

शिष्य का यह परम कर्त्तव्य है कि, वह वही करे, जिससे गुरुदेव प्रसन्न रहें। भगवान् कह रहे हैं कि, देवेश्वरि ! मन, वचन, काया और कर्म से शिष्य गुरु को प्रसन्न करने में तत्पर रहे ॥२४॥

यदि तुष्टेन गुरुणात्मशिष्यो यत्र कुत्रचित् ।
मुक्तोऽसीति समादिष्टः सोऽपि मुक्तिं व्रजेत् प्रिये ॥२५॥

भक्ति से ही गुरु प्रसन्न हैं। ऐसे प्रसन्न गुरुदेव अपने शिष्य के सम्बन्ध में जहाँ कहीं भी यह घोषणा कर दें कि, तुम मुक्त हो, ऐसी स्थिति में इस प्रकार मुक्त उद्घोषित शिष्य भगवान् शंकर के पार्वती को उद्बोधन के अनुसार मुक्त ही हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं ॥२५॥

अथवा निष्प्रपञ्चेन धाम्ना केनचिदीश्वरः ।
करोति गुरुरूपेण पशुपाशविमोचनम् ॥२६॥

अथवा दूसरे शब्दों में इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि, ईश्वर पशु के (अणु पुरुषों के) पाशों का विमोचन किसी निष्प्रपंची, अत्यन्त तेजस्वी गुरुरूपी व्यक्तित्व के माध्यम से स्वयं कर देते हैं ॥२६॥

न मे प्रियश्चतुर्वेदी मद्भक्तः श्वपचोऽपि वा ।
तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स तु पूज्यो ह्यहं यथा ॥२७॥

भगवान् कहते हैं कि, प्रिये ! मुझे चारों वेदों का विज्ञ चतुर्वेदी विद्वान् उतना प्रिय

नहीं है, जितना मेरा भक्त श्वपच भी मेरा प्रिय होता है। इसलिये मेरे भक्त श्वपच को ही समस्त ग्राह्य का दान देना चाहिये। वह मुझे उतना ही प्रिय है, जितना मैं किसी को प्रिय लगता हूँ। भक्तिभाव से कोई भक्त मुझे जितना चाहता है, उतना ही मेरा स्वात्मरूप से प्रिय होता है ॥२७॥

विप्रः षड्गुणयुक्तश्चेदभक्तो न प्रशस्यते।
म्लेच्छोऽपि गुणहीनोऽपि भक्तिमान् शिष्य उच्यते ॥२८॥

भले कोई विप्र हो, यदि वह भक्त नहीं है, तो वह षड्गुणयुक्त ही क्यों न हो, भक्ति न रहने के कारण वह प्रशंसा का पात्र नहीं हो सकता। भले ही कोई म्लेच्छ ही क्यों न हो, सारे गुणों से भी हीन क्यों न हो, यदि वह भक्तिमान् है, तो मुझे अत्यन्त प्रिय है, अर्थात् भक्ति के कारण ही मेरी प्रियता प्राप्त कर सकता है ॥२८॥

गुरुभक्तिविहीनस्य तपो विद्या कुलं व्रतम्।
सर्वं नश्यति तत्रैव भूषणं लोकरञ्जनम् ॥२९॥

गुरुभक्ति से विहीन पुरुष की तपस्या, उसकी स्वाध्याय से उत्पन्न विद्या, उसका कुल और उसके द्वारा किये गये सारे व्रत, सारे के सारे उसके कर्म तत्काल नष्ट हो जाते हैं। वस्तुतः लोकरंजन एक प्रकार का अलंकरण है ॥२९॥

गुरुभक्त्यग्निना सम्यग्दग्धदुर्मतिकल्मषः।
श्वपचोऽपि परैः पूज्यो विद्वानपि न नास्तिकः ॥३०॥

गुरुदेव की भक्ति एक विलक्षण अग्नि है। सामान्य आग सामान्यतः सभी स्थूल वस्तु समुदाय को भस्मसात् करती है। पर यह आग दुष्टों की दुर्बुद्धिरूपी कल्मषराशि को दग्ध कर देती है। अतः गुरुभक्ति से दग्धकल्मष यदि श्वपच भी होता है, तो वह दूसरों से दूसरों की अपेक्षा पूज्य माना जाता है। इस सन्दर्भ में यह ध्यातव्य है कि, नास्तिक व्यक्ति विद्वान् होने पर भी पूज्य नहीं माना जा सकता, जब कि आस्तिक श्वपच पूज्य हो जाता है ॥३०॥

धर्मार्थकामैः किन्तस्य मोक्ष एव करे स्थितः।
सर्वार्थैः श्रीगुरौ देवि यस्य भक्तिः सदा स्थिरा ॥३१॥

पुरुषार्थ तो चार ही माने जाते हैं। मोक्ष अन्तिम और सर्वोच्च सर्वातिशायी पुरुषार्थ है। इसी को सिद्ध करने के लिये पहले के तीनों की उपयोगिता है। ध्यान देने की बात है कि, जिसके हाथ में ही मोक्ष हस्तामलकवत् आ जाय, वह धन्य है। भगवान् कह रहे हैं कि, देवि! पार्वति! सभी अर्थों से जिसमें गुरुभक्ति की धारा का शश्वत उल्लास है, वह मुक्त ही है ॥३१॥

स शिवो गुरुरूपेण भुक्तिमुक्तिप्रदो मम।
इति भक्त्या स्मरेद् यस्तु तस्य सिद्धिरदूरतः ॥३२॥

गुरु रूप में आचार्य साक्षात् शिव ही हैं। गुरु में शिव का ही साक्षात्कार होता है। वही भुक्ति और मुक्ति दोनों का वरदान देता है। भगवान् भैरव अपनी भुक्ति और मुक्ति का आधार साक्षात् गुरु को ही मानते हैं। 'मम' शब्द यही बोल रहा है। इसलिये जो व्यक्ति आस्थापूर्वक उनका स्मरण करता है, उसकी सिद्धि उसके पास ही रहती है, अर्थात् उसके हाथ में आ जाती है ॥३२॥

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्य ते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते कुलेश्वरि ॥३३॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! आप कुलस्वामिनी हैं। आप यह अच्छी तरह जानती हैं कि, जिसके हृदय में दिव्य शक्तिसम्पन्न देवाधिदेव परमेश्वर में पराभक्ति होती है, वह धन्य है। जैसे देव में भक्ति का उद्रेक होता है, उसी तरह गुरुदेव में भी जिस व्यक्ति की पराभक्ति होती है, यह शास्त्रघोषित सत्य है कि, शास्त्रोद्दिष्ट सारे अर्थ उसी को प्रकाशित होते हैं, अर्थात् उसी को रहस्य का साक्षात्कार होता है ॥३३॥

नारायणे महादेवे मातापित्रोश्च राजनि।
भक्तिर्यथा महादेवि तथा कार्या निजे गुरौ ॥३४॥

नारायण भगवान् विष्णु का पर्याय है। वैष्णव सम्प्रदाय में वैष्णवी (नारायणीया) भक्ति ही स्वीकृत है। वैष्णव भक्त जैसे नारायण में भक्ति रखते हैं, उसी तरह शैव साधक देवाधिदेव महादेव में भक्ति रखते हैं। श्रवण और गणेश जैसे माता-पिता के भक्त माता और पिता में वैसी ही भक्ति रखते हैं। सामान्य प्रजा राजा को ही भगवान् मानती है। (प्रजातन्त्र में यह धारा विलुप्त हो गयी है) इस प्रकार उक्त चारों में जैसी भक्ति लोग करते हैं, महादेवेश्वरि ! उसी प्रकार की भक्ति गुरुदेव में भी करनी चाहिये ॥३४॥

लक्ष्मीनारायणौ वाणीधातारौ गिरिजाशिवौ।
श्रीगुरुं गुरुपत्नीञ्च पितराविति चिन्तयेत् ॥३५॥

देवीयामल स्वरूपों की चर्चा करते हुए लक्ष्मी और नारायण का प्रथम युगल, सरस्वती और ब्रह्मा का दूसरा युगल तथा गिरिजा और गिरीश का तीसरा युगल सामने आता है। एक चौथा युगल माता और पिता का है। यह प्रत्यक्ष है। एक पाँचवाँ युगल और चारों के स्तर से भी महत्त्वपूर्ण युगल गुरुपत्नी और गुरुदेव का है। भगवान् कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! इस युगल में चारों के रूप समाये हुए हैं। इनको सर्वमय मानकर इनमें भक्ति करनी चाहिये ॥३५॥

गुरुभक्त्या यथा देवि प्राप्यन्ते सर्वसिद्धयः।
यज्ञदानतपस्तीर्थव्रताद्यैर्न तथा प्रिये ॥३६॥

भगवान् कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! गुरुभक्ति में वह शक्ति है, जिसके द्वारा सारी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। यह ध्यातव्य है कि, गुरुभक्ति के द्वारा जैसी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, वैसी यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत आदि द्वारा नहीं प्राप्त होतीं ॥३६॥

श्रीगुरौ निश्चला भक्तिर्वर्द्धते हि यथा यथा।
तथा तथास्य विज्ञानं वर्द्धते कुलनायिके ॥३७॥

श्रीगुरुदेव में निश्चला भक्ति जितनी ही बढ़ती जाती है, भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि ! उसी-उसी क्रम से शिष्य के विज्ञान का भी वर्द्धन होता जाता है। अर्थात् गुरुभक्ति ही विज्ञान-प्राप्ति का मुख्य स्रोत है ॥३७॥

किं तीर्थाद्यैर्महायासैः किं व्रतैः कायशोषणैः।
निर्व्याजसेवा देवेशि भक्तिरेषा हि सद्गुरोः ॥३८॥

भक्ति के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवेश्वरि ! तीर्थ आदि महाप्रयाससाध्य कठिन कार्य, इसी तरह व्रत आदि भी शरीर के शोषक कार्य हैं। इसलिये इन कार्यों का उतना महत्त्व नहीं है, जितना महत्त्व गुरुभक्ति का है। वस्तुतः सद्गुरुदेव की भक्ति निर्व्याज सेवा मानी जाती है। इसी से सारे कार्य पूरे हो जाते हैं ॥३८॥

कायक्लेशेन महता तपसा वापि यत् फलम्।
तत् फलं लभते देवि सुखेन गुरुसेवया ॥३९॥

तपस्या में शरीर को तपाना ही मुख्य है। यह एक क्लेशसाध्य व्यापार है। बहुत बड़े तप करने के बाद भी जो फल तपस्वी प्राप्त करता है, भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! वह फल तो मात्र गुरुसेवा से ही प्राप्त हो जाता है। गुरुसेवा में महान् सुख है और उक्त फल सुखपूर्वक अर्थात् बिना कायक्लेश के ही मिल जाता है ॥३९॥

भोगमोक्षार्थिनां ब्रह्मविष्णवीशपदकाङ्क्षिणाम्।
भक्तिरेव गुरौ देवि नान्यः पन्था इति श्रुतिः ॥४०॥

भोग और मोक्ष की आकांक्षा करने वालों और ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र पदों की आकांक्षा करने वालों के लिये भी देवि पार्वति ! सबसे सुगम, सुकर और सुखद रास्ता गुरुभक्ति का ही है। यह भक्ति गुरुदेव में श्रद्धा, विश्वास और आस्थापूर्वक होनी चाहिये। श्रुति कहती है कि—'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' ॥४०॥

अशुभानि च कर्माणि महापातकजानि च।
भक्तिः क्षणेन दहति तूलराशिमिवानलः ॥४१॥

सारे अशुभ कर्मों और महापातकों के द्वारा मिले पापपूर्ण फलोत्पादक कर्मों को भी भक्ति क्षणभर में ही उसी तरह भस्मसात् कर देती है, जैसे अनल बड़ी से बड़ी रूई की राशि को क्षणभर में ही दग्ध कर देता है ॥४१॥

विश्वासाय नमस्तस्मै सर्वसिद्धिप्रदायिने।
येन मृद्दारुदृषदः फलन्त्यविफलं फलम् ॥४२॥

विना विश्वास के कुछ भी फलीभूत नहीं होता। विश्वास ही शिवरूप होता है। ऐसे

विश्वास को ही महत्त्व देते हुए उस विश्वास को ही नमस्कार कर कह रहे हैं कि, उस विश्वास को कोटिश: नमन। वह समस्त सिद्धियों को प्रदान करने वाला सर्वोच्च तत्त्व है। इसके बल पर ही मिट्टी, काष्ठ और शिलायें भी ऐसा फल प्रदान करती हैं, जो कभी निष्फल नहीं होता ॥४२॥

न योगो न तपो नार्चाक्रमः कोऽपि प्रलीयते।
अमाये कुलमार्गेऽस्मिन् भक्तिरेव विशिष्यते ॥४३॥

न तो योग, न तप, न तो किसी प्रकार की अर्चा का क्रम ही यहाँ प्रलीन होता है। यह आडम्बररहित कुलमार्ग सर्वोत्कृष्ट मार्ग है। इस मार्ग में भक्ति की ही विशिष्टता स्वीकार की जाती है ॥४३॥

साक्षाद् गुरुमये देवि सर्वस्मिन् भुवनान्तरे।
किन्तु भक्तिमतां क्षेत्रे मन्त्रः केषां न सिध्यति ॥४४॥

शिष्य के हृदय में गुरुभक्ति का अपरम्पार पारावार उमड़ते रहना चाहिये। उसकी दृष्टि में सर्वत्र गुरुत्व की व्याप्ति ही श्रेयस्कर है। सारा भुवन और भुवन के अन्तराल में रहने वाला सारा क्षेत्र और जीव-जगत् आदि सब कुछ उसे गुरुमय ही दीखता है।

भगवान् कह रहे हैं, कि प्रिये पार्वति ! ऐसे भक्तिभरित शिष्यों से क्षेत्र सिद्धि के क्षेत्र बन जाते हैं। यह पूछा जाना व्यर्थ है कि, इस क्षेत्र में उपासना करने वालों के कौन मन्त्र सिद्ध नहीं होते ? अर्थात् सारे के सारे मन्त्र सिद्ध हो जाते हैं ॥४४॥

गुरौ मनुष्यबुद्धिञ्च मन्त्रे चाक्षरबुद्धिकम्।
प्रतिमासु शिलाबुद्धिं कुर्वाणो नरकं व्रजेत् ॥४५॥

गुरुदेव में मनुष्य का भाव, मन्त्रों में भी अक्षर की बुद्धि का रखना और प्रतिमाओं में शिला का भाव करने वाला व्यक्ति नरकगामी होता है। अर्थात् गुरु में मनुष्य भाव नहीं रखना चाहिये। वह साक्षात् शिवस्वरूप होता है। मन्त्र में संविद्विमर्श का रहस्य स्फुरित रहता है तथा प्रतिमाओं में परमात्मा ही रूपायित होता है। इसलिये भावशुद्धि से नरक से बचा जा सकता है ॥४५॥

गुरुं न मर्त्यं बुध्येत यदि बुध्येत तस्य हि।
न कदाचिद्भवेत् सिद्धिर्मन्त्रैर्वा देवतार्चनैः ॥४६॥

गुरुदेव में दिव्य भाव ही उल्लसित रहता है। उन्हें मर्त्य प्राणी के रूप में नहीं देखना चाहिये। कोई यदि गुरु को भी मर्त्य प्राणी के रूप में ही देखता है, तो उसको कभी सिद्धि की प्राप्ति नहीं होती। भले ही वह लाखों मन्त्रों का जप करता रहे, देवों की पूजा करता रहे, सब निष्फल हो जाता है ॥४६॥

श्रीगुरुं प्राकृतैः सार्द्धं ये स्मरन्ति वदन्ति च।
तेषां हि सुकृतं सर्वं पातकं भवति प्रिये ॥४७॥

श्रीसद्गुरुदेव और प्राकृत अर्थात् सामान्य लोग एक साथ स्मरणीय नहीं हैं। अत: किसी भी दशा में इनका साथ-साथ स्मरण नहीं होना चाहिये। इसी तरह साथ-साथ एकस्तरीय बातें भी नहीं करनी चाहिये। जो लोग ऐसा करते हैं, उनके सारे सुकृत भी पातकरूप में परिवर्तित हो जाते हैं ॥४७॥

जन्महेतू हि पितरौ पूजनीयौ प्रयत्नतः।
गुरुर्विशेषतः पूज्यो धर्माधर्मप्रदर्शकः ॥४८॥

माता और पिता जिन्हें जननी और जनक भी कहते हैं, ये दोनों ही जीवलोक में जन्म के कारण बनते हैं। अत: ये दोनों विशेषरूप से पूजनीय माने जाते हैं। जीवरूप में जन्म लेना ही पर्याप्त नहीं है। इसमें धर्माधर्म की परख और तदनुरूप व्यवहार आवश्यक है। इसके गुरु ही नियामक हैं। वही धर्म, अधर्म का ज्ञान कराते हैं। अत: गुरु विशेष रूप से पूजनीय माने जाते हैं। इसी रूप में इनका आदर होना चाहिये ॥४८॥

गुरुः पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो महेश्वरः।
शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन ॥४९॥

श्रीसद्गुरुदेव ज्ञानवान् बनाकर जननी रूप में नया जन्म देते हैं। जनकरूप में यश:शरीर के कारण हैं। महेश्वर के तादात्म्य का बोध कराने वाले अनुग्रह करते हैं। शिव के रुष्ट हो जाने पर गुरु ही रक्षा करता है, पर गुरुदेव के रुष्ट हो जाने पर संसार में व्यक्ति की कोई रक्षा नहीं कर सकता ॥४९॥

गुरोर्हितं हि कर्त्तव्यं मनोवाक्कायकर्मभिः।
अहिताचरणाद्देवि विष्ठायां जायते कृमिः ॥५०॥

मन, वचन, शरीर और कर्म इन चारों के द्वारा श्रीगुरुदेव की सेवा करनी चाहिये। उनका हितसाधन करना चाहिये। जो शिष्य होकर भी उनके अहितपूर्ण आचरण में संलग्न रहते हैं, भगवान् कहते हैं कि, देवि उनका बहुत बुरा हाल होता है। विष्ठा मल रूप होती है। मल में भी यदि कृमि पड़ जाँय, वह और भी घृणास्पद होती है। उसी कृमिरूप में वह जन्म लेता है, जो गुरु के अहित में लगा रहता है ॥५०॥

शरीरवित्तप्राणैश्च श्रीगुरुं वञ्चयन्ति ये।
कृमिकीटपतङ्गत्वं प्राप्नुवन्ति न संशयः ॥५१॥

शरीर से, धन से और प्राणों के द्वारा भी जो शिष्य गुरु की वंचना करते हैं, उनको ठगकर प्रसन्नता का अनुभव करते रहते हैं, उनको कभी भी अच्छी योनि नहीं मिलती। वे जन्म-जन्मान्तरों तक कृमि, कीट, पशु-पक्षी की योनियाँ ही प्राप्त करते रहते हैं ॥५१॥

मन्त्रत्यागाद्भवेन्मृत्युर्गुरुत्यागाद्दरिद्रता।
गुरुमन्त्रपरित्यागाद्रौरवं नरकं व्रजेत् ॥५२॥

किसी मन्त्र के त्याग का परिणाम मृत्यु है। गुरुदेव के परित्याग से दरिद्रता की प्राप्ति होती है। जो व्यक्ति गुरुमन्त्र का परित्याग कर देता है, उसे रौरव नरक की प्राप्ति होती है ॥५२॥

गुर्वर्थं धारयेद्देहं तदर्थं धनमर्जयेत्।
निजप्राणान् परित्यज्य गुरुकार्यं समाचरेत् ॥५३॥

वह सर्वोत्कृष्ट शिष्य माना जाता है, जो गुरुदेव की सेवा के लिये शरीर धारण करता है। उसी के लिये धन कमा रहा है। इसलिये शास्त्र कहता है कि, शिष्य ऐसा करे। अर्थात् गुरु के लिये जिये और उन्हीं के लिये धनार्जन करे। अपने प्राणों की भी परवाह न कर गुरुदेव के हित का सम्पादन करे ॥५३॥

गुरूक्तं परुषं वाक्यमाशिषं परिचिन्तयेत्।
तेन सन्ताडितो वापि प्रसादमिति संस्मरेत् ॥५४॥

गुरु द्वारा कहे गये कठोर और कर्कश वाक्य भी आशीर्वाद की तरह ही स्वीकार करे। यदि गुरु कोई शारीरिक दण्ड ताडन आदि के रूप में दे, तो उसे भी प्रसाद मान कर ही उसका स्मरण करे ॥५४॥

भोग्यभोज्यानि वस्तूनि गुरवे च समर्पयेत्।
तच्छेषमिति सञ्चिन्त्य चानुभूयात् कुलेश्वरि ॥५५॥

उत्तम उपभोग योग्य वस्तु, भोज्य अर्थात् भोजन में उपभोग करने योग्य वस्तु पहले गुरुदेव को अर्पित करे। भगवान् कह रहे हैं कि, कुलस्वामिनि ! उससे बचने वाले पदार्थ ही हमारे योग्य हैं, इस अनुभूति से प्रसन्न रहे ॥५५॥

गुर्वग्रे न तपः कुर्यान्नोपवासव्रतादिकम्।
तीर्थयात्रां न कुर्याच्च स्नायादात्मशुद्धये ॥५६॥

गुरु के समक्ष तप क्यों ? उसकी सेवा ही तप है। अतः पृथक् रूप से तप न करे। उसके सामने उपवास और व्रत आदि की कोई आवश्यकता नहीं। गुरुदेव को छोड़कर तीर्थयात्रा पर भी न जाय और उनके सामने आत्मशुद्धि के उद्देश्य से स्नान भी न करे ॥५६॥

न नियोगं गुरोः कुर्याद् युष्मदा नैव भाषयेत्।
ऋणदानं तथाऽऽदानं वस्तूनां क्रयविक्रयम् ॥
न कुर्याद् गुरुभिः सार्द्धं शिष्यो भूत्वा कथञ्चन ॥५७॥

गुरुदेव का नियोग नहीं करना चाहिये। गुरुदेव को 'तुम' शब्द से कभी भी सम्बोधित नहीं करना चाहिये। गुरुदेव से ऋण लेना और देना, उनसे कोई क्रय और विक्रय नहीं करना चाहिये। शिष्य होकर गुरु से ऐसा कोई व्यवहार नहीं करना चाहिये ॥५७॥

न कुर्यान्नास्तिकैर्वादं सम्भाषणमपीश्वरि।
विलोक्य दूरतो गच्छेन्नासीत सह तैः क्वचित् ॥५८॥

नास्तिकों से वाद-विवाद करना व्यर्थ है। यह नहीं करना चाहिये। यहाँ तक कि सम्भाषण से भी बचना चाहिये। उनसे सम्पर्क न हो, इस दृष्टि से अपने को बचाकर वहाँ से या उधर से हट जाना चाहिये। उनके साथ बैठना भी श्रेयस्कर नहीं होता। अर्थात् संस्कारों में विकृति नहीं आनी चाहिये ॥५८॥

गुरौ सन्निहिते यस्तु पूजयेदन्यमम्बिके।
स याति नरकं घोरं सा पूजा निष्फला भवेत् ॥५९॥

गुरु के पास सन्निहित रहकर भी उनको छोड़कर अन्य को समादर देने से गुरु का अपमान होता है। ऐसा शिष्य नरकगामी होता है और गुरु के अतिरिक्त अन्य की की गयी पूजा भी निष्फल हो जाती है ॥५९॥

शिरसा न वहेद्भारं गुरुपादाब्जधारिणा।
तदाज्ञया तु कर्त्तव्यमाज्ञारूपो गुरुः स्मृतः ॥६०॥

गुरु के चरणारविन्द शिर पर रहते ही हैं। शिष्य का शिर गुरुचरणों से समन्वित रहता है, यह शास्त्र का वचन है। ऐसी दशा में शिष्य शिर पर कोई बोझ न ढोये, न धरे। गुरु की आज्ञा को कर्त्तव्य मानकर उसका पालन करे। गुरु की आज्ञा भी गुरुरूप ही होती है ॥६०॥

मन्त्रागमाद्यमन्यत्र श्रुतं तस्मै निवेदयेत्।
गुर्वाज्ञया तु गृह्णीयात्तन्निषिद्धं विवर्जयेत् ॥६१॥

प्रसंगवश मन्त्रों और आगमिक सिद्धान्तों के विषय में कहीं अन्यत्र कुछ भी सुना जाय, तो उसे गुरुदेव के समक्ष निवेदित करना चाहिये। यदि वह सिद्धान्त गुरु द्वारा मान्य हो तो मानना चाहिये। निषेध करने पर उसका परित्याग कर देना चाहिये ॥६१॥

स्वशास्त्रोक्तं रहस्यार्थं न वदेद् यस्य कस्यचित्।
यदि ब्रूयात् स समयाच्च्युत एव न संशयः ॥६२॥

अपने शास्त्र में प्रतिपादित रहस्यात्मक तथ्यों को जिस किसी के सामने नहीं कहना चाहिये। यदि भूलवश वह शिष्य उनका उद्घाटन कर देता है, तो निश्चित है कि, वह समयाचार से च्युत हो जाता है ॥६२॥

अद्वैतं भावयेन्नित्यं न द्वैतं गुरुणा सह।
आत्मवत् सर्वभूतेभ्यो हितं कुर्यात् कुलेश्वरि ॥६३॥

गुरु में कभी भी द्वैतबुद्धि नहीं रखनी चाहिये। सदा अद्वैत भाव से भावित रहना चाहिये। भगवान् कह रहे हैं कि, कुलस्वामिनि! आत्मकल्याण की इच्छा सब को रहती

है। उसी तरह दूसरों के हितसाधन की केवल इच्छा ही नहीं, प्राणपण से उसे सिद्ध भी करना चाहिये ॥६३॥

आत्मार्थमानसद्भावैः शुश्रूषा स्याच्चतुर्विधा।
शुश्रूषया धिया देवि शिष्यः सन्तोषयेद् गुरुम् ॥६४॥

शुश्रूषा (सेवा) चार प्रकार से की जाती है—१. आत्मा अर्थात् स्वयं के द्वारा, २. अर्थ अर्थात् धन-सम्पत्ति आदि के द्वारा, ३. मान अर्थात् सम्मानवर्धन द्वारा और ४. गुरु के प्रति सद्भाव द्वारा। शुश्रूषा की इस बुद्धि से गुरुसेवा में प्रवृत्त शिष्य गुरुदेव को सन्तुष्ट करे। गुरुदेव की प्रसन्नता ही श्रेयस्कर है ॥६४॥

पदे पदेऽश्वमेधस्य फलं प्राप्नोत्यसंशयः।
शुश्रूषणपरो यस्तु गुरुदेवमहात्मनाम् ॥६५॥

गुरुदेव की शुश्रूषा के सुपरिणाम के सम्बन्ध में भगवान् शंकर कह रहे हैं कि पदे-पदे अश्वमेध यज्ञ का फल वह शुश्रूषासंलग्न शिष्य प्राप्त करता है। इसमें किसी प्रकार के संशय की गुंजायश नहीं। गुरुदेव महान् आत्मा होते हैं। उनकी सेवा इतनी महत्त्वपूर्ण होती है ॥६५॥

केवलं गुरुशुश्रूषा त्वत्कृपाकारिणी प्रिये।
सद्भक्तिसहिता चेत् सा सर्वकामफलप्रदा ॥६६॥

प्रिये पार्वति ! गुरुशुश्रूषा ही केवल ऐसा तत्त्व है, जो तुम्हारी कृपा से शिष्य को कृतार्थ कर देता है। यदि यह गुरु-शुश्रूषा भक्ति से समन्वित होती है, तो यह सम्पूर्ण कामनाओं की पूर्त्ति कर सुफल प्रदान कर देती है ॥६६॥

क्षीयन्ते सर्वपापानि वर्द्धन्ते पुण्यराशयः।
सिध्यन्ति सर्वकार्याणि गुरुशुश्रूया प्रिये ॥६७॥

प्रिये पार्वति ! गुरु-शुश्रूषा इतनी महत्त्वपूर्ण है कि इससे तीन प्रकार के सुपरिणामों की तत्काल प्राप्ति होती है—१. समस्त पापों का नाश हो जाता है, २. पुण्यराशि भी बढ़ती है और ३. गुरु-शुश्रूषारत शिष्य के सभी मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं ॥६७॥

यद् यदात्महितं वस्तु तत्तद्धितमुपाचरेत्।
गुरुदेवार्चको यस्तु तस्य पुण्यं न गण्यते ॥६८॥

शास्त्र की यह आज्ञा है कि, जो-जो आत्मकल्याणकारी और हितसाधक वस्तु है, उन-उन हितकर आचारों का आचरण करे। इसी क्रम में गुरुदेव का अर्चन-पूजन और समादर भी आता है। यह सर्वोत्तम हितकर कार्य है। ऐसे गुरुपूजक के पुण्य की कोई सीमा नहीं होती ॥६८॥

भक्त्या वित्तानुसारेण गुरुमुद्दिश्य यत् कृतम्।
अल्पे महति वा तुल्यं पुण्यमाढ्यदरिद्रयोः ॥६९॥

भक्तिपूर्वक और अपनी सामर्थ्य का आकलन कर अर्थात् शक्ति के अनुसार गुरु के उद्देश्य से जो भी किया जाता है वही सर्वोत्तम है। कोई शिष्य आढ्य अर्थात् धन-ऐश्वर्य वाला होता है। कोई अल्पवित्त अर्थात् धनहीन भी होता है। इस स्थिति में भी गुरु-शुश्रूषा का समान फल मिलता है। अर्थात् भक्ति और सेवा ही महत्त्वपूर्ण है ॥६९॥

सर्वस्वमपि यो दद्याद् गुरौ भक्तिविवर्जितः।
शिष्यो न फलमाप्नोति भक्तिरेव हि कारणम् ॥७०॥

भक्ति न हो और कोई सर्वस्व ही क्यों न अर्पित कर दे, इसका कोई महत्त्व नहीं होता। भगवान् कहते हैं कि, अभक्तिक शिष्य उस वित्त अर्पण का कोई फल नहीं पाता। अतः भक्ति ही महत्पुण्यप्रद तत्त्व है। पुण्य की यही कारण है ॥७०॥

यस्मिन् द्रव्ये गुरोरस्ति स्पृहा नानुभवेत्तु तत्।
अवश्यं यदि वाञ्छा स्यादनुभूयात्तदाज्ञया ॥७१॥

जिस द्रव्य में गुरुदेव की स्पृहा हो, उसकी चाह हो, उस विषय में शिष्य यह अनुभव न करे कि, यह तो मेरे लिये आवश्यक है। यदि गुरुदेव की चाह अवश्य है, अर्थात् प्रबलतम है, तो उनके आदेशानुसार उसका अर्पण कर दे। इससे शिष्य को आशीर्वाद की प्राप्ति होती है। अनुभूयात् क्रिया यह संकेत करती है ॥७१॥

यस्तिलार्द्धं तदर्द्धं वा गुरुस्वमुपजीवति।
लोभान्मोहात् स पच्येत नरके च त्रिसप्तके ॥७२॥

गुरु के धन का उपयोग शिष्य भूल कर भी न करे। जो शिष्य तिलमात्र, तिल का अर्द्धमात्र अथवा आधे का भी आधा भाग अपने लिये ग्रहण कर उपयोग में लाता है, यह चाहे लोभ से करे या मोहवश करे, उसका दुष्परिणाम २१ जन्मों का रौरव तो भुगतना ही पड़ता है ॥७२॥

अत्यल्पं हि गुरोर्द्रव्यमदत्तं स्वीकरोति यः।
स तिर्यग्योनिमापन्नः क्रव्यादैर्भक्ष्यते प्रिये ॥७३॥

गुरु का द्रव्य बहुत ही अल्पमात्रा में क्यों न हो, विना गुरु की आज्ञा के ग्रहण नहीं करना चाहिये। जो शिष्य विना आज्ञा के ग्रहण कर लेता है, भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति! वह पक्षी होता है और वधिकों का भोज्य बन जाता है ॥७३॥

गुरुद्रव्याभिलाषी च गुरुस्त्रीगमनोत्सुकः।
पतितस्य क्षुल्लकस्य प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥७४॥

उपभोग तो दूर, गुरु के द्रव्य की जो चाह भी रखता है, इसके अतिरिक्त गुरु की पत्नी जो माँ के समान होती है, उसके साथ समागम की कामना करता है, ऐसे पतित और क्षुल्लक (नीच) अधम पुरुष के पापों का कोई प्रायश्चित्त नहीं होता। अतः इन नीच कर्मों से बचना ही उत्तम है ॥७४॥

आज्ञाभङ्गोऽर्थहरणं गुरोरप्रियवर्त्तनम् ।
गुरुद्रोहमिदं प्राहुर्यः करोति स पातकी ॥७५॥

गुरु की आज्ञा को भंग कर देना, उनके द्रव्य का अपहरण करना, गुरुदेव को जो प्रिय न हो, वही व्यवहार करना और उनके विरुद्ध आचरण करना गुरुद्रोह कहलाता है। जो शिष्य ऐसा व्यवहार करता है, वह पातकी शिष्य है ॥७५॥

स्वद्रव्यविनियोगश्च नानिवेद्य गुरौ चरेत् ।
अनिवेद्य तु यः कुर्यात् स भवेद् ब्रह्मघातकः ॥७६॥

अपने ही द्रव्य का विनियोग करना हो, तो वह भी गुरु से निवेदित करने के उपरान्त ही करना श्रेयस्कर है। विना निवेदन किये करना श्रद्धा-भक्ति के विपरीत माना जाता है। ऐसा करने वाला ब्रह्म(गुरु)घातक अर्थात् हृदय को ठेस पहुँचाने वाला होता है ॥७६॥

गुरोः स्थानं सम्प्रदायं तद्धर्मं यो विनाशयेत् ।
गुरुभिः स बहिष्कार्यो दण्ड्यो वध्यः स घातकैः ॥७७॥

गुरु के स्थान, उनके सम्प्रदाय, धर्म आदि का जो शिष्य विनाश करता है, गुरुजनों द्वारा ऐसे शिष्य का बहिष्कार कर देना चाहिये। यदि उसे दण्ड दे सकें, तो दण्डित करना चाहिये अथवा घातकों द्वारा उसे हत कर देना चाहिये ॥७७॥

गुरुकोपाद्विनाशः स्याद् गुरुद्रोहात्तु पातकम् ।
विमृत्युर्गुरुनिन्दायां गुर्वनिष्टान्महापदः ॥७८॥

गुरु के कुपित हो जाने पर शिष्य का सर्वनाश हो जाता है। गुरु के प्रति द्रोह करने से शिष्य पातकी हो जाता है। गुरुदेव की निन्दा से अपमृत्यु हो जाती है और गुरु का अनिष्ट करने से शिष्य विपत्तिग्रस्त हो जाता है ॥७८॥

जीवेदग्निप्रविष्टो वा नरः पीतविषोऽपि वा ।
मृत्युहस्तगतो वापि नापराधकरो गुरोः ॥७९॥

शिष्य आग में प्रविष्ट हो जाय और पूरी तरह जल जाने पर भी जी जाय, जहर पी ले और मरने से बच जाय, यह सम्भव है, मृत्यु के पाश में बँध जाय और मृत्युदूत उसे हाथ से बाँधकर ले चलें और मनुष्य उससे छूट जाय, यह भी सम्भव है; पर गुरु का अपराध करने वाला पाप से नहीं छूट सकता ॥७९॥

यत्र श्रीगुरुनिन्दा स्यात् पिधाय श्रवणेऽम्बिके ।
सद्यस्तस्माद्विनिष्क्रामेत् पुनर्न श्रवणं यथा ॥
गुरुर्नाम स्मरेत् पश्चात् श्रवणे सा प्रतिक्रिया ॥८०॥

जहाँ गुरु की निन्दा की जा रही हो, भगवान् कहते हैं कि, देवि अम्बिके ! अपने

कानों को बन्द कर तत्काल ही उस स्थान से दूर चला जाय, जिससे निन्दा के शब्द शिष्य के कानों में फिर न पड़ सकें ॥८०॥

गुरुमित्रसुहृद्दासीदासाद्यान् नावमानयेत् ।
न निन्देदस्य समयान् वेदशास्त्रागमादिकान् ॥८१॥

गुरुदेव की तो बात ही अलग है, गुरु के मित्र, उनके प्रति सौहार्द का भाव रखने वाले, उनकी दासियों और उनके नौकर-चाकर आदि किसी का अपमान नहीं करना चाहिये । इसी तरह गुरुदेव के समयाचारों की निन्दा भी निषिद्ध है । इसी क्रम में वेदों, शास्त्रों और आगमादि शासनों की निन्दा कभी नहीं करनी चाहिये ॥८१॥

गुरोः श्रीपादुकाभूषा गुरुनामस्मृतिर्जपः ।
गुर्वाज्ञाकरणं कृत्यं शुश्रूषा भजनं गुरोः ॥८२॥

शिष्य के लिये गुरुदेव की चरणपादुका ही आभूषण है । उसी से शिष्य का शृंगार हो जाता है । गुरुदेव के नाम की स्मृति में उसका जप पूरा हो जाता है । श्रीगुरुदेव की आज्ञाओं का पालन करना ही उसके लिये करणीय कृत्य है । साथ ही गुरु की शुश्रूषा ही शिष्य के लिये भजन के समान है ॥८२॥

विविक्षुर्देशिकावासं शान्तचित्तोऽतिभक्तिमान् ।
वाहनं पादुकां छत्रं चामरं व्यजनादिकम् ॥
ताम्बूलं कज्जलं वेशमुत्सृज्य प्रविशेच्छनैः ॥८३॥

श्रीसद्गुरुदेव जहाँ निवास करते हैं, उस परिसर में यदि शिष्य को प्रवेश की इच्छा उत्पन्न हो, तो उस समय शिष्य नितान्त शान्तचित्त होकर ही प्रवेश करे, मन में गुरुभक्ति की तरंगें उठती रहें । साथ ही यदि कोई वाहन हो, तो उसे पहले ही छोड़ दे । पादुका छोड़ दे । छत्र और चामर भी स्वयं नहीं प्रयोग करे । पंखे आदि को भी प्रयोग में न ले आवे । पान खाकर न जाय । आँखों में काजल न लगाये । साज-सज्जायुक्त सौख्यमय वस्त्र न धारण करे । इतनी सादगी से धीरे से उस परिसर में प्रवेश करे ॥८३॥

पादुकामासनं वस्त्रं वाहनं छत्रचामरे ।
दृष्ट्वा गुरोर्नमस्कुर्यान्नात्मभोगाय कामयेत् ॥८४॥

गुरुचरणपादुका, गुरुदेव के आसन, उनके परिधानीय वस्त्र, उनकी सवारी के साधन, छत्र और चामर आदि को देखकर उनके उपभोग की इच्छा न करे, वरन् उनका नमस्कार करे ॥८४॥

पादप्रक्षालनं स्नानमभ्यङ्गं दन्तधावनम् ।
मूत्रं निष्ठीवनं क्षौरं शयनं स्त्रीनिषेवनम् ॥८५॥
वीरासनं सुदुर्वाक्यं शासनं हास्यरोदनम् ।
केशमोचनमुष्णीषं कञ्चुकं नग्नतां तथा ॥८६॥

पादप्रसारणं वादं कलहं दूषणं प्रिये।
अङ्गभङ्गाङ्गवाद्यादिकरास्फालनधूननम् ॥८७॥
द्यूतकौतुकमल्लादियुद्धनृत्यादि चाम्बिके।
गुरुयोगिमहासिद्धिपीठक्षेत्राश्रमेषु च॥
नाचरेदाचरेन्मोहाद्देवताशापमाप्नुयात् ॥८८॥

श्लोक-संख्या ८५ से ८८ तक के चार श्लोकों के अर्थ एक सूत्र में पिरोये गये हैं। पहले केवल गुरु के निवास से सम्बन्धित सावधानता की बात की गयी है। यहाँ गुरु-गृह, योगी, महासिद्धिपीठ, पवित्र क्षेत्र और आश्रमों में जिन कार्यों को नहीं करना चाहिये, उनका निर्देश कर रहे हैं—१. पादप्रक्षालन, २. स्नान, ३. उबटन या मालिश, ४. दातुन करना, ५. मूत्रोत्सर्ग, ६. थूकना, ७. क्षौर (केशकर्त्तन), ८. शयन, ९. स्त्री-प्रसंग, १०. वीरासन पर बैठना, ११. दुर्वचन, १२. शासन, १३. हँसना, १४. रोना, १५. बाल उखाड़ना, १६. पगड़ी बाँधना, १७. कंचुक धारण, १८. नग्नता, १९. पैर फैलाना, २०. वाद-विवाद, २१. कलह, २२. परदोषदर्शन, २३. अंगों की भंगिमा, २४. अंगवाद्य, २५. हाथों का आस्फालन, २६. हाथों को कँपाना, २७. जुआ, २८. कौतुकलीला, २९. मल्लादि युद्ध-क्रिया, ३०. नृत्य आदि ऐसे कार्य, जिनसे मर्यादा-भंग का भय हो।

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, प्रिये अम्बिके! इन १. गुरुक्षेत्र, २. योगिकुटीर, ३. महासिद्धिपीठों, ४. क्षेत्रों और ५. आश्रमों में उक्त ३० प्रकार के दुष्कार्यों से बचना चाहिये। सावधानी आवश्यक है। जो शिष्य या पुरुष इस प्रकार के अनुचित व्यवहार करते हैं, वे देवताओं के शाप प्राप्त करते हैं ॥८५-८८॥

उपचारेण सन्तिष्ठेद् गुर्वग्रे नेच्छया विशेत्।
मुखावलोकी सेवेत तदुक्तञ्च समाचरेत् ॥८९॥

गुरुवर्य के समक्ष उपचारपूर्वक अवस्थित होना चाहिये। उपचार शब्द का व्यापक अर्थ होता है। पूजा की सामग्री, मर्यादित व्यवहार सभी उपचार के अन्तर्गत आते हैं। इसी क्रम में गुरुदेव की आज्ञा से ही उनके समक्ष बैठना चाहिये। उनके मुख की ओर देखते हुए सेवारत रहना चाहिये और उनके कथनानुसार आचरण करना चाहिये ॥८९॥

गुरूक्तानुक्तकार्येषु नोपेक्षां कारयेत् प्रिये।
शिरसा यद्गुरुर्ब्रूयात्तत् कार्यमविशङ्कया ॥९०॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति! गुरु क्या कह रहे हैं, उनकी क्या आज्ञा है और वे क्या नहीं चाहते, इन सभी बातों का ध्यान शिष्य को रखना चाहिये। गुरु के कथन को शिरोधार्य करने में विलम्ब नहीं, अपितु अविशंक भाव से तुरत करना चाहिये ॥९०॥

निग्रहेऽनुग्रहे वापि गुरुः सर्वस्य कारणम्।
निर्गतं यद्गुरोर्वक्त्रात् सर्वं शास्त्रं तदुच्यते ॥९१॥

गुरु निग्रह और अनुग्रह सबका कारण होता है। गुरुदेव के मुखारविन्द से जो निर्गत हो जाय, शिष्य को उसे शास्त्र मानना चाहिये ॥९१॥

गुरुकार्ये स्वयं शक्तो नापरं प्रेषयेत् प्रिये।
बहुभृत्यपरैर्भृत्यैः सहितोऽप्यतिभक्तिमान् ॥९२॥

गुरु के कार्य को सम्पन्न करने में यदि शिष्य स्वयं समर्थ है, तो उसे स्वयं करना चाहिये। उसे करने के लिये दूसरे को प्रेरित नहीं करना चाहिये। सम्भव है, वहाँ भृत्यों और उनके अन्तर्भृत्यों की बहुलता हो, तो भी भक्तिमान् अर्थात् भक्तिभाव से उनके सहित स्वयं करना चाहिये ॥९२॥

गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन् जाग्रज्जपन् जुह्वत् प्रपूजयेत्।
गुर्वाज्ञामेव कुर्वीत तद्गतेनान्तरात्मना ॥९३॥

जाते, सोते, बैठते, जागते, जप करते, होम करते हुए भी प्रधानतया उनकी पूजा में ही रहे। तद्गत अन्तरात्मा भाव से गुरु की आज्ञा का यथावत् पालन करना चाहिये ॥९३॥

अभिमानो न कर्त्तव्यो जातिविद्याधनादिभिः।
सर्वदा सेवयेद् नित्यं शिष्यः श्रीगुरुसन्निधौ ॥९४॥

जाति, विद्या और धन आदि का अभिमान शिष्य को कभी नहीं करना चाहिये। श्रीगुरुदेव की सन्निधि में रहकर गुरु की सेवा करना शिष्य का परमकर्त्तव्य है ॥९४॥

कामक्रोधपरित्यागी विनीतः स्तुतिभक्तिमान्।
देवि भूम्यासने तिष्ठेद् गुरुकार्यं समाचरेत् ॥९५॥

गुरु की सेवा में रत शिष्य का यह कर्तव्य है कि, वह काम और क्रोध का नितान्त परित्याग करे। नित्य विनीत रहे। स्तुति और भक्तियुक्त शिष्य गुरुदेव के समक्ष भूमि पर बैठे और आवश्यकता एवं समयानुसार गुरुकार्य का सम्पादन करे ॥९५॥

स्वकार्यमन्यकार्यं वा शिष्यः स्वगुरुचित्तवित्।
गुरुपार्श्वगतो नम्रः प्रसन्नवदनो भवेत् ॥९६॥

गुरुदेव का अपना कार्य हो या किसी दूसरे का ही कार्य क्यों न हो, गुरुदेव की मनोभावनाओं का पारखी शिष्य, तुरत उन्हें कर दिखाये। गुरु के पास अत्यन्त विनम्र और प्रसन्नवदन होकर कार्य करे ॥९६॥

सामान्यतो निषिद्धञ्च तद्गुरोर्यदि सन्निधौ।
आचरेत्तस्य सर्वस्य दोषः कोटिगुणो भवेत् ॥९७॥

सामान्यतया कोई निषिद्ध कार्य, जिसे नहीं करना था, गुरु के पास रहते हुए

शिष्य उस कार्य को कर देता है, तो भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! उसका करोड़ों गुणा दोष उसे होता है ॥९७॥

अनादृत्य गुरोर्वाक्यं शृणुयाद् यः पराङ्मुखः ।
अहितं वा हितं वापि रौरवं नरकं व्रजेत् ॥९८॥

गुरुदेव के वाक्यों का अनादर कर पराङ्मुख भाव से जो सुनता है, भले ही वह बात हितकर हो या अहितकर, उसका दोष शिष्य को लगता है और वह नरकगामी होता है ॥९८॥

गोब्राह्मणवधं कृत्वा यत् पापं समवाप्नुयात् ।
तत् पापं समवाप्नोति गुर्वग्रेऽनृतभाषणात् ॥९९॥

गाय और ब्राह्मण का वध कर गो-हत्या और ब्रह्म-हत्या का पाप किसी को लगता ही है । वही पाप गुरु के समक्ष असत्य सम्भाषण से शिष्य को लगता है । अर्थात् गुरु के समक्ष कभी भी असत्य सम्भाषण नहीं करना चाहिये । इसका प्रायश्चित्त करना पड़ता है ॥९९॥

स्थानान्तरगते चार्ये व्यसने विषमे स्थिते ।
श्रीगुरुं न त्यजेत् क्वापि तदादिष्टो व्रजेत् प्रिये ॥१००॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति ! कालक्रम के अनुसार कभी आर्य अर्थात् श्रीगुरुदेव यदि कहीं अन्यत्र चले गये हों, उनके ऊपर कोई विषम संकट आ पड़ा हो, उस समय श्रीगुरुदेव का साथ नहीं छोड़ना चाहिये । वे जैसी जाने-आने की आज्ञा दें, उसका पालन अवश्य करना ही चाहिये ॥१००॥

अधःस्थिते गुरावूर्ध्वे न तिष्ठेत कदाचन ।
न गच्छेदग्रतस्तस्य न तिष्ठेदुत्थिते गुरौ ॥१०१॥

कहीं गुरुदेव समयानुसार अधः अर्थात् नीचे बैठे हों, उस समय यह ध्यान रहे कि उस स्थान से ऊँची जगह पर कदापि न बैठे । मार्ग में चलते समय गुरु से आगे पथ पर नहीं चलना चाहिये । यदि गुरुदेव उठ जाँय, तो वहाँ स्वयं शिष्य को भी उठ जाना चाहिये । बैठे रहना उचित नहीं ॥१०१॥

शक्तिच्छायां सुरच्छायां गुरुच्छायां न लङ्घयेत् ।
न तेषु कुर्यात् स्वच्छायां न स्वपेद् गुरुसन्निधौ ॥१०२॥

शक्ति, देवता और गुरुदेव की छाया का लंघन नहीं करना चाहिये । उनकी छाया के ऊपर अपनी छाया न पड़े, इसका ध्यान रखना चाहिये । गुरु के पास शयन नहीं करना चाहिये । श्लोक में 'शक्ति' श्रीचक्र में पूज्य स्त्री के लिये प्रयुक्त होने वाला शब्द है ॥१०२॥

भाषणं पाठनं गानं भोजनं शयनादिकम् ।
अनादिष्टो न कुर्वीत न चावन्दनपूर्वकम् ॥१०३॥

भाषण करना, उच्चारणपूर्वक पठन-पाठन, गान, भोजन और शयन आदि कार्य गुरु के समीप करने से मर्यादा भंग होती है । गुरु के आदेश मिलने पर उक्त सभी कार्य किये जा सकते हैं, अनादिष्ट नहीं । इन कार्यों को विना वन्दना किये भी करना अनुचित है ॥१०३॥

ब्रह्महत्याशतं कुर्याद् गुर्वाज्ञापरिपालनात् ।
विना गुर्वाज्ञया शिष्यो विश्वसेन्नान्यशासनात् ॥१०४॥

शताधिक ब्रह्म-हत्या के दोष, गुरुदेव की आज्ञा के अनुसार किये जा सकते हैं । विना गुरु की आज्ञा के यदि कोई दूसरा आदेश देता है, तो शिष्य उसका विश्वास न करे ॥१०४॥

सर्वं गुर्वाज्ञया कुर्यान्न निन्देत्तत्स्त्रियं प्रिये ।
भक्त्या प्रणम्य चोत्तिष्ठेत् कृताञ्जलिपुटः प्रिये ॥१०५॥

सब कुछ गुरु की आज्ञा से किया जा सकता है । भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! गुरुपत्नी की कभी भी निन्दा नहीं करनी चाहिये । भक्तिपूर्वक प्रणाम के उपरान्त ही उसकी आज्ञा के बाद हाथ जोड़ने की मुद्रा में ही बैठना चाहिये ॥१०५॥

पश्चात्पदेन निर्गच्छेन्नमस्कृत्य गुरोर्गृहात् ।
एकासने नोपविशेद् गुरुणा तत्समैः सह ॥१०६॥

गुरु के घर से यदि बाहर निकलना हो, तो पीछे की ओर पैर करते हुए निकलना चाहिये । वह भी प्रणाम करके ही निकलने की शास्त्र की आज्ञा है । गुरु के एकासन पर कभी भी नहीं बैठना चाहिये । गुरु के समकक्ष भी यदि कोई महान् पुरुष हो, तो भी एकासन पर बैठना उचित नहीं माना जाता ॥१०६॥

न विशेदासने देवि देवतागुरुसन्निधौ ।
गुरोः सिंहासनं देयं ज्येष्ठानामुत्तमासनम् ॥
देश्यासनं कनिष्ठानामितरेषां समासनम् ॥१०७॥

भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! देवता और गुरु की सन्निधि में किसी आसन पर न बैठे । गुरुदेव के बैठने के लिये सिंहासन की व्यवस्था होनी चाहिये । कोई ज्येष्ठ-श्रेष्ठ व्यक्ति हो तो, उत्तम आसन की व्यवस्था होनी चाहिये । अपने से कनिष्ठ के लिये देश्य आसन (निर्धारित) देना चाहिये । कोई अन्य हो तो उसे समान आसन देना चाहिये ॥१०७॥

जातिविद्याधनाढ्यो वा दूरे दृष्ट्वा गुरुं मुदा ।
दण्डप्रणामं कृत्वैकं त्रिः प्रदक्षिणमाचरेत् ॥१०८॥

जाति से, विद्या से और धन से आढ्य होने पर भी दूर से ही गुरु को देखकर

प्रसन्नतापूर्वक दण्ड-प्रणाम करे और समीप आ जाने पर तीन बार परिक्रमा करे। इस प्रदक्षिणा से गुरु को अपार प्रसन्नता होती है ॥१०८॥

ततस्त्रिः षड् द्वादश वा ज्येष्ठादिष्वेकमेव वा।
गुरुप्रगुरुयोगेन वन्देत प्रगुरुं प्रिये ॥१०९॥

तदनन्तर तीन, छः अथवा बारह बार गुरु के गुरु को देखकर 'प्रगुरवे नमः' 'प्रगुरवे नमः' 'प्रगुरवे नमः' कहकर नमस्कार करना चाहिये। भगवान् कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति ! ज्येष्ठ-श्रेष्ठ व्यक्ति के मिल जाने पर भी एक प्रणाम अवश्य करना चाहिये ॥१०९॥

ततो नमेद् गुरुं वापि गुर्वाज्ञां न विचारयेत्।
प्रगुरोः सन्निधौ शिष्यः स्वगुरुं मनसा नमेत् ॥११०॥

इसके बाद गुरुदेव का प्रणाम करना चाहिये। गुरु की आज्ञा के सम्बन्ध में विचार नहीं करना चाहिये कि, यह हितकर है या अहितकर ? उसे बिना विचार के ही करना धर्म है। 'आज्ञा गुरूणामविचारणीया' यह शास्त्र का आदेश है। प्रगुरु भी वहाँ हों तो अपने गुरुदेव को शिष्य मन से ही नमन करे ॥११०॥

गुरुबुद्ध्या नमेत् सर्वं दैवतं तृणमेव वा।
न नमेद्देवबुद्ध्या तु प्रतिमां लौहमृण्मयीम् ॥१११॥

गुरु की भावना से ही सभी देवताओं और तृणगुल्म आदि का नमस्कार करणीय है; किन्तु लौहनिर्मित, मृत्तिका से निर्मित प्रतिमाओं का देवभाव से कभी नमस्कार न करे ॥१११॥

गुरोः प्रणामत्रितयं ज्येष्ठानामेक एव च।
पूज्यानामञ्जलिस्तद्वदन्येषां वाक्यवन्दनम् ॥११२॥

गुरुदेव को तीन प्रणाम, ज्येष्ठ व्यक्तियों को एक प्रणाम, अन्य पूजनीय व्यक्तियों को अंजलिबद्धता और इनके अतिरिक्त अन्य लोगों का वाक्यवन्दन ही पर्याप्त माना जाता है ॥११२॥

देवान् गुरून् कुलाचार्यान् ज्ञानवृद्धान् तपोधनान्।
विद्याधिकान् स्वधर्मस्थान् प्रणमेत् कुलनायिके ॥११३॥

देववृन्द, गुरुवर्ग, कुलाचार्यगण, ज्ञान की दृष्टि से वृद्ध विद्वद्वर्ग, तपोधन तपस्वी लोग, विद्या में अपने से अधिक ज्ञानवान् लोग, स्वधर्म में निरत धर्मनिष्ठ, भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, कुलस्वामिनि ! उक्त लोग नित्य प्रणम्य हैं। इनको अवश्य प्रणाम करना चाहिये ॥११३॥

स्त्रीद्विष्टं गुरुभिः शप्तं पाषण्डं पण्डितं शठम्।
विकर्माणं कृतघ्नञ्चानाश्रमिणञ्च नो नमेत् ॥११४॥

स्त्रीमात्र से द्वेष रखने वाले, गुरुजनों से अभिशप्त, पाखण्डी और शठ (अवसर पर भी उचित व्यय में कंजूस), विकृत कर्मलीन और कृतघ्न तथा आश्रम से बहिष्कृत व्यक्तियों को प्रणाम नहीं करना चाहिये ॥११४॥

अनिवेद्य गुरोर्भुङ्क्ते यस्त्वेकग्रामसंस्थितः ।
अमेध्यं तद्भवेदन्नं शूकरो जायते मृतः ॥११५॥

गुरुदेव को विना निवेदित किये कुछ शिष्य भोजन कर लेते हैं। जबकि गुरु भी एक ही गाँव में रहते हैं। ऐसा करने पर वह अन्न अमेध्य हो जाता है। वह शिष्य मरने पर भगवान् वाराह की योनि प्राप्त करता है, जिसे अच्छा नहीं माना जाता ॥११५॥

एकग्रामस्थितः शिष्यस्त्रिसन्ध्यं प्रणमेद् गुरुम् ।
क्रोशमात्रस्थितः शिष्यो गुरुं प्रतिदिनं नमेत् ॥११६॥

एक गाँव में ही शिष्य रहे, तो गुरुदेव को तीनों सन्ध्याओं में प्रणाम करे। एक क्रोश पर रहने वाला शिष्य गुरु को दिन में एक बार प्रणाम करने का नियम बना ले। इससे निष्ठा बनी रहती है ॥११६॥

अर्द्धयोजनगः शिष्यः प्रणमेत् पञ्चपर्वसु ।
एकयोजनमारभ्य योजनद्वादशावधि ॥११७॥

दो क्रोश पर कोई शिष्य रहता है, वह नियम बना ले कि, वह पाँच पर्वों पर आकर गुरु को प्रणाम किया करे। एक योजन अर्थात् चार क्रोश पर जो शिष्य रहता है तथा इसी क्रम से बहुत से शिष्य एक योजन से बारह योजनों अर्थात् अड़तालीस क्रोश पर्यन्त तक की दूरी में रहते हैं, यह स्वाभाविक है ॥११७॥

तत्संख्यादिवसैर्मासैः श्रीगुरुं प्रणमेत् प्रिये ।
दूरदेशस्थितः शिष्यो भक्त्या तत्सन्निधिं गतः ॥११८॥

भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! वे अपने ग्राम की दूरी के क्रोश को गिन लें, जान लें और वर्ष में उतने दिन गुरु की सेवा में आकर प्रणाम और भक्ति अर्पित करें। ऐसा भी हो सकता है कि, शिष्य दूर प्रान्त का या देश का निवासी हो। ऐसा शिष्य यथा-समय गुरु की सन्निधि में उपस्थित अवश्य हो ॥११८॥

तत्र योजनसंख्योक्तमासेन प्रणमेद् गुरुम् ।
अतिदूरगतः शिष्यो यदेच्छा स्यात्तदा व्रजेत् ॥११९॥

गुरु की सेवा में उपस्थित होकर अपने ग्राम की योजन-योजना के क्रम से मास गणना कर मास की संख्या में प्रणाम अर्पित करे। अतिदूर होने पर शिष्य की इच्छा पर यह निर्भर होता है कि, अपनी इच्छानुसार गुरुदेव को प्रणाम करे ॥११९॥

रिक्तहस्तश्च नोपेयाद्राजानं देवतां गुरुम् ।
फलपुष्पाम्बरादीनि यथाशक्त्या समर्पयेत् ॥१२०॥

राजा, देवता और गुरु को कभी भी रिक्त हस्त प्रणाम नहीं करना चाहिये। कुछ न कुछ अवश्य अर्पित करना चाहिये। चाहे फल हो, पुष्प आदि ही हो, वस्त्र हो, यथाशक्ति अर्पित करना आवश्यक कर्त्तव्य माना जाता है ॥१२०॥

एवं यो न चरेद्देवि ब्रह्मराक्षसतां व्रजेत्।
गुरुशक्तिश्च तत्पुत्रो ज्येष्ठभ्राता गुरुः स्मृतः ॥१२१॥

जो व्यक्ति या शिष्य ऐसा नहीं करता, वह ब्रह्मराक्षसभाव को प्राप्त करता है। यह ध्यान रखने की बात है कि, गुरु की शक्ति, गुरुपुत्र, गुरु के ज्येष्ठ भ्राता भी गुरु श्रेणी में ही आते हैं ॥१२१॥

आत्मविच्च कनीयांसं पुत्रवत् परिपालयेत्।
कुलाचार्यस्य देवेशि गुरुज्येष्ठकनिष्ठयोः ॥
गुरुकल्पस्य कुर्वीत प्रणामं स्वगुरोर्यथा ॥१२२॥

आत्मवेत्ता शिष्य गुरु के छोटे पुत्र को पुत्र की तरह परिपालित करे। इसी तरह कुलाचार्य के ज्येष्ठ और कनिष्ठ दोनों श्रेणी के पुत्रों को नमन करे। गुरुकल्प श्रेष्ठ पुरुष को अपने गुरुदेव की तरह ही प्रणाम करना चाहिये ॥१२२॥

यागज्येष्ठः क्रमज्येष्ठः कुलज्येष्ठस्तृतीयकः।
गुरुज्येष्ठसुतो देवि इति ज्येष्ठचतुष्टयम् ॥१२३॥

याग की व्यवस्था में बहुत से पण्डितवर्ग के लोग बड़े दक्ष होते हैं। ऐसे लोग याग-ज्येष्ठ कहलाते हैं। क्रम में ज्येष्ठ और तीसरे क्रम में कुलज्येष्ठ की गणना होती है। चौथे ज्येष्ठ के रूप में गुरु का ज्येष्ठ पुत्र आता है। भगवान् कहते हैं कि, देवि पार्वति! इस प्रकार चार प्रकार के ज्येष्ठ शास्त्र में प्रतिपादित हैं ॥१२३॥

यागज्येष्ठाभिवादेन क्रमिकाष्टाङ्गयोगतः।
गुरुश्च कुलवृक्षश्च वन्दनीयौ विधानतः ॥१२४॥

याग में ज्येष्ठ की अभिवादनपूर्वक वन्दना करनी चाहिये। जो क्रमिक ज्येष्ठ हो उसे अष्टांग-योगपूर्वक अर्थात् साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करना चाहिये। गुरु और कुल-वृक्ष भी विधिपूर्वक शास्त्र की आज्ञा के अनुसार वन्दनीय हैं ॥१२४॥

पितृमात्रादिसर्वेषु पूज्यकोटिषु बन्धुषु।
अभ्युत्थानप्रणामाद्यैरव्यक्तो दोषभाग्बहिः ॥१२५॥

पिता, माता, पूज्य कोटि में आने वाले बन्धु अथवा ऐसे ही ज्येष्ठ पुरुषों को अभ्युत्थान और प्रणाम आदि विनम्र व्यवहार से प्रसन्न रखना चाहिये। यह विनम्रता की व्यक्त अभिव्यक्ति है। अव्यक्त भक्तिमान् दोषभाक् होता है और मर्यादा के बाहर काम करता है ॥१२५॥

यदा त्वाचार्यरूपेण चात्मानं सम्प्रकाशयेत्।
अभ्युत्थानप्रणामाद्यैर्दोषभाक् स भवेत्तदा ॥१२६॥

कभी ऐसा अवसर आता है, जब शिष्य गुरु के आदेशानुसार स्वयम् आचार्यत्व का वहन करता है। अब शिष्य की तरह नहीं आचार्यवत् वहाँ प्रतिष्ठित होता है। उसे अब किसी के अभिवादन आदि में प्रवृत्त नहीं होना चाहिये। अन्यथा वही दोष का भागी होगा ॥१२६॥

पतिर्भूत्वा पशुभ्यश्च प्रणामं यः करिष्यति।
स महापशुरित्युक्तो देवताशापमाप्नुयात् ॥१२७॥

पति-श्रेणी में अवस्थित रहकर पशु अर्थात् पाशबद्ध श्रेणी के लोगों के प्रणाम में प्रवृत्त नहीं होना चाहिये। जो पतिश्रेणी का पुरुष पशुश्रेणी के पुरुष को प्रणाम करेगा, वह निश्चित है कि, महापशु ही हो जायेगा। ऐसा व्यक्ति देवता का अभिशाप प्राप्त करता है ॥१२७॥

यो गुरुस्थानकं प्राप्तः पादुकापरिसंख्यया।
गुरुवत् स तु मन्तव्यो ज्येष्ठैर्वन्द्यो न च प्रिये ॥१२८॥

जो शिष्य गुरु के स्थान को प्राप्त कर लिया है, पादुका की परिसंख्या अर्थात् निश्चित आकलन के अनुसार वह शिष्य गुरुवत् ही पूज्य हो जाता है; किन्तु ज्येष्ठों के द्वारा वह वन्दनीय नहीं माना जाता ॥१२८॥

इति ते कथितं किञ्चित् पादुकाभक्तिलक्षणम्।
समासेन कुलेशानि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥१२९॥

श्री भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! मैंने तुम्हें पादुका-सन्दर्भ में गुरु-पूजा की बात बतायी और संक्षेप में इसे कह सुनाया। देवेश्वरि ! अब तुम्हारी क्या इच्छा है ? बोलो, मैं सब बताने को प्रसन्नतापूर्वक तत्पर हूँ ॥१२९॥

सर्वागमोत्तमोत्तम महारहस्यमय ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकुलार्णवतन्त्रान्तर्गत डॉ. परमहंस-मिश्रविरचित नीर-क्षीर-विवेक-भाषाभाष्यसंवलित 'पादुकाभक्तिकथन' नामक द्वादश उल्लास परिपूर्ण ॥१२॥

॥ शुभं भूयात् ॥

त्रयोदश उल्लासः

श्रीदेव्युवाच

कुलेश श्रोतुमिच्छामि करुणामृतवारिधे।
वक्तुमर्हसि देवेश लक्षणं गुरुशिष्ययोः ॥१॥

कुलस्वामिनी देवी पार्वती ने कहा—कुलेश्वर! भगवन्! आप करुणारूपी अमृत के वरुणालय हैं। मैं आपकी आज्ञा के अनुसार गुरु और शिष्य के लक्षण सुनना चाहती हूँ। देवेश्वर! आप इसी विषय को सुनाकर अनुगृहीत करें ॥१॥

ईश्वर उवाच

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
तस्य श्रवणमात्रेण गुरुभावः प्रजायते ॥२॥

अकुलेश्वर ने कहना प्रारम्भ किया—देवि! तुम ध्यानपूर्वक इस सम्बन्ध में मुझसे सुनो। तुमने यह जो विषय हमसे पूछा है, मैं इसे सुनाने जा रहा हूँ। इसके सुनने मात्र से व्यक्ति के हृदय में गुरु के प्रति भक्तिभाव का उन्मेष होने लगता है ॥२॥

दुष्टवंशोद्भवं दुष्टं गुणहीनं विरूपिणम्।
परशिष्यञ्च पाषण्डं षण्डं पण्डितमानिनम् ॥३॥

देवी पार्वती ने भगवान् कुलेश्वर से गुरु और शिष्य के लक्षणविषयक प्रश्न किया था। गुरु-लक्षण क्रमप्राप्त था। यहाँ २२वें श्लोक तक दुष्ट शिष्य के त्याग की बात की गयी है। यह भी अप्रस्तुत विधि से गुरु के महत्त्व का ही प्रतिपादक है; क्योंकि गुरु ही शिष्य के दुर्लक्षणों की पहचान रखने वाला उत्तम श्रेणी का परीक्षक व्यक्ति होता है। गुरु ही दुष्ट शिष्यों का परीक्षण कर परित्याग करता है। शिष्यवर्ग के दुर्गुण इस प्रकार हैं—

१. दुष्टवंश में अर्थात् चोर, डकैत, लुटेरों और माफियाओं के वंश में उत्पन्न, २. बुरा व्यवहार वाला दुष्ट, ३. गुणों से सर्वथा रहित, ४. कुरूप, ५. दूसरे किसी से दीक्षा लेकर छलपूर्वक शिष्य बनने का इच्छुक, ६. पाखण्डी, ७. षण्ढ (नपुंसक) और ८. पाण्डित्य का अभिमान करने वाले ये शिष्य परित्याज्य हैं ॥३॥

हीनाधिकविकाराङ्गं विकलावयवान्वितम्।
पङ्गुमन्धञ्च बधिरं मलिनं व्याधिपीडितम् ॥४॥

९. हीनांग, अधिकांग (छाँगुर), विकारांग, १०. विकल अवयव युक्त, ११. लँगड़ा, लूला, १२. अन्धा, १३. बहरा, १४. मैला-कुचैला, १५. व्याधि से पीड़ित शिष्य परित्याज्य हैं ॥४॥

उत्सृष्टं दुर्मुखञ्चापि स्वेच्छावेशधरं प्रिये।
दुर्विकाराङ्गचेष्टादिगतिभाषणवीक्षणम् ॥५॥

१६. उत्सृष्ट, १७. दुर्मुख, १८. मनमाना वेषधारी, १९. किसी बुरे विकार से युक्त, बुरी चेष्टा करने वाले, २०. बुरी चालचलन, बुरे भाषण करने वाले और बुरी नजर वाले शिष्य परित्याज्य हैं ॥५॥

निद्रातन्द्राजडालस्यद्यूतादिव्यसनान्वितम् ।
कपाटकुड्यस्तम्भादौ तिरोहिततनुं सदा ॥
अन्तर्भक्तिकरं क्षुद्रं बाह्यभक्तिविवर्जितम् ॥६॥

२१. निद्रा, २२. तन्द्रा, २३. जड़ता, २४. आलस्य, २५. जुआ आदि दुर्व्यसन वाले, २६. कपाट, भित्ति और खम्भों में मुँहचोर, २७. दूसरे के भक्त, २८. क्षुद्र, २९. बाह्य भक्तिहीन शिष्य परित्याज्य हैं ॥६॥

व्यलीकवादिनं स्तब्धं प्रोषितं प्रेषकं शठम् ।
धनस्त्रीशुद्धिरहितं निषेधविधिवर्जितम् ॥७॥

३०. दुश्चरित्र और सफेद झूठे, ३१. ठिठक वाले, ३२. वियुक्त विदेशी, ३३. प्रेषक, ३४. शठ, ३५. धन और स्त्री की शुचिता से रहित, ३६. विधि-निषेध को न मानने वाले शिष्य परित्याज्य हैं ॥७॥

रहस्यभेदकं वापि देवि कार्यविनाशकम् ।
मार्जारवकवृत्तिञ्च रन्ध्रान्वेषणतत्परम् ॥८॥

३७. रहस्यभेदक अर्थात् कोई आपसी या छिपाने योग्य बात हो और उसी को वह शिष्य खोल दे, दूसरों को बता दे, तो ऐसे शिष्य को परित्यक्त कर दे, ३८. कार्य का नाश करने वाले शिष्य, ३९. बिल्ली की तरह तथा बगुले की तरह मौका देखकर हमलावर और ४०. कमजोरी खोज-खोजकर निन्दा करने वाले शिष्य त्याज्य हैं ॥८॥

मायाविनं कृतघ्नञ्च प्रच्छन्नान्तरदायकम् ।
विश्वासघातकं स्वामिद्रोहिणं पापकारिणम् ॥९॥

४१. मायावी, ४२. कृतघ्न, ४३. छिपे तौर पर अन्तर देने वाला, ४४. विश्वासघाती, ४५. स्वामीद्रोही और ४६. पाप में प्रवृत्त शिष्य त्याज्य हैं ॥९॥

अविश्वासकरं संशयात्मकं सिद्ध्यकाङ्क्षिणम् ।
आततायिनमादित्सुं कोपितं कूटसाक्षिणम् ॥१०॥

४७. अविश्वासी, ४८. संशयात्मा, ४९. सिद्धि न चाहने वाले, ५०. आततायी के रक्षक, ५१. क्रोधन और ५२. कूट साक्षी शिष्य त्याज्य हैं ॥१०॥

सर्वप्रतारकं देवि सर्वोत्कृष्टाभिमानिनम् ।
असत्यं निष्ठुरासक्तं ग्राम्यादिबहुभाषिणम् ॥११॥

५३. सबको ठगने में तत्पर, ५४. सबसे बढ़-चढ़कर घमण्डी, ५५. झूठे, ५६. निष्ठुर, आसक्त, ५७. गँवारों की तरह बहुत बक-बक करने वाले शिष्य त्याज्य हैं ॥११॥

दुर्विचारकुतर्कादिकारकं कलहप्रियम् ।
वृथाक्षेपकरं मूर्खं चपलं वाग्विडम्बकम् ॥१२॥

५८. बुरे विचार प्रस्तुत करने वाले कुतर्की, ५९. झगड़ालू, ६०. वृथा आक्षेपकारी, ६१. मूर्ख, ६२. चपल, ६३. वाग्-विडम्बक शिष्य त्याज्य हैं ॥१२॥

परोक्षे दूषणकरं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम् ।
वाग्ब्रह्मवादिनं विद्याचौरमात्मप्रशंसकम् ॥१३॥

६४. परोक्ष में दूषणकारी और ६५. सामने मीठी-मीठी बात बोलने वाले शिष्य त्याज्य हैं। ६६. वाणी से ब्रह्मवादी, ६७. विद्याचोर और ६८. आत्मश्लाघी शिष्य त्याज्य हैं ॥१३॥

गुणासहिष्णुमहितमार्त्तं क्रोधनमम्बिके ।
वाचालं दुर्जनसखं सर्वलोकविगर्हितम् ॥१४॥

६९. दूसरों के गुण को सहने में असमर्थ, ७०. अहितकारी, ७१. आर्त्त, ७२. क्रोधी, ७३. वाचाल, ७४. दुष्टों के साथी, ७५. सारी जनता द्वारा निन्दित और विगर्हित शिष्य त्याज्य हैं ॥१४॥

पिशुनं परसन्ताप्यं संविदप्रणयं प्रिये ।
स्वक्लेशवादिनं स्वामिद्रोहिणं स्वात्मवञ्चकम् ॥१५॥

७६. पिशुन, ७७. दूसरों द्वारा सन्ताप्य, ७८. संविद्विमर्शशून्य, ७९. अपने दु:ख को दु:ख मानने वाले, ८०. स्वामी-द्रोही और ८१. स्वात्मवंचक शिष्य त्याज्य हैं ॥१५॥

जिह्वोपस्थपरं देवि तस्करं पशुचेष्टितम् ।
अकारणद्वेषहासक्लेशक्रोधादिकारिणम् ॥१६॥

८२. जीभ और उपस्थ का दास, ८३. तस्कर, ८४. पशुवत् व्यवहारपरायण, ८५. विना कारण का द्वेषकारी, ८६. अकारण हँसी, क्लेशदायी और अकारण क्रोधी शिष्य त्याज्य हैं ॥१६॥

अतिहासमकर्माणं मर्मान्तपरिहासकम् ।
कामुकञ्चातिनिर्लज्जं मिथ्यादुश्चेष्टसूचनम् ॥१७॥

८७. अनावश्यक ठहाका लगाने वाले, ८८. अकर्मण्य, ८९. मर्मवेधी हँसी उड़ाने वाले, ९०. कामुक, ९१. निर्लज्ज, ९२. झूठ-मूठ की बुरी सूचना देने वाले शिष्य त्याज्य हैं ॥१७॥

असूयामदमात्सर्यदम्भाहङ्कारसंयुतम् ।
ईर्ष्यापारुष्यपैशुन्यकार्पण्यक्रोधमानसम् ॥१८॥

९३. असूया, ९४. मद, ९५. मात्सर्य, ९६. दम्भी, ९७. अहंकारी, ९८. ईर्ष्यालु, ९९. परुष, १००. पैशुन्य, १०१. कार्पण्य और १०२. क्रोधी शिष्य त्याज्य हैं ॥१८॥

अधीरं दुःखिनं भीरुमशक्तस्तवमातुरम् ।
अप्रबुद्धमतिं मन्दं मूढं चिन्ताकुलं विटम् ॥१९॥

१०३. अधीर, १०४. दुःखी, १०५. भीरु, १०६. अशक्त, १०७. आतुर, १०८. सोयी बुद्धि वाले, १०९. मन्द, ११०. मूढ, १११. चिन्ताकुल और ११२. विट शिष्य त्याज्य हैं ॥१९॥

तृष्णालोभयुतं दीनमतुष्टं सर्वयाचकम् ।
बह्वाशिनं कपटिनं भ्रामकं कुटिलं प्रिये ॥२०॥

११३. तृष्णायुक्त, ११४. लोभी, ११५. दीन, ११६. असन्तुष्ट, ११७. जो ही मिले उसी से भीख की तरह याचना करने में लगे, ११८. खद्धक, ११९. कपटी, १२०. भ्रामक, १२१. कुटिल शिष्य त्याज्य हैं ॥२०॥

भक्तिश्रद्धादयाशान्तिधर्माचारविवर्जितम् ।
मातापितृगुरुप्राज्ञसद्वचो हास्यकारकम् ॥२१॥

१२२. भक्ति, श्रद्धा, दया, शान्ति, धर्म और आचार से रहित, १२३. माता, पिता, गुरु, प्राज्ञ और सत्य वाक्यों की हँसी उड़ाने वाले शिष्य त्याज्य हैं ॥२१॥

कुलद्रव्यादिबीभत्सं गुरुसेवाभिमानिनम् ।
स्त्रीद्विष्टं समयभ्रष्टं गुरुशप्तं कुलेश्वरि ॥
इत्यादिदुर्गुणोपेतं गुरुः शिष्यं विवर्जयेत् ॥२२॥

१२४. कुलद्रव्यों को वीभत्स कहने वाले या स्वयं करने वाले, १२५. गुरुसेवा का गर्व करने वाले, १२६. स्त्रीद्वेषी, १२७. समयाचार से भ्रष्ट, १२८. गुरु द्वारा अभिशप्त और ऐसे ही अन्य जितने अनर्थकारी शिष्य होते हैं, भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति ! ऐसे शिष्यों का सर्वथा परित्याग गुरुदेव स्वयं कर दें। यह भगवदाज्ञा है ॥२२॥

सच्छिष्यन्तु कुलेशानि शुभलक्षणसंयुतम् ।
समाधिसाधनोपेतं गुणशीलसमन्वितम् ॥२३॥
स्वच्छदेहाम्बरं प्राज्ञं धार्मिकं शुद्धमानसम् ।
दृढव्रतं सदाचारं श्रद्धाभक्तिसमन्वितम् ॥२४॥

यहाँ तक दु:शिष्यों के वर्णन के उपरान्त सुशिष्य लक्षण के सम्बन्ध में तत्कालीन मान्यताओं का कथन कर रहे हैं। ये शुभ लक्षण शाश्वत अपेक्षित सत्य लक्षण हैं।

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, कुलेश्वरि ! शिष्य सभी शुभ लक्षणों से युक्त होना चाहिये। वे क्रमिक रूप से इस प्रकार हैं—१. समाधि की साधना से समन्वित, २. गुणज्ञ और शीलवान्, ३. शरीर पर स्वच्छ वस्त्र धारण करने वाले, ४. प्राज्ञ, ५. धार्मिक, ६. शुद्ध सत्संकल्पवान्, ७. दृढ़व्रती, ८. सदाचारी और ९. श्रद्धा-भक्ति-समन्वित। शुभ लक्षण सम्पन्न शिष्य को ही गुरु को शिक्षा-दीक्षा से कृतार्थ करना चाहिये। यह शिव की आज्ञा है ॥२३-२४॥

दक्षमल्पाशिनं गूढचित्तं निर्व्याजसेवकम्।
विमृश्यकारिणं वीरं मनोदारिद्र्यवर्जितम् ॥२५॥

१०. प्रत्येक कार्य में कुशल, ११. स्वल्पाहारी, १२. गम्भीर चित्त समन्वित, १३. विना बहाना या शर्त्त के गुरुसेवा में तत्पर, १४. सोच-विचार कर कार्य करने वाला, १५. वीर और १६. मनस्वी शिष्य उत्तम है ॥२५॥

सर्वकार्यातिकुशलं स्वच्छं सर्वोपकारिणम्।
कृतज्ञं पापभीतञ्च साधुसज्जनसम्मतम् ॥२६॥

१७. सभी कार्यों में दक्ष, १८. निर्मल तन-मन, १९. सभी का हितसाधक, २०. कृतज्ञ, २१. पाप से डरने वाला, २२. साधु और सज्जनों से आदृत शिष्य उत्तम होता है ॥२६॥

आस्तिकं दानशीलञ्च सर्वभूतहिते रतम्।
विश्वासविनयोपेतं धनदेहाद्यवञ्चकम् ॥२७॥

२३. आस्तिक, २४. दानशील, २५. सर्वभूत-हित में निरत, २६. विश्वसनीय, २७. विनयी, २८. धन और देह आदि की वंचना न करने वाला शिष्य उत्तम होता है ॥२७॥

असाध्यसाधकं शूरमुत्साहबलसंयुतम्।
अनुकूलक्रियायुक्तमप्रमत्तं विचक्षणम् ॥२८॥

२९. असाध्य को भी सिद्ध कर लेने में समर्थ, ३०. शूर, ३१. उत्साहसम्पन्न, ३२. बलवान्, ३३. सदा गुरुदेव के अनुकूल कार्यों को सिद्ध करने में तत्पर, ३४. प्रमाद न कर जागरूक रहने वाला और ३५. विचक्षण शिष्य उत्तम होता है ॥२८॥

हितसत्यमितस्मेरभाषणं मुक्तदूषणम्।
सकृदुक्तगृहीतार्थं चतुरं बुद्धिविस्तरम् ॥२९॥

३६. हितभाषी, ३७. सत्यवादी, ३८. मितभाषी, ३९. प्रसन्नभाषी, ४०. दूषणों से मुक्त, ४१. एक बार के कथन से ही रहस्यज्ञान में दक्ष, ४२. चतुर और ४३. बुद्धि की विस्तारमयी विवेक, अविवेक ज्ञानक्षमता से युक्त शिष्य उत्तम होता है ॥२९॥

स्वस्तुतौ परनिन्दायां विमुखं सुमुखं प्रिये ।
जितेन्द्रियं सुसन्तुष्टं धीमन्तं ब्रह्मचारिणम् ॥३०॥
त्यक्ताधिव्याधिचापल्यदुःखभ्रान्तिमसंशयम् ।

४४. आत्मस्तुति और परनिन्दा से विमुख, ४५. सुप्रसन्नवदन, ४६. जितेन्द्रिय, ४७. स्वल्प में ही सन्तुष्ट, ४८. बुद्धिमान्, ४९. ब्रह्मचर्यव्रती, ५०. आधिमुक्त, ५१. नीरोग, ५२. शान्त, ५३. सुखानुभवी (दुःखमुक्त), ५४. निर्भ्रान्त और ५५. संशयरहित शिष्य उत्तम होता है ॥३०॥

गुरुध्यानस्तुतिकथादेवार्चावन्दनोत्सुकम् ॥३१॥
गुरुदैवतसम्भक्तं कामिनीपूजकं परम् ।
नित्यं गुरुसमीपस्थं गुरुसन्तोषकारकम् ॥३२॥

५६. गुरु के ध्यान, उनकी स्तुति, उनके गुणों के कथन में तत्पर, ५७. देवार्चा और वन्दना में उत्सुक, ५८. गुरुभक्त, ५९. देवभक्तियुक्त, ६०. कामिनीपूजक, ६१. नित्य गुरु के समीप रहने वाला और ६२. सेवा से गुरु को सन्तुष्ट रखने वाला शिष्य उत्तम होता है ॥३१-३२॥

मनोवाक्तनुभिर्नित्यं परिचर्यासमुद्यतम् ।
गुर्वाज्ञापालकं देवि गुरुकीर्त्तिप्रकाशकम् ॥३३॥

६३. मन, वचन, कर्म और शरीर से सदा गुरुसेवा में तत्पर, ६४. गुरुदेव की आज्ञा का पालक, ६५. गुरु के यशोगान से उनकी कीर्त्ति का प्रसार करने वाला शिष्य उत्तम माना जाता है ॥३३॥

गुरुवाक्यप्रमाणज्ञं गुरुशुश्रूषणे रतम् ।
चित्तानुवर्तिनं प्रेष्यकारिणं कुलनायिके ॥३४॥

६६. गुरु के वाक्य को ही प्रमाण मानने वाला, ६७. गुरुदेव की शुश्रूषा में रत, ६८. गुरु के मन की बात जानकर उसी के अनुसार व्यवहार करने वाला, ६९. भेजे जाने पर भृत्यवत् गुरुकार्य सम्पादन में दक्ष शिष्य उत्तम होता है ॥३४॥

जातिमानधने गर्ववर्जितं गुरुसन्निधौ ।
निरपेक्षं गुरुद्रव्ये तत्प्रसादाभिकाङ्क्षिणम् ॥३५॥

७०. गुरु के समीप जाति, मान और धन का गर्व न करने वाला, ७१. गुरुद्रव्य की अपेक्षा से रहित, ७२. गुरुदेव के प्रसाद अर्थात् प्रसन्नता की नित्य आकांक्षा करने वाला शिष्य उत्तम होता है ॥३५॥

कुलधर्मकथायोगियोगिनीकौलिकप्रियम् ।
कुलार्चनादिनिरतं कुलद्रव्याजुगुप्सकम् ॥३६॥

७३. कुलधर्मप्रिय, ७४. कुलकथाप्रिय, ७५. कुलयोगी और योगिनीप्रिय, ७६. कौलिकप्रिय, ७७. कुलार्चन में निरत, ७८. कुलद्रव्य की जुगुप्सा से रहित शिष्य उत्तम होता है ॥३६॥

जपध्यानादिनिरतं मोक्षमार्गाभिकाङ्क्षिणम् ।
कुलशास्त्रप्रियं देवि पशुशास्त्रपराङ्मुखम् ॥
इत्यादिलक्षणोपेतं गुरुः शिष्यं परिग्रहेत् ॥३७॥

७९. जपनिरत, ८०. ध्याननिष्ठ, ८१. मोक्षमार्ग का अभिकांक्षी अर्थात् मुमुक्षु, ८२. कुलशास्त्र स्वाध्याय में रमा और ८३. पशुशास्त्र-पराङ्मुख शिष्य उत्तम होता है। भगवान् शंकर कह रहे हैं कि देवि, पार्वति ! ऐसे उक्त गुणों से सम्पन्न शिष्यों का परिग्रह गुरु अवश्य करें और उन्हें कृतार्थ करें ॥३७॥

श्रीगुरुः परमेशानि शुद्धवेशो मनोहरः ।
सर्वलक्षणसम्पन्नः सर्वावयवशोभितः ॥३८॥

यहाँ से भगवान् शंकर देवी को सम्बोधित गुरु के लक्षणों का निरूपण कर रहे हैं। उनका कहना है कि, परमैश्वर्यशालिनि ! गुरु के इन लक्षणों पर तुम ध्यान दो। मैं उन्हें एक-एक कर तुम्हें सुना रहा हूँ।

१. गुरु शुद्धवेश से समन्वित हो, २. देखने में सुन्दर हो, ३. सभी लक्षणों से सम्पन्न हो, ४. अपने सभी अवयवों की सुडौलता से उसे शोभायमान होना चाहिये ॥३८॥

सर्वागमार्थतत्त्वज्ञः सर्वमन्त्रविधानवित् ।
लोकसम्मोहनकरो देववत् प्रियदर्शनः ॥३९॥

५. समस्त आगमों के निहितार्थ तत्त्व का मर्मज्ञ हो, ६. सबके हृदय में किस तरह के आन्तरिक ऊहापोह हो रहे हैं, इस विधान का जानकार हो या सभी रहस्य-विधानों का वेत्ता हो, ७. लोकमानस को सम्मोहित करने के गुणों से समन्वित हो, ८. देवतुल्य प्रियदर्शन हो ॥३९॥

सुमुखः सुलभः स्वच्छो भ्रमसंशयनाशकः ।
इङ्गिताकारवित् प्राज्ञ ऊहापोहविदुज्ज्वलः ॥४०॥

९. सुमुख, १०. सुलभ, ११. स्वच्छ (निर्मल), १२. शिष्य के सन्देहों और भ्रान्ति का निराकरण करने की क्षमता से युक्त, १३. संकेतज्ञ, १४. प्राज्ञ, १५. ऊहा-पोहवेत्ता और १६. परमोज्ज्वल स्वभाववान् हो ॥४०॥

अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिः सर्वज्ञो देशकालवित् ।
आज्ञासिद्धिस्त्रिकालज्ञो निग्रहानुग्रहक्षमः ॥४१॥

१७. सदा अन्तर्लक्ष्य और १८. बाह्यदृष्टि दोनों के प्रति सावधान रहे। १९. सर्वज्ञ, २०. विशेषत: देश और काल की गतिशीलता का पारखी, २१. आज्ञा में ही

सिद्धि का सद्भाव भावित हो, २२. त्रिकालज्ञ, २३. निग्रह और २४. अनुग्रह दोनों में सक्षम हो ॥४१॥

वेधको बोधकः शान्तः सर्वजीवदयापरः।
स्वाधीनेन्द्रियसञ्चारषड्वर्गविजयक्षमः ॥४२॥

२५. वेध-दीक्षा में प्रवीण, २६. विषयरहस्य का तात्त्विक बोध कराने में दक्ष, २७. शान्त, २८. समस्त जीव-जगत् पर दयादृष्टि रखने वाला, २९. इन्द्रिय-व्यापार में स्वतन्त्र और ३०. षड्वर्गविजेता गुरु ही श्रेष्ठ गुरु होता है ॥४२॥

अग्रगण्योऽतिगम्भीरः पात्रापात्रविशेषवित्।
शिवविष्णुसमः साधुर्मन्ददर्शनदूषकः ॥४३॥

३१. गुणिगणगणना में अग्रगण्य, ३२. अत्यन्त गम्भीर, ३३. पात्र और अपात्र या कुपात्र के गुणों और दुर्गुणों के आधार पर विशेषतः भेद करने में सक्षम, ३४. शिव के समान कल्याणकारी, ३५. विष्णु के समान व्यापक दृष्टि वाला, ३६. साधु, ३७. मन्ददर्शनदूषक गुरु होना चाहिये ॥४३॥

निर्मलो नित्यसन्तुष्टः स्वतन्त्रो मन्त्रशक्तिमान्।
सद्भक्तवत्सलो धीरः कृपालुः स्मितपूर्णवाक् ॥४४॥

३८. निर्मल, ३९. नित्य सन्तुष्ट, ४०. स्वतन्त्र, ४१. मन्त्रशक्तिमर्मज्ञ, ४२. सत्यभक्तवत्सल, ४३. धीर, ४४. कृपालु, ४५. स्मितिपूर्वक पूरी बात को स्पष्टरूप से व्यक्त करने में समर्थ गुरु उत्तम होता है ॥४४॥

भक्तप्रियः सदोदारो गम्भीरः शिष्टसाधकः।
स्वेष्टदेवगुरुज्येष्ठवनितापूजनोत्सुकः ॥४५॥

४६. भक्त शिष्यों को प्रिय अथवा भक्त शिष्य ही प्रिय हैं जिसके ऐसा, ४७. सदा उदार, ४८. गम्भीर, ४९. शिष्टजनों की सिद्धि में सहायक, ५०. अपने इष्टदेव और गुरु को ही ज्येष्ठ मानने वाला और ५१. वनिता मात्र की पूजा अर्थात् आदर देने के लिये उत्सुक गुरु श्रेष्ठ होते हैं ॥४५॥

नित्ये नैमित्तिके काम्ये रतः कर्मण्यनिन्दिते।
रागद्वेषभयक्लेशदम्भाहङ्कारवर्जितः ॥४६॥

५२. नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मों के करने में सावधानीपूर्वक तत्पर, ५३. प्रशंसनीय कार्यरत, ५४. राग-द्वेष, भय, क्लेश, दम्भ और अहंकार से रहित गुरु श्रेष्ठ होता है ॥४६॥

स्वविद्यानुष्ठानरतो धर्मादीनामुपार्जकः।
यदृच्छालाभसन्तुष्टो गुणदोषविभेदकः ॥४७॥

५५. अपनी सम्प्रदायसिद्ध विद्या के रहस्योद्घाटनरूप ज्ञानप्राप्ति के अनुष्ठान में संलग्न, ५६. धर्म[१], ज्ञान, ऐश्वर्य और वैभव इन चार धर्मादि चतुष्क में सिद्ध और उपार्जन की चेष्टा में निरत, ५७. यदृच्छा लाभ में सन्तुष्ट, ५८. गुण-दोष की परख में दूध का दूध और पानी का पानी करने वाला गुरु श्रेष्ठ है ॥४७॥

स्त्रीधनादिष्वनासक्तो दुःसङ्गव्यसनादिषु ।
सर्वाहम्भावसंयुक्तो निर्द्वन्द्वो नियतव्रतः ॥४८॥

५९. स्त्री और धन आदि आसक्तियोग्य पदार्थों में अनासक्त, ६०. दुःसंग और व्यसन आदि में भी अनासक्त, ६१. सर्वत्र 'अहंता' के सद्भाव का समर्थक, ६२. निर्द्वन्द्व और ६३. नियतव्रत गुरु श्रेष्ठ होता है ॥४८॥

अलोलुपो ह्यसङ्कल्पपक्षपाती विचक्षणः ।
वित्तविद्यादिभिर्मन्त्रयन्त्रतन्त्राद्यविक्रयी ॥४९॥

६४. लोलुपता से रहित, ६५. किसी प्रकार के मानसिक संकल्पों से रहित अकिंचित् चिन्तन का पक्षपाती, ६६. विचक्षण, ६७. वित्त अर्थात् धन के बदले या विद्या के बदले मन्त्र, तन्त्र और यन्त्रों के विक्रय करने का विरोधी गुरु उत्तम होता है ॥४९॥

निःसङ्गो निर्विकल्पश्च निर्णीतार्थोऽतिधार्मिकः ।
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी निरपेक्षो निरामयः ॥
इत्यादिलक्षणोपेतः श्रीगुरुः कथितः प्रिये ॥५०॥

६८. संगरहित, ६९. निर्विकल्प, ७०. निर्णय के आधार पर अर्थ का व्यवहारज्ञ, ७१. अत्यन्त धार्मिक, ७२. निन्दा और स्तुति में समान, ७३. मौन रहने वाला, ७४. निरपेक्ष और ७५. निरामय इत्यादि लक्षणों से युक्त श्रीगुरु होते हैं। आदरणीया देवी पार्वती से भगवान् शंकर ने इन लक्षणों के विषय में बताया ॥५०॥

यः शिवः सर्वगः सूक्ष्मश्चोन्मना निष्कलोऽव्ययः ।
व्योमाकारो ह्यजोऽनन्तः स कथं पूज्यते प्रिये ॥५१॥

इतना कह लेने के उपरान्त भगवान् शंकर ने स्वयं देवी से एक प्रश्न कर स्वयं उसका समाधान भी तुरन्त प्रस्तुत कर दिया। इसमें भी गुरुदेव के ही महत्त्व का वर्णन है।

शिव सर्वव्याप्त सूक्ष्म तत्त्व है। यह समना के स्तर तक नहीं वरन् उन्मना स्तर पर अनुभूत तत्त्व है। यह निष्कल और अव्यय तत्त्व है! यह व्योमाकार नितान्त सूक्ष्म तत्त्व है। यह अज और अनन्त है। इसकी पूजा कैसे की जा सकती है? पूजा के लिये रूप, नाम और उसकी प्रतिष्ठा आवश्यक है ॥५१॥

अत एव शिवः साक्षाद्गुरुरूपं समाश्रितः ।
भक्त्या सम्पूजितो देवि भुक्तिं मुक्तिं प्रयच्छति ॥५२॥

---

१. श्रीतन्त्रालोक–१५:३०१।

इसलिये शिव ने स्वयं गुरुरूप का आश्रय लिया। भक्ति-भाव से गुरुरूप शिव ही पूजित होते हैं। गुरुरूप में पूजित साक्षात् शिव ही भोग और मोक्ष समान रूप से प्रदान करते हैं ॥५२॥

शिवोऽहं नाकृतिर्देवि नरदृग्गोचरो नहि।
तस्मात् श्रीगुरुरूपेण शिष्यान् रक्षति धार्मिकान् ॥५३॥

पार्वती को सम्बोधित करते हुए भगवान् कह रहे हैं कि, प्रिये ! 'शिवोऽहं' यह मन्त्र भी शिवात्मक ही है। इसमें भी किसी आकार का प्रकल्पन नहीं है। मानव की चर्म-चक्षुओं से उसका साक्षात्कार नहीं हो सकता। इसलिये स्वयं शिव ही गुरुरूप में धार्मिक शिष्यों की रक्षा करते हैं ॥५३॥

मनुष्यचर्मणा बद्धः साक्षात् परशिवः स्वयम्।
सच्छिष्यानुग्रहार्थाय गूढं पर्यटति क्षितौ ॥५४॥

मनुष्य शरीर में बँधे हुये साक्षात् शिव शिष्यों के ऊपर अनुग्रह करने के लिये ही मानव योनि स्वीकार कर गुरु रूप में भूमण्डल में भ्रमण की क्रीड़ा कर रहे हैं ॥५४॥

सद्भक्तरक्षणायैव निराकारोऽपि साकृतिः।
शिवः कृपानिधिर्लोके संसारीव हि चेष्टते ॥५५॥

सच्चे भक्तों की रक्षा करने के लिये ही निराकार होते हुए साकार भाव को स्वीकार करने की कृपा का ही यह परिणाम है कि, शिव गुरुरूप में प्रत्यक्ष होते हैं और दया के महासागर शिव संसार में संसारी की तरह सारे व्यवहारों का निर्वाह करते हैं ॥५५॥

ललाटलोचनं चान्द्रीं कलामपि च दोर्द्वयम्।
अन्तर्धाय च वर्त्तेयं गुरुरूपो महीतले ॥५६॥

जिनको हम त्रिलोचन कहते हैं, उनके ललाट में तीसरा नेत्र है। इसीलिये उनको भाललोचन कहते हैं। शिर पर चान्द्री कला है और उनकी चार बाँहें भी प्रसिद्ध हैं। भगवान् शिवरूप मैं ही ललाट के लोचन को छिपाकर, अपनी चान्द्री कला को और चार में से दो बाँहों को छिपा कर ही गुरुरूप धारण कर लेता हूँ। इस संसार में गुरु रूप में ही वर्त्तन भी करता हूँ ॥५६॥

अत्रिनेत्रः शिवः साक्षादचतुर्बाहुरच्युतः।
अचतुर्वदनो ब्रह्मा श्रीगुरुः कथितः प्रिये ॥५७॥

त्रिनेत्र शिव प्रसिद्ध हैं। गुरु अ-त्रिनेत्र शिव हैं। चार बाँहों में नहीं। द्विबाहु शिव हैं। फिर भी गुरु अच्युत शिव हैं। यह चार मुखों से रहित ब्रह्मा हैं। यह गुरुदेव का महत्त्वपूर्ण स्वरूप है ॥५७॥

नरवद्दृश्यते लोके श्रीगुरुः पापकर्मणा।
शिववद् दृश्यते लोके भवानि पुण्यकर्मणा ॥५८॥

लोकलोचन से नररूप दृश्यमान शिव यह प्रमाणित करता है कि, जो मनुष्य गुरु को नररूप में दीख पड़ता है, यह मानव दर्शकों का अपुण्य है। पापकर्म के ही फल-स्वरूप गुरुरूप शिव को नररूप में देख रहे हैं। भवानि ! वे पुण्यात्मा हैं, जिन्हें गुरु शिवरूप में दृष्ट होते हैं ॥५८॥

श्रीगुरुं परमं तत्त्वं तिष्ठन्तं चक्षुरग्रतः ।
मन्दभाग्या न पश्यन्ति ह्यन्धाः सूर्यमिवोदितम् ॥५९॥

आँख के आगे परमतत्त्व ही गुरुरूप में दीख पड़ता है। मन्दभागी लोग इस रूप में दर्शन नहीं कर पाते। जैसे अन्धे लोग सूरज को देखने में असमर्थ होते हैं ॥५९॥

गुरुः सदाशिवः साक्षात् सत्यमेव न संशयः ।
शिव एव गुरुर्नो चेद्भुक्तिं मुक्तिं ददाति कः ॥६०॥

गुरुदेव साक्षात् सदाशिव हैं। इसमें सन्देह नहीं। शिव ही साक्षात् गुरु हैं। अन्यथा भुक्ति और मुक्ति दोनों की प्राप्ति गुरु से कैसे होती ? ॥६०॥

सदाशिवस्य देवस्य श्रीगुरोरपि पार्वति ।
उभयोरन्तरं नास्ति यः करोति स पातकी ॥६१॥

देवि ! पार्वति ! सदाशिव देव और श्रीसद्गुरुदेव में तनिक भी अन्तर नहीं है। जो मनुष्य इन दोनों में अन्तर का दर्शन करता है या अनुभव करता है, वह पुण्यात्मा नहीं होता ॥६१॥

देशिकाकृतिमास्थाय पशोः पाशानशेषतः ।
छित्त्वा परं पदं देवि नयत्येनमतो गुरुः ॥६२॥

देशिकशिरोमणि का रूप धारण कर स्वयं शिव पाश में बँधे पशुजनों के अशेष पाशों का नाश करते हैं। वे इसके तुरन्त बाद उसे परमपद का वरदान देते हैं। यही गुरुदेव का महत्त्व है। वह उसे परमधाम पहुँचा देते हैं ॥६२॥

सर्वानुग्रहकर्तृत्वादीश्वरः करुणानिधिः ।
आचार्यरूपमास्थाय दीक्षया मोक्षयेत् पशून् ॥६३॥

गुरुदेव सर्वानुग्रहकर्त्ता साक्षात् शिव हैं। वही करुणावरुणालय साक्षात् परमेश्वर हैं। वे ही आचार्य रूप धारण कर शिष्यों को दीक्षा देते हैं। दीक्षा से सारे पाशों का उच्छेद कर शिष्य को मुक्त कर देते हैं ॥६३॥

यथा घटश्च कलसः कुम्भश्चैकार्थवाचकः ।
तथा देवश्च मन्त्रश्च गुरुश्चैकार्थ उच्यते ॥६४॥

एकार्थवाचक शब्दों के सन्दर्भ में भगवान् शिव घट शब्द का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कह रहे हैं कि, जैसे घड़े के लिये 'कुम्भ' और कलश शब्दों का प्रयोग लोग

करते हैं। वे यह जानते हैं कि, ये शब्द परस्पर पर्यायवाची हैं। पर्यायवाची शब्द एकार्थवाचक कहे जाते हैं। यद्यपि इनमें भी कुछ निहितार्थ रूप अवान्तरता रहती है, पर एकार्थता का प्राधान्य रहता है। इसी तरह देव अर्थ में भी 'मन्त्र' शब्द का प्रयोग करते हैं। इसी अर्थ में गुरु शब्द भी प्रयुक्त होता है। गुरु, देव और मन्त्र शब्द गुरुदेव के रूप में एक शब्द के रूप में प्रयुक्त होते हैं। ये सभी एकार्थवाची शब्द की श्रेणी में आते हैं ॥६४॥

यथा देवस्तथा मन्त्रो यथा मन्त्रस्तथा गुरुः।
देवमन्त्रगुरूणाञ्च पूजया सदृशं फलम् ॥६५॥

इसी आधार पर हम यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित कर सकते हैं कि, जितने महत्त्वपूर्ण विशाल, व्यापक और विशद अर्थ में 'देव' प्रयुक्त होता है, वही महत्त्व अर्थ की दृष्टि से मन्त्र का भी है। जितना महत्त्वपूर्ण मन्त्र होता है, उतने ही महत्त्वपूर्ण शब्द और अर्थ देने वाले ये तीनों शब्द हैं। अतएव ये समान स्तरीय हैं। इसलिये शास्त्र कहता है कि, देवों, मन्त्रों और गुरुदेव की पूजा करने से समान फल मिलता है, इसमें सन्देह नहीं ॥६५॥

शिवरूपं समास्थाय पूजां गृह्णामि पार्वति।
गुरुरूपं समादाय भवपाशान्निकृन्तये ॥६६॥

भगवान् कह रहे हैं कि, देवि! पार्वति! शिवत्व में अधिष्ठित रहने वाला सर्वव्यापक तत्त्व होते हुए भी अपने रूप के अतिरिक्त देव और गुरुरूप में भी समाश्रित रहकर उस पूजा को मैं ही स्वीकृत करता हूँ और विशेष रूप से गुरुपद पर रहने का एक महत्त्वपूर्ण कारण भी है। इस रूप में रहकर ही मैं भवपाशरूपी सांसारिक बन्धनों को काटता रहता हूँ। भवबन्ध से विमुक्ति के लिये मैं गुरुरूप में रहता हुआ विश्व को प्रकाशमान करता हूँ ॥६६॥

सिद्धान्तसारवेत्ताहं बीजोऽहमिति बोधकृत्।
अविच्छिन्नः सदा हृष्टहृदयो गुरुरुच्यते ॥६७॥

गुरु के महत्त्व को बतलाते हुए भगवान् शिव कहते हैं कि, गुरु कहलाने का वही अधिकारी है, जो शिष्य को स्वबोध में प्रतिष्ठित कर दे। शिष्य को मुख्यतः दो प्रकार का बोध होना चाहिये—१. उसे यह ज्ञान हो जाय कि, विश्व में प्रचलित सभी सिद्धान्तों के सार तत्त्व को मैं जान गया हूँ। २. दूसरी बात, उसके मन में यह बैठ जानी चाहिये कि, जैसे एक छोटे से बीज से विशाल वृक्ष की उत्पत्ति हो जाती है, उसी तरह मैं स्वयं शिवबीज हूँ और मुझसे ही इस प्रपंच प्रसार का शाश्वत विस्तार हो रहा है। उसे यह धारणा-बद्ध विज्ञान होना चाहिये कि, मैं अविच्छिन्न रूप से सतत अस्तित्वशील/अकाल पुरुष हूँ। काल मेरे अधीन है। उसका हृदय सर्वदा आनन्द से ओत-प्रोत रहता हो। यही शाम्भवी समावेश दशा मानी जाती है। जो गुरुदेव इसे इस चिदैक्य भूमि में अवस्थित कर दे, वस्तुतः वही 'गुरु' है ॥६७॥

यो विलङ्घ्याश्रमान् वर्णानात्मन्येव स्थितः सदा।
ज्योतिर्वर्णाश्रमी योगी स गुरुः कथितः प्रिये ॥६८॥

ऐसा सद्गुरुदेव वर्ण और आश्रम व्यवस्था को भी अतिक्रान्त कर स्वात्म में सर्वदा समवस्थित रहता है। इसे ही 'स्वस्थ' कहते हैं। शैव महाप्रकाश का पावन परिवेश ही उसका आश्रय होता है और प्रकाश की प्रकाशमानता ही उसका वर्ण होता है। बोध के परप्रकाश में सदा युक्त रहने वाला वही 'योगी' माना जाता है। ऐसा 'स्वस्थ' योगी ही 'सद्गुरुदेव' संज्ञा से विभूषित किया जा सकता है ॥६८॥

नवाधारं षडध्वानं षोडशाधारनिर्णयम्।
यो जानाति विधानेन स गुरुः कथितः प्रिये ॥६९॥

छः अध्वा (कला, तत्त्व, भुवन, वर्ण, पद और मन्त्र), छः आधार (छः चक्र—१. मूलाधार, २. स्वाधिष्ठान, ३. मणिपुर, ४. अनाहत, ५. विशुद्ध और ६. आज्ञा) और सोलह आधार[1] (६ चक्र के ऊर्ध्वस्थित तथा १. बिन्दु, २. चन्द्रकला, ३. निरोधिका, ४. नाद, ५. नादान्त, ६. शक्ति, ७. व्यापिनी, ८. समना, ९. उन्मना और १०. शिव = ६+१० = १६), उन्नीसवें आह्निक श्रीतन्त्रालोक श्लोक १५-१६ के भाष्य के अनुसार—१. कुल, २. विष (मध्य), ३. शाक्त (बोध-नाद), ४. अग्नि, ५. पवन, ६. घट (नाभि), ७. सर्वकाम (नाभ्यूर्ध्व), ८. संजीवनी (हृदयपद्म), ९. कूर्म (वक्ष), १०. लोल (ग्रीवा), ११. लम्बकोर्ध्व में सुधाधार, १२. सौम्य (लम्बक की जड़), १३. गगनाभोग (भ्रूमध्य), १४. विद्याकमल, १५. चतुष्पथ या चतुष्किका में चिन्तामणि नामक आधार और १६. नाड्याधार (ब्रह्मरन्ध्र के ऊर्ध्वभाग में स्थित) अर्थात् अध्वा आधार-भेदों को जो निर्णायक रूप से जानता है और इनमें प्रवेश की विधियों को जानता है, वह 'गुरु' कहा जा सकता है। भगवान् शिव कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति! साधना के इन उच्च सोपान-शिखरों पर आरूढ़ रहने वाला योगी ही वस्तुतः गुरु पदवी से विभूषित किया जा सकता है ॥६९॥

दृश्यं विना स्थिरा दृष्टिर्मनश्चालम्बनं विना।
विनायासं स्थिरो वायुर्यस्य स्यात् स गुरुः प्रिये ॥७०॥

इस श्लोक में तीन बातों पर ध्यान केन्द्रित किया गया है—

(१) किसी दृश्य को देखने के लिये सामान्यतया लोगों की दृष्टि एकटक उसे देखने के काम में स्थिर हो जाती है। यह दृश्य के आधार पर दृष्टि का स्थिर होना माना जाता है। इसमें रूप, रूप को विषय बनाने वाली चक्षु इन्द्रिय तथा मन का लगाव कारण बनता है। इसे विषयेन्द्रिय-संयोग कहते हैं।

इसके विपरीत विषयपराङ्मुख, इन्द्रियजयी और मन को अपने वश में करने के उपरान्त सिद्ध साधक सर्वत्र शिवत्व का अनुदर्शन कर आनन्द को उपलब्ध हो जाता है।

---

१. श्रीतन्त्रा. १५:२९७ पंचम भाग; १९:१५-१६ (विवेक-भाष्य) छठाँ भाग।

उसकी खुली आँख शिव के पसरे हुए सत्त्व में समाहित होती है। इसे विना दृश्य के दृष्टि का स्थिर होना कहते हैं।

(२) मन के विषय में व्रजभाषा के महाकवि 'सूर' की एक पंक्ति बड़ा ही सुन्दर शब्दचित्र उपस्थित करती है—'रूप-रेख-गुन-जाति-जुगुति बिनु निरालम्ब मन चक्रित धावे।' इस उक्ति में मन निरालम्ब होकर चकित चंक्रमण कर रहा है। उसे रूप रेख गुन जाति और जुगुति की आवश्यकता है, जिससे वह आलम्बन पा सके।

शैव-भक्तियोगसम्पन्न साधक को ऐसे भौतिक आलम्बनों की कोई आवश्यकता नहीं होती। वह मन के स्तर से ऊपर आत्मभाव में स्थिर होता है। यह आलम्बन ही स्थिरता होती है। गीता में ऐसे पुरुष को ही 'स्थितप्रज्ञ' कहते हैं।

(३) तीसरी और महत्त्वपूर्ण बात वायु की स्थिरता के सम्बन्ध में बतायी गयी है। यह साधना का विषय है। श्वास-निःश्वास रूप प्राणापानवाह प्रक्रिया को साध कर अपने वश में करने वाले तन्त्र-योगी वायु को अर्थात् साँस को जब तक चाहें रोककर चितिकेन्द्र में डाल देते हैं अथवा ऊर्ध्वद्वादशान्त में समाहित कर लेते हैं। ऐसे साधक योगियों के प्राणवायु आयास के बिना ही स्थिर हो जाते हैं।

इन तीनों विशेषताओं से विशिष्ट साधक ही गुरु संज्ञा से विभूषित किया जा सकता है, दूसरा इस पवित्र शब्द से सम्बोधित नहीं किया जा सकता ॥७०॥

यत्तु संवित्तिजननं परानन्दसमुद्भवम्।
तत्तत्त्वं विदितं येन स गुरुः कुलनायिके ॥७१॥

स्वात्म संवित्ति परिवेश में प्रातिभ शैव संवित्ति का समुच्छलन बड़े ही सौभाग्य का विषय माना जाता है। इसका मूल हेतु अनुग्रह और शैव शक्तिपात माना जाता है। इस तत्त्व के मात्र गुरुदेव ही ज्ञाता होते हैं अथवा इसी स्तर का साधक होता है। इसी तरह परानन्द से उद्भूत तत्त्व का जो वेत्ता है, वह भी इसी स्तर का प्रज्ञा पुरुष होता है। आनन्द रस विभ्रम विसर्ग शक्ति का ही स्फार माना जाता है।[१] इस तत्त्व का जानकार भी महान् साधक होता है। भगवान् शंकर कुलनायिका माता पार्वती को सम्बोधित करते हुए कह रहे हैं कि, ऐसा स्तरीय पुरुष ही गुरु हो सकता है ॥७१॥

भूतभव्यौ तन्त्रमन्त्रौ वेत्ति यः शाक्तशाम्भवम्।
वेधश्च षड्विधं देवि स हि वेधकरो गुरुः ॥७२॥

इस श्लोक में गुरु के गौरव का एक नया स्वरूप दर्शाया गया है। तन्त्रशास्त्र का अध्येता स्वाभाविक रूप से गुरु के महत्त्व को स्वीकार करता है; किन्तु यहाँ 'वेधकर्त्ता' गुरु के वैशिष्ट्य का बोध भगवान् शंकर करा रहे हैं। उनके अनुसार भूत तत्त्व और भव्य तत्त्व, तन्त्ररहस्य और मन्त्ररहस्य तथा शाक्त-शाम्भव वेध के छः प्रकार के भेद को जो साधक जान लेता है, उसे वेधविशेषज्ञ गुरु कहते हैं। वेधकर संज्ञा से वह विभूषित होता है।

---

१. श्रीतन्त्रालोक, प्रथम भाग, ३:२०९।

वस्तुत: वेध-दीक्षा का कुलमार्ग में विशेष महत्त्व स्वीकृत है। वेध ६ प्रकार का होता है—१. मन्त्रवेध, २. नादवेध, ३. बिन्दुवेध, ४. शाक्तवेध, ५. भुजंगवेध और ६. परवेध[1]। इस वेध-प्रक्रिया के १. मन्त्र, २. शक्ति, ३. भुवन (शिखा, अंगुष्ठ, मूलपीठ, आधार, व्योम, क्षादि पुर्योघ), ४. रूपवेध, ५. विज्ञानवेध, ६. पिण्डवेध, ७. स्थानवेध, ८. नाड़ीवेध और परवेध रूप नौ भेद भी मानते हैं। वक्त्रवेध भी गुरुवर्ग करता है। वेध-दीक्षा का वर्णन श्रीतन्त्रालोक भाग ७ में विशेष रूप से किया गया है।

इन वेध-विधियों का विशेषज्ञ दुर्लभ गुरु होता है। उसे 'वेधकार' गुरु कहते हैं ॥७२॥

पदमन्त्रकलायन्त्रसतत्त्वतद्गुणाह्वयम् ।
शोधयेद् यः षडध्वानं स गुरुः कथितः प्रिये ॥७३॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति ! पद, मन्त्र, कला, यन्त्र, तत्त्व, भुवन रूप छ: अध्वाओं का शोधन असाधारण साधना का विषय है। इस शोधन-विधि का विशेषज्ञ 'गुरु' संज्ञा से विभूषित करने योग्य होता है। इस श्लोक में वर्ण अध्वा के स्थान में यन्त्र शब्द का प्रयोग किया गया है ॥७३॥

वेधं पदं विरोधञ्च ग्रहणं मोक्षणं तथा ।
यो वा सम्यग्विजानाति स गुरुः कथितः प्रिये ॥७४॥

वेध के विषय में अभी चर्चा की गयी है। पद षडध्वा का ही एक अंग है। विरोध यहाँ किसी के विरुद्ध आचरण नहीं, वरन् विशिष्ट वेगों के रोध का विज्ञान माना जाता है। ग्रहण और मोक्षण ये दोनों शब्द हेयोपादेय विज्ञान के वाचक हैं। क्या ग्राह्य है और क्या मोक्तव्य है, इसका ज्ञान तन्त्र के अध्येता के लिये अनिवार्यत: आवश्यक है। इन उक्त तत्त्वों का सम्यग् ज्ञान जिस प्राज्ञ पुरुष को हो जाता है, उसे गुरु कहते हैं। भगवान् शंकर प्रिय पार्वती को सम्बोधित कर गुरु की इस परिभाषा का स्पष्टीकरण कर रहे हैं ॥७४॥

जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्तिश्च तुरीयं तदतीतकम् ।
यो वेत्ति पञ्चकं देवि स गुरुः कथितः प्रिये ॥७५॥

गुरु एक महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व से विभूषित ज्ञानवान् पुरुष होता है। वह यह अच्छी तरह जानता है कि, जाग्रत् अवस्था किसे कहते हैं ? सामान्यतया जाग्रत् का जो अर्थ व्यवहार में प्रचलित है, वही अर्थ नहीं होता। यही दशा स्वप्न और सुषुप्ति की भी होती है। तुरीय (चतुर्थ) और तदतीत अवस्थायें भी रहस्यगर्भित अवस्थायें मानी जाती हैं। इन पाँचों अवस्थाओं को जो व्यक्ति जानते हैं, वे ही गुरु कहला सकते हैं ॥७५॥

पिण्डं पदं तथा रूपं रूपातीतं चतुष्टयम् ।
यो वा सम्यग्विजानाति स गुरुः कथितः प्रिये ॥७६॥

इसी तरह पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत इन चारों रहस्यार्थगर्भित शब्दों के

---

१. श्रीत. सप्तम भाग, २९:२३६-२७५।

वास्तविक अर्थ को सम्यक् रूप से और विशेष रूप से जानता है, भगवान् शंकर कहते हैं कि, प्रिये ! वह ज्ञानवान् पुरुष गुरुपद से विभूषित किया जा सकता है ॥७६॥

यो वा पराञ्च पश्यन्तीं मध्यमां वैखरीमपि ।
चतुष्टयं विजानाति स गुरुः कथितः प्रिये ॥७७॥

इसी तरह वाक् तत्त्व के भी चार विभाग अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इन्हें क्रमशः परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी कहते हैं। ये चारों शब्द पारिभाषिक हैं। जो ज्ञानवान् इन चारों के सम्यक् अर्थों को जानता है, भगवान् कहते हैं कि, प्रिये ! उसे गुरु पदवी से विभूषित करते हैं ॥७७॥

आत्मविद्याशिवसर्वमिति तत्त्वचतुष्टयम् ।
यो वेत्ति परमेशानि स गुरुर्नापरः प्रिये ॥७८॥

आत्मतत्त्व, विद्यातत्त्व, शिवतत्त्व और सर्वतत्त्व इन चारों तत्त्वों को जो ज्ञानवान् पुरुष तात्त्विक दृष्टि से जानता है, उसे 'गुरु' कहा जा सकता है ॥७८॥

पाशच्छेदं वेधदीक्षां पशुग्रहणमेव च ।
त्रिविधं यो विजानाति स गुरुः परमो मतः ॥७९॥

पाशच्छेद की विधि क्या है ? वेध-दीक्षा क्या है ? वेध का तात्पर्य क्या है और यह कैसे किया जाता है ? इसकी विधि क्या है ? पशु ग्रहण का तात्पर्य क्या है ? इन तीनों आगमिक रहस्य विधियों को जो जानता है, भगवान् कहते हैं कि, प्रिये ! वह परमगुरु है ॥७९॥

पदं पाशं पशूनाञ्च रहस्यार्थं विधानतः ।
यो जानाति वरारोहे स गुरुः कथितः प्रिये ॥८०॥

पद, पाश और पशु—ये तीनों पारिभाषिक शब्द हैं। इनके अर्थ रहस्यमय सन्दर्भों को आत्मसात् करते हैं। इनके जानने के विधान और इन शब्दों के आन्तरिक, बाह्य विधान जो अच्छी तरह जानता है, प्रिये पार्वति ! वही वस्तुतः गुरु कहलाता है ॥८०॥

चक्रसङ्केतकं मन्त्रं पूजासङ्केतकं तथा ।
त्रितयं यो विजानाति स गुरुः कथितः प्रिये ॥८१॥

चक्रसंकेत, मन्त्र और पूजासंकेत इन तीनों शब्दों के विशिष्टार्थ से जो परिचित होता है, भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! वस्तुतः वही गुरु कहा जाता है ॥८१॥

बाणेतरस्वयम्भ्वाख्यलिङ्गत्रितयसंस्थितिम् ।
तत्त्वतो यो विजानाति स गुरुः कथितः प्रिये ॥८२॥

बाणलिंग, इतरलिंग और स्वयंभू लिंगों की वास्तविक परिभाषा से जो परिचित है, और तदनुसार शिष्यों को शिक्षित करता है, वही गुरु है ॥८२॥

आणवं कार्मणञ्चैव मायीयञ्च मलत्रयम्।
यो विशोधयितुं शक्तः स गुरुः परमो मतः ॥८३॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति ! तीन प्रकार के मल होते हैं। इन्हें आणव, कार्म और मायीय मल कहते हैं। इनके शोधन और परिष्कार से परिचित ही नहीं, इनके विशोधन में विज्ञ पुरुष ही गुरु होता है ॥८३॥

आरक्तशुक्लमिश्रा(कृष्ण)ख्यचरणत्रयवासनाम्।
यो जानाति महादेवि स गुरुः परमो मतः ॥८४॥

आरक्त, शुक्ल और मिश्र (कृष्ण) तीन प्रकार की वासनाओं का वर्णन शास्त्र में है। भगवान् देवाधिदेव शिव कह रहे हैं कि, महादेवि ! इन वासनाओं को जानकर शिष्य की जो रक्षा करता है, वही गुरु है॥८४॥

महामुद्रां नभोमुद्राम् उड्डीयानं जलन्धरम्।
मूलबन्धञ्च यो वेत्ति स गुरुः परमो मतः ॥८५॥

महामुद्रा, नभोमुद्रा (खेचरी), उड्डीयान मुद्रा, जालन्धर और मूलबन्ध, इन मुद्राओं का जो विशेषज्ञ है, वही गुरु कहलाने का अधिकारी है ॥८५॥

शिवादिक्षितिपर्यन्तं षट्त्रिंशत्तत्त्वनिर्णयम्।
यो विजानाति तत्त्वेन स गुरुः परमो मतः ॥८६॥

शिव से लेकर पृथ्वीपर्यन्त छत्तीस तत्त्व तन्त्र और आगम शास्त्रों में विस्तारपूर्वक वर्णित हैं। जो विज्ञ पुरुष तत्त्वत: इन छत्तीस तत्त्वों से परिचित है, वही (परम) गुरु कहा जा सकता है ॥८६॥

अन्तर्यागं बहिर्यागं कलाज्ञानस्थितिं प्रिये।
बाधामन्त्रविधानञ्च यो वेत्ति स गुरुः प्रिये ॥८७॥

अन्तर्याग और बहिर्याग कला-ज्ञान और विज्ञान तथा सुन्दर-सुन्दर शास्त्रवर्णित विभिन्न यन्त्रों के निर्माण का ज्ञाता और इनके रहस्य का जो जानकार है, वही गुरु है ॥८७॥

पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यं स्थितिं यो वेत्ति तत्त्वतः।
शिरास्थिरोमसंख्यादि स गुरुर्नापरः प्रिये ॥८८॥

पिण्ड और ब्रह्माण्ड, इन दोनों के ऐक्य और इनकी वास्तविक स्थिति एवं शरीरस्थ शिरा, अस्थि, रोम-संख्या आदि विषयों का विशेषज्ञ ही 'गुरु' होता है ॥८८॥

पद्मादिचतुरशीतिनानासनविचक्षणः।
यमाद्यष्टाङ्गयोगज्ञः स गुरुः परमो मतः ॥८९॥

पद्म आदि चौरासी प्रकार के आसन योगशास्त्र में प्रसिद्ध हैं। इनकी विधियाँ भी

वहाँ प्रदर्शित हैं। इनके प्रयोग में विचक्षण पुरुष परमगुरु होता है। इसके साथ ही यम-नियम आदि अष्टांग योग का ज्ञाता पुरुष भी परमगुरु श्रेणी में ही आता है ॥८९॥

घृणा शङ्का भयं लज्जा जुगुप्सा चेति पञ्चमी।
कुलं शीलं तथा जातिरष्टौ पाशाः प्रकीर्त्तिताः ॥९०॥

घृणा, शंका, भय, लज्जा, जुगुप्सा, कुल-शील और जाति—ये आठ पाश कहलाते हैं। इनसे बचना चाहिये। ये बन्धन प्रदान करते हैं ॥९०॥

पाशबद्धः पशुर्ज्ञेयः पाशमुक्तो महेश्वरः।
तस्मात् पाशहरो यस्तु स गुरुः परमो मतः ॥९१॥

इन पाशों के बन्धन में बँधे हुए लोग 'पशु' कहलाते हैं। इन पाशों से अपनी उपासना और साधना से कुछ भाग्यशाली लोग मुक्त हो जाते हैं। इस तरह पाशमुक्त ये लोग साक्षात् महेश्वर हो जाते हैं। इस दृष्टि से पाशहारक मन्त्र देने वाले विचक्षण लोग परमगुरु कहलाते हैं ॥९१॥

बन्धनं योनिमुद्राया मन्त्रचैतन्यदर्शनम्।
यन्त्रमन्त्रस्वरूपञ्च यो वेत्ति स गुरुः प्रिये ॥९२॥

योनिमुद्रा एक श्रेष्ठ और कारण-मुद्रा कहलाती है। इसके बन्धन की विधि और उसका अर्थ तथा मन्त्रचैतन्य का दर्शन करने में सफल और इसके साथ ही मन्त्रों और यन्त्रों के स्वरूप का जानकार, ये तीनों प्रकार के लोग परमगुरु होते हैं ॥९२॥

विनिक्षिप्तां गतायातां संक्लिष्टां संविनीतकाम्।
चतुर्विधां मनोऽवस्थां यो वेत्ति स गुरुः प्रिये ॥९३॥

मन की चार अवस्थायें मानी जाती हैं—१. विनिक्षिप्त, २. गतायाता, ३. संक्लिष्ट और ४. संविनीतका। इन मानसिक अवस्थाओं की गतिशीलता को जो व्यक्ति जानता है, वह परमगुरु होता है ॥९३॥

मूलादिब्रह्मरन्ध्रान्तसप्ताम्भोजदलेषु यः।
जीवाचारफलं वेत्ति स गुरुर्नापरः प्रिये ॥९४॥

शरीर में मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त विशिष्ट चक्र होते हैं। इन्हें कमल कहते हैं। इन कमलों में विभिन्न संख्या में पत्र होते हैं। इनमें चार से लेकर १००० तक पत्र होते हैं। इनके द्वारा जीव-जगत् अपनी जीवन-यात्रा पूरी करता है, पर कुछ जानता नहीं। जो विचक्षण पुरुष इन्हें जानता है, वह परमगुरु है ॥९४॥

शिवादिगुरुपर्यन्तं पारम्पर्यक्रमेण यः।
अवाप्ततत्त्वसम्भारः स गुरुर्नापरः प्रिये ॥९५॥

शिव से लेकर गुरुपर्यन्त अपनी गुरुपरम्परा के क्रम से जो तत्त्वज्ञान की सुधाधारा

बह रही है, उस सुधाधारा में तत्त्वज्ञान के रहस्य का अमृत बहता है। जो व्यक्ति अपनी दीक्षा गुरुदेव से प्राप्त कर चुका है, भगवान् कह रहे हैं कि, प्रिये ! वही गुरु है, कोई दूसरा नहीं ॥९५॥

येन वा दर्शिते तत्त्वे तत्क्षणात्तन्मयो भवेत्।
मन्यते मुक्तमात्मानं स गुरुर्नापरः प्रिये ॥९६॥

एक ऐसा तत्त्वज्ञ महाप्राज्ञ पुरुष था, जिससे तत्त्वज्ञान सुनने को जिज्ञासु गया था। तत्त्वज्ञ पुरुष ने उसे ज्ञान की बातें सुनायी ही नहीं, अपितु उसने रहस्य के सूरज का प्रकाश भी दिखलाकर उसे कृतार्थ कर दिया। जिज्ञासु अब स्वयंप्रकाश बनकर तन्मय हो उठा। अब उसमें शुद्ध अहन्ता का उदय हो गया। अब वह स्वयं को मुक्त मानने लगा। भगवान् कह रहे हैं कि, प्रिये ! ऐसा पुरुष ही गुरु है। कोई दूसरा गुरु कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता ॥९६॥

ये दत्त्वा सहजानन्दं हरन्तीन्द्रियजं सुखम्।
सेव्यास्ते गुरवः शिष्यैरन्ये त्याज्याः प्रतारकाः ॥९७॥

जो गुरु शिष्य को सहज आनन्द का वरदान देकर कृतार्थ कर देता है। परिणामतः इन्द्रियजन्य अन्य सारे जागतिक सुख हेय हो जाते हैं। ऐसे ही गुरु शिष्यों के द्वारा सेव्य माने जाते हैं। अन्य सारे गुरु प्रतारक ही कहे जा सकते हैं ॥९७॥

संसारभयभीतस्य शिष्यस्य गुरुरादरात्।
व्रतोपवासनियमैर्नियन्ता स गुरुर्मतः ॥९८॥

संसार के भय से शिष्य भयभीत है। वह गुरु की सेवा में पहुँचता है। गुरु आदर-पूर्वक उसके भय का निराकरण करते हैं। जो व्रत, उपवास, नियमों के माध्यम से उसकी भीति का नियन्त्रण कर देते हैं। ऐसे पुरुष ही गुरु माने जाते हैं ॥९८॥

यः प्रसन्नः क्षणार्द्धेन मोक्षलक्ष्मीं प्रयच्छति।
दुर्लभं तं विजानीयाद् गुरुं संसारतारकम् ॥९९॥

प्रसन्न होकर शक्तिपात कर क्षणार्द्ध में ही जो मोक्ष-लक्ष्मी का वरदान दे देता है, ऐसा संसारसागर से पार उतार देने वाला गुरु निश्चय ही दुर्लभ होता है ॥९९॥

यः क्षणेनात्मसामर्थ्यं स्वशिष्याय ददाति हि।
क्रियायासादिरहितं स गुरुर्दैवदुर्लभः ॥१००॥

गुरुदेव में यह अभूतपूर्व सामर्थ्य होनी चाहिये, जिससे क्षणमात्र में अपनी स्वात्म-शक्ति का चमत्कार अपने शिष्य को देकर उसे दिव्य और कृतार्थ कर दे। इसमें शिष्य को किसी प्रकार के क्रियायोग या साधना आदि का आयास न करना पड़े। ऐसे सद्-गुरुदेव दुर्लभ होते हैं ॥१००॥

यः सद्यः प्रत्ययकरं सुलभञ्चात्मसौख्यदम् ।
ज्ञानोपदेशं कुरुते स गुरुर्देवदुर्लभः ॥१०१॥

जो तत्काल विश्वास उत्पन्न करने वाले, अत्यन्त सुलभ और स्वात्म को सौख्य प्रदान करने वाले होते हैं, ऐसे ज्ञानोपदेश करने वाले गुरुदेव दुर्लभ माने जाते हैं ॥१०१॥

द्वीपाद् द्वीपान्तरं देवि सञ्चरेत्तद्यथा तथा ।
यो दद्यात् स गुरुर्ज्ञानमभ्यासादिविवर्जितम् ॥१०२॥

भगवान् शंकर कहते हैं कि, देवि पार्वति ! ऐसे कोई गुरु भले ही द्वीप से द्वीपान्तर में भ्रमण करते रहें, फिर भी जो गुरु यदि अभ्यास आदि से रहित ज्ञानोपदेश करते हैं, जिससे शिष्य के मन में प्रकाश हो जाय, ऐसे गुरुदेव दुर्लभ हैं ॥१०२॥

क्षुधितस्य यथा तृप्तिराहारादाशु जायते ।
तथोपदेशमात्रेण ज्ञानदो दुर्लभो गुरुः ॥१०३॥

एक व्यक्ति है । भूखा और प्यासा है । उसे आहार मिल गया है । उसकी व्यवस्था कर दी गयी है । भूखे को भोजन से अपार तृप्ति मिलती है, यह स्वाभाविक है । जैसे भूखे को भोजन से तुरन्त तृप्ति मिल जाती है, उसी तरह की तृप्ति गुरुदेव के ज्ञानोपदेश से यदि मिल जाय, तो इसे यह मानना चाहिये कि, ऐसे गुरुदेव दुर्लभ होते हैं और हैं ॥१०३॥

गुरवो बहवः सन्ति दीपवच्च गृहे गृहे ।
दुर्लभोऽयं गुरुर्देवि सूर्यवत् सर्वदीपकः ॥१०४॥

गुरुओं की कमी नहीं है । दुनिया में गुरु भरे पड़े हैं, बहुत हैं । घर-घर में दीप जलकर उजाला करते ही हैं । गुरुजन भी घर-घर में उपलब्ध हो सकते हैं । सभी गुरुओं में ऐसा गुरु दुर्लभ होता है, जो सूरज की तरह सबके घर का दीपक सिद्ध होता है ॥१०४॥

गुरवो बहवः सन्ति वेदशास्त्रादिपारगाः ।
दुर्लभोऽयं गुरुर्देवि परतत्त्वार्थपारगः ॥१०५॥

वेदों में पारंगत, शास्त्रों में विशारद एक से एक बढ़कर गुरु सर्वविद्याविशारद रूप में पड़े हुए हैं । भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! किन्तु परतत्त्वपारंगत गुरु अतीव दुर्लभ होता है ॥१०५॥

गुरवो बहवः सन्ति आत्मनोऽन्यप्रदा भुवि ।
दुर्लभोऽयं गुरुर्देवि लोकेष्वात्मप्रकाशकः ॥१०६॥

संसार में ऐसे गुरुओं की कमी नहीं है, वह भरे पड़े हैं, जो आत्मज्ञान के अतिरिक्त अन्य सब कुछ प्रदान करने में दक्ष हैं । भगवान् कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! लोक में आत्मप्रकाशक गुरु दुर्लभ होते हैं ॥१०६॥

गुरवो बहवः सन्ति कुमन्त्रौषधिवेदिनः ।
निगमागमशास्त्रोक्तमन्त्रज्ञो दुर्लभो भुवि ॥१०७॥

असिद्ध मन्त्रों को जानने वाले गुरुओं की यहाँ बहुतायत है । ऐसे लोग भी हैं, जो औषधि के नाम पर जहर ही वितरित करते हैं; किन्तु निगम, आगम और अन्य शास्त्रों में लिखे गये मन्त्रों के सिद्ध गुरु दुर्लभ होते हैं ॥१०७॥

गुरवो बहवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः ।
दुर्लभोऽयं गुरुर्देवि शिष्यदुःखापहारकः ॥१०८॥

शिष्य की वृत्ति पर जीने वाले और उनके वित्त के अपहरण में तत्पर बहुत से गुरु इस जगत् में विद्यमान हैं । भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! वे गुरु बड़ी कठिनाई से मिलते हैं, जो शिष्य के समस्त दुःखों का विनाश कर उनकी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त कर देते हैं ॥१०८॥

वर्णाश्रमकुलाचारनिरता बहवो भुवि ।
सर्वसङ्कल्पहीनो यः स गुरुर्देवि दुर्लभः ॥१०९॥

वर्णाश्रम धर्म और कुलदर्शन रूप कौलमार्ग के विशेषज्ञ इस भूमण्डल में बहुत से गुरुजन भरे हुए हैं । भगवान् कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! किन्तु ऐसे गुरु दुर्लभ होते हैं, जो सभी संकल्पों को अतिक्रान्त कर निष्कल जीवन व्यतीत करते हैं ॥१०९॥

गुरोर्यस्यैव सम्पर्कात् परानन्दोऽभिजायते ।
गुरुं तमेव वृणुयान्नापरं मतिमान्नरः ॥११०॥

जिस गुरुदेव के सम्पर्क से परानन्द-मकरन्द-सन्दोह की उपलब्धि होती है, ऐसे ही पहुँचे हुए गुरु का सद्गुरुदेव के रूप में वरण करना चाहिये । बुद्धिमान् व्यक्ति की बुद्धिमानी का यही प्रमाण है ॥११०॥

यस्यानुभवपर्यन्तं बुद्धिस्तत्र प्रवर्त्तते ।
तस्यालोकनमात्रेण मुच्यते नात्र संशयः ॥१११॥

यह बहुत ही रहस्य की बात है । कभी-कभी उच्चस्तरीय चमत्कारपूर्ण अनुभव घटित होते हैं; किन्तु दुर्भाग्यवश अनुभूति की उस पराकाष्ठापर्यन्त उसकी बुद्धि नहीं जाती । बहुत से ऐसे भाग्यशाली साधक होते हैं, जिनकी अनुभूतियों का रहस्य भी बुद्धि में प्रकाशमान हो जाता है । ऐसे गुरु धन्य और दुर्लभ हैं, जिसके एक बार अनुग्रहपूर्ण भाव से देख लेने मात्र से शिष्य का भविष्य-पथ प्रशस्त हो जाता है, वही वरणीय गुरु हैं ॥१११॥

शङ्कया भक्षितं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
सा शङ्का भक्षिता येन स गुरुर्देवि दुर्लभः ॥११२॥

शंका एक राक्षसी ही है। इसने सचराचर सारे त्रैलोक्य को ग्रास ही बना लिया है। भगवान् कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! इस कृत्यारूपिणी शंका को ही जो ग्रास बना लेता है, ऐसा गुरु दुर्लभ माना जाता है ॥११२॥

यथा वह्निसमीपस्थं नवनीतं विलीयते।
तथा पापं विलीयेत सदाचार्यसमीपतः ॥११३॥

नवनीत को आग के समक्ष रख दीजिए, वह विगलित हो जायेगा। उसका रूपान्तरण अवश्यंभावी है। इसी तरह सच्चे आचार्य के पास पहुँचते ही पापी के पाप विगलित हो जाते हैं और बुद्ध के समक्ष अंगुलिमाल की तरह पापी अर्थात् सुदुराचारी भी साधु हो जाते हैं ॥११३॥

यथा दीप्तानलः काष्ठं शुष्कमार्द्रञ्च निर्दहेत्।
तथा गुरुकटाक्षस्तु शिष्यपापं दहेत् क्षणात् ॥११४॥

अग्निदेव अपने प्रबल जाज्वल्यमान रूप में सहस्र शिखाओं से आकाश का आलिंगन कर रहे हैं। नीचे अंगारे भभक-दहक रहे हैं। उसमें आप सूखी या गीली किसी प्रकार की लकड़ी डाल दें। वह भस्मसात् होकर रहेगी। भगवान् कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! उसी तरह गुरुदेव का कटाक्षपात शिष्य के समस्त पापों को क्षणमात्र में ही भस्मसात् कर देता है ॥११४॥

यथा महानिलोद्धूतं तूलं दशदिशो व्रजेत्।
तथैव गुरुकारुण्यात् पापराशिः पलायते ॥११५॥

जोरों की आँधी चल रही है। उसमें आप धुनी हुई रूई अथवा बिना धुनी रूई उड़ायें, उसका अता-पता नहीं चलेगा कि वह कहाँ गयी ? वही दशा गुरुदेव के कारुण्यवात के महाप्रवाह की है। उसके सामने शिष्य की पापराशि का पता भी नहीं चलेगा कि, वह कहाँ विलीन हो गयी ? ॥११५॥

दीपदर्शनमात्रेण प्रणश्यति तमो यथा।
सद्गुरोर्दर्शनाद्देवि तथाऽज्ञानं विनश्यति ॥११६॥

दीप के दर्शन मात्र से अन्धकार का नाश हो जाता है, इसी तरह सद्गुरुदेव के दर्शन मात्र से अज्ञानरूपी अन्धकार का सर्वनाश हो जाता है ॥११६॥

सर्वलक्षणसम्पन्नो वेदशास्त्रविधानवित्।
सर्वोपायविधानज्ञस्तत्त्वज्ञानी गुरुः स हि ॥११७॥

गुरुदेव के जितने लक्षण शास्त्र में निर्दिष्ट हैं, उन सभी शुभ लक्षणों से सम्पन्न गुरु होना चाहिये। वेदों और शास्त्रों में सामान्य सामाजिक और चारित्रिक विधान हैं, उनके वेत्ता गुरुदेव ही होते हैं। इसी तरह सभी आणव, मायीय और शाम्भव उपायों के भी विशेषज्ञ और विधानज्ञ होते हैं। गुरु ऐसा ही होना चाहिये, जो तत्त्वज्ञ हो ॥११७॥

पूजाहोमाश्रमाचारतपस्तीर्थव्रतादिकम् ।
मन्त्रागमादिविज्ञानं तत्त्वहीनस्य निष्फलम् ॥११८॥

पूजा, होम, आश्रम, आचार, तप, तीर्थ और व्रत आदि जीवन को उत्कर्ष की ओर ले जाने वाले कार्य हैं। इसी के साथ मन्त्रों और आगमों के ज्ञान-विज्ञान उसके लिये निष्फल हो जाते हैं, जो तत्त्वज्ञान से ही रहित हैं। अत: तत्त्वज्ञ होना गुरु के लिये अनिवार्यत: आवश्यक है ॥११८॥

स्वयं वेद्ये परे तत्त्वे स्वात्मानं वेत्ति निश्चलः ।
आत्मनोऽनुग्रहो नास्ति परस्यानुग्रहः कथम् ॥११९॥

परतत्त्व स्वयं वेद्य है। इस स्तर पर पहुँचने वाला स्वात्म की रहस्यात्मकता का निश्चल तत्त्वज्ञ होता है। जिसके ऊपर आत्मतत्त्व का ही अनुग्रह नहीं है, वह पर के अनुग्रह का अधिकारी नहीं हो सकता ॥११९॥

षट्प्रकारं मनोरूपं प्रत्यक्षं स्वतनुस्थितम् ।
यो न जानाति चान्यस्य कथं मोक्षं ददात्यसौ ॥१२०॥

मन का स्वरूप ब्रह्म के आकार से मिलता-जुलता है। यह अपने शरीर में अवस्थित प्रत्यक्ष ब्रह्म है। जो गुरु अपने मन के इस महान् रूप को नहीं जानता, वह दूसरों को मोक्ष कैसे प्रदान कर सकता है? ॥१२०॥

सर्वलक्षणहीनोऽपि तत्त्वज्ञानी गुरुः स्मृतः ।
तस्मात्तत्त्वविदेवेह मुक्तो मोचक एव च ॥१२१॥

गुरु तत्त्वज्ञानी होना ही चाहिये। भगवान् कहते हैं कि, सभी लक्षणों से हीन होते हुए भी ज्ञानवान् गुरु ही उत्तम होता है। इसीलिये यह सिद्धान्त है कि, तत्त्वविद् व्यक्ति ही स्वयं मुक्त है और वही दूसरों को भी मुक्त कर सकता है ॥१२१॥

यस्तत्त्वविन्महेशानि स पशुं बोधयत्यपि ।
तत्त्वहीनात् कुतोऽध्यात्मतत्त्वज्ञानपरिग्रहः ॥१२२॥

भगवान् कह रहे हैं कि, महामाहेश्वरी देवि! स्वयं मुक्त गुरु ही पशुभाव में पड़े हुए पुद्गल पुरुषों को बोध के महाप्रकाश से प्रकाशित कर सकता है। यह निश्चित है कि, तत्त्वहीन से तत्त्वज्ञान का ग्रहण नहीं हो सकता ॥१२२॥

तत्त्वज्ञैरुपदिष्टा ये तत्त्वज्ञास्ते न संशयः ।
पशुभिश्चोपदिष्टा ये देवि ते पशवः स्मृताः ॥१२३॥

जो भाग्यशाली शिष्य तत्त्वज्ञ गुरुजनों से उपदिष्ट हैं, वे शिष्य भी अवश्य ही तत्त्वज्ञ हैं, इसमें संशय की कोई गुंजायश नहीं। विपरीत इसके जो पशुजनों से उपदिष्ट हैं, उन्हें पशुश्रेणी में ही गिना जा सकता है ॥१२३॥

विद्धस्तु वेधयेद्देवि नाविद्धो वेधको भवेत्।
मुक्तस्तु मोचयेद्बद्धं न मुक्तो मोचकः कथम् ॥१२४॥

जो विद्ध हैं अर्थात् वेधदीक्षा प्राप्त कर चुके हैं, वही शिष्य को भी वेध-दीक्षा दे सकते हैं। जो अविद्ध है, अर्थात् वेध-दीक्षारहित है, वह किसी दूसरे को वेध-दीक्षा नहीं दे सकता। जो मुक्त है, वही मोचन का पावन कार्य सिद्ध कर सकता है। जो मुक्त नहीं, वह मोचक नहीं हो सकता ॥१२४॥

अभिज्ञश्चोद्धरेन्मूर्खं न मूर्खो मूर्खमुद्धरेत्।
शिलां सन्तारयेन्नौर्हि किं शिला तारयेच्छिलाम् ॥१२५॥

अभिज्ञ पुरुष ही मूर्ख का उद्धार कर सकता है। मूर्ख से मूर्ख के उद्धार की बात सोची भी नहीं जा सकती। शिला को नदी के उस पार नाव ही ले जा सकती है। क्या कहीं शिला स्वयं दूसरी शिला को पार लगा सकती है? ॥१२५॥

तत्त्वहीनं गुरुं लब्ध्वा केवलं भवतत्परः।
इहामुत्र फलं किञ्चित् स नरो नाप्नुयात् प्रिये ॥१२६॥

तत्त्वहीन गुरु को पाकर कोई भी शिष्य सांसारिक वृत्तियों में ही परायण हो सकता है। वह ऐहिक उत्कर्ष और पारलौकिक तत्त्वज्ञान कभी नहीं पा सकता ॥१२६॥

शैवे गुरुत्रयं प्रोक्तं वैष्णवे गुरुपञ्चकम्।
वेदशास्त्रेषु शतशो गुरुरेकः कुलान्वये ॥१२७॥

शैवशास्त्र परमेष्टि, परम और दीक्षागुरु रूप तीन गुरु-श्रेणियों का प्रकल्पन है। वैष्णव मत पाँच गुरुजनों की बात करता है। वेदों और शास्त्रों में सौ गुरुओं का कथन है; किन्तु कुलमार्ग 'ज्ञानवान्' एक गुरु ही मानता है ॥१२७॥

प्रेरकः सूचकश्चैव वाचको दर्शकस्तथा।
शिक्षको बोधकश्चैव षडेते गुरवः स्मृताः ॥१२८॥

प्रेरक, सूचक, वाचक, दर्शक, शिक्षक और बोधक इन छः प्रकार की गुरु-श्रेणियों की मान्यता सभी लोग स्वीकार करते हैं। वस्तुतः इस मान्यता में एक क्रम है ॥१२८॥

पञ्चैते कार्यभूताः स्युः कारणं बोधको भवेत्।
पूर्णाभिषेककर्त्ता यो गुरुस्तस्यैव पादुका ॥
पूजनीया महेशानि बहुत्वेऽपि न संशयः ॥१२९॥

इन छः प्रकार के गुरुजनों में पहले वाले पाँच तो कार्यसिद्धि को आगे बढ़ाने में लगे रहने वाले लोग माने जाते हैं; किन्तु छठें स्तर का बोधक गुरु ही मुक्ति का कारण होता है। दीक्षा के उपरान्त जो गुरु पूर्णाभिषेक करता है, उसी की चरणपादुका पूजनीय

होती है। देवि पार्वति ! भले ही गुरु बहुत लोग हों, पर पादुका तो पूर्णाभिषेककर्त्ता की ही पूज्य है ॥१२९॥

श्रीगुरुं लक्षणोपेतं संशयच्छेदकारकम्।
लब्ध्वा ज्ञानप्रदं देवि न गुर्वन्तरमाश्रयेत् ॥१३०॥

सर्वलक्षणों से सम्पन्न और शिष्य के समस्त संशयों का निराकरण करने में समर्थ, ज्ञानप्रद गुरुवर्य को पाकर फिर किसी गुरु के पास नहीं जाना चाहिये ॥१३०॥

अनभिज्ञं गुरुं प्राप्य सदा संशयकारकम्।
गुर्वन्तरन्तु गत्वा स नैतद्दोषेण लिप्यते ॥१३१॥

सर्वदा संशय को जन्म देने वाले और तत्त्वज्ञान से रहित गुरु के मिल जाने की अवस्था में शिष्य का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि, वह गुर्वन्तर की शरण ले। उसका यह काम दोषपूर्ण नहीं होता ॥१३१॥

मधुलुब्धो यथा भृङ्गः पुष्पात् पुष्पान्तरं व्रजेत्।
ज्ञानलुब्धस्तथा शिष्यः गुरोर्गुर्वन्तरं व्रजेत् ॥१३२॥

भ्रमर मधुव्रती होता है। वह एक पुष्प से मकरन्द-रसास्वाद के लिये दूसरे पुष्पों के पास जाता ही है। उसी प्रकार ज्ञान का पिपासु शिष्य एक गुरु से अन्य गुरुजनों की शरण ले, इसमें किसी प्रकार का दोष नहीं ॥१३२॥

इति ते कथितं किञ्चिल्लक्षणं गुरुशिष्ययोः।
समासेन कुलेशानि किम्भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥१३३॥

भगवान् देवाधिदेव महादेव महेश्वर ने कहा—देवि ! कुलस्वामिनि ! मैंने संक्षेप में तुम्हें गुरु-शिष्य के लक्षण के सम्बन्ध में जो कुछ सुनाया, उसे तुमने ध्यानपूर्वक सुना। अब तुम बताओ, इसके आगे तुम क्या सुनना चाहती हो। मैं सुनाने के लिये तत्पर हूँ ॥१३३॥

सर्वागमोत्तमोत्तम महारहस्यमय ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकुलार्णवतन्त्रान्तर्गत डॉ. परमहंस-मिश्रविरचित नीर-क्षीर-विवेक-भाषाभाष्यसंवलित 'गुरुशिष्यलक्षण-कथन' नामक त्रयोदश उल्लास परिपूर्ण ॥१३॥

॥ शुभं भूयात् ॥

चतुर्दश उल्लासः

श्रीदेव्युवाच

कुलेश श्रोतुमिच्छामि परीक्षां गुरुशिष्ययोः।
उपदेशक्रमं दीक्षाभेदांश्च वद मे प्रभो ॥१॥

कुलस्वामिनी श्रीदेवी ने कहा—कुलेश्वर! मेरी इच्छा है कि, गुरु और शिष्य इन दोनों की कैसे परीक्षा ली जाती है, इस विषय में आप से सुनूँ। इनके उपदेश का क्रम क्या है ? अथवा परीक्षा के भेद क्या हैं ? इस विषय को भी मैं सुनना चाहती हूँ। भगवन्! कृपा कर आप मुझे यही सुनाकर अनुगृहीत करें ॥१॥

ईश्वर उवाच

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
तस्य श्रवणमात्रेण चित्तशुद्धिः प्रजायते ॥२॥

कुलेश्वर भगवान् ने कहा—देवि! मैं अवश्य ही तुम्हारी जिज्ञासा की पूर्त्ति करूँगा। तुम्हारे इच्छित विषय के सम्बन्ध में बताऊँगा। तुमने जो कुछ पूछा है, उसका समाधान करूँगा। यह ऐसा विषय है, जिसके सुनने मात्र से चित्त की शुद्धि हो जाती है ॥२॥

विना दीक्षां न मोक्षः स्यात्तदुक्तं शिवशासने।
सा च न स्याद्विनाचार्यमित्याचार्यपरम्परा ॥३॥

यह सिद्धान्त है कि, विना दीक्षा के मोक्ष नहीं होता। यह सिद्धशिवशासन में प्रतिपादित है। दीक्षा का यह कार्य विना आचार्य के सम्भव नहीं है। आचार्य परम्परा सम्प्रदायसिद्ध दीक्षा का प्रवर्त्तन करती है ॥३॥

तस्मात् सिद्धान्तं सम्प्राप्य सम्प्रदायादिहेतुभिः।
अन्तरेणोपदेष्टारं मन्त्राः स्युर्निष्फला यतः ॥४॥

सिद्धान्त ही सम्प्रदाय के उत्कर्ष के कारण हैं। सम्प्रदाय के उत्कर्ष के उद्देश्य के विना ही उपदेश करने वाले से सिद्धान्त पाकर भी कोई लाभ नहीं होता; क्योंकि हीन उपदेष्टा से प्राप्त मन्त्र भी निष्फल हो जाते हैं ॥४॥

देवास्तमेव शंसन्ति पारम्पर्यप्रवर्तकम्।
गुरुं मन्त्रागमाभिज्ञं समयाचारपालकम् ॥५॥

देववर्ग भी उसी गुरुदेव का शंसन करता है, जो परम्परा से प्राप्त पारम्परिक कुलाचार का प्रवर्त्तक होता है। मन्त्रों और आगमिक रहस्यों का पूर्ण ज्ञानवान् होता है। साथ ही साथ स्वयं समयाचार का पालन करने वाला महान् कौलिक होता है ॥५॥

गुरुः शिष्याधिकारार्थं विरक्तोऽपि शिवाज्ञया ।
किञ्चित्कालं विधायेत्थं स्वशिष्याय समर्पयेत् ॥६॥

गुरु विरक्त है। उसके सामने दो प्रश्न मुँह बाये खड़े हैं। एक तरफ विरक्त वैराग्यपूर्ण जीवन और दूसरी ओर सम्प्रदायसिद्ध शिष्य का अधिकार। ऐसी स्थिति में वह क्या करे ? वैराग्यपूर्ण जीवन में विरक्ति को अपना कर भी शिवशासन के आदेशानुसार वह अपने शिष्य को भी गुरुत्व का अर्पण कर दे ॥६॥

तस्यार्पिताधिकारस्य योगः साक्षात् परे शिवे ।
देहान्ते शाश्वती मुक्तिरिति शङ्करभाषितम् ॥७॥

शिष्य को गुरु गुरुत्व का अधिकार प्रदान करते हैं। उस समय उसे अर्पिताधिकार कहते हैं। इस क्रिया से शिष्य का परमशिव से योग हो जाता है। यह तो उसके जीवन को धन्य बनाने की प्रक्रिया है। जीवन के अन्त अर्थात् देहान्त के बाद उसे शाश्वती मुक्ति प्राप्त होती है। यह स्वयं भगवान् शंकर के वरदानभरे वाक्य हैं, अर्थात् इसमें संशय नहीं करना चाहिये ॥७॥

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन साक्षात्परशिवोदितम् ।
सम्प्रदायमविच्छिन्नं सदा कुर्याद् गुरुः प्रिये ॥८॥

इसलिये गुरु का यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व है कि, वह स्वयं परमेश्वर द्वारा उक्त वचनों का पूरी शक्ति लगाकर आस्थापूर्वक पालन करे और अनवरत इस सम्प्रदाय को अविच्छिन्न रूप से प्रवर्त्तित रहने में अपना जीवन अर्पित कर दे। प्रिय पार्वती को सम्बोधित कर भगवान् शिव ने इस तरह कहा ॥८॥

शक्तिसिद्धिसुसिद्ध्यर्थं परीक्ष्य विधिवद् गुरुः ।
पश्चादुपदिशेन्मन्त्रमन्यथा निष्फलं भवेत् ॥९॥

यह शक्तिसिद्धि की प्रक्रिया है। यह शाक्तदृष्टि है। इसकी पुष्टि के लिये गुरु को इसकी परीक्षा कर लेनी चाहिये कि, अभी सिद्धि पूर्ण हुई या अभी समयसाध्य है। इस प्रकार विधिवत् परीक्षा करने के उपरान्त ही मन्त्र का उपदेश करे। ऐसा न करने पर मन्त्र निष्फल हो जाते हैं ॥९॥

अन्यायेन तु यो दद्याद् गृह्णात्यन्यायतश्च यः ।
ददतो गृह्णतो देवि कुलशापो भविष्यति ॥१०॥

त्याग और परिग्रह, देना और ग्रहण करना, दोनों क्रियायें न्यायपूर्ण होनी चाहिये। अन्यायपूर्ण दान और अन्यायपूर्ण ग्रहण कुलाचार में नितान्त निषिद्ध हैं। ऐसे दान और ग्रहण करने वाले दोनों कुलशाप से अभिशप्त हो जाते हैं ॥१०॥

गुरुशिष्यावुभौ मोहादपरीक्ष्य परस्परम् ।
उपदेशं ददद् गृह्णन् प्राप्नुयातां पिशाचताम् ॥११॥

चाहे गुरु हो या शिष्य, परस्पर विना परीक्षा किये मन्त्रदान करने की और मन्त्र को ग्रहण करने की क्रिया के अपराधी होते हैं। इसके दुष्परिणामस्वरूप दोनों को पिशाचता की प्राप्ति होती है ॥११॥

अशास्त्रीयोपदेशञ्च यो गृह्णाति ददाति हि।
भुञ्जाते तावुभौ घोरान्नरकानेकविंशतिम् ॥१२॥

उपदेश शास्त्र का या शास्त्रसम्मत होना चाहिये। अशास्त्रीय उपदेश कभी नहीं देना चाहिये। अशास्त्रीय उपदेश देने और सुनने वाले दोनों समानरूप से दोषी होते हैं। इन दोनों को एकविंशति वर्षों या पुरुषों तक घोर नारकीय दुःख भोगना पड़ता है ॥१२॥

असंस्कृतोपदेशञ्च यः करोति स पातकी।
विनश्यति च तन्मन्त्रं सैकते शालिबीजवत् ॥१३॥

उपदेश संस्कारकारक होना चाहिये। असंस्कृत उपदेश देनेवाला पातकी माना जाता है। उसके सारे उपदेश या मन्त्रोपदेश उसी प्रकार निष्फल और व्यर्थ हो जाते हैं, जैसे बालुकामयी सैकतभूमि में धान का बीज बोना निष्फल हो जाता है ॥१३॥

अनर्हे मन्त्रविज्ञानं न तिष्ठति कदाचन।
तस्मात् परीक्ष्य कर्त्तव्यमन्यथा निष्फलं भवेत् ॥१४॥

अनर्ह अर्थात् अर्हताहीन अयोग्य मन्त्रविज्ञान स्थायी नहीं हो सकता, अर्थात् उसके संस्कार अशुद्ध और निष्फल हो जाते हैं। इसलिये मन्त्रोपदेशसदृश महत्त्वपूर्ण कार्य परीक्षा के उपरान्त ही करना चाहिये ॥१४॥

कृत्वा समयदीक्षाञ्च दत्त्वा समयपादुकाम्।
सन्निधायात्मनः शिष्यं वदेन्मन्त्रं न चान्यथा ॥१५॥

सर्वप्रथम शिष्य को समयदीक्षा दी जानी चाहिये। तदुपरान्त समयाचार के अनुरूप समयपादुका मन्त्र देना उचित माना जाता है। इसके बाद अपने शिष्य को अपनी सन्निधि में अधिवास देकर तदुपरान्त मन्त्र देना चाहिये। अन्यथा मन्त्र निष्फल हो जाते हैं ॥१५॥

सच्छिष्यायातिभक्ताय यज्ज्ञानमुपदिश्यते।
तज्ज्ञानं तत्तु शास्त्रार्थं तद्विदध्यादखण्डितम् ॥१६॥

संस्कारसमन्वित सुशिष्य का यह लक्षण है कि, वह श्रद्धावान् गुरुभक्तिसम्पन्न होता है। ऐसे शिष्य को जिस ज्ञान का उपदेश दिया जाता है, उस महत्त्वपूर्ण ज्ञान, उस महत्त्वपूर्ण शास्त्रार्थ रहस्य को अखण्डित रखना चाहिये, अर्थात् नियमित नित्य स्वाध्याय और आचरण द्वारा निरन्तर व्यवहार में लाना चाहिये ॥१६॥

असच्छिष्येष्वभक्तेषु यज्ज्ञानमुपदिश्यते।
तत् प्रयात्यपवित्रत्वं गोक्षीरं श्वघृतादिव ॥१७॥

असत् शिष्य और भक्तिरहित कुशिष्य को जिस ज्ञान का उपदेश किया जाता है, वह उपदेश पावन नहीं रह पाता, अपवित्र हो जाता है। उदाहरण देते हुए भगवान् कह रहे हैं कि, जैसे गाय का दूध श्वानघृत के योग से अपवित्र हो जाता है। यहाँ उपदेश गोदुग्ध के समान और कुशिष्य का मन श्वानघृत के समान जानना चाहिये ॥१७॥

धनेच्छाभयलोभाद्यैरयोग्यं यदि दीक्षयेत्।
देवताशापमाप्नोति कृतञ्च निष्फलं भवेत् ॥१८॥

धन की इच्छा से, भय से, लोभ से या ऐसे ही किसी अनपेक्षित कारणवश कोई गुरु किसी असत् शिष्य को दीक्षित करता है, वह मन्त्राधिष्ठित देवता के शाप से अभिशप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त उसकी सारी सक्रियता नष्ट हो जाती है ॥१८॥

ज्ञानेन क्रियया वापि गुरुः शिष्यं परीक्षयेत्।
संवत्सरं तदर्द्धं वा तदर्द्धं वा प्रयत्नतः ॥१९॥

ज्ञान के माध्यम से या क्रिया-प्रक्रिया के माध्यम से शिष्य की परीक्षा गुरु को करनी चाहिये। आवश्यकतानुसार एक वर्ष तक यह परीक्षा ली जा सकती है। शिष्य की योग्यता को देखकर छः माह या तीन माह या इससे भी कम समय में प्रयत्नपूर्वक परीक्षा लेकर ही दीक्षा दे ॥१९॥

उत्तमांश्चाधमे कुर्यान्नीचानुत्तमकर्मणि।
प्राणद्रव्यप्रणामाद्यैरादेशैश्च स्वयं समैः ॥२०॥

यह सद्‌गुरुदेव के ऊपर निर्भर करता है कि वह परीक्षाफल की दृष्टि से उत्तम लगने वाले को निम्न श्रेणी में डाल दे या कम आँके गये किसी शिष्य को उत्तम श्रेणी दे दे। जो शिष्य गुरु को प्राणों को भी अर्पित करने के लिये तैयार हो, धन से पूरी तरह गुरुसेवारत हो या नम्रता से समन्वित हो या अन्य किसी उचित कारणवश अपने निष्पक्ष आदेश से भी वह ऐसे शिष्यों के प्रति इस प्रकार के निर्णय के लिये स्वतन्त्र है ॥२०॥

तत्कर्मसूचकैर्वाक्यैर्मायाभिः क्रूरचेष्टितैः।
पक्षपातैरुदासीनैरनेकैश्च मुहुर्मुहुः ॥२१॥

गुरु यह देखता रहता है कि, शिष्य ऐसे वाक्यों का प्रयोग कर रहा है, जिससे क्रूरतापूर्ण कर्म की सूचना मिल रही है। वह यह भी सावधानीपूर्वक देखता है कि, शिष्य इस प्रकार का क्रूर व्यापार कर रहा है। पक्षपातपूर्ण कार्यों के साथ उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य के प्रति औदासीन्यपूर्ण व्यवहार कर रहा है। इस तरह के अनेक कार्यों को धीरे-धीरे अपने संज्ञान में लेता रहता है ॥२१॥

आकृष्टस्ताडितो वापि यो विषादं न याति च।
गुरुः कृपां करोतीति मुदा सञ्चिन्तयेत् सदा ॥२२॥

इन उक्त कार्यों से शिष्य को सुधारने के उद्देश्य से उसके प्रति आकृष्ट होकर वह

उसे शारीरिक दण्ड देने के लिये बाध्य हो जाता है। शिष्य पिट गया है; किन्तु गुरु के प्रति विषाद नहीं प्रदर्शित करता। क्रोध आदि की प्रतिक्रिया उसमें नहीं होती। वरन् उल्टे वह यह सोचने लगता है कि, मुझे सत्पथ पर लाने के लिये गुरु ने मेरे ऊपर कृपा ही की है। अच्छे शिष्य का इसी तरह की सोच से कल्याण होता है। अतः शिष्य का ऐसा सोचना ही उचित माना जाता है। उसे ऐसा ही सोचना चाहिये ॥२२॥

श्रीगुरोः स्मरणे चापि कीर्त्तने दर्शनेऽपि च।
वन्दने परिचर्यायामाह्वाने प्रेषणे प्रिये ॥२३॥

गुरुदेव के स्मरण में, उनके गुणों के कीर्त्तन अर्थात् बातचीत में अथवा उनके दर्शन में, उनके वन्दन और अभिनन्दन में, उनकी सेवा में, उनके द्वारा बुलाये जाने पर या कहीं किसी उद्देश्य से भेजने पर भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति ! शिष्य को प्रसन्न होना चाहिये ॥२३॥

आनन्दकम्परोमाञ्चस्वरनेत्रादिविक्रियाः ।
येषां स्युस्तेऽत्र योग्याश्च दीक्षासंस्कारकर्मणि ॥२४॥

ऐसे कार्यों में गुरु द्वारा नियुक्त कर देने पर भी विपरीत अनुभव न कर जो शिष्य आनन्द का अनुभव करता है, हर्षातिरेक से उसे रोमहर्ष हो उठता है, खुशी से नाच उठता है, स्वर गद्गद, आँखों में प्रेमाश्रु अथवा उसमें अन्य प्रकार के प्रसन्नता के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं, ऐसे शिष्य ही योग्य शिष्य होते हैं। उन्हें दीक्षा-संस्कार सदृश कार्यों में प्राथमिकता देनी चाहिये ॥२४॥

शिष्योऽपि लक्षणैरेतैः कुर्याद् गुरुपरीक्षणम्।
आनन्दाद्यैर्जपस्तोत्रध्यानहोमार्चनादिषु ॥२५॥

शिष्य भी ऐसे कार्यों द्वारा गुरु की परीक्षा करे। वह देखे कि, मेरी सेवा से गुरुदेव को आनन्द मिल रहा है या नहीं। मेरे जप की प्रक्रिया, स्तोत्रपाठ, ध्यान, होम और अर्चन आदि कार्यों में मनोयोगपूर्वक लगे रहने पर भी वे प्रसन्न हो रहे हैं या नहीं ॥२५॥

ज्ञानोपदेशसामर्थ्यं मन्त्रसिद्धिमपीश्वरि।
वेधकत्वं परिज्ञाय शिष्यो भूयान्न चान्यथा ॥२६॥

उनमें ज्ञान के उपदेश देने का सामर्थ्य है या नहीं ? उनमें मन्त्र की सिद्धि का बल है या नहीं ? भगवान् शंकर कह रहे हैं कि देवि ! ऐश्वर्यसम्पन्न परमेश्वरि पार्वति ! उनमें वेध-दीक्षा देने का सामर्थ्य है या नहीं ? इत्यादि योग्यताओं की परीक्षा के उपरान्त ही शिष्यता स्वीकार करनी चाहिये ॥२६॥

आदिमध्यावसानेषु योग्याः शक्तिनिपातिताः।
अधमा मध्यमाः श्रेष्ठाः शिष्या देवि प्रकीर्त्तिताः ॥२७॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि दिव्य शक्तियों से सम्पन्न देवि पार्वति ! शिष्य तीन

प्रकार के माने जाते हैं—१. उत्तम, २. मध्यम और ३. अधम। उत्तम शिष्य वह होता है, जिसे आदि में देखते ही जानकर गुरु शिष्य पर शक्तिपात कर देता है। मध्यम शिष्य वह होता है, जिसे क्रमशः संस्कारसम्पन्न बनने में कुछ विलम्ब होता है, फिर भी उसे कार्यक्रम के मध्य में ही शक्तिपात का वरदान उपलब्ध हो जाता है। तीसरा अधम शिष्य माना जाता है, जिसे अन्त में शक्तिपात से गुरुदेव कृतार्थ करते हैं ॥२७॥

आदौ भक्तिर्भवेद्देवि दीक्षार्थं समुदन्ति ये।
पुनर्विपुलहृष्टास्ते आदियोग्या इतीरिताः ॥२८॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि देवि ! आदियोग्य वे शिष्य होते हैं, जिनके मन में भक्ति का उद्रेक पहले ही हो जाता है। उसके बाद दीक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से वे गुरु का शरण ग्रहण करते हैं और अपनी योग्यता से दीक्षित होने में सफल हो जाते हैं। परिणामस्वरूप उनकी खुशी का ठिकाना नहीं रहता। असीम आनन्द का अनुभव वे प्राप्त करते हैं ॥२८॥

दीक्षासमयसम्प्राप्ता ज्ञानविज्ञानवर्जिताः।
भक्त्या प्रध्वस्तपर्याया मध्ययोग्याश्च ते स्मृताः ॥२९॥

मध्यम श्रेणी के शिष्य वे होते हैं, जो दीक्षा लेने के समय पर उपस्थित हो जाते हैं। दीक्षा प्राप्त भी कर लेते हैं। जहाँ तक दीक्षोपरान्त ज्ञान-विज्ञान के अर्जन का प्रश्न है, उसी में असफल हो जाते हैं। परिणामस्वरूप मूर्ख के मूर्ख ही रह जाते हैं। उनका सर्वोत्तम गुण उनकी भक्ति होती है, जिसमें उनके सारे दोष प्रध्वस्त हो जाते हैं ॥२९॥

आदौ भक्तिविहीना ये मध्यभक्तास्तु ये नराः।
अन्तप्रवृद्धभक्ताश्च अन्तयोग्या भवन्ति ते ॥
उत्तमज्ञानसंज्ञाश्चेत्युपदेशस्त्रिधा प्रिये ॥३०॥

तीसरी अधम श्रेणी के शिष्य वे होते हैं, जो पहले ही भक्तिरहित होते हैं। बीच में समयानुसार उनके मन में कभी-कभी भक्ति के अंकुर फूटते भी दृष्टिगोचर होते हैं। बाद में गुरुभक्ति दृढ होते-होते जीवन जरा-जीर्णता की ओर अग्रसर हो जाता है। ऐसे शिष्य अन्त योग्य अर्थात् 'अधम' कहलाते हैं।

इसी सन्दर्भ में भगवान् उपदेश के सम्बन्ध में भी अपने विचार प्रकट कर रहे हैं। वस्तुतः उपदेश तीन प्रकार के माने जाते हैं। इनमें उत्तम ज्ञानोपदेश है। इन उपदेशों द्वारा उत्तम ज्ञान की उपलब्धि होती है ॥३०॥

यथा पिपीलिका मन्दमन्दं वृक्षाग्रगं फलम्।
चिरेणाप्नोति कर्मोपदेशश्चापि तथा स्मृतः ॥३१॥

चींटी काम बड़े धीरे-धीरे करती है। इसी धीमेपन के साथ वह पेड़ों की ऊँची-ऊँची डालों से होते हुए उनमें लगे वृन्तों में लटके फलों तक जा पहुँचती है। यह

स्वाभाविक है कि, फल तक पहुँचकर उसका रसास्वाद करने में विलम्ब होता है। फिर भी इसमें वह सफल होती है। यह कर्मोपदेश है। इसे पिपीलिका प्रदान करती है ॥३१॥

यथा कपिश्च शाखायां शाखामुल्लङ्घ्य यत्नतः।
फलं प्राप्नोति धर्मस्य चोपदेशस्तथा प्रिये ॥३२॥

धर्मोपदेश कपि देता है। वह एक शाखा से दूसरी कई शाखाओं पर कूद-कूद कर फल पा लेता है। इसी तरह मनुष्य को भी शास्त्र की एक शाखा से दूसरी पर पहुँच-पहुँच कर धर्म जानना चाहिये। इसे धर्मोपदेश कहते हैं ॥३२॥

यथा वियद्गमः शीघ्रं फल एव निषीदति।
तथा ज्ञानोपदेशश्च कथितः कुलनायिके ॥३३॥

जैसे एक पक्षी आकाश में विहार करता हुआ सीधे फल की ओर पहुँचकर फलोपलब्धि में सफल होता है, उसी तरह योग्य शिष्य गुरु के रहस्य-वचनों का अनुगमन कर तुरत इष्ट को पा लेने में समर्थ हो जाता है। गुरु के इस उपदेश को ज्ञानोपदेश कहते हैं ॥३३॥

स्पर्शाख्या देवि दृक्संज्ञा मानसाख्या महेश्वरि।
क्रियायासादिरहिता देवीदीक्षा त्रिधा स्मृता ॥३४॥

भगवान् कह रहे हैं कि देवि पार्वति! इसी तरह दिव्य दीक्षा भी तीन प्रकार की होती है—१. स्पार्शी, २. चाक्षुषी (दृग्दीक्षा) और ३. इच्छामात्रात्मिका (मानसी)। स्पार्शी स्पर्श मात्र से दे दी जाती है। दार्शी (दृग्दीक्षा) केवल आँखों से गहराईपूर्वक देखकर ही दी जाती है। इसी तरह योग्य और ज्ञानवान् गुरु इच्छा मात्र से भी दीक्षा दे देता है। इसे मानसी दीक्षा कहते हैं ॥३४॥

यथा पक्षी स्वपक्षाभ्यां शिशून् संवर्द्धयेच्छनैः।
स्पर्शदीक्षोपदेशाच्च तादृशः कथितः प्रिये ॥३५॥

पक्षी अपने शिशुओं का लालन-पालन अपनी पाखों के सहारे कर लेते हैं। धीरे-धीरे पाँखों के सहारे ही उन्हें बड़ा भी बना लेते हैं। स्पर्श-दीक्षा से गुरुदेव अपने शिष्यों को महान् बना देते हैं ॥३५॥

स्वापत्यानि यथा मत्स्यो वीक्षणेनैव पोषयेत्।
दृग्भ्यां दीक्षोपदेशश्च तादृशः परमेश्वरि ॥३६॥

मछली क्या करती है। वह जन्म देती है, पर किसी अंग से शिशु को बढ़ा नहीं पाती। मात्र दृष्टि के प्रकाश में उसे रखती है और बढ़ा लेती है। भगवान् कहते हैं कि, देवि! परमेश्वरि दृग्दीक्षा भी इसी तरह की होती है ॥३६॥

यथा कूर्मः स्वतनयान् ध्यानमात्रेण पोषयेत्।
वेधदीक्षोपदेशश्च मानसः स्यात् तथाविधः ॥३७॥

कूर्म अपने शिशु बच्चों का लालन ध्यान मात्र से करता है। उसके ध्यान में ही इच्छामयी ऊर्जा होती है। उसी से उनके बच्चे पुष्ट होते हैं। इसी तरह वेध-दीक्षा का उपदेश मानस होता है और मानसिक ऊर्जा के प्रयोग से ही दीक्षा सिद्ध हो जाती है ॥३७॥

शक्तिपातानुसारेण शिष्योऽनुग्रहमर्हति।
यत्र शक्तिर्न पतति तत्र सिद्धिर्न जायते ॥३८॥

शिष्य अनुग्रह द्वारा 'अर्ह' होता है। इसमें शक्तिपात ही मुख्य हेतु माना जाता है। अनुग्रह और शक्तिपात भी अन्योन्याश्रित हैं। यह निश्चित है कि, जहाँ शक्तिपात नहीं होता, वहाँ अनुग्रह भी नहीं हो पाता। अत: सिद्धि भी नहीं होती ॥३८॥

क्रियावर्णकलास्पर्शवाग्दृङ्मानससंज्ञया ।
दीक्षा मोक्षप्रदा देवि सप्तधा परिकीर्त्तिता ॥३९॥

क्रिया, वर्ण, कला, स्पर्श, वाक्, दृक् और मानस संज्ञा से दीक्षा के सात भेद हैं। ये सात प्रकार की दीक्षायें बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें से किसी प्रकार की दीक्षा हो, वह मोक्षप्रद होती है। भगवान् शंकर ने देवी को सम्बोधित कर इन दीक्षाओं का विवरण प्रस्तुत किया है ॥३९॥

समयाख्या विशेषा च साधिका पुत्रिकाह्वया।
वेधका पूर्णसंज्ञा चाचार्या निर्वाणसंज्ञिका ॥४०॥

समयदीक्षा, विशेषदीक्षा, साधिकादीक्षा, पुत्रकदीक्षा, वेधदीक्षा, पूर्णदीक्षा, आचार्य-दीक्षा, निर्वाणदीक्षा—ये आठ दीक्षायें भी व्यवहार में लायी जाती हैं। ये दीक्षायें भी बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं ॥४०॥

क्रियादीक्षाष्टधा प्रोक्ता कुण्डमण्डपपूर्विका।
कलसादिसमायुक्ता कर्त्तव्या गुरुणा बहिः ॥
देवेशि देहशुद्ध्यर्थं पूर्वोक्तविधिनाचरेत् ॥४१॥

भगवान् कह रहे हैं कि, देवेश्वरि! क्रियादीक्षा आठ प्रकार की होती है। इसमें कुण्ड और मण्डप का विधान आवश्यक रूप से करणीय माना जाता है। इसमें कलश-स्थापन भी किया जाता है। गुरु द्वारा बाहर शुद्धिभूमि में इसकी व्यवस्था की जाती है। इसके लिये श्लोक में विधि-क्रिया में निर्देश दिया गया है। तदनुसार इसका आचरण करना चाहिये ॥४१॥

वर्णदीक्षा त्रिधा प्रोक्ता द्विचत्वारिंशदक्षरैः।
पञ्चाशद्वर्णैर्वा देवि द्विषष्टिलिपिभिस्तु वा ॥४२॥

वर्णदीक्षा तीन प्रकार की होती है—१. पहली बयालिस अक्षरों से युक्त मन्त्र से होती है। २. पचास वर्णों वाले मन्त्र से होती है। ३. बासठ अक्षरों वाले लिपि-मन्त्रों से युक्त होती है ॥४२॥

वर्णान् शिष्यतनौ न्यस्य प्रतिलोमेन संहरेत्।
परमात्मनि संयोज्य तच्चैतन्यं गुरुः प्रिये ॥४३॥

इसमें इन वर्णों का न्यास शिष्य के शरीर में किया जाता है। इसमें अनुलोम के साथ विलोम प्रक्रिया भी अपनायी जाती है। विलोम विधि में वर्णों का मूलवर्ण में संहार हो जाता है। अन्त में उसका परमात्मभाव में संयोजन हो जाता है। गुरु इस संयोजन में शिष्य के चैतन्य को भी योजित कर देता है ॥४३॥

तस्मादुत्पाद्य तान् वर्णान् न्यसेच्छिष्यतनौ पुनः।
सृष्टिक्रमेण विधिना चैतन्यञ्च प्रयोजयेत् ॥४४॥

अतः उन वर्णों को बोल-बोलकर शिष्य के शरीर में न्यस्त करना चाहिये। इसमें सृष्टिक्रम अपनाया जाता है। उनके साथ वर्ण-चैतन्य और शिष्यशरीरस्थ चैतन्य दोनों को ऐक्य में प्रायोजित करते हैं ॥४४॥

जायते देवताभावः परानन्दमयः शिशोः।
एषा वर्णमयी प्रोक्ता दीक्षा पाशहरा प्रिये ॥४५॥

इससे शिष्य के शरीर में देवताभाव अर्थात् दिव्यता का उल्लास होता है। इससे शिष्य में परमानन्दमयता व्याप्त हो जाती है। इस प्रकार की यह दीक्षा वर्ण-दीक्षा कहलाती है। भगवान् कह रहे हैं कि, देवेशि ! यह सभी पाशों का हरण कर लेने वाली कही गयी है ॥४५॥

कलादीक्षा त्रिधा ज्ञेया कर्त्तव्या विधिवत् प्रिये।
निवृत्तिर्जानुपर्यन्तं तलादारभ्य संस्थिता ॥४६॥

कलादीक्षा भी तीन प्रकार की मानी जाती है। इसका विधिवत् विधान गुरु द्वारा पूरा करना चाहिये। कला पाँच प्रकार की होती है—१. निवृत्तिकला, २. प्रतिष्ठाकला, ३. विद्या, ४. शान्ता और ५. शान्त्यतीता। इसमें निवृत्तिकला पैर के तलवे से लेकर जानु-पर्यन्त व्याप्त रहती है ॥४६॥

जानुनोर्नाभिपर्यन्तं प्रतिष्ठा तिष्ठति प्रिये।
नाभेः कण्ठावधि व्याप्ता विद्या शान्तिस्ततः परम् ॥४७॥

जानु से नाभिपर्यन्त प्रतिष्ठा-कला व्याप्त रहती है। भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति ! शरीर के इस भाग के आधार पर ही पूरा शरीर प्रतिष्ठित होता है। नाभि से कण्ठपर्यन्त विद्या-कला उल्लसित रहती है। इसके ऊपर शान्ता-कला का क्षेत्र है ॥४७॥

कण्ठाल्ललाटपर्यन्तं व्याप्ता तस्माच्छिरोऽवधि।
शान्त्यतीता कला चैषा कलाव्याप्तिरितीरिता ॥४८॥

शान्ता-कला कण्ठ से ललाटपर्यन्त व्याप्त होती है। कण्ठ में विशुद्ध चक्र और ललाट में आज्ञा चक्र है। ये दोनों विद्या के बीजाधार हैं। इसके ऊपर शान्त्यतीता कला का लीलाविलास चलता है। इसका क्षेत्र शिरोभाग है। इस तरह सारे शरीर में कला की इस प्रकार की व्याप्ति कला-दीक्षा में की जाती है ॥४८॥

संहारक्रमयोगेन स्थानात् स्थानान्तरं प्रिये।
संयोज्य विधिवत् सम्यग्विधिवेत्ता शिरोऽवधि ॥४९॥

संहारक्रम का योग एक विशिष्ट पद्धति है। इसमें क्रमशः ऊपर से ऊपर एक स्थान से दूसरे स्थान पर आरूढ और प्रतिष्ठित होते हुए पुनः आगे बढ़ते जाँय। इसके लिये विधि का ज्ञान आवश्यक होता है। इसीलिये श्लोक में सम्यक् योजन पर बल दिया गया है। यह शिरपर्यन्त होता है ॥४९॥

इयं प्रोक्ता कुलेशानि दिव्यभावप्रदायिनी।
अष्टत्रिंशत्कलाभिर्वा पञ्चाशद्भिरथापि वा ॥५०॥

भगवान् शंकर कहते हैं कि, कुलस्वामिनि पार्वति ! कला-दीक्षा दिव्यभाव प्रदान करने वाली होती है। यह अड़तीस या पचास कलाओं के माध्यम से सम्पन्न होती है। इसका ज्ञान अवश्य प्राप्त कर लेना चाहिये ॥५०॥

तत्त्वन्यासक्रमेणैव सृष्टिसंहारमार्गतः।
ज्ञात्वा गुरुमुखाद्देवि शिष्ये संयोज्य वेधयेत् ॥५१॥

सृष्टि और संहार का यह क्रम प्राणापानवाह क्रम के माध्यम से चलता है। इस मार्ग में तत्त्वन्यास का ज्ञान आवश्यक है। यह ज्ञान गुरुमुख से होता है। शास्त्र से भी ज्ञान हो सकता है। गुरु का यह कर्त्तव्य है कि, वह शिष्य में इसे संयोजित कर चक्रवेध के प्रयोग से उसका श्रेयःपथ प्रशस्त करे ॥५१॥

जायते देवताभावो योगिनीवीरमेलनम्।
कलादीक्षा समुद्दिष्टा पशुपाशापहारिणी ॥५२॥

इससे शिष्य में देवताभाव का जागरण हो जाता है। योगिनी-वीर-मेलन हो जाता है। इस विधि से साधना के सिद्ध हो जाने पर पशुभाव से भावित जीव के समस्त पाशों का अपहरण यह कला-दीक्षा कर लेती है, अर्थात् पशु पाशमुक्त हो जाता है ॥५२॥

हस्ते शिवं गुरुं ध्यात्वा जपेन्मूलाङ्गमालिनीम्[१]।
गुरुः स्पृशेच्छिष्यतनुं स्पर्शदीक्षा भवेदियम् ॥५३॥

अपने हाथ में भगवान् शिव और श्रीसद्गुरुदेव का ध्यान करने के बाद मूलांग मालिनी मन्त्र का जप करना चाहिये। उसी समय गुरु शिष्य के शिरोभाग पर हाथ फेरकर वह भी इसी मन्त्र का ध्यान कर लें। यही प्रक्रिया स्पर्श-दीक्षा मानी जाती है ॥५३॥

१. श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्-३।१०

चित्तं तत्त्वे समाधाय परतत्त्वोपबृंहितान् ।
उच्चरेत् संहतान्मन्त्रान् वाग्दीक्षेति निगद्यते ॥५४॥

वाग्दीक्षा का वर्णन करते हुए भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, शिष्य के चित्त को परतत्त्व में समाहित करा लेने के बाद स्वयं गुरु भी परतत्त्व के उपबृंहण में संलग्न हो जाँय। इस तरह दोनों का चित्त उच्चस्तरीय हो जाता है। उस समय गुरु संहत मन्त्रों में से उचित मन्त्र का उच्चारण उसके समक्ष या कान में करें। इसे वह ध्यानपूर्वक ग्रहण करा दें। इसे वाग्दीक्षा कहते हैं ॥५४॥

निमील्य नयने ध्यात्वा परतत्त्वप्रसन्नधीः ।
सम्यक् पश्येद्गुरुः शिष्यं दृग्दीक्षा च भवेत् प्रिये ॥५५॥

प्रसन्नात्मा श्रीसद्गुरुदेव सर्वप्रथम कुछ समाहित भाव से आँखों को बन्द कर ध्यान की मुद्रा में अवस्थित हो जाँय। गुरु में उस समय ओज और ऊर्जा दोनों उद्रिक्त हो उठते हैं। उसी समय सामने बैठे विनम्र शिष्य को अपने कृपाकटाक्ष से गुरु धन्य बना देता है। इसे दृग्दीक्षा कहते हैं ॥५५॥

गुरोरालोकमात्रेण भाषणात् स्पर्शनादपि ।
सद्यः सञ्जायते ज्ञानं सा दीक्षा शाम्भवी मता ॥५६॥

गुरुदेव के देखने मात्र से, प्रवचन के दौरान या इसी तरह समीप बुलाकर रहस्यपूर्ण वार्त्तालाप से या स्पर्शमात्र से भी शिष्य के हृदय में ज्ञान का उदय हो जाता है। भगवान् शंकर माता पार्वती से कह रहे हैं कि, देवि ! इस दीक्षा को शाम्भवी दीक्षा कहते हैं ॥५६॥

मनोदीक्षा द्विधा प्रोक्ता तीव्रा तीव्रतरापि च ।
अध्वानं षड्विधं ज्ञात्वा शिष्यदेहे स्मरन् प्रिये ॥५७॥

भगवान् आगे कहते हैं कि, मनोदीक्षा दो प्रकार की होती है—१. तीव्रा और २. तीव्रतरा। जैसा कि इन दोनों के नाम का सवाल है, इन्हीं के अनुसार गुरुदेव मानस ऊर्जा का प्रक्षेप मानसिक स्तर से करते हैं।

यह दीक्षा का संक्षिप्त अभिव्यंजन है। इसके तुरत बाद अध्वा की जानकारी भी गुरु देते हैं। उस अध्वावर्ग का शिष्य के देह में न्यासात्मक ध्यानमात्र करते हैं। यह अध्व-प्रक्रिया मानस-दीक्षा के अन्तर्गत ही आती है ॥५७॥

कल्पयेद्भुवनं तत्त्वं कलां वर्णं पदं मनुम् ।
आजानुनाभिहृत्कण्ठतालुमूर्द्धान्तमम्बिके ॥५८॥

इस प्रक्रिया में शिष्य के अंगों—१. जानु, २. नाभि, ३. हृदय (हृत्), ४. कण्ठ, ५. तालु और ६. मूर्धा के क्रम से—१. भुवन, २. तत्त्व, ३. कला, ४. वर्ण, ५. पद और ६. मन्त्रों का प्रकल्पन गुरुदेव करते हैं ॥५८॥

गुरूपदिष्टमार्गेण वेधं कुर्याद्विचक्षणः ।

पाशयुक्तः क्षणाच्छिष्यश्छिन्नपाशस्तदा भवेत् ।
एषा मुक्तिप्रदा प्रोक्ता तीव्रदीक्षा कुलेश्वरि ॥५९॥

गुरुदेव के उपदिष्ट मार्ग से शिष्य को इसका अभ्यास वेध के माध्यम से करना पड़ता है। इसमें विचक्षण शिष्य स्वयं वेध करके भुवन को तत्त्व में समाहित कर आगे बढ़ना चालू रखता है और अन्त में मूर्धा में प्रतिष्ठित हो जाता है। इस प्रक्रिया से पाशयुक्त शिष्य पाशविमुक्त हो जाता है। यह मुक्तिप्रदा दीक्षा कहलाती है। इसे ही हे कुलेश्वरि ! तीव्रा मानसी दीक्षा कहते हैं ॥५९॥

देवि तीव्रतरा चापि गुरुणा स्मृतमात्रतः ।
सम्यक्संवेधितः शिष्यश्छिन्नपापस्तदा भवेत् ॥६०॥

जिसमें गुरुदेव की ऊर्जा का भी समायोजन हो जाय और शिष्य के अभ्यास के समय उसका सूक्ष्म अन्वीक्षण गुरुदेव अपनी स्मृति में भी रखें और विशेषतः वेधपरक दृष्टि रखें, तो वह शिष्य पापमुक्त होकर निष्पाप बन जाता है ॥६०॥

बाह्यव्यापारनिर्मुक्तो भूमौ पतति तत्क्षणात् ।
सञ्जातदिव्यभावोऽसौ सर्वं जानाति शाम्भवि ॥६१॥

भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! शाम्भवि ! वह शिष्य बाह्य अर्थात् मायीय सांसारिक व्यवहारों से निर्मुक्त होने के कारण शुद्ध हो जाता है और शैव-तादात्म्य के कारण अपने में नहीं रह जाता है। फलतः पृथ्वी पर गिर-सा पड़ता है। उसमें दिव्य भावों का उद्रेक हो जाता है। परिणामतः सर्वज्ञ भी हो जाता है ॥६१॥

यदस्ति वेधकाले तत् स्वयमेवानुभूयते ।
प्रबुद्धः सन् न शक्नोति तत् सुखं वक्तुमीश्वरि ॥६२॥

वेध के इन क्षणों में वह 'स्व' के स्वात्म उल्लास की आन्तरिक अनुभूतियों में ही रमा रहता है। वह उस अवस्था के अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करता रहता है। जब इस अवस्था से जागृति के भाव में आता है, उस समय उस सुख का वर्णन वह स्वयं नहीं कर सकता ॥६२॥

वेधविद्धः शिवः साक्षान्न पुनर्जन्मभाग् भवेत् ।
एषा तीव्रतरा दीक्षा भवबन्धविमोचनी ॥
शिवभावप्रदा साक्षात् त्वां शपे कुलनायिके ॥६३॥

वेध से विद्ध वह साक्षात् शिव ही हो जाता है। अब वह पुनर्जन्म लेने वाले जीवों की दशा को पार कर जाता है और संसृति-चक्र से मुक्त हो जाता है। इस दीक्षा को तीव्रतरा दीक्षा कहते हैं। भवबन्धनों से मुक्त करने वाली यह दीक्षा शिवभाव से तुरत भावित कर देती है। भगवान् कहते हैं कि देवि ! तुम्हारी शपथ, यह तीव्रतरा दीक्षा बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है ॥६३॥

आनन्दश्चैव कम्पश्चोद्भवो घूर्णा कुलेश्वरि।
निद्रा मूर्च्छा च वेधस्य षडवस्थाः प्रकीर्त्तिताः ॥६४॥

भगवान् कह रहे हैं कि देवि ! कुलेश्वरि ! इसके प्रभाव से आनन्द, कम्प, अप्रत्याशित उद्भवात्मक उल्लास, घूर्णि, निद्रा और मूर्च्छा नामक छः अवस्थाओं से साधक शिष्य प्रभावित हो सकता है। यह शास्त्र में कहा गया है ॥६४॥

दृश्यन्ते षड्गुणा ह्येते वेधकाले कुलेश्वरि।
वेधितो यत्र कुत्रापि तिष्ठेन्मुक्तो न संशयः ॥६५॥

कुलस्वामिनि ! ये उस समय के विकार नहीं अपितु गुण माने जाते हैं। वेधकाल में ये लक्षणरूप से परिलक्षित होते ही हैं। ऐसा वेधित अर्थात् तीव्रतरा-दीक्षा-प्राप्त शिष्य जहाँ भी जिस दशा में भी रहता है, वह मुक्तिमूलक सुख की अनुभूति से भरा रहता है ॥६५॥

वेधदीक्षाकरो लोके श्रीगुरुर्दुर्लभः प्रिये।
शिष्योऽपि दुर्लभस्तादृक् पुण्ययोगेन लभ्यते ॥
न दद्याद् यस्य कस्यापि इत्याज्ञा परमेश्वरि ॥६६॥

भगवान् कहते हैं कि, कुलेश्वरि ! वेध-दीक्षा देने वाले सद्गुरु लोक में दुर्लभ होते हैं। यह भी निश्चित है कि, ऐसा अधिकारी शिष्य भी दुर्लभ होता है। बड़े पुण्य के उदय से ही ऐसे गुरु और शिष्य प्राप्त होते हैं। यह भगवदाज्ञा है कि, ऐसी दीक्षा जिस किसी को नहीं देनी चाहिये ॥६६॥

कुलद्रव्यैः समभ्यर्च्य कुलचक्रं विधानतः।
शिष्याय दर्शयेद्देवि दीक्षैषा कौलिकी स्मृता ॥६७॥

कुलचक्र की प्रासंगिक पूजा कुलद्रव्य से ही करने का विधान है। इस पूजा की सारी विधि शिष्य को दिखलानी चाहिये एवं उसको साथ लिये ही उसी के माध्यम से करनी चाहिये। इससे वह व्यावहारिक रूप से दीक्षित हो जाता है। इस दीक्षा को कौलिकी दीक्षा कहते हैं ॥६७॥

कुलद्रव्यं मुखे पूर्य पञ्चगव्यामृतान्वितम्।
अभिषिञ्चेद् गुरुः शिष्यं गण्डूषाख्या समीरिता ॥६८॥

एक अन्य विचित्र दीक्षा पहले दी जाती थी। इस दीक्षा को गण्डूषा दीक्षा कहते थे। उसमें शिष्य को चतुष्पदी के नीचे कौपीन धारण कर बिठलाते थे। चतुष्पदी पर बैठे गुरु के पास पंचगव्यमिश्रित कुलद्रव्य रख दिया जाता था। गुरु पहले उसी द्रव्य को मुख में ले-लेकर गण्डूष द्वारा शिष्य को अभिषिक्त करते थे। शिष्य इस तरह गुरु के मुखारविन्द से प्राप्त ऊर्जा से ऊर्जस्वल हो जाता था। इस दीक्षा को गण्डूषा-दीक्षा कहते हैं ॥६८॥

सजीवमीनयुक्तेन सुरया पूरितेन च।
पञ्चामृतैः सुसम्पूर्णशङ्खेन कलसेन वा॥
अभिषेकं ततः कुर्याद्बाह्या तत् कथितं प्रिये॥६९॥

जीवित मछली को लाकर सुरा से निर्मित पंचामृत में डालकर पूर्णपात्र में रख देते थे। गुरु अपने सामने शिष्य को पूर्ववत् बिठला लेते थे। तत्पश्चात् सुन्दरतम सुडौल शंख में या कलश अर्थात् मिट्टी या धातुनिर्मित लघुपात्र में उड़ेलकर शिष्य का अभिषेक गुरु करते थे। यह बाह्याभिषेक-दीक्षा की विधि है॥६९॥

मीनस्तु लम्बिका देवि वक्त्रं कलस उच्यते।
पञ्चगव्यामृतापूर्णं शिष्यं तेनाभिषेचयेत्॥७०॥
अयं सिद्धाभिषेकः स्यादाचार्यस्यापि पार्वति।

इसको और भी स्पष्ट कर रहे हैं। मीन गले में लटकने वाले लम्बिका नामक अंग को कहते हैं। इसी तरह मुख को कलश कहते हैं। सुरापूर्ण पंचगव्य नामक द्रवात्मक अमृत से शिष्य का अभिषेक करते हैं। इसे सिद्धाभिषेक संज्ञा से विभूषित करते हैं। यह आचार्य के लिये उपयुक्त होती है॥७०॥

त्रिकालं दन्तकाष्ठञ्च पुष्पाञ्जलिरपि प्रिये॥७१॥
शङ्खे वेधकलान्यासस्तज्ज्ञानञ्चाष्टधा भवेत्।

तीनों सन्ध्याओं में दन्तकाष्ठ का प्रयोग (तीन बार) + तीनों सन्ध्याओं में सूर्यार्घ्य सपुष्प तीन बार मिलाकर छः बार तथा शंख में वेधकला न्यास और उसका ज्ञान यह द्विधा, तीनों मिलाकर आठ प्रकार का आचार सम्पन्न करना चाहिये॥७१॥

समयी दन्तकाष्ठेन साधकः कुसुमाञ्जलिः॥७२॥
पुत्रः शङ्खाभिषेकेण वेधको वेधसंज्ञया।
पूर्णाभिषेकेणाचार्यः पञ्चावस्थाः प्रकीर्त्तिताः॥७३॥

१. समयी दन्तकाष्ठ के द्वारा, २. साधक पुष्पांजलि प्रयोग द्वारा, ३. पुत्र शंखाभिषेक से, ४. वेधक वेध संज्ञा से अभिप्रेत प्रक्रिया द्वारा और ५. आचार्य अभिषेक द्वारा सफल और पवित्र होता है। ये पाँच साधक की अवस्थायें ध्यान देने योग्य हैं॥७२-७३॥

कुलाचारैकनिरता गुरुभक्ता दृढव्रताः।
पूर्णाभिषेकपूता ये ते मुक्ताश्चेह जन्मनि॥७४॥

कुलाचार में एकनिष्ठ भाव से निरत रहने वाले गुरुदेव की भक्तिपूर्वक सेवा में निरत और पूर्णाभिषेक प्रक्रिया को पार करने वाले शिष्य जीवन्मुक्त ही होते हैं। उनका यह जन्म धन्य हो जाता है॥७४॥

पूर्णाभिषेकपूता ये मृताश्च कुलनायिके।
पुनर्लब्ध्वोत्तमं जन्म गुरुणा शिवरूपिणा॥७५॥

शुद्धाः पूर्णाभिषेकेण शिवसायुज्यदायिना।
तेन मुक्तिं व्रजेयुस्ते शाम्भवी वाचमब्रवीत् ॥७६॥

पूर्णाभिषेक के विधान द्वारा जो शिष्य अत्यन्त पवित्र हो चुके हैं, ऐसे शिष्य यदि मृत्यु को भी प्राप्त हो जाते हैं, तो भी वे दुर्गति नहीं प्राप्त करते तथा वे पुन: अधम योनि में उत्पन्न नहीं होते। शिवरूप गुरुदेव द्वारा वे पूर्णाभिषेक से विशुद्ध हो जाते हैं। गुरु शिवसायुज्य देने में समर्थ होते हैं। यह भगवान् शंकर का अनुग्रहपूर्ण वचन है कि, ऐसे निर्मल निष्पाप साधक अवश्य ही मुक्ति के भागी होते हैं ॥७५-७६॥

पूर्णाभिषेकहीनो यः कौलिको म्रियते यदि।
पिशाचत्वमवाप्नोति यावदाहूतसंप्लवम् ॥७७॥

पूर्णाभिषेक दीक्षा से विहीन कोई कौलिक संयोगवश यदि शरीर का परित्याग कर परलोक की ओर प्रस्थान करता है, तो उसे अच्छी योनियाँ तो दूर, प्रेतयोनि में भी पिशाच बनकर आमहाप्रलयान्त कष्ट का जीवन व्यतीत करना पड़ता है। इसका तात्पर्य यह है कि, कौलिक के लिये पूर्णाभिषिक्त होना अनिवार्यत: आवश्यक है ॥७७॥

दीक्षा च द्विविधा प्रोक्ता बाह्याभ्यन्तरभेदतः।
क्रियादीक्षा भवेद्बाह्या वेधाख्याभ्यन्तरी मता ॥७८॥

दीक्षा के दो भेद बड़े प्रसिद्ध हैं—१. बाह्य दीक्षा और २. आन्तर दीक्षा। क्रिया-दीक्षा बाह्या कहलाती है। इसी तरह वेध नामक दीक्षा को आन्तर दीक्षा कहते हैं। व्यवहार जगत् में क्रिया-दीक्षा महत्त्वपूर्ण मानी जाती है और आन्तर दीक्षा व्यक्तिगत साधना की दृष्टि से उत्तम होती है ॥७८॥

अन्तःशुद्धिर्बहिःशुद्धिर्द्विविधा परिकीर्त्तिता।
अन्तरा च क्रियाशुद्धिर्बहिःशुद्धिश्च दीक्षया ॥७९॥

इसी तरह शुद्धि के विषय में शास्त्र कहते हैं कि, यह भी दो प्रकार की ही होती है—१. अन्त:शुद्धि और २. बहि:शुद्धि। क्रिया से अन्तर शुद्ध होता है और दीक्षा से बाह्य शुद्धि हो जाती है ॥७९॥

दीक्षया मोक्षदीपेन चण्डालोऽपि विमुच्यते।
आभ्यां विना कुलेशानि कौलिको नैव मुच्यते ॥८०॥

दीक्षा एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। इसे मोक्षमार्ग का दीपक कहते हैं। इस मोक्ष-दीप के प्रभाव से संसार का अन्धकार नष्ट हो जाता है। परिणामत: दीक्षाप्राप्त चाण्डाल भी मुक्त हो जाता है। भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, कुलेश्वरि ! देवि पार्वति ! दीक्षा और शुद्धि ये दो क्रियायें ऐसी हैं कि विना इनके किसी कौलिक को मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती ॥८०॥

शरीरस्य न संस्कारो जायते न च कर्मणः।
आत्मनः कारयेद्दीक्षामनादिकुलकुण्डलीम् ॥८१॥

दीक्षा के विना स्वात्म संस्कार असम्भव है। स्वात्म संस्कार दीक्षा के विना नहीं हो सकता। अशुद्ध देह से कर्म भी अशुद्ध ही सम्पन्न होता है। इसलिये आत्मशुद्धि के लिये दीक्षा से स्वात्म को अभिषिक्त करना ही चाहिये। इसी तरह कर्मशुद्धि की मूल हेतु कुलकुण्डलिनी जागरण है। इसलिये कुलकुण्डलिनीरूपी अनादिशक्ति का जागरण करने के लिये इसकी भी दीक्षा आवश्यक है ॥८१॥

दीक्षा ह्येताः कर्मसाम्ये भिन्नार्थप्रतिपादिकाः।
अभिसन्धानतो देवि देशिकोत्तमशिष्ययोः ॥८२॥

इन कर्मसाम्यमयी दीक्षाओं में भी भिन्न-भिन्न अर्थों की प्रतिपादिका दीक्षायें मानी जाती हैं। यह देशिकोत्तम गुरुदेव और शिष्य दोनों के एतद्विषयक अनुसन्धान में परिलक्षित होती हैं ॥८२॥

मन्त्रौषधैर्यथा हन्याद्विषशक्तिं कुलेश्वरि।
पशुपाशं तथा छिन्द्याद्दीक्षया मन्त्रवित्क्षणात् ॥८३॥

मन्त्रों और ओषधियों के प्रयोग और प्रभाव से जैसे विष की शक्ति का अर्थात् प्रभाव का निराकरण हो जाता है, भगवान् कह रहे हैं कि, कुलस्वामिनि! उसी तरह पशु अर्थात् अणु पुरुषों के पाश अर्थात् बन्धप्रद आठ घृणा आदि कुप्रवृत्तियाँ भी दीक्षा के द्वारा नष्ट हो जाती हैं। दीक्षक गुरुदेव मन्त्रवेत्ता ज्ञानवान् शिवस्वरूप व्यक्तित्वसम्पन्न पुरुष होते हैं। वे अपने मन्त्रों से शिष्य के पाश को नष्ट कर देते हैं ॥८३॥

अस्मात् प्रविततात्द्बन्धात् परसंस्थानबोधकात्।
दीक्षैव मोक्षयेत् पूर्वां दिव्यं धाम नयत्यपि ॥८४॥

संसृति के पाश बड़े ही भयंकर हैं। इन्हें यहाँ प्रवितत कहा गया है। इनका इतना विस्तार हो गया कि, 'प्र' और 'वि' दो उपसर्गों के योग से इसे प्रदर्शित किया गया है। जो कुछ भी हो, ये परसंस्थान के बोधक माने जाते हैं। इसलिये इनसे छुटकारा पाने का सबसे सरल उपाय दीक्षा है। पहला काम दीक्षा यह करती है कि, यह पशु को पाशमुक्त करती है और दूसरा इससे भी महत्त्वपूर्ण यह करती है कि, शैवधाम को प्राप्त करा देती है ॥८४॥

उपपातकलक्षाणि महापातककोटिशः।
क्षणाद्दहति देवेशि दीक्षा हि विधिना कृता ॥८५॥

लाखों-लाख उपपातकों और करोड़ों-करोड़ महापातकों को क्षणमात्र में दग्ध करने की क्षमता दीक्षा में है। भगवान् कह रहे हैं कि, देवेश्वरि पार्वति! शर्त्त यह है कि, वह विधिपूर्वक सम्पन्न की गयी हो ॥८५॥

यया चोन्मीलितात्मानो भवन्ति पशवः शिवाः।
सा दीक्षा ह्युदिता देवि पशुपाशविमोचिका ॥८६॥

देवि पार्वति ! पाशबद्ध पशु जो संसृति समुद्र में पूरी तरह निमज्जित हो चुके हैं, वे जिसके प्रभाव से उन्मज्जित होकर निमीलित अवस्था से उन्मीलितात्मा होकर साक्षात् शिवस्वरूप ही हो जाते हैं, वही दीक्षा वस्तुतः दीक्षा कही जा सकती है। उसी दीक्षा को हम पशुपाशविमोचिका दीक्षा कहते हैं ॥८६॥

यया दीक्षितमात्रेण जायन्ते प्रत्ययाः प्रिये।
सा दीक्षा मोक्षदा ज्ञेया शेषास्तु जनसेविकाः ॥८७॥

ऐसी दीक्षा से दीक्षित होने मात्र से ही हृदय में श्रद्धा और विश्वास का एक प्रवाह फूट पड़ता है। प्रिये पार्वति ! ऐसी दीक्षा ही मोक्षप्रदा दीक्षा मानी जाती है। ऐसी दीक्षाओं के अतिरिक्त अन्य दीक्षायें तो मात्र जनता को भुलवाकर उसकी प्रसन्नता के उद्देश्य में ही चरितार्थ होती हैं ॥८७॥

उपासनाशतेनापि यां विना नैव सिध्यति।
तां दीक्षामाश्रयेद् यत्नात् श्रीगुरोर्मन्त्रसिद्धये ॥८८॥

एक उपासक है। सदा उपासना में निरत रहकर शताधिक प्रकार की उपासनाओं में संलग्न रहने पर भी सिद्धि उसे प्राप्त नहीं होती। इसका कारण है। वह दीक्षा उसे मिली ही नहीं। इसलिये उस दीक्षा का आश्रय ग्रहण करना चाहिये, जिससे उपासना भी सिद्ध हो और गुरु द्वारा प्राप्त मन्त्र की भी सिद्धि हो ॥८८॥

रसेन्द्रेण यथा विद्धमयः सुवर्णतां व्रजेत्।
दीक्षाविद्धस्तथा ह्यात्मा शिवत्वं लभते प्रिये ॥८९॥

रसेन्द्र पारद को कहते हैं। पारद या पारस से विद्ध या स्पृष्ट लोहा अविलम्ब स्वर्णरूप में परिणत हो जाता है। भगवान् कहते हैं कि, प्रिये ! उसी तरह दीक्षा से विद्ध शिष्य का स्वात्म शिवत्व को उपलब्ध हो जाता है ॥८९॥

दीक्षाग्निदग्धकर्मासौ मायाविच्छिन्नबन्धनः।
गतः परां ज्ञानकाष्ठां निर्बीजस्तु शिवो भवेत् ॥९०॥

विधिपूर्वक दीक्षित शिष्य दीक्षा के प्रभाव से और उसकी ऊर्जा की आग से दग्ध-कर्मा हो जाता है, अर्थात् उसकी सारी कर्मराशि भस्म हो जाती है, माया के समस्त बन्धन छिन्न हो जाते हैं और वह परम चरम ज्ञान की अन्तिम सीमा का स्पर्श पा जाता है। अब वह सबीज से निर्बीज हो जाता है और साक्षात् शिव ही हो जाता है ॥९०॥

गतं शूद्रस्य शूद्रत्वं विप्रस्यापि च विप्रता।
दीक्षासंस्कारसम्पन्ने जातिभेदो न विद्यते ॥९१॥

शूद्र की शूद्रता की तत्काल समाप्ति हो जाती है। अब वह शूद्र नहीं रह जाता। विप्र की दीक्षा ग्रहण करने के साथ ही विप्रता भी समाप्त हो जाती है। इसका शास्त्रीय रहस्यार्थ यह है कि, दीक्षा-संस्कार-सम्पन्न शिष्य में कोई भी जातिभेद अब शिष्ट नहीं रह जाता ॥९१॥

शिवलिङ्गे शिलाबुद्धिं कुर्वन् यत् पापमश्नुते ।
दीक्षितश्चापि पूर्वत्वस्मृत्या तत् पापमाप्नुयात् ॥९२॥

भगवान् कहते हैं कि, शिवलिंग शिवस्वरूप होता है। उसे शिला नहीं कह सकते। उसमें शिला की बुद्धि करने वाला पुरुष प्राणी पाप का भागी होता है। उसे जो पाप लगता है, दीक्षित भी अपनी पूर्वजाति स्मरण करने पर उसी पाप से प्रभावित हो जाता है ॥९२॥

दार्वश्मलौहमृद्रत्नजातिलिङ्गप्रतिष्ठितम् ।
यथोच्यते तथा शुद्धाः सर्ववर्णास्तु दीक्षिताः ॥९३॥

दारु (काष्ठ) अश्म (शिला) लौह (लोहा) मृद् (मिट्टी) रत्न और जाति अर्थात् सामान्य लिंग सभी प्राणप्रतिष्ठा के उपरान्त प्रतिष्ठित माने जाते हैं। ये सभी शुद्ध होते हैं। जिस तरह ये सभी शुद्ध होते हैं, उसी तरह दीक्षाप्राप्त सभी दीक्षित लोग चाहे किसी वर्ण के हों, शुद्ध ही माने जाते हैं ॥९३॥

येन पूजितमात्रेण चाब्रह्मभुवनान्तिकम् ।
पूजितं तेन सर्वं स्याद्दीक्षितेन न संशयः ॥९४॥

इसमें संशय के लिये तनिक भी अवकाश नहीं है कि, दीक्षित पुरुष बड़ा भाग्यशाली होता है। उसके एक बार पूजित होने पर आब्रह्मभुवन का पूरे का पूरा पूजित हो जाता है। इसमें अन्तिक शब्द अन्तराल या समीप अर्थ में प्रयुक्त है। अर्थात् वह जहाँ पूजा प्रारम्भ करता है, उसके सामीप्य से ही अन्तर और बाह्य पूरा विश्व सभी दृष्टियों से पूजित हो जाता है। ऐसे दीक्षित व्यक्ति से वह सब सम्भव है, जिससे विश्व सन्तुष्ट हो सकता है ॥९४॥

दीक्षितस्य न कार्यं स्यात्तपोभिर्नियमव्रतैः ।
न तीर्थक्षेत्रगमनैर्न च शारीरयन्त्रणैः ॥९५॥

दीक्षाप्राप्त व्यक्ति अपनी दीक्षा में गुरु द्वारा आदिष्ट और निर्दिष्ट समयों का और आचार का पालन करता है, इतना ही पर्याप्त है। उसके लिये किसी तप, किसी अन्य नियम या व्रत आदि की कोई आवश्यकता नहीं। उसे तीर्थाटन या तपस्या में किसी प्रकार के शारीरिक कष्ट की प्रक्रिया अपनाने का कोई औचित्य नहीं है ॥९५॥

अदीक्षिता ये कुर्वन्ति जपपूजादिकाः क्रियाः ।
न फलन्ति प्रिये तेषां शिलायामुप्तबीजवत् ॥९६॥

अदीक्षित अर्थात् दीक्षाविहीन (निगुरे) कोई भी क्यों न हों, वे जो कुछ भी पूजा या जप आदि की प्रक्रिया अपनाते हैं, भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! उनका कोई भी कार्य सफल नहीं होता, उसी तरह जैसे पत्थर पर बोया बीज नहीं जमता ॥९६॥

देवि दीक्षाविहीनस्य न सिद्धिर्न च सद्गतिः ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरुणा दीक्षितो भवेत् ॥९७॥

हे देवि ! दीक्षाविहीन किसी प्रकार की सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। न ही उसे मोक्ष की उपलब्धि ही हो सकती है। इसलिये किसी भी प्रकार से गुरु के चरणों में उपस्थित होकर दीक्षा ले लेनी चाहिये ॥९७॥

द्विजो यो दीक्षितः पश्चादन्त्यजः पूर्वदीक्षितः ।
द्विजः कनिष्ठः स ज्येष्ठ इति शास्त्रार्थनिर्णयः ॥९८॥

शास्त्र का निर्णय सर्वोपरि होता है और सबके लिये मान्य होता है। समस्याओं का समाधान शास्त्र के निर्णयानुसार ही होना उचित है। ऐसी ही एक समस्या उपस्थित हो गयी। एक अन्त्यज पहले ही गुरु के चरण शरण में पड़ा गुरुदेव से दीक्षा ले चुका था। बाद में एक द्विज शिष्य आया। उसने भी गुरुदेव से दीक्षा ग्रहण की। प्रश्न था कि, बड़ा कौन ? द्विज या अन्त्यज ? शास्त्र कहता है, पूर्वदीक्षित अन्त्यज ही श्रेष्ठ है। द्विज कनिष्ठ है। यह निर्णय ही मान्य हुआ ॥९८॥

गुरुशक्तिसुतानाञ्च यो वा स्यात् पूर्वदीक्षितः ।
गुरुवत्तेन ते पूज्या नावमान्याः कथञ्चन ॥९९॥

गुरुपत्नी या गुरु की शक्ति (भैरवी आदि), पुत्र और पुत्री आदि के सम्बन्ध में भी यही नियम मान्य है। इनमें जो भी पूर्व दीक्षा प्राप्त है, वह पश्चात् अर्थात् बाद में दीक्षा लेने वाले दीक्षित शिष्य द्वारा गुरु के समान ही पूज्य होता है। किसी दशा में भी उनका अपमान नहीं होना या करना चाहिये ॥९९॥

शिष्यो दीक्षितमात्रश्चेद् यदि स्वर्गं गतो गुरुः ।
एकसन्तानकेनैव पूर्णसंस्कारमाचरेत् ॥१००॥

गुरुदेव ने शिष्य को दीक्षा दी। दीक्षाप्राप्त शिष्य के जीवित रहते ही गुरुदेव संयोगवश यदि कीनाशनिकेतन के अतिथि बनकर धराधाम छोड़ गये हों, तो प्रश्न उठता है कि, उनका और्ध्वदैहिक संस्कार कौन करे ? शास्त्र आज्ञा देता है कि, वह शिष्य ही उनकी एकमात्र सन्तान के रूप में पूरी प्रक्रिया सम्पन्न करे ॥१००॥

दर्शनेषु च सर्वेषु गुरुणा ज्ञानशालिना।
दीक्षितो यस्तु विधिना स मुक्तो नापरः प्रिये ॥१०१॥

भगवान् शंकर कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! ज्ञानवान् गुरु के द्वारा सामान्यतया वही शिष्य सबसे उपयुक्त और उत्तम माना जाता है, जिस शिष्य को सभी दर्शनों, दार्शनिक रहस्यों का साक्षात्कार कराने के उपरान्त गुरुदेव ने कृपापूर्ण दीक्षा भी दी। उसके अतिरिक्त अन्य शिष्य मुक्त नहीं माने जाते ॥१०१॥

अधिवासनपूर्वन्तु चक्रपूजापुरःसरम् ।
दीक्षया शोधयेच्छिष्यमन्यथा निष्फलं भवेत् ॥१०२॥

गुरुदेव का भी यह उत्तरदायित्व है कि, वह शिष्य के अधिवासन की प्रक्रिया पूरी करने के उपरान्त उसे चक्रपूजा में परिनिष्ठित करे। पश्चात् दीक्षा देकर शिष्य का पूरी तरह शोधन करे। तभी शिष्य सफल होता है, अन्यथा निष्फलता ही हाथ लगती है ॥१०२॥

शूद्रसङ्करजातीनामादिशुद्धिर्विधीयते ।
पादोदकप्रदानाद्यैः कुर्यात् पापविमोचनम् ॥१०३॥

शूद्र एवं शंकर जातियों की आदिशुद्धि दीक्षा से ही सम्भव है। गुरु दीक्षा के द्वारा इन्हें शुद्ध बना देते हैं। इसके लिये उन्हें गुरुचरणोदक जिसे चरणामृत भी कहते हैं, पिलाने की तथा कुछ इसी प्रकार की पञ्चगव्य आदि की भी व्यवस्था करते हैं। इस तरह उनके पापों का विमोचन हो जाता है ॥१०३॥

एकाब्देन द्विजो योग्यः क्षत्रियो वत्सरद्वयात् ।
वैश्यो योग्यस्त्रिभिर्वर्षैश्चतुर्भिः शूद्र एव च ॥१०४॥

चारों वर्णों की शुद्धि के लिये समय की अपेक्षा होती है। इसके लिये शास्त्रों में समय भी वर्णानुसार निर्धारित है। जैसे—१. ब्राह्मण को शुद्ध होने के लिये एक वर्ष की तपस्या पर्याप्त होती है। २. क्षत्रिय दो वर्षों की तपस्या से, ३. वैश्य तीन वर्ष की और ४. शूद्र चार वर्ष की तपस्या से शुद्ध हो जाता है ॥१०४॥

विधवायाः सुतादेशात् कन्यायाः पितुराज्ञया ।
नाधिकारः स्वतो नार्या भार्याया भर्त्तुराज्ञया ॥१०५॥

जहाँ तक दीक्षा का प्रश्न है, कभी ऐसी समस्यायें आती हैं, जिनमें दूसरे की आज्ञा के बाद ही कार्याधिकार प्राप्त होता है। जैसे स्त्री को दीक्षा का अधिकार है या नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर शास्त्र देता है, यथा—(१) विधवा को दीक्षाधिकार उसके पुत्र की स्वीकृति के बाद ही सम्भव है। (२) पुत्री यदि दीक्षित होना चाहती है, तो उसे पिता की आज्ञा लेनी ही चाहिये। तभी साधिकार दीक्षा ली जा सकती है। (३) भार्या को अपने पति की आज्ञा आवश्यक है। वस्तुतः स्वतः नारीवर्ग को दीक्षित होने का अधिकार शास्त्र नहीं देता ॥१०५॥

स्याद्वेदाध्ययने शूद्रो नाधिकारी यथा प्रिये ।
तथैवादीक्षितश्चापि नाधिकारी कुलेश्वरि ॥१०६॥

भगवान् शंकर कहते हैं कि, प्रिये ! वेद के अध्ययन में शूद्र को अधिकार नहीं। दीक्षा प्राप्त कर द्विज बन जाने पर वह अधिकारवान् हो जाता है। कुलेश्वरी को सम्बोधित कर भगवान् पुनः कह रहे हैं कि, अदीक्षित व्यक्ति को किसी क्रिया का अधिकार शास्त्र नहीं देता ॥१०६॥

श्रीगुरुं गुरुपत्नीञ्च तत् पुत्रं शक्तिकौलिकान् ।
दीक्षितस्तोषयेद्देवि यथाविभवविस्तरम् ॥१०७॥

भगवान् कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! श्रीगुरुदेव, गुरुभार्या, गुरुपुत्र, गुरु की भैरवी अथवा अन्य कुलसम्प्रदाय में दीक्षित कौलिकों का समादर करना और अपनी सेवा से उन्हें सन्तुष्ट रखना दीक्षित व्यक्ति का परम कर्त्तव्य है। इसके लिये दीक्षित शिष्य यथाशक्ति, यथाविभव और यथा ऐश्वर्य प्रयत्न करे ॥१०७॥

इति ते कथितं किञ्चित् परीक्षा गुरुशिष्ययोः ।
दीक्षाभेदादिकं देवि किम्भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥१०८॥

भगवान् शंकर कहते हैं कि, देवि पार्वति ! मैंने तुम्हारे समक्ष गुरु-शिष्य के समस्त लक्षणों और उनकी परीक्षा के सम्बन्ध में बहुत कुछ बताया। इसके अतिरिक्त दीक्षा-भेद और दीक्षाधिकार प्राप्त दीक्षित के अधिकार आदि बहुत सारी बातें बतायीं। अब तुम यह बताओ कि, इन बातों के अतिरिक्त तुम और क्या सुनना-जानना चाहती हो ? मैं तत्पर हूँ। अपनी इच्छा व्यक्त करो ॥१०८॥

सर्वागमोत्तमोत्तम महारहस्यमय ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकुलार्णवतन्त्रान्तर्गत डॉ. परमहंस-मिश्रविरचित नीर-क्षीर-विवेक-भाषाभाष्यसंवलित 'गुरुशिष्य-परीक्षाकथन' नामक चतुर्दश उल्लास परिपूर्ण ॥१४॥

॥ शुभं भूयात् ॥

○

पञ्चदश उल्लासः

श्रीदेव्युवाच

कुलेश श्रोतुमिच्छामि पुरश्चरणलक्षणम् ।
स्थानाहारादिभेदञ्च वद मे परमेश्वर ॥१॥

श्री देवी ने कहा—भगवन् ! आपसे यह विनम्र निवेदन कर रही हूँ कि, आप मुझे पुरश्चरण के लक्षण के सम्बन्ध में और उसकी जानकारी देकर अनुगृहीत करें । साथ ही साथ मुझे यह भी बताने का अनुग्रह करें कि, इसके स्थान, आहारादि के भेद क्या होते हैं । प्रभो ! आप सर्वज्ञ हैं । मैं आप से यही सुनना चाहती हूँ ॥१॥

ईश्वर उवाच

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
तस्य श्रवणमात्रेण मन्त्रतत्त्वं प्रकाशते ॥२॥

परमेश्वर ने उनसे इस प्रकार कहा—देवि ! सुनो ! तुमने मुझसे जिस विषय के सम्बन्ध में अपनी आकांक्षा व्यक्त की है, उसे ही सुनाने जा रहा हूँ । यह ऐसा विषय है, जिसके सुनने मात्र से मन्त्रतत्त्व के रहस्य खुल जाते हैं । उनका प्रकाशन हो जाता है ॥२॥

जपयज्ञात् परो यज्ञो नापरोऽस्तीह कश्चन ।
तस्माज्जपेन धर्मार्थकाममोक्षांश्च साधयेत् ॥३॥

विश्व में यज्ञ की प्रक्रिया का बड़ा महत्त्व है; किन्तु मैं तुम्हें यह स्पष्ट कर रहा हूँ कि, जपयज्ञ से बढ़कर उत्तम कोई यज्ञ यहाँ नहीं होता । इसलिये जपयज्ञ की प्रक्रिया अपनायी जानी चाहिये । साधक का यह कर्त्तव्य है कि, वह जप के माध्यम से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चारों पुरुषार्थों की सिद्धि करने में संलग्न हो जाय ॥३॥

सर्वपादान् परित्यज्य मन्त्रपादं समभ्यसेत् ।
अप्रमादाद् भवेत् सिद्धिः प्रमादादशुभं फलम् ॥४॥

यज्ञ के द्रव्य, तप, ज्ञान और जप ये मुख्य पाद अर्थात् चरण, भेद या आधार होते हैं । इनमें अन्य सभी साधनों आदि को छोड़कर मन्त्रपाद का ही आश्रय ग्रहण करना चाहिये । इसमें सावधानी आवश्यक है । अप्रमाद से ही सिद्धि होती है । प्रमाद अर्थात् लापरवाही से अशुभ फल मिलता है, अर्थात् लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती और तरह-तरह की परेशानियाँ बढ़ जाती हैं ॥४॥

भोगापवर्गसङ्कल्पकल्पव्रतशुभो जपः ।
जपध्यानमयं योगं तस्माद्देवि समाचरेत् ॥५॥

जप ऐसी क्रिया है, जिससे भोग, अपवर्ग अर्थात् मोक्ष, शुद्ध संकल्पों का प्रकल्पन और व्रत-निष्ठा सदृश सुन्दर शुभफलों की प्राप्ति होती है। इसलिये देवि पार्वति ! साधक का यह कर्त्तव्य है कि, वह जप और ध्यान के योग का आचरण करे ॥५॥

आब्रह्मबीजदोषाश्च नियमातिक्रमोद्भवाः ।
ज्ञानाज्ञानकृताः सर्वे प्रणश्यन्ति जपात् प्रिये ॥६॥

बीज एक पारिभाषिक शब्द है, जैसे सामान्य बीज में वृक्ष, वनोपवन और अरण्यानी की सम्भावना विद्यमान है। उसी बीज के सद्दोष हो जाने से सारी सम्भावनाओं का भी नाश हो जाता है, उसी तरह विश्वात्मक स्थूलभाव से लेकर ब्रह्मपर्यन्त इस समस्त स्थूल, सूक्ष्म जगत् में विद्यमान जितने मन्त्रात्मक बीज हैं, उनमें भी जब नियमों के व्यतिक्रम से दोष उत्पन्न हो जाते हैं, तो सृष्टि के संहार की सम्भावना का भय उपस्थित हो जाता है।

यह भी सत्य है कि, ये सारे उक्त दोष ज्ञान के अन्यथाभाव के कारण और अज्ञान से उत्पन्न होते हैं। इसलिये प्रिये पार्वति ! इनके प्रति सदा सावधान रहना चाहिये और यह जान लेना चाहिये कि, उक्त सारे दोष जप करने से ही नष्ट हो जाते हैं ॥६॥

संसारे दुःखभूयिष्ठे यदीच्छेत् सिद्धिमात्मनः ।
पञ्चाङ्गोपासनेनैव मन्त्रजापी व्रजेत् सुखम् ॥७॥

यह संसार दुःखों से भरा हुआ है। दुःखों की अधिकता के कारण ही इसे दुःख-भूयिष्ठ कहते हैं। दुःखों का निवारण कर जो मनुष्य उत्तम फलरूप सिद्धि का अभिलाषी है और आत्मकल्याण चाहता है, वह पूजा के संकल्प, आसन और आत्मशुद्धि, पूजन, ध्यान और जप इन अंगों के साथ जप की प्रक्रिया को ही अपनाये। यह ध्रुव सत्य है कि, मन्त्र-जप करने वाला ही सुखी रहता है ॥७॥

पूजा त्रैकालिकी नित्यं जपस्तर्पणमेव च ।
होमो ब्राह्मणभुक्तिश्च पुरश्चरणमुच्यते ॥८॥

पुरश्चरण की परिभाषा के रूप में ही प्रस्तुत श्लोक प्रयुक्त है। इसके अनुसार इस अनुष्ठान में लगा व्यक्ति—(१) त्रैकालिकी पूजा करता है। इसे नित्य नियम के अनुसार करना चाहिये। (२) नित्य नियमित जप करना आवश्यक होता है। (३) जप के बाद दशांश होम का विधान है। (४) होम का दशांश तर्पण भी आवश्यक है। (५) तत्पश्चात् दशांश ब्राह्मण भोजन का भी विधान है। इन पाँच कार्यों का व्रतानुष्ठानपूर्वक सम्पादन पुरश्चरण कहलाता है ॥८॥

यद् यदङ्गं विहीयेत तत्संख्याद्विगुणो जपः ।
कुर्याद् द्वित्रिचतुःपञ्चसंख्यां वा साधकः प्रिये ॥९॥

इस जिस किसी अंग में छूट हो जाय, इस भूल का प्रायश्चित्त उस अंग के दूने जप से दुगुना, तिगुना, चौगुना या पँचगुना भी जप कर सकता है ॥९॥

कुर्वीत चाङ्गसिद्ध्यर्थं तदशक्तौ स भक्तितः ।
तच्चेदङ्गं विहीयेत मन्त्री नेष्टमवाप्नुयात् ॥१०॥

भक्ति-भावना से परिपूर्ण साधक का यह कर्त्तव्य है कि, वह उन पाँचों पुरश्चरण के अंगों के करने में यदि असमर्थ हो, तो उस अंग की सिद्धि के लिये जप करना ही चाहिये । यदि दुर्योगवश वह अंग छूट जाय और उसके लिये जप भी न हो सके, तो अनर्थ हो जाता है । अर्थात् साधक इष्ट की प्राप्ति से वंचित रह जाता है ॥१०॥

अन्नैश्चतुर्विधैर्देवि ! पदार्थैः षड्रसान्वितैः ।
सुभोजितेषु विप्रेषु सर्वं हि सफलं भवेत् ॥११॥

प्रायश्चित्तों का भी प्रायश्चित्त ब्राह्मण-भोजन है । शास्त्र कहता है कि, चार प्रकार— लेह्य, चोष्य, खाद्य, पेय आदि पदार्थों के रूप में परिणत अन्नों और मधुर, अम्ल, लवण कषाय, तिक्त और कटु रूप छः रसों से समन्वित पक्वान्नों और घृतादि पक्व सुन्दर सुष्ठु भोजन से यदि विज्ञ विप्रों को तृप्त कर दिया जाय, तो सारे अधूरे काम भी सफल हो जाते हैं ॥११॥

सम्यक्सिद्धैकमन्त्रस्य पञ्चाङ्गोपासनेन च ।
सर्वमन्त्राश्च सिध्यन्ति त्वत्प्रसादात् कुलेश्वरि ॥१२॥

मन्त्रों में कुछ ऐसे भी मन्त्र होते हैं, जो साधकों को भगवत्कृपा से सिद्ध हो जाते हैं । एक ही मन्त्र यदि किसी साधक को सिद्ध हो गया है और वह उसकी पंचांग पूजा कर नियमतः उसका जप करता है, तो भगवान् कह रहे हैं कि, कुलेश्वरि देवि ! उसी के प्रभाव से उसके सारे मन्त्र सिद्ध हो जाते हैं । मैं यह निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि, इसमें तुम्हारी कृपा ही कारण है ॥१२॥

उपदेशस्य सामर्थ्यात् श्रीगुरोश्च प्रसादतः ।
मन्त्रप्रभावाद्भक्त्या च मन्त्रसिद्धिः प्रजायते ॥१३॥

मन्त्रसिद्धि के अन्य भी महत्त्वपूर्ण कारण माने जाते हैं । जैसे—१. गुरु के मन्त्रोपदेश में वह बल और सामर्थ्य होता है, जिसके प्रभाव से मन्त्र सिद्ध हो जाते हैं । २. गुरुदेव का इतना प्रसादपूर्ण अनुग्रह होता है कि, उनके शक्तिपात से मन्त्र सिद्ध हो जाते हैं । ३. स्वयं मन्त्र में ही इतना प्रभाव होता है कि, मन्त्र स्वयं सिद्ध हो जाते हैं । ४. और चौथा कारण मन्त्रशक्ति में श्रद्धा और भक्ति का आधिक्य है । इसके प्रभाव से भी मन्त्र सिद्ध हो जाते हैं ॥१३॥

सिद्धमन्त्राद् गुरोर्लब्धो मन्त्रो यः सिद्धिभाग्भवेत् ।
पूर्वजन्मकृताभ्यासान्मन्त्रो वा शीघ्रसिद्धिदः ॥१४॥

एक तो साधक द्वारा स्वात्म सदध्यवसाय के माध्यम से मन्त्र सिद्ध होते हैं । दूसरे गुरुदेव से प्राप्त मन्त्र सिद्ध होते हैं । इन दोनों में गुरुप्राप्त मन्त्र ही सिद्धिप्रद माना जाता

है। कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि, पूर्वजन्म के अभ्यास का यह प्रभाव होता है कि, इस जन्म में तनिक प्रयास से ही वह सिद्ध हो जाता है ॥१४॥

दीक्षापूर्वं कुलेशानि पारम्पर्यक्रमागतम्।
न्यायलब्धश्च यो मन्त्रः स च सिद्धो न संशयः ॥१५॥

भगवान् कह रहे हैं कि, कुलेश्वरी देवि ! दीक्षापूर्वक परम्पराप्राप्त क्रमानुसार गुरु से मिला गुरु-मन्त्र अथवा न्यायत: प्राप्त होने वाले मन्त्र नि:सन्देह सिद्ध हो जाते हैं ॥१५॥

मासमात्रं जपेन्मन्त्रं भूतलिप्या तु सम्पुटम्।
क्रमोत्क्रमात् सहस्रन्तु तस्य सिद्धो भवेन्मनुः ॥१६॥

मातृकाक्षर से सम्पुटित एक हजार मन्त्रों का जप करना चाहिये। इसके दो विधान हैं—१. अनुलोम विधान और २. विलोम विधान। अनुलोम जप के बाद विलोम जप भी आवश्यक है। विलोम के बाद अनुलोम जप पुन: करने से तुरन्त फल मिलता है ॥१६॥

त्रिषष्ट्यक्षरसंयुक्तमातृकाक्षरसम्पुटम् ।
मण्डलं पूजयेन्मन्त्री मातृकावर्णमुच्चरन् ॥१७॥

तिरसठ अक्षरों वाले मन्त्र को मातृका के अक्षरों से सम्पुटित कर अनुलोम क्रम और विलोम (उत्क्रम) भाव से जप करने पर मन्त्र अनायास ही सिद्ध हो जाता है ॥१७॥

मातृकाजपमात्रेण मन्त्राणां कोटिकोटयः ।
जपिताः स्युर्न सन्देहो यतः सर्वं तदुद्भवम् ॥१८॥

और कुछ न जपें, केवल मातृकाक्षरों को ही मन्त्रवत् जप का विषय बना लिया जाय तो इसका यह प्रभाव होता है कि, करोड़ों-करोड़ मन्त्र स्वयं जप के विषय बन जाते हैं, जप लिये जाते हैं; क्योंकि सारे मन्त्र मातृकाक्षरों से ही उत्पन्न हैं ॥१८॥

अनेककोटिमन्त्राणि चित्ताकुलकराणि च।
मन्त्रं गुरुकृपाप्राप्तमेकं स्यात् सर्वसिद्धिदम् ॥१९॥

करोड़ों-करोड़ मन्त्र शास्त्रों में प्रतिपादित हैं। यद्यपि ये सभी महत्त्वपूर्ण हैं, फिर भी इनकी सिद्धि विधिज्ञात न होने के कारण साधकों के चित्त को ये आकुल-व्याकुल करने वाले हो जाते हैं। वहीं श्री सद्गुरुदेव की कृपा से प्राप्त एकमात्र गुरुमन्त्र समस्त सिद्धियों को प्रदान करने में समर्थ होता है, अर्थात् गुरुमन्त्र ही सर्वोपरि मन्त्र है ॥१९॥

यदृच्छया श्रुतं मन्त्रं दृष्टेनापि छलेन च।
पत्रे स्थितं वा चाध्याप्य तज्जपः स्यादनर्थकृत् ॥२०॥

१. स्वेच्छापूर्वक किसी से सुना हुआ, २. छद्म दृष्टि से देखकर प्राप्त किया गया, ३. छल से गुरु द्वारा ग्रहण किया हुआ, ४. किसी पत्र पर लिखा हुआ अथवा ५. पढ़ाते

या पढ़ते समय मिला हुआ मन्त्र—ये सभी अनर्थकारी होते हैं। इनसे अभिलषित की पूर्त्ति के स्थान पर हानि की ही सम्भावना अधिक होती है ॥२०॥

पुस्तके लिखितान्मन्त्रान् विलोक्य प्रजपन्ति ये।
ब्रह्महत्यासमं तेषां पातकं व्याधिदुःखदम् ॥२१॥

पुस्तक में कितने मन्त्र लिखे व छपे होते हैं, उन्हें देखकर जो व्यक्ति उनसे आकृष्ट होकर जप करने लगता है, वह बड़े धोखे में पड़ जाता है। लाभ की जगह उसे ब्रह्महत्या-सदृश पाप लग जाता है। साथ ही मन्त्र की विपरीत ऊर्जा से उसे अनेक प्रकार के रोग ग्रस्त कर लेते हैं। परिणामतः उसे दुःख का भागी होना पड़ता है ॥२१॥

पुण्यक्षेत्रं नदीतीरं गुहा पर्वतमस्तकम्।
तीर्थप्रदेशाः सिन्धूनां सङ्गमः पावनं वनम् ॥२२॥

यहाँ ऐसे स्थानों की चर्चा कर रहे हैं, जहाँ रहकर, बैठकर मन्त्रसिद्धि की प्रक्रिया अपनाना अच्छा रहता है। जैसे—१. पुण्यप्रद पावन क्षेत्र, २. नदी का सुन्दर किनारा, ३. पर्वत की निरापद एकान्त गुफा, ४. पर्वत का मस्तक अर्थात् शिखर भाग, ५. तीर्थक्षेत्र का कोई एकान्त स्थल, ६. नदियों का संगमस्थल प्रदेश अथवा ७. पावनतम वह वनप्रदेश, जहाँ सुरक्षा के साथ शान्ति हो। जप के ये उत्तम स्थल हैं ॥२२॥

उद्यानानि विविक्तानि बिल्वमूलं तटं गिरेः।
देवतायतनं कूलं समुद्रस्य निजं गृहम् ॥२३॥

८. एकान्त के उद्यान, ९. बिल्व वृक्ष का मूलभाग, १०. एकान्त सुरक्षित पर्वतीय उपत्यका, ११. देवमन्दिर, १२. समुद्रतट और अपने घर का एकान्त भाग, ये सभी जप के लिये उत्तम स्थल माने जाते हैं ॥२३॥

साधनेषु प्रशस्तानि स्थानान्येतानि मन्त्रिणाम्।
अथवा निवसेत्तत्र यत्र चित्तं प्रसीदति ॥२४॥

उक्त बारह स्थान साधना के लिये प्रशस्त स्थान माने जाते हैं। विशेषतः मन्त्र सिद्ध करने की लालसा वाले श्रद्धालुओं के लिये इसी प्रकार के स्थान उत्तम और सिद्धिप्रद होते हैं। इसके अतिरिक्त एक अन्य विकल्प की बात शास्त्र कहता है। वह कहता है कि, जिस स्थान पर मन रम जाय, चित्त प्रसन्न हो जाय, वह स्थान भी इस कार्य के लिये उत्तम माना जाता है ॥२४॥

सूर्यस्याग्नेर्गुरोरिन्दोर्दीपस्य च जलस्य च।
गोविप्रकुलवृक्षाणां सन्निधौ शस्यते जपः ॥२५॥

जहाँ तक जप का प्रश्न है, यह पवित्र स्थान पर और पावन स्थानों पर पावन सान्निध्य में होना चाहिये। जैसे—१. सूर्य के पावन प्रकाश में जप प्रशस्त होता है। २. अग्नि का सान्निध्य भी अच्छा है। ३. गुरु के पास रहकर जप करना सर्वोत्तम है। ४.

चाँद की चाँदनी भी प्रशस्य होती है। ५. दीप का प्रकाश भी स्वीकृत है। ६. जलाशय या नदी का तट उत्तम है। ७. गाय के पास, ८. ब्राह्मण के पास अथवा कुलवृक्ष के सान्निध्य में जप अच्छा माना जाता है ॥२५॥

गृहे शतगुणं विद्याद् गोष्ठे लक्षगुणं भवेत्।
कोटिर्देवालये पुण्यमनन्तं शिवसन्निधौ ॥२६॥

गृह में जप यदि सौगुना अच्छा होता है, तो यह निश्चय है कि, गोष्ठ (जहाँ गायें बाँधी जाती हैं) में लाख गुना अच्छा होता है। देवमन्दिर में यदि जप किया जाय, तो यह करोड़ गुना अच्छा होता है। सौभाग्यवश यदि शिवसान्निध्य में जप करने का अवसर मिल जाय, तो इसका अनन्त फल होता है ॥२६॥

म्लेच्छदुष्टमृगव्यालशङ्कातङ्कविवर्जित: ।
एकान्तपावने निन्दारहिते भक्तिसंयुते ॥२७॥

मन्त्र जप करने वाले साधक को सिद्धि के उद्देश्य से ऐसे स्थान का चयन करना चाहिये, जहाँ उसके कार्य में किसी प्रकार की विघ्नबाधा की सम्भावना न हो। वही कह रहे हैं—१. म्लेच्छ (बर्बर स्वभाव और बर्बर बोली का प्रयोग करने वाला नीच व्यक्ति ही म्लेच्छ कहलाता है), २. दुष्ट (दूषित, भ्रष्ट और अपराधी व्यक्ति दुष्ट होता है), ३. मृग (जंगली जीव-जन्तु), ४. व्याल (सर्प), ५. शंका और ६. आतंक से रहित स्थान, ७. एकान्त, ८. पावन, ९. निन्दा से रहित और १०. भक्ति के वातावरण से भरपूर स्थान का आश्रय उत्तम होता है ॥२७॥

स्वदेशे धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रवे।
राजभक्तजनस्थाने निवसेत्तापसाश्रये ॥२८॥

११. स्वदेश (विदेशों के वातावरण मन्त्रसिद्धि के अयोग्य), १२. धार्मिक देश, १३. जहाँ सुभिक्ष हो (दुर्भिक्षनिषिद्ध), १४. उपद्रवरहित स्थान और १५. वह जनस्थान (प्रदेश) जहाँ राजभक्त हों—ऐसे स्थानों के साथ ही साथ यदि १६. किसी तपस्वी तापस का आश्रय मिल जाय, तो वहीं निवास कर मन्त्र-सिद्धि में लगे। उक्त ये सभी स्थान भी तापसाश्रय माने जाते हैं ॥२८॥

राजान: सचिवा राज्ञां पुरुषा: प्रभवो जना:।
चरन्ति येन मार्गेण न वसेत्तत्र मन्त्रवित् ॥२९॥

मन्त्रवेत्ता मन्त्रज्ञ तपस्वी पुरुष ऐसे स्थान पर कदापि निवास न करें, जिस मार्ग से राजा की सवारी निकलती हो, उसके सचिव लोग आवागमन करते हों, राजा के सिपाही आदि जहाँ से सम्पृक्त हों अथवा समाज के प्रभावशाली (माफिया सदृश) लोग आना-जाना रखते हों। ये सारे स्थान शोषण के हैं। अत एव सदोष होते हैं ॥२९॥

जीर्णदेवालयोद्यानगृहवृक्षतलेषु च।
नदीतडागकूपेषु भूच्छिद्रादिषु नो वसेत् ॥३०॥

टूटे-फूटे जर्जर देवालय, पुराना उजाड़ उद्यान, पुराना घर, खोखले और पुराने पेड़ों के नीचे, नदी का कगार, तालाब का किनारा और कुएँ की प्रभावित भूमि, फटी धरती के छाड़न सदृश अनर्थकारी स्थानों पर मन्त्रसिद्धि करने में संलग्न लोग कभी न रहें ॥३०॥

दीपनाथमयष्ट्वा यो जपपूजादिकं चरेत्।
तत्फलं गृह्यते तेन तस्यायासः फलं भवेत् ॥३१॥

जप हो या पूजा, अनुभवगम्य तथ्य यह है कि, सर्वप्रथम दीपनाथ अर्थात् प्रकाश के मूलाधार गुरुदेव की पूजा होनी चाहिये। उनकी पूजा के विना जप और पूजा आदि के विधान सम्पादित नहीं किये जाने चाहिये। जप और पूजा से होने वाले सारे फल, जो साधक जापक या अर्चक को मिलने चाहिये, वे सब उन्हीं को प्राप्त हो जाते हैं। अर्चक को आयास मात्र का फल प्राप्त होता है ॥३१॥

वंशाश्मधरणीदारुतृणपल्लवनिर्मितम्।
वर्जयेदासनं धीमान् दारिद्र्यव्याधिदुःखदम् ॥३२॥

आसन के सम्बन्ध में भगवान् का निर्देश है कि, इन पदार्थों के आसन का प्रयोग नहीं करना चाहिये—१. बाँस, २. प्रस्तर (शिला), ३. धरणी (पृथ्वी पर सीधे नंगे बैठने का साधन), ४. लकड़ी, तृण (खरपतवार), ६. वृक्षों के पत्ते। ये छः प्रकार के आसन वर्जित हैं। इन पर बैठकर जप, ध्यान, अर्चन-पूजन और हवन आदि उपासना के कार्य नहीं करने चाहिये। बुद्धिमान् पुरुष को इनसे बचना चाहिये। इनके प्रयोग का दुष्परिणाम यह होता है कि, उपासक व्याधिग्रस्त हो जाता है। वह दरिद्रता का शिकार हो जाता है और उसे नाना प्रकार के दुःख झेलने पड़ते हैं ॥३२॥

तूलकम्बलवस्त्राणां सिंहव्याघ्रमृगाजिनम्।
कल्पयेदासनं धीमान् सौभाग्यज्ञानवृद्धिदम् ॥३३॥

१. रूई, २. कम्बल और ३. सामान्य कपास निर्मित कपड़ों, ४. सिंह, ५. व्याघ्र और ६. हिरण चर्म के आसनों में से किसी एक प्रकार के भी आसन का प्रयोग उपासना में स्वीकार्य है। इसका सुपरिणाम सौभाग्य-संवर्द्धन तथा ज्ञानवृद्धि के रूप में उपासक को प्राप्त होता है ॥३३॥

पद्मस्वस्तिकवीरादिष्वासनेषूपविश्य च।
जपार्च्चनादिकं कुर्यादन्यथा निष्फलं भवेत् ॥३४॥

१. पद्मासन, २. स्वस्तिकासन और ३. वीरासन तथा आदि शब्द से कोई भी सिद्ध आसन, जिस पर सरलता से आयास के बिना बैठा जा सकता है, जैसे वज्रासन आदि, इनमें बैठकर जप और अर्चन आदि कार्य करना श्रेष्ठ माना जाता है। बिना आसन के जपादि निष्फल होते हैं ॥३४॥

द्वादशावर्त्तयन् बुद्ध्या प्रणवन्तु त्रिमात्रकम्।
मुञ्चेत् पिङ्गलया वायुमन्तःस्थं रेचको भवेत् ॥३५॥

रेचक प्राणायाम की विधि बतला रहे हैं। इसमें भीतर के वायु को बायीं ओर के नासाछिद्र से बाहर निकालते हैं। दायीं ओर की नाड़ी को, जिससे साँस निकलती है, 'पिंगला' कहते हैं, उसी से 'ओ३म्' इस प्रणव मन्त्र को बारह बार निकालते हैं। 'ओ३म्' को त्रिमात्रक रूप में (प्लुत स्वर में) बोलते या मानसिक उच्चारण करते हुए निकालने का विधान है। यह रेचकरूप प्राणायाम का अंग माना जाता है ॥३५॥

षोडशावर्त्तयन् तारं वायुं मध्ये च कुम्भयेत्।
शनकैरिडया बद्ध्वा पूरकं परिकीर्त्तितम् ॥३६॥

तार अर्थात् प्रणव को सोलह बार बोलते हुए बाहर गयी साँस को भीतर भरते हैं। इसमें शीघ्रता वर्जित है। धीरे-धीरे साँस भीतर लेनी चाहिये। साँस भीतर लेने के लिये बायें नासाछिद्र का प्रयोग करना चाहिये। बायीं ओर के नासाछिद्र की श्वास-नलिका को 'इडा' कहते हैं। इस विधि को प्राणायाम का 'पूरक' रूप मानते हैं ॥३६॥

द्वादशावर्त्तयन् तारं वायुं मध्ये च कुम्भयेत्।
शोषयेद्वायुबीजेन देहशोषणमीरितम् ॥३७॥

पूरक की प्रक्रिया के उपरान्त तार अर्थात् प्रणव का बारह बार आवर्त्तन करते हुए उतने समय तक 'कुम्भक' की प्रक्रिया अपनायी जाती है। कुम्भक में पूरक से प्राप्त प्राणवायु को भीतर ही रोकते हैं। उसी अवस्था में वायुबीज 'यं' का ध्यान करने से अनिच्छित शैत्य का शोषण होता है। इसे देहशोषण व्यापार माना जाता है। इससे मोटापा दूर होता है और शरीर चर्बी का तारल्य समभाव में रहने लगता है ॥३७॥

पुनश्च पूर्ववद्वायुं विरेच्यापूर्य कुम्भयेत्।
दहेद् दहनबीजेन देहदाहनमीरितम् ॥३८॥

इतना करने के बाद पुनः वायु का विरेचन करना चाहिये। विरेचन कर पूर्ववत् पूरक और कुम्भक करना चाहिये। इसमें अग्निबीज का प्रयोग करना चाहिये। अग्नि का कार्य भस्म करना है। अग्निबीज से शरीर में अनपेक्षित तत्त्व जल जाते हैं। इस प्रयोग को देह-दाहन प्रयोग कहते हैं ॥३८॥

पुनश्च पूर्ववद्वायुं विरेच्यापूर्य कुम्भयेत्।
शिवकुण्डलिनीयोगस्यन्दनामृतधारया ॥
आपादमस्तकं देवि प्लावयेत् प्लावनं भवेत् ॥३९॥

फिर वायु का विरेचन करें। पुनः पूरक करें। पुनः कुम्भक भी करें। कुम्भक की दशा में उदान वायु शिव कुण्डलिनी की अमृत-धारा को शरीर के आन्तर धाम की अमृत-धारा से सींचने के लिये प्रेरित कर देता है। भगवान् कहते हैं कि, देवि ! उस

समय साधक को सावधान होकर शरीर के अणु-अणु को अमृत से (शिवामृतधारा से) अभिषिक्त करना चाहिये। इस क्रिया को प्लावन क्रिया कहते हैं ॥३९॥

जपध्यानं विनाऽगर्भः सगर्भस्तद्विपर्ययात्।
अगर्भाद् गर्भसंयुक्तः प्राणायामः शताधिकः ॥४०॥

प्राणायाम में जब न तो जप हो और न ध्यान का क्रम ही अपनाया जाय, तो वह 'अगर्भ' प्राणायाम होता है। जब जप और ध्यान का क्रम अपनाया जाता है, उसे 'सगर्भ' प्राणायाम कहते हैं। 'अगर्भ' से 'सगर्भ' प्राणायाम शतशः महत्त्वपूर्ण माना जाता है ॥४०॥

तपांसि तीर्थयात्राद्या मखदानव्रतादयः।
प्राणायामस्य तस्यैते कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥४१॥

सारे तप, तीर्थयात्रा के महत्त्वपूर्ण फल, यज्ञों और दान तथा व्रत आदि के पुण्य का प्राणायाम से होने वाले पुण्य के समक्ष कोई महत्त्व नहीं। उक्त सारे पुण्य उसकी षोडशी कला के बराबर भी नहीं होते ॥४१॥

मानसं वाचिकं पापं कायिकं वापि यत् कृतम्।
तत् सर्वं निर्दहेच्छीघ्रं प्राणायामत्रयं शिवे ॥४२॥

मन से किये हुए मानस पाप, वाणी से किये हुए वाचिक पाप, शरीर से हुए कायिक पाप जितने भी मनुष्य द्वारा किये जाते हैं, भगवान् कह रहे हैं कि, सर्वेश्वरी शिवे! केवल तीन बार सगर्भ प्राणायाम करने से ही उक्त सारे पाप प्रणष्ट हो जाते हैं ॥४२॥

दह्यते ध्मायमानानां धातूनाञ्च यथा मलम्।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य संयमात् ॥४३॥

लौहकार की भस्त्रा (भाथी) से ध्मायमाण होने पर अर्थात् उसकी धौंकनी से निकलने वाली तीखी आग से सामने पड़ी धातुओं के मल नष्ट हो जाते हैं। यह प्रत्यक्ष सिद्ध बात है। उसी प्रकार प्राणों के संयम से अर्थात् प्राणायाम से उत्पन्न अदृश्य वैद्युतिक ऊर्जा से इन्द्रियों से होने वाले सारे पाप दग्ध हो जाते हैं ॥४३॥

प्राणायामैर्विशुद्धात्मा यद् यत् कर्म करोति हि।
तत्तत् फलत्यसन्देहस्त्वप्रयत्नेन वा कृतम् ॥४४॥

प्राणायाम की प्रक्रिया से व्यक्ति की आत्मा विशुद्ध हो जाती है, अर्थात् आत्मा के ऊपर पड़े आवरण नष्ट हो जाते हैं। व्यक्ति विशुद्धात्मा हो जाता है। वह अब जो काम करता है, भले ही वह प्रयत्नपूर्वक करे या अप्रयत्नपूर्वक ही करे, उसके कार्य निश्चित रूप से सुफल प्रदान करते हैं ॥४४॥

आगमोक्तेने मार्गेणाभ्यासं नित्यं करोति यः ।
देवताभावमाप्नोति मन्त्रसिद्धिः प्रजायते ॥४५॥

आगमिक मर्यादाओं का पालन करते हुए अनुशासनपूर्वक जो साधक नित्य नियमित अभ्यास में लगा रहता है, यह निश्चय है कि, वह देवभाव को प्राप्त कर लेता है। उसके द्वारा जपे सभी मन्त्र सिद्ध हो जाते हैं ॥४५॥

यो न्यासकवचच्छन्दोमन्त्रं जपति तं प्रिये ।
विघ्ना दृष्ट्वा पलायन्ते सिंहं दृष्ट्वा यथा गजाः ॥४६॥

सिंह को देखते ही हाथियों का झुण्ड भाग खड़ा होता है। वही दशा न्याससहित कवचपूर्वक मन्त्रों के छन्द और ऋषि आदि के उच्चारणपूर्वक मन्त्र जप करने वाले साधक को देखकर विघ्नों की होती है, अर्थात् साधक मन्त्री के सारे विघ्न नष्ट हो जाते हैं ॥४६॥

अकृत्वा न्यासजालं यो मूढात्मा प्रजपेन्मनुम् ।
बाध्यते सर्वविघ्नैश्च व्याघ्रैर्मृगशिशुर्यथा ॥४७॥

बिना न्यास आदि की प्रक्रिया पूरी किये कुछ लोग मन्त्र का जप किया करते हैं। भगवान् कहते हैं कि, जो व्यक्ति ऐसा करते हैं, वे मूढ़ात्मा होते हैं। वह विविध प्रकार के विघ्नों से उसी प्रकार मारे जाते हैं, जैसे व्याघ्र मृगछौनों का अनायास ही शिकार कर लिया करते हैं ॥४७॥

अक्षमाला द्विधा प्रोक्ता कल्पिताऽकल्पितेति च ।
कल्पिता मणिभिः क्लृप्ता मातृका स्यादकल्पिता ॥४८॥

अक्षमाला से ही मन्त्र-जप होता है। यह दो प्रकार की होती है—१. कल्पिता और २. अकल्पिता। मणियों की अर्थात् मनकों के माध्यम से जपी जाने वाली माला कल्पिता कही जाती है। जो माला मातृकामयी होती है, उसे अकल्पिता कहते हैं। मातृका के पचास वर्णों को दो बार प्रयुक्त कर जप करने से सौ की संख्या पूरी हो जाती है ॥४८॥

आदिक्षान्ताक्षवर्णत्वादक्षमालेति कीर्त्तिता ।
अनुलोमविलोमाभ्यां गणयेन्मन्त्रवित्तमः ॥४९॥

'अ' से लेकर 'क्ष' तक के वर्णों का प्रत्याहार 'अक्ष' कहलाता है। अक्ष वर्ण प्रयोग करने से इसे अक्षमाला कहते हैं। अनुलोम-विलोम भाव से अक्ष वर्णों की गणना मन्त्र से जानकार लोग कर लिया करते हैं ॥४९॥

एकैकमङ्गुलीभिः स्याद्रेखाभिर्दशधा फलम् ।
मणिभिः शतसाहस्रं माणिक्योऽनन्तमुच्यते ॥५०॥

जपकाल में जप की संख्या का भी ध्यान रखना चाहिये। संख्या की जानकारी के लिये कुछ लोग अंगुलियों का, कुछ लोग रेखाओं का, कुछ लोग मणियों का और कुछ

समृद्ध लोग माणिक्य का सहारा लेते हैं। इसमें अंगुलि द्वारा यदि एक अंक फल होता है, तो रेखा द्वारा दश गुना, मणियों द्वारा करोड़ गुना फल मिलता है। माणिक्य से तो अनन्त फलों की प्राप्ति होती है ॥५०॥

त्रिंशद्भिः स्याद्धनं पुष्टिः सप्तविंशतिभिर्भवेत् ।
पञ्चविंशतिभिर्म्मोक्षं पञ्चदश्याभिचारके ॥
पञ्चाशद्भिः कुलेशानि सर्वसिद्धिरुदीरिता ॥५१॥

संख्या की गिनती करने में एक निर्धारित क्रम की चर्चा शास्त्र करते हैं। यदि कोई तीस बार जप-संख्या के तीस मणि का सहारा लेता है, तो धन की प्राप्ति होती है। २७ बार मनकों के सहारे जो प्रतिदिन जप करता है, उसे पुष्टि की प्राप्ति होती है। पच्चीस माला जप से मोक्ष की प्राप्ति, १५ माला से अभिचार सफल होता है। पर यदि ५० माला प्रतिदिन ५० मनियों से जपे तो उसे सारी सिद्धियाँ उपलब्ध होती हैं। इसलिये इसमें सावधान रहना चाहिये ॥५१॥

अङ्गुष्ठेन च मोक्षः स्यात्तर्जनी शत्रुनाशिनी ।
मध्यमां धनदां विद्यात् शान्तिकर्मण्यनामिका ॥
कनिष्ठा स्तम्भन्याकर्षणयङ्गुली सुप्रकीर्त्तिता ॥५२॥

अँगूठे का सहारा लेने से मोक्ष, तर्जनी से शत्रुनाश, मध्यमा धन प्रदान करने वाली, अनामिका शान्ति कर्म में प्रशस्त मानी जाती है। कनिष्ठा अंगुली स्तम्भन और आकर्षण करने में उपयोगिनी मानी जाती है। ये बातें शास्त्र द्वारा स्वीकृत हैं ॥५२॥

एतज्जपिष्यामीत्यादौ सङ्कल्प्य मन्त्रवित्तमः ।
स्थिरासनो जपित्वाऽथ देव्यै सोदकमर्पयेत् ॥५३॥

मन्त्रवित् ज्ञानवान् साधक किसी कार्य को पूरा करने के लिये सर्वप्रथम संकल्प करता है। मैं इस मन्त्र का जप करूँगा। इसके लिये वह देश-काल का स्मरण करते हुए इष्टप्रीत्यर्थ जप करता है। स्थिर आसन पर विराजमान रहते हुए जप पूरा कर आराध्य अथवा आराध्या देवी के वाम हस्त में जल के साथ अर्पण करे, यह शास्त्र की आज्ञा है ॥५३॥

उच्चैर्जपोऽधमः प्रोक्त उपांशुर्मध्यमः स्मृतः ।
उत्तमो मानसो देवि त्रिविधः कथितो जपः ॥५४॥

जोर से बोलकर किया हुआ जप अधम माना जाता है। उपांशु जप मध्यम श्रेणी का माना जाता है। मानस जप उत्तम माना जाता है। भगवान् कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! यद्यपि जप कई प्रकार के होते हैं। इनमें उक्त त्रिविध जप प्रसिद्ध हैं। इनमें भी मानस जप सबसे अच्छा होता है ॥५४॥

अतिह्रस्वो व्याधिहेतुरतिदीर्घस्तपःक्षयः ।
अक्षराक्षरसंयुक्तो यो मन्त्रः स न सिध्यति ॥५५॥

मन्त्र को अतिशीघ्र (ह्रस्व) अर्थात् फरफर बोल देना व्याधिप्रद माना जाता है। अत्यन्त देर तक खींचकर जपना तप का क्षय करता है। अक्षराक्षर जोड़-जोड़कर जो मन्त्र-जप किया जाता है, ये तीनों कभी सिद्ध नहीं होते ॥५५॥

मनसा यः स्मरेत् स्तोत्रं वचसा वा मनुं जपेत्।
उभयं निष्फलं देवि भिन्नभाण्डोदकं यथा ॥५६॥

जो साधक मन से स्तोत्र का स्मरण करता है और वाणी द्वारा बोल-बोलकर मन्त्र का जप करता है, भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! ये दोनों कार्य उसी तरह निष्फल होते हैं, जैसे फूटा हुआ जलभाण्ड व्यर्थ होता है। उसमें जल ठहरता नहीं ॥५६॥

जातसूतकमादौ स्यात्तदन्ते मृतसूतकम्।
सूतकद्वयसंयुक्तो यो मन्त्रः स न सिध्यति ॥५७॥

सूतक दो प्रकार के होते हैं—१. जातसूतक और २. मृतसूतक। इनमें जात-सूतक पहले और मृतसूतक बाद में होता है। इन दोनों में मन्त्र-जप निषिद्ध है। इनमें जपे मन्त्र सिद्ध नहीं होते ॥५७॥

आद्यन्तरहितं कृत्वा मन्त्रमावर्त्तयेद्धिया।
सूतकद्वयनिर्म्मुक्तो यो मन्त्रः सर्वसिद्धिदः ॥५८॥

इस प्रकार आदि और अन्त, इन भावनाओं के प्रभाव से मुक्त सूतकद्वयरहित स्थिति में जप उत्तम होता है। इस प्रकार का शुचितापूर्वक जपा हुआ मन्त्र निश्चित रूप से समस्त सिद्धियों को प्रदान करने वाला होता है ॥५८॥

मन्त्रार्थं मन्त्रचैतन्यं योनिमुद्रां न वेत्ति यः।
शतकोटिजपेनापि तस्य सिद्धिर्न जायते ॥५९॥

मन्त्र के अर्थ और निहितार्थ को जो नहीं जानता, जो मन्त्र में चैतन्य को जागृत करने की प्रक्रिया नहीं जानता और जो साधक योनिमुद्रा का प्रयोग नहीं जानता और प्रयोग नहीं करता, वह भले ही सैकड़ों करोड़ मन्त्र जपता रहे, उसे किसी प्रकार की सिद्धि नहीं मिलती ॥५९॥

सुप्तबीजाश्च ये मन्त्रा न दास्यन्ति फलं प्रिये।
मन्त्राश्चैतन्यसहिताः सर्वसिद्धिकराः स्मृताः ॥६०॥

भगवान् कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति ! सप्तबीज मन्त्र किसी अवस्था में फल प्रदान करने में असमर्थ होते हैं। इसलिये उन्हें जागृत कर चैतन्ययुक्त कर लेने के बाद ही जप करना श्रेयस्कर होता है। चैतन्ययुक्त मन्त्र सभी सिद्धियों को प्रदान करते हैं ॥६०॥

चैतन्यरहिता मन्त्राः प्रोक्ता वर्णास्तु केवलम्।
फलं नैव प्रयच्छन्ति लक्षकोटिजपादपि ॥६१॥

चैतन्य से रहित मन्त्र में मन्त्रत्व रहता ही नहीं। वहाँ तो केवल वर्णमात्रता ही रहती है। वे वर्णमात्र ही रहते हैं। ऐसे मन्त्र अरबों-खरबों जप के बाद भी फल प्रदान करने में नितान्त असमर्थ होते हैं ॥६१॥

मन्त्रोच्चारे कृते यादृक् स्वरूपं प्रथमं भवेत्।
शतैः सहस्त्रैर्लक्षैर्वा कोटिजापेन तत् फलम् ॥६२॥

श्रद्धा और आस्थापूर्वक किसी ने मन्त्र जपना प्रारम्भ किया। यह उसका मान्त्रिक मानसोल्लास होता है। उस समय एक अनिर्वचनीय ऊर्जा का उल्लास दृष्टिगोचर होता है और अनुभूत होता है। सैंकड़ों, हजारों, लाखों, करोड़ों मन्त्रों के फलस्वरूप भी वैसा ही फल प्राप्त होता है ॥६२॥

हृत्कण्ठग्रन्थिभेदश्च सर्वावयववर्द्धनम्।
आनन्दाश्रु च पुलको देहावेशः कुलेश्वरि॥
गद्गदोक्तिश्च सहसा जायते नात्र संशयः ॥६३॥

हृदय भर आवे, कण्ठ अवरुद्ध हो उठे, वाग्धारा में कारुण्य का गद्गद भाव भर जाय, सारे अंग-प्रत्यंग मानो अपने में न समा सकें, आनन्द के आँसू छलक उठें, रोमांच हो जाय और हे कुलेश्वरि! शरीर एक आवेश से आविष्ट-सा हो जाय ॥६३॥

सकृदुच्चरितेऽप्येवं मन्त्रे चैतन्यसंयुते।
दृश्यन्ते प्रत्यया यत्र पारम्पर्यं तदुच्यते ॥६४॥

चैतन्ययुक्त मन्त्रोच्चार का प्रभाव इस प्रकार प्रामाणिक हो जाता है। एक बार के उच्चारण से ही उक्त लक्षण अभिव्यक्त होते हैं। जहाँ इस प्रकार सद्यःप्रत्यय परिलक्षित होता है, वहाँ यह मान लिया जाना चाहिये कि, गुरुपरम्परा का क्रमागत प्रभाव यहाँ विद्यमान है। चैतन्ययुक्त ऐसा मन्त्र 'पारम्पर्य' क्रम वाला कहा जाता है ॥६४॥

रुद्धः कूटाक्षरो मुग्धो बद्धः क्रुद्धश्च भेदितः।
बालः कुमारो युवकः प्रौढो वृद्धश्च गर्वितः ॥६५॥
स्तम्भितो मूर्च्छितो मत्तः कीलितः खण्डितः शठः।
मन्दः पराङ्मुखश्छिन्नो बधिरोऽन्धस्त्वचेतनः ॥६६॥
किङ्करः क्षुधितः स्तब्धः स्थानभ्रष्टश्च पीडितः।
निःस्नेहो विकलो ध्वस्तो निर्जीवः खण्डितारिकः ॥६७॥
सुप्तस्तिरस्कृतो नीचो मलिनश्च दुरासदः।
निःसत्त्वो निर्जितो दग्धश्चपलश्च भयङ्करः ॥६८॥
निस्त्रिंशो निन्दितः क्रूरः फलहीनो निकृन्तनः।
निर्वीर्यो भ्रमितो शप्त ऋणक्लिष्टोऽङ्गहीनकः॥
जडो रिपुरुदासीनो लज्जितो मोहितोऽलसः ॥६९॥

मन्त्रों में साठ प्रकार के दोष प्रसिद्ध हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं—१. रुद्ध (किसी प्रकार से जिसमें अवरोह उत्पन्न हो जाय, वह रुद्ध मन्त्र-दोष माना जाता है); २. जिस मन्त्र में कूट अक्षरों का प्रयोग होता है, उस मन्त्र में कूटाक्षर दोष है; ३. मुग्ध (मोहग्रस्त लक्ष्य से जपा जाने पर मुग्ध दोष); ४. बद्ध (मंत्र को मन्त्रज्ञ लोग बाँध देते हैं। यह दोष है); ५. क्रुद्ध (दुष्प्रयोग से मन्त्र में यह दोष उत्पन्न हो जाता है); ६. भेदित (मन्त्रभेदयुक्त मन्त्रदोष); ७. बाल (अभी-अभी गृहीत मन्त्र); ८. कुमार (उच्चारण में कुछ कमी); ९. युवक (उत्साह में सदोषता की व्याप्ति); १०. प्रौढ़ (प्रौढ़भाव में इतनी शीघ्रता आ जाती है, जिससे अर्थवत्ता भी उलझ जाती है); ११. वृद्ध (वृद्धता स्वयं श्लथता के दोष से ग्रस्त हो जाती है); १२. गर्वित (मन्त्र के महोच्चार में विनम्रता की अपेक्षा होती है); १३. स्तम्भित (मन्त्र बोलते-बोलते रुकावट आ जाने से भी दोष ही माना जाता है); १४. मूर्च्छित (उच्चारण ही मूर्च्छाग्रस्त हो); १५. मत्त (मन्त्रोच्चार अक्रम हो। यह बहुत बड़ा दोष है); १६. कीलित (इस मन्त्र से कोई फल नहीं मिलता); १७. खण्डित (मन्त्रोच्चार में टूटन पड़ जाय); १८. शठ (मन्त्रोच्चार में शठता की झलक हो); १९. मन्द (मन्त्र मन्द भी नहीं होना चाहिये); २०. पराङ्मुख (मन्त्र सम्मुखीकरण में उच्चरित होना चाहिये); २१. छिन्न (कुछ शब्द बोले ही न जाँय); २२. बधिर (मन्त्रजप में मन जब दूसरी बात सोचता है, तो बधिर दोष हो जाता है); २३. अन्ध (जब ऋषि का प्रयोग न हो); २४. अचेतन (जब शक्ति का प्रयोग न किया जाय); २५. किंकर (जब प्रयोग में कैंकर्य झलके); २६. क्षुधित (मन्त्र स्वर के प्रयोग के बिना प्रयुक्त हों); २७. स्तब्ध (मन्त्रोच्चार ठहर-सा जाय); २८. स्थानभ्रष्ट (जहाँ अनपेक्षित हो वहाँ जप किया हो); २९. पीड़ित (अनपेक्षित स्वर का दबाव); ३०. निःस्नेह (उच्चारण में तरलता का अभाव); ३१. विकल (उच्चारण में स्वर-व्यंजन की कलाओं का विकास न हो पाये); ३२. ध्वस्त (मन्त्र का भावन अशुद्ध हो); ३३. निर्जीव (मन्त्रों के उच्चारण में प्राणवत्ता का अभाव); ३४. खण्डितारिक (वर्ण-वर्ण के उच्चारण में वैद्युतिक रश्मियों का उल्लास होता है। इन रश्मियों को 'अर' कहते हैं। ये अरे समान रूप से उच्चरित होने पर अर्थ की व्याप्ति सरल और स्वाभाविक रूप से होती है। अन्यथा वहीं खण्डितारिक दोष होता है); ३५. सुप्त (मन्त्रजप के समय माला पूरी होने पर सुमेरु के माला को घुमाने पर मन्त्र का ध्यान आना कि, मैं मन्त्र जप रहा था। माला पूरी हुई, पर दूसरी बातों में मन के उलझे रहने से मन्त्र सुप्त हो जाता है); ३६. तिरस्कृत (जपते समय किसी से बात करने के प्रयत्न से मन्त्र तिरस्कृत हो जाता है); ३७. नीच (मन्त्र के प्रति हीन भावना से यह दोष होता है); ३८. मलिन (जप के समय सदोष चिन्तन); ३९. दुरासद (दुष्टतापूर्ण चिन्तन); ४०. निःसत्त्व (मन्त्रवीर्य की पहचान से रहित होकर जप करने से यह दोष होता है); ४१. निर्जित (मन्त्र जपते समय किसी दूसरे मन्त्र के प्रभाव को अधिक मानना); ४२. दग्ध (जप करते समय क्रोध करना); ४३. चपल (मन्त्रार्थ का क्षणिक ध्यान पुनः मन्त्र की विस्मृति का व्यापार बार-बार चलते रहने में यह दोष होता है); ४४. भयंकर (उच्चारण कुछ का कुछ होने पर यह दोष होता है। जैसे 'भार्यां रक्षतु' की जगह 'भक्षतु भैरवी' का जप करते रहने से मन्त्र भयंकर हो जाता

है); ४५. निस्त्रिंश (इसका अर्थ तलवार होता है। मन्त्र उतना तीक्ष्ण नहीं होना चाहिये। यह जप्ता के ऊपर निर्भर करता है); ४६. निन्दित (इधर जप उधर कलह-कल्पन के प्रदर्शन से मन्त्र निन्दित हो जाता है); ४७. क्रूर (क्रूरता के लिये जप करना); ४८. फलहीन (दूषित ढंग से जप करना); ४९. निकृन्तक (कटे अक्षर का प्रयोग); ५०. निर्वीर्य (बिना अर्थ जाने जप और बिना मन्त्र के रहस्य में प्रवेश किये ही जप); ५१. भ्रमित (दूसरे मन्त्र के स्थान में दूसरे मन्त्र का जप करने से यह दोष होता है); ५२. शप्त (मन्त्र कभी-कभी शापग्रस्त हो जाते हैं। शापविमोचन से रहित रहने पर यह दोष होता है); ५३. रुग्ण (दोष परान्न और संस्काररहित पापी का अन्न खाकर जप करने से होता है); ५४. कष्ट (शुद्ध उच्चारण में काठिन्य); ५५. अंगहीन (न्यासादिरहित जप); ५६. जड़ (मन्त्र-चैतन्यरहित); ५७. रिपु (मन्त्र से गणना का वैपरीत्य); ५८. उदासीन (गुरु से अगृहीत); ५९. लज्जित (सम्प्रदायविरुद्ध) तथा ६०. मोहित अलस (मोहग्रस्तता के कारण आलस्य का दोष आ जाता है)। मोहित और अलस अलग-अलग मान लेने पर ६१ दोष गणना में आते हैं ॥६५-६९॥

षष्ट्येतान् मन्त्रदोषांश्च योऽज्ञात्वा प्रजपेन्मनुम्।
सिद्धिर्न जायते तस्य लक्षकोटिजपादपि ॥७०॥

इन साठ प्रकार के मन्त्रदोषों को न जानना अज्ञता का सूचक है। इनके बिना जाने जो जापक मन्त्रजप करता है, उसको कभी कार्य की सिद्धिरूप सुफल की प्राप्ति नहीं होती। भले ही वह मन्त्रों को करोड़ों की संख्या में ही क्यों न जप कर ले। अत: दोषों का निराकरण करके ही मन्त्र-जप करना चाहिये ॥७०॥

कथ्यन्ते दश संस्कारा मन्त्रदोषहरा: प्रिये।
जननं जीवनं पश्चात्ताडनं बोधनं तत: ॥७१॥
अभिषेकोऽथ विमलीकरणाप्यायने तथा।
तर्पणं दीपनं गुप्ति: संस्कारा: कुलनायिके ॥७२॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति ! मन्त्रों के उक्त दोषों को दूर करने के उपाय में उनके ऐसे दश संस्कार करने होते हैं, जिनसे मन्त्रों के दोष नष्ट हो जाते हैं। वे क्रमश: इस प्रकार हैं—१. जनन, २. जीवन, ३. ताड़न, ४. बोधन, ५. अभिषेक, ६. विमलीकरण, ७. आप्यायन, ८. तर्पण, ९. दीपन और १०. गुप्ति। इस प्रकार कुलनायिका को सम्बोधित करते हुए भगवान् शंकर ने इन संस्कारों को नामत: बताया ॥७१-७२॥

शाणोल्लीढानि शस्त्राणि यथा स्युर्निशितानि वै।
मन्त्राश्च स्फूर्त्तिमायान्ति संस्कारैर्दशभिस्तथा ॥७३॥

जिस तरह शाण पर चढ़ाये हुए शस्त्र अत्यन्त तीक्ष्ण हो जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं रह जाता। उसी तरह मन्त्र भी इन दश संस्कारों से संस्कृत हो जाने पर अत्यन्त उद्दीप्त हो जाते हैं। इनमें विशिष्ट प्रकार की वैद्युतिक स्फूर्ति आ जाती है ॥७३॥

भक्ष्यं हविष्यं शाकादि विहितानि फलान्यपि ।
मूलं शक्तुं यवानाञ्च शस्तान्येतानि मन्त्रिणाम् ॥७४॥

मन्त्रजप में लगने वाले लोगों के लिये विशिष्ट प्रकार के खाद्य पदार्थों की आवश्यकता होती है । इसलिये भगवान् शंकर उनका विधान कर रहे हैं । उनके अनुसार भक्ष्य के रूप में मन्त्रसाधक विहित फल और शाक आदि का हविष्य के रूप में व्यवहार करे । जैसे मूल, सत्तू (यवनिर्मित) । मूल पदार्थों में शकरकन्द सर्वश्रेष्ठ होता है । जौ का सत्तू सुपाच्य और पवित्र होता है ॥७४॥

यस्यान्नपानपुष्टाङ्गः कुरुते धर्मसञ्चयम् ।
अन्नदातुः फलं चार्द्धं कर्त्तुश्चार्द्धं न संशयः ॥७५॥

जिस व्यक्ति के अन्न-जल ग्रहण करने से अर्थात् खाने और जल पीने से किसी पुरुष या प्राणी के अंग-प्रत्यंग पुष्ट हुए हैं, अर्थात् उसका पोषण हुआ है, ऐसे पुष्ट शरीर वाले व्यक्ति द्वारा जो धर्म-कर्म किया जाता है, उसके पुण्य का आधा फल अन्नदाता का होता है । कर्म-धर्म करने वाले पुरुष को आधा ही फल मिलता है । इसमें सन्देह नहीं ॥७५॥

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन परान्नं वर्जयेत् सुधीः ।
पुरश्चरणकाले च काम्यकर्मस्वपीश्वरि ॥७६॥

इसलिये बुद्धिमान् पुरुष यह आदेश देते हैं कि, मनुष्य को जीवन में ऐसा प्रयत्न और पुरुषार्थ करना ही चाहिये, जिससे परान्न न ग्रहण करना पड़े । भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवस्वामिनी देवि ! यों तो इससे सर्वदा बचना चाहिये, किन्तु पुरश्चरण करते समय अथवा काम्य कर्म क्रिया करते समय तो विशेष रूप से बचना ही चाहिये ॥७६॥

जिह्वा दग्धा परान्नेन करौ दग्धौ प्रतिग्रहात् ।
मनो दग्धं परस्त्रीभिः कार्यसिद्धिः कथं भवेत् ॥७७॥

दूसरे का अन्न खाकर जीभ जल जाती है । दूसरों से दान लेने पर हाथ भी जल जाते हैं । जैसे भुने अन्न में शक्ति समाप्त हो जाती है, उसी तरह परान्नभोजी की जीभ और दान ग्रहण करने से हाथ शक्तिहीन हो जाते हैं । इसी तरह दूसरी स्त्रियों के प्रति कुदृष्टि से मन दग्ध हो जाता है । ऐसे जीभ, हाथ और मन से दोषपूर्ण व्यक्तियों की कार्यसिद्धि कैसे हो सकती है, अर्थात् निश्चित ही कार्य-सिद्धि नहीं होती ॥७७॥

इन्द्वग्निरुद्रग्रहदृग्वेदार्कदिक्षडष्टसु ।
षोडशमनुबाणाब्धितिथित्रयोदशस्वपि ॥७८॥
लिखेत् षोडशकोष्ठेषु मातृकार्णान् विचक्षणः ।
स्वनामाद्यक्षराद् यावन्मन्त्राद्यक्षरदर्शनम् ॥७९॥
सिद्धादीन् कल्पयेन्मन्त्री कुर्यात् साध्यादिभिः पुनः ।
चतुश्चतुर्विभागेन सिद्धादीन् गणयेत् पुनः ॥८०॥

इन्द्र १, अग्नि ३, रुद्र ११, ग्रह ९, दृक् २, वेद ४, अर्क १२, दिक् १०,

षट् ६, अष्ट ८, षोडश १६, मनु १४, बाण ५, अब्धि ७, तिथि १५, त्रयोदश १३—ये सोलह कोष्ठक की संख्याएँ हैं, अर्थात् सोलह कोष्ठक वाले चक्रों का निर्माण पहले करना चाहिये। संख्याओं के क्रम के अनुसार मातृका वर्णों का लेखन करना चाहिये। जैसे—

१	३	११	९	२	४	१२	१०	६	८	१६	१४	५	७	१५	१३
क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ	ट	ठ	ड	ढ	ण	त
थ	द	ध	न	प	फ	ब	भ	म	य	र	ल	व	श	ष	स
ह															

इसी तरह स्वर वर्णों का क्रम भी लगाया जाता है—

१	३	११	९	२	४	१२	१०	६	८	१६	१४	५	७	१५	१३
अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ऋ	ॠ	ऌ	ॡ	ए	ऐ	ओ	औ	अं	अः

पूरा चक्र इस प्रकार बनाता है—

१ अ क थ ह	२ उ ङ प	३ आ ख द	४ ऊ च फ
५ ओ ड व	६ ऌ झ म	७ औ ढ श	८ ॡ ञ य
९ ई ध न	१० ॠ ज भ	११ इ ग ध	१२ ऋ छ ब
१३ अः त श	१४ ऐ ठ ल	१५ अं ण ष	१६ ए ट र

इन षोडश कोष्ठकों से बने चक्र को अकथह चक्र कहते हैं। इसका कारण यह है कि, प्रथम कोष्ठक में यही चार वर्ण श्लोक के अनुसार आते हैं। इनमें १. सिद्ध, २. साध्य, ३. सुसिद्ध और ४. अरि माना जाता है। ये चारों भी चार प्रकार के होते हैं। वह निम्न कोष्ठक से देखना चाहिये। नियम यह है कि, नाम का अक्षर जिस कोष्ठ में पड़े वही कोष्ठ सिद्ध माना जाना चाहिये। इसका अगला कोष्ठ साध्य, उसके आगे का सुसिद्ध और उसके आगे का कोष्ठ अरि माना जाता है। ये चारों भी चार प्रकार के होते हैं। जैसे—

		१	२	३	४
१	सिद्ध	सिद्ध-सिद्ध	सिद्ध-साध्य	सिद्ध-सुसिद्ध	सिद्ध-अरि
२	साध्य	साध्य-सिद्ध	साध्य-साध्य	साध्य-सुसिद्ध	साध्य-अरि
३	सुसिद्ध	सुसिद्ध-सिद्ध	सुसिद्ध-साध्य	सुसिद्ध-सुसिद्ध	सुसिद्ध-अरि
४	अरि	अरि-सिद्ध	अरि-साध्य	अरि-सुसिद्ध	अरि-अरि

इन भेदों को श्लोक ७९ (उन्यासी) के अनुसार नाम के आदि अक्षर के आधार पर देखना चाहिये।

इन कोष्ठकों से पूर्ण चक्र में १. सिद्ध, २. साध्य, ३. सुसिद्ध और ४. अरि लिखने में क्या प्रमाण है ? क्यों नहीं १ सिद्ध, ५ साध्य, ९ सुसिद्ध और १३ को अरि लिखा गया है ? इस प्रश्न के दो प्रमाण हैं—१. मन्त्रयोगसंहिता के अकथह चक्र के प्रसंग में पृष्ठ २७ के श्लोक ४१ में स्पष्ट लिखा है कि, 'पुन: कोष्ठगकोष्ठेषु सव्यत: नाम्न आदित:' अर्थात् कोष्ठों में सव्य अर्थात् बायें से दायें क्रम ही अपनाया जाना चाहिये।

२. शारदातिलक नामक प्रसिद्ध तन्त्र-ग्रन्थ में द्वितीय पटल में लिखा है कि, जिस कोष्ठ में अपने नाम का आदि अक्षर हो, वह सिद्धचतुष्क माना जाता है। इसके अनुसार जिस कोष्ठ में अपने नाम का आदि अक्षर हो, वहीं से सिद्धचतुष्क की गणना करनी चाहिये। किसी खास कोष्ठ को कोई नाम नहीं देना चाहिये। इसलिये अपनी बुद्धि के अनुसार इसका निश्चय करना चाहिये। शारदातिलक में कुलार्णवतन्त्र के ही मन्त्र प्राय: ज्यों के त्यों लिये गये हैं। जैसे कुलार्णवतन्त्र पटल १५:८५ का श्लोक शारदातिलक के पटल २:१३१ में ज्यों का त्यों गृहीत है। ऐसे अन्य उदाहरण भी हैं ॥७८-८०॥

सिद्धसिद्धो जपात् सिद्धो द्विगुणात् सिद्धसाध्यक: ।
सिद्धसुसिद्धोऽर्द्धजपात् सिद्धारिर्हन्ति बान्धवान् ॥८१॥

इसे और भी स्पष्ट कर रहे हैं। सिद्धसिद्ध मन्त्र जप से सिद्ध हो जाता है। सिद्ध मन्त्र दो गुना जपने से सिद्ध होता है। सिद्ध-सुसिद्ध मन्त्र आधा जपने से ही सिद्ध होता है। वहीं सिद्धारि मन्त्र बन्धु-बान्धवों को भी मृत्युभय प्रदान करता है। इसलिये सिद्धारि मन्त्र कभी नहीं जपना चाहिये ॥८१॥

साध्यसिद्धोऽतिसंक्लेशात् साध्यसाध्यो निरर्थक: ।
साध्यसुसिद्धो भजनात् साध्यारिर्हन्ति गोत्रजान् ॥८२॥

सिद्ध-सुसिद्ध आधी जप-प्रक्रिया से ही सिद्ध हो जाता है। सिद्धारि अपने बन्धु-बान्धवों का नाश कर डालता है। यह तथ्य श्लोक ८१ में स्पष्ट करने के बाद साध्य-सिद्ध मन्त्र अत्यन्त क्लेश से सिद्ध होता है। साध्य-साध्य मन्त्र निरर्थक होता है। साध्य-सुसिद्ध मन्त्र भजन से सिद्ध होता है। वहीं साध्यारि मन्त्र गोत्र में उत्पन्न आत्मीयों का नाश करने से नहीं चूकता ॥८२॥

सुसिद्धसिद्धोऽर्द्धजपात्तत्साध्यस्तु यथोक्तत: ।
तत्सुसिद्धो ग्रहादेव सुसिद्धारि: स्वगोत्रहा ॥८३॥

सुसिद्ध-सिद्ध मन्त्र आधे जप से ही सिद्ध हो जाता है। सुसिद्ध-साध्य मन्त्र शास्त्र में निर्धारित जपसंख्या के अनुसार जप करने से ही सिद्ध होता है। सुसिद्ध-सुसिद्ध मन्त्र ग्रहण करने के साथ ही सिद्ध हो जाता है। वहीं सुसिद्धारि मन्त्र स्वकीय गोत्र का ही नाशक होता है ॥८३॥

अरिसिद्ध: सुतं हन्यादरिसाध्यस्तु योषितम् ।
तत्सुसिद्ध: कुलं हन्ति स्वात्मानं हन्ति तद्रिपु: ॥८४॥

१. अरिसिद्ध—मन्त्र बड़ा भयानक होता है। इसके जप से अपने पुत्र की ही मृत्यु हो जाती है।

२. अरिसाध्य—मन्त्र जप से स्त्री की ही मृत्यु हो जाती है।

३. अरिसुसिद्ध—मन्त्र से खानदान ही साफ हो जाता है और

४. अरि-अरि—मन्त्र जपकर्त्ता को ही मार डालता है ॥८४॥

सिद्धार्णा बान्धवा: प्रोक्ता:साध्यास्ते सेवका: स्मृता: ।
सुसिद्धा: पोषका ज्ञेया: शत्रवो घातका: स्मृता: ॥८५॥

सिद्धार्ण मन्त्र बान्धव माने जाते हैं। साध्य मन्त्र सेवक के सदृश जपकर्त्ता की सेवा से सन्तुष्ट रहते हैं। सुसिद्ध मन्त्र जपकर्त्ता का पोषण करते हैं और सभी प्रकार के अरि-मन्त्र घातक होते हैं ॥८५॥

बान्धवा नवबाणैका: स्युर्द्विषड्दशसेवका: ।
वह्निरुद्रसुताश्चैव द्वादशा: पोषका: स्मृता: ॥८६॥

अकडम चक्र के नव, पाँच और प्रथम कोष्ठक के वर्ण बान्धव माने जाते हैं। बाण का अर्थ पाँच होता है। कोष्ठक के दूसरे, छठें और दशवें वर्ण सेवक होते हैं। वह्नि (३), रुद्र (११), मुनि (७) अर्थात् तीसरे, ग्यारहवें और सातवें कोष्ठ के वर्ण पोषक माने जाते हैं। वहीं बारहवें, आठवें और चौथे वर्ण वाले आद्यक्षर मन्त्र घातक होते हैं ॥८६॥

प्रापलाभो पटु ग्राह्यं रुद्रस्याद्रिरुरु: करम् ।
लोक लोप पटु प्राय: खलौ यो भेषु भेदिता: ॥
वर्णा: क्रमात् स्वरान्तौ तु रेवत्यंशगतौ तदा ॥८७॥

यह श्लोक कूट मन्त्र है। इसमें नक्षत्र चक्र का ही वर्णन किया गया है। अश्विनी से रेवती तक २७ नक्षत्र होते हैं। नक्षत्र-चक्र में सभी नक्षत्रों के लिये वर्ण निर्धारित हैं। जैसे—

नक्षत्र-चक्र

अश्विनी अ आ देव	भरणी इ नर	कृत्तिका ई उ ऊ राक्षस	रोहिणी ऋ ॠ ऌ ॡ नर	मृग ए देव	आर्द्रा ऐ नर	पुनर्वसु ओ औ देव	पुष्य क देव	आश्लेषा ख ग राक्षस
मघा घ ङ राक्षस	पू.फा. च नर	उ.फा. छ ज नर	हस्त झ ञ देव	चित्रा ट ठ राक्षस	स्वाती ड देव	विशा. ढ ण राक्षस	अनु. त थ द देव	ज्येष्ठा ध राक्षस
मूल न प फ राक्षस	पू.षा. ब नर	उ.षा. भ नर	श्रवण म देव	धनि. य र राक्षस	शत ल राक्षस	पू.भा. व श नर	उ.भा. ष स ह नर	रेवती ल क्ष अं अ: देव

इस कोष्ठक के अनुसार प्रत्येक पंक्ति के कोष्ठकों के अंक क्रमशः (२,१,३,४,१, (३,१,१,१,२,१,२,३,४) इस प्रकार १,२,१,२), (२,१,२,२,२,१,२,३,१), निर्धारित हो जाते हैं। श्लोक के अक्षरों में भी यही क्रम अपनाया गया है। जैसे—

नक्षत्र संख्या श्लोकाक्षर	अश्विनी २ प्रा	भरणी १ प	कृत्तिका ३ लो	रोहिणी ४ मा	मृग १ प	आर्द्रा १ टु	पुन २ प्रा	पुष्य १ ह्य	आ २ रु
नक्षत्र संख्या श्लोकाक्षर	मघा २ द्र	पू.फा. १ स्या	उ.फा. २ द्रि:	हस्त २ रू	चित्रा २ रु:	स्वा १ क	वि २ रं	अनु ३ लो	ज्ये १ क
नक्षत्र संख्या श्लोकाक्षर	मूल ३ लो	पू.षा. १ प	उ.षा. १ प	श्रवण १ टु	धनि. २ प्रा	शत १ य	पू.भा. २ ख	उ.भा. ३ लो	रेवती ४ भो

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, प्रिये ! इन अक्षरों से ये नक्षत्र भेद भिन्न होते हैं। क्रमिक रूप से नक्षत्र-संख्या और वर्णों के अनुसार इन्हें जानना चाहिये। स्वरों के अन्त के अं अः रूप ये दो वर्ण रेवती के अंश के रूप में ही सदा रहते हैं। अक्षरों और संख्याओं के अनुसार मन्त्रों से गणना कर अनुकूल मन्त्र का निर्धारण गुरुदेव करते हैं। इसमें यह ध्यातव्य है कि, 'लो' प्लुत मानकर तीन और 'भ' तथा 'घ' महाप्राण मानकर ४ संख्या वाले माने जाते हैं। दूसरी दृष्टि यह भी है कि, चार अक्षर वाले रोहिणी और रेवती दो ही कोष्ठक हैं तथा ल शतभिषा में १ अक्षर तथा ओ पुनर्वसु में दो अक्षर मिलकर ३ मूलांक वाला माना गया है। जिन कोष्ठकों में 'लो' पड़ा है, वे सभी तीन अक्षर वाले हैं भी। इस तरह व्यापक दृष्टि से यह तान्त्रिक चक्र मन्त्र के चयन के सन्दर्भ में प्रयुक्त करना चाहिये। इस श्लोक का अर्थ है कि, लोभ में अपटु अर्थात् साधु लोगों ने रुद्र के अद्रि कैलाश धाम को प्राप्त किया। खलों का ओघ अर्थात् समूह लोक के लोप अर्थात् विनाश में पटु होता है। २७सों नक्षत्र इसके साक्षी हैं ॥८७॥

जन्म सम्पद् विपत् क्षेम प्रत्यरिः साधको वधः।
मित्रं परममित्रञ्च जन्मादीनि पुनः पुनः ॥८८॥

प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी नक्षत्र में जन्म लेता है। उस नक्षत्र को जन्म नक्षत्र कहते हैं। वहाँ से नौ-नौ भाग कर नक्षत्रों के नाम इस प्रकार रखे जाते हैं—१. जन्म, २. सम्पद्, ३. विपद्, ४. क्षेम, ५. प्रत्यरि, ६. साधक, ७. वध, ८. मित्र और ९. परममित्र। जन्म के नक्षत्र से गणना करनी चाहिये और तीन भागों में सभी नक्षत्रों और मन्त्रों की गणना से अपनी गणना बिठाकर ही शुभ मन्त्र जप करने से लाभ होता है ॥८८॥

बालं गौरं खुरं शोणं शमीशोभेति राशिषु।
क्रमेण भेदिता वर्णाः कन्यायां शादयः स्मृताः ॥८९॥

इस मन्त्र में राशिचक्र को १२ अक्षरों वाले छः शब्दों के माध्यम से व्यक्त कर रहे हैं। जैसे—

क्रमांक	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
नामराशि	मे.	वृ.	मि.	क.	सिं.	क.	तु.	वृ.	ध.	म.	कु.	मी.
श्लोकाक्षर	बा	लं	गौ	रं	खु	रं	शो	णं	श	मी	शो	भा
वर्ण-संख्या	४	३	३	२	२	६	५	५	५	५	५	५

इस तालिका में ५० वर्णों का वर्गीकरण किया गया है। श्लोकानुसार कन्या में शादि विभाग का प्रयोग अपेक्षित है ॥८९॥

लग्नो धनं भ्रातृबन्धुपुत्रशत्रुकलत्रकाः ।
मरणं धर्मकर्मायव्यया द्वादश राशयः ॥९०॥

बारह राशियों का एक दूसरे प्रकार का चक्र भी प्रयुक्त होता है। इसे जन्म-चक्र कहते हैं। इसका क्रम इस प्रकार है—

लग्न से अंकों की गणना आरम्भ की जाती है। जैसे लग्न में यदि मेष है, तो धन के क्रम से राशियाँ रखी जायेंगी। जैसे—

इस चक्र के अनुसार अक्षरों और मन्त्र के अक्षरों और नामाद्यक्षर की गणना के अनुसार ही मन्त्र दिये जाते हैं ॥९०॥

स्वराशेर्मन्त्रराश्यन्तं गणनीयं विचक्षणैः ।
अज्ञाते राशिनक्षत्रे नामाद्यक्षरराशितः ॥९१॥

अपनी राशि से मन्त्रराशिपर्यन्त गणना की जानी चाहिये। सम्भव है, किसी-किसी का राशिनाम अज्ञात हो, तो उस समय नाम के अक्षर से ही मन्त्रराश्यन्त गणना कर शुभ मन्त्र का निर्णय होने पर ही उस मन्त्र की दीक्षा देनी चाहिये ॥९१॥

नामाद्यक्षरमारभ्य यावन्मन्त्रादिमाक्षरम्।
त्रिधा कृत्वा स्वरैर्भिन्द्यात्तदन्यद्विपरीतकम् ॥९२॥
कृत्वाधिकमृणं ज्ञेयं ऋणी चेन्मन्त्रवित्तमः।
स्वयमृणी चेत्तन्मन्त्रं जपेत्पूर्वमृणी यतः ॥९३॥

ऋणधनिचक्र

साध्य अङ्क	६	६	६	०	३	४	४	०	०	०	३
स्वर क्रम	अ आ	इ ई	उ ऊ	ऋ ॠ	ऌ ॡ	ए	ऐ	ओ	औ	अं	अः
व्यञ्जन के तीन कोष्ठक	क ठ ब	ख ड भ	ग ढ म	घ ण य	ङ त र	च थ ल	छ द व	ज ध श	झ न ष	ञ प स	ट फ ह
साधक अङ्क	२	२	५	०	०	२	१	०	४	३	१

नाम के अक्षर से आरम्भ कर मन्त्र के अक्षरपर्यन्त संख्या को तीन भागों में बाँटकर स्वरों से भाग देना चाहिये। मन्त्र की संख्या अधिक होने पर साधक द्वारा उसे साध्यांक मानकर उसी ऋणी मन्त्र का जप करना चाहिये। धनी मन्त्र का कभी भी जप नहीं करना चाहिये। ऋणी यह ज्ञापित करता है कि, ऋणी रहकर ही मन्त्र द्वारा उसकी पूर्त्ति होती है[१] ॥९२-९३॥

पञ्च ह्रस्वाः पञ्च दीर्घा बिन्द्वन्ताः सन्धिसम्भवाः।
कादयः पञ्चशः षक्षसहान्ताश्च प्रकीर्त्तिताः ॥९४॥

क्रम	पंचमहाभूत	मातृकाक्षर
१	वायु	अ आ ए क च ट त प य श
२	अग्नि	इ ई ऐ ख छ ठ थ फ र क्ष
३	भूमि	उ ऊ ओ ग ज ड द ब ल ळ
४	जल	ऋ ॠ औ घ झ ढ ध भ व ष
५	आकाश	ऌ ॡ अं ङ ञ ण न म स ह

इस चक्र के अनुसार वायु, अग्नि, भूमि, जल, आकाश—इन पाँच महाभूतों की प्रकृति के अनुसार ही वर्ण-विभाग किया गया है। इनकी प्रकृति के अनुसार दीक्षा में मन्त्र का चयन गुरु को करना चाहिये। यह मन्त्र वीर्यवान् हो जाता है ॥९४॥

वाय्वग्निभूजलाकाशाः पञ्चाशल्लिपयः क्रमात्।
महीसलिलयोर्मित्रमनिलानलयोरपि ॥
शात्रवं वैपरीत्येन मैत्रं सर्वत्र चापरम् ॥९५॥

१. मन्त्रयोगसंहिता, राशिचक्रविज्ञान, ५५-५९

मही और सलिल के वर्ण मित्र माने जाते हैं। अनिल और अनल वर्ण-वैपरीत्य शत्रु होते हैं, अन्यथा मित्र ही रहते हैं। आकाशगत वर्ण सदा मित्रवत् होते हैं। साधकनामाद्यक्षर और मन्त्र के आद्यक्षर की गणना सरलता से बैठ जाती है। दोनों वर्णों में मित्रता अपेक्षित होती है ॥९५॥

परस्परविरुद्धानां वर्णानां यत्र सङ्गतिः।
वर्जयेत्तादृशं मन्त्रं नाशकृत्तत् कुलेश्वरि ॥९६॥

जहाँ परस्पर विरुद्ध वर्ण होते हैं, वहाँ गणना ठीक नहीं बैठती। ऐसे मन्त्रों का परित्याग कर देना चाहिये। भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, कुलस्वामिनि ! पार्वति ! विरुद्ध मन्त्र जापक का सर्वनाश कर देते हैं ॥९६॥

एकाक्षरे तथा कूटे त्रैपुरे मन्त्रनायके।
स्त्रीदत्ते स्वप्नलब्धे च सिद्धादीन्नैव शोधयेत् ॥९७॥

१. एकाक्षर मन्त्र, २. कूट मन्त्र, ३. त्रैपुर अर्थात् त्रिपुरा से सम्बन्धित मन्त्र, ४. स्त्री से प्राप्त मन्त्र, ५. स्वप्न में किसी के द्वारा दिया गया मन्त्र और ६. सिद्ध मन्त्र— इन छः प्रकार के मन्त्रों में सिद्ध, सिद्ध-साध्य आदि भेदों का आकलन नहीं करना चाहिये। गुरु पर विश्वास कर इनका जप करने से पूरी सिद्धि प्राप्त होती है ॥९७॥

मन्त्रसिद्धोपदिष्टेषु चतुराम्नायजेषु च।
मालामन्त्रेषु देवेशि सिद्धादीन्नैव शोधयेत् ॥९८॥

ऐसे गुरु जिनके मन्त्र पूरी तरह सिद्ध हैं, वे मन्त्रसिद्ध कहलाते हैं। उनसे प्राप्त मन्त्र स्वयं सिद्ध होते हैं। ऐसे लोगों द्वारा उपदिष्ट मन्त्रों के सम्बन्ध में किसी प्रकार के शत्रु-मित्र आदि विचार की कोई आवश्यकता नहीं होती। चारों आम्नायों के निर्धारित मन्त्र और मालामन्त्र भी ऐसे ही होते हैं। भगवान् कहते हैं कि, देवेश्वरि ! पार्वति ! इनमें भी सिद्ध आदि विचार की कोई आवश्यकता नहीं होती ॥९८॥

नृसिंहार्कवराहाणां प्रासादप्रणवस्य च।
सपिण्डाक्षरमन्त्राणां सिद्धादीन्नैव शोधयेत् ॥९९॥

नृसिंह-मन्त्र, अर्क अर्थात् सूर्य-मन्त्र, वराह-मन्त्र, पराप्रासाद-मन्त्र, प्रणव-मन्त्र और सपिण्डाक्षर-मन्त्रों के सम्बन्ध में भी किसी प्रकार की गणना की कोई भी आवश्यकता नहीं होती ॥९९॥

मनोऽन्यत्र शिवोऽन्यत्र शक्तिरन्यत्र मारुतः।
न सिध्यति वरारोहे लक्षकोटिजपादपि ॥१००॥

जप के समय मन की दशा अत्यन्त चंचल रहती है और वह इन्द्रियार्थ में लीन होकर अन्यत्र विचरण करता रहता है, तो स्वाभाविक है कि, शिव अन्यत्र छूट जाते हैं। जबकि, मन को शिव में ही लगा रहना चाहिये। इसी तरह शक्तिपूजा में शक्ति भी अन्यत्र

हो, साँसों का भी कुछ ध्यान न हो, तो भगवान् कहते हैं कि, हे वरारोहे ! पार्वति ! लाखों-करोड़ों मन्त्र जप लेने पर भी किसी प्रकार का कोई फल नहीं मिलता ॥१००॥

वादार्थं पठ्यते विद्या परार्थं क्रियते जपः ।
ख्यात्यर्थं दीयते दानं कथं सिद्धिर्वरानने ॥१०१॥

जो व्यक्ति केवल वाद-विवाद और बहस-मुबाहिसा के उद्देश्य से ही स्वाध्याय करता है, इसी तरह दूसरे के लिये जप करता है और केवल अपनी प्रसिद्धि के लिये ही दान-पुण्य करता है, देवि ! पार्वति ! ऐसे लोगों को सिद्धि कैसे मिल सकती है ? अर्थात् कभी सिद्धि इन्हें नहीं मिलती ॥१०१॥

धनार्थं गम्यते तीर्थं दम्भार्थं क्रियते तपः ।
कार्यार्थं देवतापूजा कथं सिद्धिर्नु जायते ॥१०२॥

धन का अर्जन करने के उद्देश्य से बहुत सारे लोग तीर्थयात्रा करते हैं । इसी तरह दम्भ में आकर तपस्या ठान लेते हैं और जब अपना काम पूरा कराना हो, तो देवता की पूजा करने बैठ जाते हैं, ऐसे लोगों की सिद्धि कैसे हो, यह विचारणीय प्रश्न है, अर्थात् नहीं होती ॥१०२॥

अमेध्येन तु देहेन न्यासं देवार्चनं जपम् ।
होमं कुर्वन्ति चेन्मूढास्तत् सर्वं निष्फलं भवेत् ॥१०३॥

अमेध्य शरीर से न्यास, देवपूजा, जप, होम आदि करने वाले लोगों को बुद्धिमान् नहीं कहा जा सकता । इनकी सारी क्रियायें निष्फल हो जाती हैं; क्योंकि इनके ये सारे कार्य अपवित्र शरीर से किये गये हैं । अतः शुद्ध होकर शुद्ध भाव से न्यास, जप आदि पूजा के काम करने चाहिये ॥१०३॥

विण्मूत्रत्यागशेषादियुक्तः कर्म करोति यः ।
जपार्चनादिकं सर्वमपवित्रं भवेत् प्रिये ॥१०४॥

नित्यकार्य जैसे शौच, स्नान आदि अभी शेष हों और तभी कोई जप और देवार्चन सदृश पवित्र कार्य में लग जाय, यह ठीक नहीं । वह सारा किया-कराया अपवित्र ही रह जाता है ॥१०४॥

मलिनाम्बरकेशादिमुखदौर्गन्ध्यसंयुतः ।
यो जपेत्तं दहत्याशु देवता सुजुगुप्सिता ॥१०५॥

स्वयं मलिन हो, कपड़े भी मैले-कुचैले हों, बाल भी साफ न किये गये हों, मुख दुर्गन्धि से भरा हुआ हो, ऐसी मैली-कुचैली अवस्था में भी जो व्यक्ति मन्त्र जपने बैठ जाता है, उस समय उसके मन्त्र भी देवता के क्रुद्ध हो जाने के कारण जपकर्त्ता को जला डालते हैं ॥१०५॥

आलस्यं जृम्भणं निद्रां क्षुतं निष्ठीवनं भयम् ।
नीचाङ्गस्पर्शनं कोपं जपकाले विवर्जयेत् ॥१०६॥

आलस, जम्हाई, नींद, भूख, थूकना और किसी बात से भयभीत होना, नीच पुरुष के अंग का स्पर्श और क्रोध, इनका जप के समय निश्चय ही परित्याग कर देना चाहिये ॥१०६॥

अत्याहारः प्रलापश्च प्रजल्पो नियमाग्रहः ।
अन्यासङ्गश्च लौल्यञ्च षड्भिर्मन्त्रो न सिध्यति ॥१०७॥

१. बहुत भोजन, २. बकबकाना, ३. विशेष बढ़-चढ़कर बात करने लगना, ४. किसी हठपूर्वक कार्य को नियमित करने का स्वभाव, ५ दूसरे अनपेक्षित लोगों से संग करना और ६. चंचलता—इन छः बातों से मन्त्र जप करने वालों को सावधान रहना ही चाहिये। इनमें लगे रहने पर मन्त्र सिद्ध नहीं होते ॥१०७॥

उष्णीषी कञ्चुकी नग्नो मुक्तकेशो गणावृतः ।
अपवित्रोत्तरीयश्चाशुचिर्गच्छंश्च नो जपेत् ॥१०८॥

पगड़ी बाँधकर, कुर्त्ता पहनकर, नंगा होकर, खुले केश और गण से आवृत अवस्था में, उत्तरीय की अपवित्रता की अवस्था में, स्वयं शुचि न रहने पर और चलते हुए मन्त्र जप नहीं करना चाहिये ॥१०८॥

जाड्यं दुःखं तृणच्छेदं विवादं वा मनोरथम् ।
बहिस्तु देहवायुञ्च जपकाले विवर्जयेत् ॥१०९॥

जड़ता, दुःख, तिनके को तोड़ना, विवाद अथवा तरह-तरह के मनोरथों का उठना तथा अपानवायु का परित्याग, इन छः बातों का जप के समय परित्याग करना चाहिये ॥१०९॥

शान्तः शुचिर्मिताहारो भूशायी भक्तिमान् वशी ।
निर्द्वन्द्वः स्थिरधीर्मौनी संयतात्मा जपेत् प्रिये ॥११०॥

शान्त, शुचि, अल्प आहारवान्, पृथ्वी पर शयन, भक्ति-भाव से भरे हुए, मन पर नियन्त्रण, द्वन्द्वरहित, स्थिर बुद्धि, मौनी और संयत रहकर जप करना चाहिये। भगवान् प्रिय पार्वती को सम्बोधित कर इन बातों का उपदेश कर रहे हैं ॥११०॥

विश्वासास्तिक्यकरुणाश्रद्धानियमनिश्चयैः ।
सन्तोषौत्सुक्यधर्मादिगुणैर्युक्तो जपेन्नरः ॥१११॥

विश्वास, आस्तिकता, दयार्द्रता, श्रद्धा, दृढ़-निश्चय, सन्तोष, औत्सुक्य और यम-नियमादि व्रतनिष्ठ होकर ही कोई भी मनुष्य जप में प्रवृत्त हो ॥१११॥

सुगन्धिपुष्पाभरणवस्त्रादिभिरलङ्कृतः ।
तस्य हस्तगता सिद्धिर्नान्यस्य जपकोटितः ॥११२॥

सुगन्धित वातावरण, पुष्पों की सज्जा, आभरण-भूषित और सुन्दर वस्त्रों आदि से अलंकृत रहकर आनन्दमग्न अवस्था में जप करने पर सिद्धि उसके हाथों में खेलने लगती है। इसके विपरीत अवस्था में करोड़ों जप से भी सिद्धि नहीं मिलती ॥११२॥

तन्निष्ठस्तद्‌गतप्राणस्तच्चित्तस्तत्परायणः ।
तत्पदार्थानुसन्धानं कुर्वन् मन्त्रं जपेत् प्रिये ॥११३॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति ! जप के समय इन विशिष्ट बातों पर ध्यान देना चाहिये—(१) मन्त्रार्थनिष्ठ रहकर जप करना चाहिये। (२) अपनी पूरी प्राणवत्ता मन्त्र के वीर्य और ओज में ही समाहित रहनी चाहिये। (३) तच्चित्त अर्थात् मन्त्रार्थ का चिन्तन होते रहना चाहिये। (४) तत्परायण अर्थात् उसी कार्य में तत्परतापूर्वक संलग्न रहकर जप करना चाहिये और (५) सबसे बड़ी बात यह कि, मन्त्रों के पदों के विशिष्ट अर्थों का अनुसन्धान भी होते रहना चहिए।

इन पाँचों तथ्यों पर ध्यान रखते हुए ही जप करना श्रेयस्कर होता है ॥११३॥

जपात् श्रान्तः पुनर्ध्यायेद्ध्यानात् श्रान्तः पुनर्जपेत् ।
जपध्यानादियुक्तस्य क्षिप्रं मन्त्रः प्रसिध्यति ॥११४॥

जप करते समय थक जाने पर मन्त्र का कुछ रुककर ध्यान करना चाहिये। ध्यान करते-करते थक जाने पर पुनः मन्त्र-जप आरम्भ कर देना चाहिये। ऐसे जप और ध्यान में लगे रहकर जप करने वाले साधक के मन्त्र अविलम्ब सिद्ध हो जाते हैं ॥११४॥

इति ते कथितं किञ्चित् पुरश्चरणलक्षणम् ।
समासेन कुलेशानि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥११५॥

भगवान् शंकर ने कुलेश्वरी देवी पार्वती को सम्बोधित करते हुए कहा कि, देवि ! संक्षेप में मैंने तुमसे पुरश्चरण में प्रयुक्त नियमों का वर्णन किया, तुम्हें सुनाया। तुम्हारी इच्छापूर्ति हुई। इससे मैं प्रसन्न हूँ। अब बताओ, इसके बाद तुम क्या सुनना चाहती हो ? ॥११५॥

सर्वागमोत्तमोत्तम महारहस्यमय ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकुलार्णवतन्त्रान्तर्गत डॉ. परमहंस-मिश्रविरचित नीर-क्षीर-विवेक-भाषाभाष्यसंवलित 'पुरश्चरणादि-कथन' नामक पञ्चदश उल्लास परिपूर्ण ॥१५॥

॥ शुभं भूयात् ॥

○

षोडश उल्लासः

श्रीदेव्युवाच

कुलेश श्रोतुमिच्छामि करुणामृतवारिधे।
काम्यकर्मविधानञ्च वद मे परमेश्वर ॥१॥

श्रीदेवी पार्वती ने कहा—कुलमार्ग के महेश्वर ! आप करुणारूपी अमृत के महासागर हो। हे करुणावरुणालय ! मैं आपसे काम्यकर्म के विधान सुनना चाहती हूँ। परमेश्वर ! आप इसी विषय को सुनाकर मुझे अनुगृहीत करें ॥१॥

ईश्वर उवाच

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
तस्य श्रवणमात्रेण प्रयोगनिपुणो भवेत् ॥२॥

भगवान् ने कहना प्रारम्भ किया—देवि ! तुम जो विषय मुझसे सुनना चाहती हो, मैं उसे सुनाने को तत्पर हूँ। तुम ध्यानपूर्वक इसे सुनो। इस विषय को सुनने मात्र से श्रोता काम्यकर्मों के प्रयोग में निपुण हो जाता है ॥२॥

मन्त्री विशुद्धहृदयः पूर्वोक्तनियमान्वितः।
श्रीप्रासादपरामन्त्रं तत्त्वलक्षं जपेत् प्रिये ॥३॥

साधक को मन्त्री भी कहते हैं। सर्वप्रथम वह विशुद्धभाव से पहले कहे गये आचार और उनके नियमों के ही अनुसार प्रक्रिया में संलग्न रहने के लिये तैयार हो जाय। उसके बाद वह 'श्रीप्रासादपरामन्त्र' का तत्त्व अर्थात् ३६ या पाँच लाख जप कर अपने को अधिकारी बना ले ॥३॥

दशांशं जुहुयाद्देवि संस्कृते हव्यवाहने।
दशांशं तर्पयेद्दुग्धैः सलिलैः शालितण्डुलैः ॥४॥

तत्पश्चात् जप-संख्या का दशांश हवन कर्म पूरा करे। यह हवन, संस्कार सम्पन्न अग्नि में होना चाहिये। इसके बाद दशांश तर्पण करे। तर्पण शालि-तण्डुल (धान के तुषभाग को हटाकर निकले हुए चावल) से मिले हुए दूध में मिले जल से करना श्रेयस्कर होता है ॥४॥

गन्धपुष्पाक्षताकल्पधनवस्त्रादिभिः प्रिये।
भक्ष्यभोज्यान्नपानाद्यैर्हव्यद्रव्यैर्मनोहरैः ॥५॥

अपने वैभव और ऐश्वर्य के अनुसार उदारतापूर्वक योगिनी-चक्र को सन्तुष्ट करने के लिये गन्ध-पुष्प-अक्षत आदि अर्चन प्रकल्प से, धन-वस्त्र-आभूषण आदि सुन्दर द्रव्यों के दान से तथा भक्ष्य-भोज्य-चोष्य-पेयादि अन्नों और पदार्थों के भोजन से एवं हव्यादि मनोहर द्रव्यों से उनका सत्कार करना चाहिये ॥५॥

तोषयेद् योगिनीचक्रं यथाविभवविस्तरम् ।
एवं न्यासजपध्यानसहोमार्च्चनतर्पणः ॥६॥
मन्त्री सिद्धमनुर्देवि साक्षात् परशिवो भवेत् ।
ततः स्वमनसोऽभीष्टान् प्रयोगान् कुलनायिके ॥७॥

इस प्रकार मन्त्री के न्यास, जप, ध्यान, हवन, पूजन, तर्पण एवं योगिनी-चक्र के अर्चन और तोषण व्यापार से उसका मन्त्र सिद्ध हो जाता है। अब वह मन्त्रसिद्ध पुरुष हो जाता है। ऐसा सिद्धमन्त्र साधक साक्षात् परशिव के समान हो जाता है। इसके बाद ही कुलस्वामिनि प्रिये पार्वति ! वह अपनी अभीष्टसिद्धि में लगे ॥६-७॥

मन्त्रेणानेन मतिमान् साधयेद् भुक्तिमुक्तये ।
सिद्धमन्त्रस्य सिद्ध्यन्ति षट् कर्माणि न संशयः ॥
नैव सिध्यन्त्यसिद्धस्य देवताशापमाप्नुयात् ॥८॥

उक्त श्रीप्रासाद परामन्त्र से ही बुद्धिमान् साधक भुक्ति और मुक्ति दोनों उद्देश्यों में सफल हो जाता है। यह अत्यन्त प्रभावशाली मन्त्र है और इस तरह सिद्ध हो जाने से इससे षट्कर्म को भी सिद्ध किया जा सकता है। इसमें संशय की जगह नहीं है। असिद्ध मन्त्र से किसी लक्ष्य की सिद्धि नहीं हो सकती, उल्टे देवता का शाप अवश्य मिल जाता है ॥८॥

काम्यप्रयोगकर्त्तॄणां परलोको न विद्यते ।
प्रयोगसिद्धिरेवैषां फलमन्यन्न तु प्रिये ॥९॥

एक मुख्य बात जो ध्यान देने की और बड़ी महत्त्व की है कि, जो भी काम्यकर्म करने के अभिलाषी होते हैं और इस प्रकार के कर्म करते हैं, उनके लिये परलोक साधन नामक कोई चीज नहीं होती। भगवान् कहते हैं कि, प्रिये ! उनका एकमात्र फलसिद्धि नामक व्यापार ही अभीष्ट होता है ॥९॥

एकस्यापि विधानस्य न कुत्रापि फलद्वयम् ।
देवेशि दृश्यते तस्मान्निष्कामो देवतां यजेत् ॥१०॥

एक विधान के लिये एक ही फल होता है। एक क्रिया के दो फल कभी हो ही नहीं सकते। भगवान् कह रहे हैं कि, देवेश्वरि प्रिये ! यह बात स्पष्ट है। इसलिये सिद्धान्त यह है कि, देवता का यजन निष्काम ही करना चाहिये ॥१०॥

होमतर्पणमन्त्राद्यैर्न्यासध्यानविशेषकैः ।
आत्मनश्च परस्यापि षट् कर्माणि समाचरेत् ॥११॥

होम, तर्पण, मन्त्रजप, न्यास, ध्यान आदि अथवा कोई अन्य विशेष कार्य चाहे ये स्वात्म कल्याण के लिये सम्पन्न हों अथवा दूसरे के लिये सम्पन्न किये जा रहे हों; सब में समान रूप से इन छहों को आचरित करना चाहिये ॥११॥

प्रयोगान्ते चक्रपूजां विधिनैव समाचरेत् ।
लक्षमेकं जपेन्मन्त्रं न्यासध्यानसमन्वित: ॥१२॥

प्रयोग के अन्त में चक्रपूजा विधिपूर्वक अवश्य करनी चाहिये। एक लाख मन्त्र अन्त में भी जप करना चाहिये। इसमें न्यास और ध्यान आदि भी आवश्यक हैं ॥१२॥

प्रयोगदोषशान्त्यर्थमात्मरक्षार्थमेव च ।
न चेत् फलं न चाप्नोति देवताशापमाप्नुयात् ॥१३॥

प्रयोग में प्राय: कुछ न कुछ दोष या त्रुटियाँ होती रहती हैं। इनके शमन के लिये और अपनी रक्षा के लिये भी उपर्युक्त कार्य व न्यास आदि अवश्य करना चाहिये। जो ऐसा नहीं करते हैं, वे सुफल नहीं प्राप्त कर पाते, उल्टे देवता का शाप पा लेते हैं ॥१३॥

तिथिवारञ्च नक्षत्रं योगमासर्त्तुपक्षकम् ।
दीपेशं कुलचक्राणि ज्ञात्वा कर्माणि साधयेत् ॥१४॥

तिथि, वार, नक्षत्र, योग, मास, ऋतु, पक्ष, दीप, दीपेश एवं कुलचक्र इन सब बातों का ज्ञान भी अत्यन्त आवश्यक है। इनका ज्ञान प्राप्त करने के बाद ही ये सारे काम्यकर्म सम्पादित करने चाहिये ॥१४॥

ऋषिच्छन्दोदेवताङ्गन्यासध्यानार्च्चनादिकम् ।
बीजं शक्तिं कीलकञ्च ज्ञात्वा मन्त्राणि साधयेत् ॥१५॥

मन्त्र दर्शन करने वाले ऋषि थे। मन्त्र जप से पहले उस मन्त्रद्रष्टा ऋषि का नाम लेना आवश्यक है। इसी तरह मन्त्र के छन्द, देवता, ध्यान और अर्चन ये कार्य आवश्यक होते हैं। साथ ही मन्त्र का बीज क्या है ? शक्ति क्या है ? और कीलक क्या है ? इतना जानकर ही मन्त्र-जप होना चाहिये ॥१५॥

पुत्रबान्धवदाराश्च राशिवर्णानुकूलता ।
भूतमैत्रीं तथोद्यन्तं ज्ञात्वा मन्त्राणि साधयेत् ॥१६॥

मन्त्रों से पुत्र, बन्धु-बान्धव और स्त्री के आनुकूल्य के साथ-साथ राशि और वर्ण आदि की अनुकूलता चक्रों के द्वारा ज्ञात होती है। इनको अच्छी तरह जानकर ही मन्त्र जप करना चाहिये। इसके साथ ही भूत-मैत्री तथा मन्त्रोदय भी जानना आवश्यक होता है ॥१६॥

मन्त्रविद्याऽभेदरूपं निद्राञ्च बोधरूपकम् ।
स्त्रीपुंनपुंसकादींश्च ज्ञात्वा कर्माणि साधयेत् ॥१७॥

मन्त्र-विद्या का अभेद तादात्म्य भाव, निद्रा अर्थात् मन्त्र की सुषुप्ति और मन्त्र का

जागरण, मन्त्र स्त्री है, पुरुष है या नपुंसक है, इन सभी बातों को जानकर ही कार्यसिद्धि में प्रवृत्त होना चाहिये ॥१७॥

स्वरवर्णपदद्वित्वं विदुश्चैतन्यसूतकम् ।
ह्रस्वदीर्घप्लुतादींश्च ज्ञात्वा कर्माणि साधयेत् ॥१८॥

स्वरों का ज्ञान, वर्णों और वर्णों के द्वित्व, पदों, बिन्दुओं, मन्त्रों के चैतन्य, उनके सूतक आदि का ज्ञान कर लेने के बाद ही काम्यकर्म साधन में लगना उचित माना जाता है ॥१८॥

पञ्चशुद्ध्यासनप्राणायामन्यासाक्षमालिकाः ।
दोषसंस्कारमुद्रादीन् ज्ञात्वा कर्माणि साधयेत् ॥१९॥

पाँच प्रकार की शुद्धियाँ, आसन, प्राणायाम, न्यास, अक्षमाला, दोषों के संस्कार, मुद्रायें आदि सभी अंगों को जानकर ही सभी कर्मों को सिद्ध करने में प्रवृत्त होना चाहिये ॥१९॥

तथैवासनदिग्बन्धनाडीबन्धादिसङ्गतिम् ।
देवताकालमुद्रादि ज्ञात्वा कर्माणि साधयेत् ॥२०॥

इसी प्रकार आसन, दिग्बन्ध, नाड़ीबन्ध और इनकी संगति, मन्त्रदेवता, काल और मुद्रादि आवश्यक मन्त्र के अंगों का ज्ञान प्राप्त करने के बाद ही कर्मों को सिद्ध करने की दिशा में अग्रसर होना चाहिये ॥२०॥

साध्यसाधककर्माणि लेखनीद्रव्यपञ्चकम् ।
स्थानं यन्त्रं प्रमाणञ्च ज्ञात्वा कर्माणि साधयेत् ॥२१॥

काम्यकर्म सिद्ध करने के लिये साधक को निम्नलिखित वस्तुओं की जानकारी आवश्यक होती है—साध्य, साधक, कर्म, लेखनी और इसमें प्रयुक्त द्रव्य। साथ ही स्थान, जहाँ कार्य सम्पादन होना है, वहाँ जिस यन्त्र से उसे सिद्ध करना है और इस कार्य का प्रमाण क्या है ? इन आठ बातों की जानकारी से कार्य में दोष की सम्भावना समाप्त हो जाती है ॥२१॥

उत्पत्तिवासनावर्णमूर्त्तिसंस्कारसंस्थितम् ।
कुण्डद्रव्यप्रमाणादीन् ज्ञात्वा होमं समाचरेत् ॥२२॥

जहाँ तक होमकर्म का प्रश्न है, इसके करने से पहले—१. उत्पत्ति, २. वासना, ३. वर्ण, ४. मूर्त्ति, ५. संस्कार, ६. संस्थित, ७. कुण्ड, ८. द्रव्य, ९. प्रमाण आदि विषयों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। ज्ञातव्य विषयों को जानने में उत्पत्ति और वासना का तात्पर्य इस अनुसन्धान से है कि, काम्यकर्म में होम की इच्छा की उत्पत्ति में और इसको करने के मूल में कैसे वासना उत्पन्न हुई, इत्यादि का ज्ञान होने से कर्म में प्रवृत्ति की शुचिता रहती है। वर्ण, मूर्त्ति, संस्कार आदि की जानकारी का यही रहस्य है ॥२२॥

अग्निप्रभां धूम्रवर्णध्वनिगन्धशिखाकृतीः ।
शुभचेष्टादिकं ज्ञात्वा कल्पयेत्तु शुभाशुभम् ॥२३॥

यज्ञ की अग्नि से निकलने वाली लपट, उसके उजाले, अग्नि में धुआँस, उस लपट से निकलने वाली ध्वनि, गन्ध और लपट की चोटी, ऊपरी शिखा, इनकी आकृति और अन्य शुभ चेष्टादिकों की जानकारी करते रहने से, होम से शुभ और अशुभ फलों की प्रकल्पना हो जाती है ॥२३॥

मन्त्रतत्त्वानुसन्धानदेहावेशादिलक्षणम् ।
मन्त्रोच्चारणभेदञ्च ज्ञात्वा कर्माणि साधयेत् ॥२४॥

मन्त्र के तत्त्व का अनुसन्धान और कार्य सम्पादन के समय शरीर पर प्रभावी आवेशादि के लक्षण तथा मन्त्रोच्चार में उत्पन्न होने वाले स्वरादि भेदों की गहराई से छानबीन करते रहना चाहिये। इससे कर्म-साधन में सौविध्य होता है ॥२४॥

मण्डलं कलसद्रव्यशुद्धिगन्धाष्टकादिकम् ।
दीक्षानामप्रदानादि ज्ञात्वा दीक्षां समाचरेत् ॥२५॥

दीक्षा देने के पहले निम्नलिखित तथ्यों की जानकारी अवश्य कर लेनी चाहिये। उसके बाद ही दीक्षा देनी चाहिये। वे तथ्य हैं—१. मण्डल-रचना, २. कलश-स्थापना ठीक है या नहीं ? ३. द्रव्यशुद्धि किस प्रकार की गयी है ? ४. गन्धाष्टक की व्यवस्था, ५. दीक्षा में रखे जाने वाले नाम का निर्धारण हुआ है या नहीं ? इस जानकारी से दीक्षा में सौविध्य हो जाता है ॥२५॥

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं नियमं नाम वासनाम् ।
पूजाधारणयन्त्रादि ज्ञात्वा कर्माणि साधयेत् ॥२६॥

नित्य, नैमित्तिक, काम्यकर्म, नियम, नाम, वासना, पूजाविधि, धारणयोग्य यन्त्र आदि कर्म जानकर ही उक्त कर्मों का सम्पादन करना चाहिये ॥२६॥

पूजागृहप्रवेशादिकुलपूजकलक्षणम् ।
कुलद्रव्यादिशुद्धिञ्च ज्ञात्वा पूजां समाचरेत् ॥२७॥

पूजागृह और प्रवेशविधि, कुलपूजा करने वाले के लक्षण, कुलद्रव्यों की शुद्धि, इन सभी द्रव्यों के विषय में पूरी जानकारी करने के बाद ही पूजा की प्रक्रिया का आरम्भ करना चाहिये ॥२७॥

अन्तर्यागं बहिर्यागं घटार्घ्यस्थापनादिकम् ।
पञ्चपुष्पाञ्जलिं देवि ज्ञात्वा कर्माणि साधयेत् ॥२८॥

अन्तर्याग, बहिर्याग, घट, अर्घ्य और स्थापनारूप पूजा की व्यवस्था इस प्रकार पंचपुष्पांजलि की प्रक्रिया की पूरी जानकारी के बाद ही समस्त कार्यों की सिद्धि में लगना चाहिये ॥२८॥

पात्राधारालिपिशितं कलामुद्राध्वमेलनम् ।
वटुकादिबलिं देवि ज्ञात्वा कर्माणि साधयेत् ॥२९॥

पात्र, पात्र का आधार, अलि-पिशित रूप कुलद्रव्य, कलायें, मुद्रायें, अध्वावर्ग और उनका मेलन, बटुक आदि को बलि देने की तैयारी आदि बातों की पूरी जानकारी लेने के बाद ही कर्मों की सिद्धि की प्रक्रिया शुरू करनी चाहिये ॥२९॥

कुलाकुलाख्यसहजशक्तिभेदश्च लक्षणम् ।
शुभलक्षणसंयुक्तं स्त्रीसंस्कारार्चनादिकम् ॥
देवि सम्भोगकालश्च ज्ञात्वा शक्तिं परिग्रहेत् ॥३०॥

कुल क्या है ? अकुल क्या है ? कुल और अकुल का तादात्म्य क्या है ? इसका साधक पर क्या प्रभाव पड़ता है । सहज शक्ति के भेद और उनके लक्षण, शुभलक्षणों से सम्पन्न मनोनीत स्त्री के कौलिक संस्कार और उनके अभिनन्दन और पूजन एवं संभोग आदि के सम्बन्ध में तथा साधक को अपनी शक्ति के विषय में पूरी जानकारी रखनी चाहिये और इसके साथ ही शक्ति का परिग्रह करना चाहिये ॥३०॥

पानभेदं फलोल्लासप्रमाणं स्थितिलक्षणम् ।
तत्त्वत्रयस्य स्वीकारं ज्ञात्वा कुलसुधां पिबेत् ॥३१॥

कुलद्रव्य पीने के कई प्रकार हैं । उनका ज्ञान आवश्यक है । उसका फल क्या होता है । इससे होने वाले उल्लास कितना प्रभावित कर रहे हैं । उसका प्रमाण, उसमें स्थिति के लक्षण, तीनों तत्त्वों की स्वीकृति आदि के सम्बन्ध में जानकारी के अनन्तर कुलद्रव्यरूपी अमृत का पान करना चाहिये ॥३१॥

चक्रप्रवेशं प्रणतिं स्थितिं निर्गमनं प्रिये ।
योगिनीभोगचेष्टादि ज्ञात्वा भवति कौलिकः ॥३२॥

कुलचक्र में प्रवेश, उसमें अनुशासनपूर्ण प्रणति, स्थिति, उससे निर्गमन की शिष्टता, योगिनीभोग की प्रक्रिया और उसकी चेष्टायें इत्यादि विषय कुलाचार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं । इनको पूरी तरह जानने वाला ही कौलिक हो सकता है ॥३२॥

रत्युल्लासनकालश्च कुलदीपनिवेदनम् ।
शान्तिस्तवादिपठनं ज्ञात्वा स्यात् कुलदेशिकः ॥३३॥

रतिक्रिया, उल्लास का चरम क्षण, कुलदीप का निवेदन, शान्ति और स्तव-स्तोत्र-पाठ इन बातों का पूर्णतया जानकार कुलदेशिक कहलाने का अधिकारी होता है ॥३३॥

मिथुनानुग्रहाष्टाष्टपुष्पिणीकन्यकार्च्चनाम् ।
विशेषतिथिपूजाश्च ज्ञात्वा कर्माणि साधयेत् ॥३४॥

कुलदेशिक रतिक्रिया के लिये यदि तैयार होता है, तो वह उसका अनुग्रह ही

माना जाता है। यह मिथुनाग्रह कहलाता है, जब वह तैयार होता है। अष्टाष्ट पुष्पिणी कन्याओं की पूजा भी इसी कुलाचार का प्रमाण है। इसके साथ विशेषरूप से महत्त्वपूर्ण कुलाचार की तिथियों पर होने वाली पूजायें, सबको जानने के बाद ही कार्य-साधन में प्रवृत्त होना चाहिये ॥३४॥

आम्नायभेदं सङ्केतं पुष्पसङ्कोचमेव च।
गुरुत्रयं सम्प्रदायं ज्ञात्वा कर्माणि साधयेत् ॥३५॥

आम्नायों के भेद, कार्यविधियों में प्रयुक्त संकेत, पुष्परूप स्त्रीत्व लक्षण का संकोच, दीक्षागुरु, परमगुरु और परमेष्ठि गुरु प्रकार और अपना सम्प्रदाय इन बातों का ज्ञान कार्य-साधन के पहले ही कर लेना चाहिये ॥३५॥

श्रौतविद्याकुलाचारं मनुभेदञ्च पादुकाम्।
चरणत्रितयं देवि ज्ञात्वा कर्माणि साधयेत् ॥३६॥

श्रौतविद्या से सम्बन्धित आचार, कुलाचार, मन्त्रभेद, पादुका-मन्त्र-साधन, चरण-त्रितय (उल्लास, चरम क्षण और ह्रास) इन बातों को जानने के बाद ही अपने कार्यों की सिद्धि में संलग्न होना चाहिये ॥३६॥

स्वाधिकस्य समन्यूनकौलिकाराधनक्रमम्।
सिद्धमुद्राधरार्चादि ज्ञात्वा कर्माणि साधयेत् ॥३७॥

अपने से अधिक, सम और अपने से कम श्रेणी के कौलिकों का सत्कार, सम्मान कैसे करना चाहिये ? सिद्ध मुद्रायें और उनके द्वारा धृतिसम्पन्न होकर की जाने वाली पूजायें कैसे होती हैं ? इनकी जानकारी के बाद ही साधना में प्रवृत्त होना चाहिये ॥३७॥

गुर्वग्निप्रेतसंस्कारमन्त्येष्टिं दिग्बलिक्रमम्।
मोक्षदीपविधानादि ज्ञात्वा कर्माणि साधयेत् ॥३८॥

गुरु, अग्नि व प्रेत इन तीनों के संस्कार, अन्त्येष्टि, दिशाओं की बलि (क्षेत्रपाल और दिक्पालों की बलि), मोक्षविधान और दीप-दानादि की बातों का ज्ञान होने के बाद ही कार्य-साधन में प्रवृत्त होना चाहिये ॥३८॥

इत्याद्याः कथिताः किञ्चिद्विशेषाः कुलनायिके।
सर्वेषामेव मन्त्राणां विधिः साधारणक्रमः ॥३९॥

भगवान् कह रहे हैं कि, कुलाधिपे पार्वति ! मैंने तुमसे कार्य-साधन के सम्बन्ध में इतनी सारी बातें कहीं। इसमें कुछ विशिष्ट तथ्यों का उद्घाटन भी मैंने किया। तुम्हें इसके साथ ही यह बात भी जान लेनी चाहिये कि, सारे मन्त्रों की विधियों के कुछ सामान्य प्रकार ही होते हैं ॥३९॥

मन्त्राः पुरुषदेवाः स्युर्विद्याः स्त्रीदेवताः प्रिये।
मन्त्राः पुंसो हुंफडन्ताः प्राणे चरति दक्षिणे॥

प्रबुध्यन्तेऽग्निजायान्ता विद्याः स्त्रीदेवताः प्रिये ॥४०॥
वामे प्राणे प्रबुध्यन्ते नमोऽन्ताः स्युर्नपुंसकाः ।
नाडीद्वयगते प्राणे सर्वे बोधं प्रयान्ति च ॥४१॥

मन्त्रों के सम्बन्ध में यहाँ कुछ ऐसी बातें बता रहे हैं, जो साधकों के लिये अत्यन्त जानने योग्य हैं। जैसे—(१) मन्त्र सभी पुरुषदेव होते हैं, अर्थात् मन्त्रों के अधिष्ठाता देव पुरुष होते हैं। (२) विद्याओं की अधिष्ठात्री शक्तियाँ स्त्री देवता होती हैं। (३) 'हुं फट्' रूप 'जाति' का प्रयोग जिन मन्त्रों में किया जाता है, वे सभी पुरुष होते हैं। (४) जिस समय दायाँ स्वर चल रहा होता है, अर्थात् पिंगला नाड़ी से श्वासचार होता है, उसमें इनकी सिद्धि शीघ्र होती है और ये मन्त्र जागृत हो जाते हैं। (५) अग्निजाया (स्वाहा) नामक जाति जिनके साथ प्रयुक्त की जाती है, ये विद्याएँ स्त्री देवता वाली होती हैं। (६) ये स्त्रीदेवताक विद्यायें प्राणचार में इडा के प्राधान्य के समय जागृत होती हैं। (७) जिन मन्त्रों के साथ 'नमः' जाति का प्रयोग होता है, वे सभी नपुंसक मन्त्र माने जाते हैं। (८) जिस समय इडा और पिंगला दोनों सम होकर चलती हैं, वह समय बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। उस समय सभी मन्त्र सिद्ध होते हैं ॥४०-४१॥

शान्तिके मनवः सौम्या भूयिष्ठेन्द्वमृताक्षराः ।
स्वाहान्ताः स्युर्वियत्प्रायाश्चाग्नेयाः क्रूरकर्मसु ॥४२॥

शान्ति कर्म सम्पादन के लिये सौम्य मन्त्रों का जप करना श्रेयस्कर होता है। सोमतत्त्व प्रधान होने के कारण इन्हें सौम्य कहते हैं। सोमतत्त्व इन्दु से निःष्यन्दित अमृत तत्त्व से भरे अक्षर से समन्वित होते हैं। जिन मन्त्रों के अन्त में 'स्वाहा' का प्रयोग किया जाता है, वे सभी आकाश तत्त्व प्रधान मन्त्र माने जाते हैं ॥४२॥

फट् च पुष्टौ वषट् वश्ये हुंफट् चैव तु मारणे ।
स्तम्भने च नमः प्रोक्तं स्वाहा शान्तिकपौष्टिके ॥४३॥

कुछ मन्त्रों में 'फट्' जाति का प्रयोग होता है। उनका प्रयोग पुष्टि के कार्यों को सिद्ध करने के लिये होता है। वशीकरण में 'वषडन्त' मन्त्रों का प्रयोग किया जाता है, मारण कार्य में 'हुं फट्' अन्त वाले मन्त्र प्रयोजनीय होते हैं, 'नमः' जाति वाले मन्त्र 'स्तम्भन' क्रिया के लिये प्रयोक्तव्य माने जाते हैं। 'स्वाहान्त' मन्त्र शान्ति और पुष्टि दोनों के लिये प्रयुक्त होते हैं ॥४३॥

होमतर्पणयोः स्वाहा न्यासपूजनयोर्नमः ।
मन्त्रान्ते योजयेन्मन्त्री जपकाले यथास्थितम् ॥४४॥

होम और तर्पण इन दोनों कार्यों में स्वाहान्त मन्त्र ही स्वीकार्य हैं। न्यास और सामान्य पूजन में 'नमः' जाति ही श्रेयस्कर मानी जाती है। भगवान् कह रहे हैं कि, जप के समय मन्त्री को यथास्थित इन छः प्रकार की जातियों वाले मन्त्रों का ही प्रयोग करना चाहिये ॥४४॥

शान्तिके राजतं ताम्रं भूर्जपत्रन्तु वश्यके ।
सर्वकार्येषु सौवर्णं क्रूरे स्यात् प्रेतकर्पटम् ॥४५॥

यन्त्र निर्माण में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि शान्ति के लिये यन्त्र चाँदी या ताँबे के पत्र पर बनाया जाना ही श्रेय:साधक होता है । वशीकरण में भोजपत्र का प्रयोग करना चाहिये । सामान्यतया सारे कार्यों की सिद्धि के लिये सुवर्णपत्र ही उपयोगी होता है । यदि क्रूर कर्म के उद्देश्य से यन्त्र बनाना हो, तो प्रेतवस्त्र का प्रयोग करना चाहिये ॥४५॥

त्रिगन्धं शान्तिके प्रोक्तं पञ्चगन्धञ्च वश्यके ।
सर्वकार्य्येष्वष्टगन्धं क्रूरे चाष्टविषाणि च ॥४६॥

मसि के लिये शान्ति-कर्म में त्रिगन्ध का प्रयोग ठीक रहता है । वशीकरण में पंचगन्ध का प्रयोग होता है । सभी कार्यों में अष्टगन्ध प्रयोक्तव्य है । क्रूरकर्म में आठ प्रकार के विषों का प्रयोग होना चाहिये ॥४६॥

शान्तिके लेखनी दूर्वा वश्यादौ शिखिपुच्छिका ।
हेम्ना तु सर्वकार्याणि क्रूरे स्यात् काकपुच्छिका ॥४७॥

शान्तिकार्य के लिये दूब की लेखनी का विधान है । वशीकरण आदि में मोरपंख की लेखनी कार्यसाधक होती है । सोने की लेखनी सभी कार्यों में स्वीकृत है । क्रूरकर्म में काकपक्ष की लेखनी अच्छा काम करती है ॥४७॥

स्वगृहे शान्तिकर्म स्याद्वश्याद्यं चण्डिकालये ।
सर्वकार्यं देवगृहे श्मशाने क्रूरकर्म च ॥४८॥

शान्तिकर्म अपने घर में अच्छा होता है । वशीकरण के लिये कोई प्रक्रिया देवी के मन्दिर में करनी चाहिये । समस्त कार्यों की सिद्धि देवमन्दिर में जप से होती है । क्रूरकर्म श्मशान में सिद्ध होता है ॥४८॥

लक्षणान्येवमादीनि ज्ञात्वा गुरुमुखात् प्रिये ।
सर्वकर्माणि कुर्वीत मन्त्री तत्तत्फलाप्तये ॥४९॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि ! गुरु के मुखारविन्द से इन उक्त तथ्यों की जानकारी प्राप्त करनी चाहिये । इन विधियों का ज्ञान प्राप्त कर मन्त्री इनका आचरण करे । इससे उन विशिष्ट लक्ष्यों की सिद्धि के लिये यह आवश्यक है ॥४९॥

मूले प्रासादबीजञ्च तरुणादित्यसन्निभम् ।
उत्तमाङ्गे पराबीजं चन्द्रायुतसमप्रभम् ॥५०॥

इसके बाद भगवान् शंकर साधना के सूत्र का निर्देश कर रहे हैं । साधक इन विधियों का अवश्य प्रयोग करे । ये विधियाँ निम्नलिखित हैं—साधक संकल्पपूर्वक शुद्ध होकर शुद्ध मन से शुद्ध आसन पर विराजमान होकर मूलाधार का ध्यान करे । उसमें श्री प्रासाद बीज का तरुण किरणमाली भास्कर की आभा के समान ध्यान करना प्रारम्भ करना

चाहिये । इसमें अश्विनी मुद्रा का प्रयोग भी आवश्यक है । इस क्रम में समस्त ऊर्ध्वचक्रों को पार करता हुआ साधक ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर जाय । वहाँ असंख्य इन्द्राभ पराबीज की व्याप्ति का ध्यान करे ॥५०॥

परस्परजनस्पर्शजनितानन्दनिर्भरः ।
मूलादिब्रह्मरन्ध्रान्तमनवच्छिन्नरूपिभिः ॥५१॥

मूलाधार से ऊपर उठकर जाने वाली सूर्य की रश्मियाँ और ब्रह्मरन्ध्र से विगलित सोमरश्मियाँ जब परस्पर मिलती हैं, इस मिलन रूप संघट्टजन्य स्पर्श का दिव्य आनन्द योगी की अनुभूति का विषय है । उस अनिर्वचनीय आनन्द में निर्भर साधक मूल से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त अनवच्छिन्न रसधारा में निमग्न हो जाता है ॥५१॥

परामृतरसासेकैः सिक्तमापादमस्तकम् ।
आत्मानं भावयेन्नित्यं स भवेदजरामरः ॥५२॥

उस परामृत रसाभिषेक अवस्था में आपादमस्तक निमग्न साधक स्वात्म में परानन्द महोत्सव का भावन करता हुआ शाश्वतिक ब्रह्मानन्द में लीन हो जाता है । इस प्रकार की क्रिया साधक को निरन्तर करनी चाहिये । इस तरह करने पर वह अजर-अमर हो सकता है ॥५२॥

एवं ध्यात्वा कुलेशानि सर्वकर्माणि साधयेत् ।
सिध्यन्ति तरसा देवि नात्र कार्या विचारणा ॥५३॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, कुलेश्वरि ! इस प्रकार से ध्यानमग्न रहता हुआ साधक सारे कार्यों का साधन करने में समर्थ हो जाता है । यह निश्चय है कि, ऐसे साधक के सारे कार्य तरसा अर्थात् झटिति सिद्ध हो जाते हैं । इसमें किसी तर्क-वितर्क की कोई आवश्यकता नहीं ॥५३॥

ध्यानभेदं प्रवक्ष्यामि सर्वसिद्धिकरं प्रिये ।
ईप्सितं लभते येन पूजाहोमादिकं विना ॥५४॥

भगवान् इसके बाद ध्यान-प्रक्रिया के सम्बन्ध में बतला रहे हैं । वे कह रहे हैं कि, प्रिये ! ध्यान के इस भेदवाद को तुम सुनो । ध्यान की यह प्रक्रिया सब कुछ सिद्ध करने वाली है । पूजा और किसी प्रकार के हवन आदि के विना ही उसके सभी अभीप्सित सिद्ध हो जाते हैं ॥५४॥

स्थाने मनोहरे देवि साधकः स्थिरमानसः ।
स्थितो मृद्वासने ध्यायेद् गुरुवन्दनपूर्वकम् ॥५५॥

हे देवेश्वरि ! सर्वप्रथम किसी मनोहर स्थान का चयन करना चाहिये । साधक स्थितप्रज्ञ भाव से उस एकान्त विशुद्ध आसन पर विराजमान हो जाय । आसन मृदुल होना चाहिये । पहले गुरुदेव का वन्दन अनिवार्यतः आवश्यक होता है ॥५५॥

मस्तकस्थितसम्पूर्णचन्द्रमण्डलमध्यगम् ।
श्रीप्रासादपराबीजं षोडशस्वरसंयुतम् ॥५६॥

साधक मस्तक में अवस्थित पूर्ण चन्द्रमण्डल के मध्य में सोलहवें बीजवर्ण के साथ श्री प्रासाद पराबीज के उल्लास और उन्मेषपूर्ण उच्छलन का अनुभव करे ॥५६॥

शुद्धस्फटिककर्पूरकुन्देन्दुधवलं प्रिये ।
सच्चन्द्रबिम्बसञ्जातसुधाप्लावितविग्रहम् ॥५७॥

भगवान् कहते हैं कि, प्रिये ! अब साधक उस अवस्था में विशुद्ध नितान्त स्वच्छ पारदर्शी स्फटिक के श्वैत्य से भरपूर कुन्द और इन्दु के समान धवलवर्णी और चन्द्रबिम्ब से स्रवित सुधाधारा से आप्लावित स्वात्म शरीर को अपनी अनुभूति का विषय बना ले ॥५७॥

आत्मानं भावयेन्नित्यं निश्चलेनान्तरात्मना ।
सर्वारिष्टं विलीयेत शुभश्रीपुष्टिकारकम् ॥५८॥

इस प्रकार अनवरत भावन के अनिर्वचनीय आनन्द से उत्फुल्लता का अनुभव करे । अन्तरात्मा निश्चल हो और चिन्तन भी निश्चल हो । इस प्रक्रिया से साधक के सारे अरिष्ट नष्ट हो जाते हैं । उसे शुभ लक्ष्मी कृपा और पुष्टि का वरदान उपलब्ध हो जाता है ॥५८॥

श्रीप्रासादपरामन्त्रमष्टोत्तरसहस्रकम् ।
तरुणोल्लाससहितो मण्डलं पूजयेत् प्रिये ॥५९॥

प्रिये ! श्री प्रासाद परामन्त्र का १००८ संख्य जप कुलचक्र मण्डल पूजा में आवश्यक माना जाता है । इसके जपक्रम में जापक तरुणोल्लास के समावेश में रहे और इसी मन्त्र के उपलक्ष्य में मण्डल की पूजा में भी साधक को श्रद्धापूर्वक लगना चाहिये ॥५९॥

अपमृत्युमहारोगजरामरणजं भयम् ।
ग्रहापस्मारवेतालभूतोन्मादादिजं भयम् ॥६०॥

अपमृत्यु, असाध्य रोग, जरा (वृद्धावस्था), मरण से उत्पन्न भय, ग्रहों का भय, अपस्मार अर्थात् मृगीरोग, वेताल, भूत, उन्माद अर्थात् पागलपन का रोग ये सारे बड़े दारुण और भीषण होते हैं ॥६०॥

जित्वाधिव्याधिरहितः पुत्रपौत्रसमन्वितः ।
जीवेद्वर्षशतं सार्द्धं पूजितः सर्वमानवैः ॥६१॥

श्री प्रासाद परामन्त्र का जापक इन रोगों को जीत लेता है । ये रोग उसे कभी हो ही नहीं सकते । वह समस्त आधियों और व्याधियों से मुक्त हो जाता है । वह पुत्र-पौत्रिकी सन्तति परम्परा से समन्वित हो जाता है । वह सौ-डेढ़ सौ मानव वर्षों तक जीवित रहता है और मानव समुदाय द्वारा पूज्य माना जाता है ॥६१॥

अश्रुतं बुध्यते शास्त्रं कविता निर्मला भवेत्।
चिन्मयो जायते साक्षान्नात्र कार्या विचारणा ॥६२॥

उसके अन्दर प्रतिभा का ऐसा प्रकाश जाग उठता है, जिससे वह अश्रुत शास्त्रों का भी ज्ञान प्राप्त कर लेता है। उसके द्वारा निर्मल निर्दोष कविता का सृजन होने लगता है। वह चिन्मय शिवस्वरूप ही हो जाता है। इस सत्य तथ्य में तर्क-वितर्क के लिये कोई स्थान नहीं है। यह ध्रुव सत्य तथ्य बात है ॥६२॥

ज्वरोन्मादादिरोगेषु जपेच्छिरसि चिन्तयन्।
शूलवातव्रणग्रन्थिमूत्रकृच्छ्रादिसम्भवे ॥
तत्तत्स्थानेषु देवेशि पूर्ववच्चिन्तयन् जपेत् ॥६३॥

ज्वर और उन्माद आदि रोगों में इस मन्त्र का शिरोभाग में चिन्तन करते हुए जप करना चाहिये। इसी तरह शूलरोग, वातरोग, व्रणरोग, ग्रन्थिरोग, मूत्रकृच्छ्र आदि रोगों के हो जाने पर उन-उन स्थानों पर चिन्तन करते हुए जप करने से रोग समूल नष्ट हो जाते हैं ॥६३॥

महारोगेषु जातेषु सर्वाङ्गेषु विचिन्तयेत्।
तत्क्षणाच्छान्तिमायान्ति रोगाः सर्वे न संशयः ॥६४॥

इनसे बड़े महारोग जिन्हें कष्टसाध्य या असाध्य कहते हैं, इनके हो जाने पर सर्वांग में चिन्तन करते हुए जप करना चाहिये। ऐसा करते ही वे सभी रोग तत्काल ही शान्त हो जाते हैं। यह अनुभूत सत्य है ॥६४॥

दशेन्द्रियेषु यो ध्यायेल्लभेदिन्द्रियसौष्ठवम्।
यत्र बीजं स्मरेत्तत्र तत्फलं भवति ध्रुवम् ॥६५॥

दशों इन्द्रियों में ध्यान करते हुए इस महामन्त्र का जाप करने से साधक इन्द्रिय-सौष्ठव प्राप्त करता है। इन बीजों का जहाँ-जहाँ स्मरण करते हुए जप किया जाता है, वहाँ तुरत फल की उपलब्धि अवश्य होती है ॥६५॥

सदा यश्चिन्तयेन्मूर्ध्नि स भवेदजरामरः।
सर्वरोगप्रहरणं विद्यारोग्यप्रदं प्रिये ॥६६॥

जो साधक मूर्धाप्रदेश में सदा इस महामन्त्र का चिन्तन करता है, वह वार्द्धक्य और मृत्यु दोनों को जीत लेता है। भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति ! यह रोगों का नाश करने में सर्वाग्रणी मन्त्र है। यह विद्या और आरोग्य का वरदान देने वाला महामन्त्र है ॥६६॥

अस्मात् परतरध्यानं नास्ति सत्यं न संशयः।
सात्त्विकध्यानजं देवि फलमेतदुदीरितम् ॥६७॥

देवि ! इस मन्त्र के ध्यान से बढ़कर कोई ध्यान नहीं होता। मेरी बात ध्रुव सत्य है। इसमें संशय नहीं। ये जितने ध्यान कहे गये हैं, ये सारे के सारे सात्त्विक ध्यान के प्रकार हैं और इन्हीं सात्त्विक ध्यान के फल भी मैंने कहे हैं ॥६७॥

शान्तिकर्माणि सर्वाणि विधिनानेन कारयेत्।
विधिनानेन देवेशि सौभाग्यमतुलं भवेत् ॥६८॥

समस्त शान्ति कार्यों में इस महामन्त्र का उक्त विधियों के अनुसार प्रयोग करना चाहिये। भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवेश्वरि ! इस प्रकार इस महामन्त्र का प्रयोग करने पर अतुल सौभाग्य संवर्द्धन होता है ॥६८॥

द्वादशाधारपद्मेषु द्वादशस्वरसंयुतम्।
बीजं सञ्चिन्तयेद् यस्तु स भवेदजरामरः ॥६९॥

शरीर में द्वादश आधार पद्म हैं। इनमें द्वादश स्वरों से समन्वित कर जो साधक इस बीजमन्त्र का प्रयोग करता है या चिन्तन करता है, वह अवश्य ही जरा-मरण पर विजय प्राप्त कर लेता है ॥६९॥

षडाधारेषु षड्दीर्घयुक्तं बीजं विचिन्तयेत्।
षडाधारस्थदेवीभिः पूज्यते कुलनायिके ॥७०॥

छः आधार स्थानों पर छः दीर्घ स्वरों के साथ इस बीज का जो चिन्तन करता है, भगवान् कह रहे हैं कि, कुलेश्वरि ! वह उन आधार स्थलों में अधिष्ठित देवी शक्तियों का कृपापात्र हो जाता है ॥७०॥

हृत्पद्मकर्णिकामध्ये सूर्यमण्डलसंस्थितम्।
पराप्रासादबीजन्तु तरुणारुणसन्निभम् ॥७१॥

यहाँ एक नयी साधना विधि का निर्देश कर रहे हैं। इसके अनुसार अनाहतचक्र-रूप हृदयपद्म की कर्णिका में इस श्रीप्रासाद पराबीज का स्मरण, चिन्तन करना है। यह बीज सूर्यमण्डल के मध्य में अवस्थित है, यह चिन्तन करे। यह भी सोचे कि, यह बीज तरुण सूर्य के समान प्रभा से भासमान है ॥७१॥

जवाबन्धूकसिन्दूरपद्मरागप्रभोज्ज्वलम्।
पञ्चविंशतिभिः स्पर्शाक्षरैः संवीतमम्बिके ॥७२॥

इस बीज से जवाकुसुम, बन्धूक, सिन्दूर और पद्मराग की प्रभा का प्रकाश छिटक रहा है। इस बीज के चारों ओर मण्डलरूप से घेर कर कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग के पचीस स्पर्श वर्ण बैठे हैं। उनसे यह देदीप्यमान है ॥७२॥

तत्प्रभापटलच्छायाव्यक्तीकृतजगत्त्रयम्।
आत्मानञ्च स्मरेद्देवि निश्चलेनान्तरात्मना ॥७३॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि अम्बिके ! इस सम्मिलित प्रभापटल के प्रभाव से सारा त्रैलोक्य प्रभाभास्वर हो रहा है। देवि ! इसी तरह स्वात्म को भी बीजवर्ण-विनि:सृत आभा से दीप्तिमन्त अनुभव करे। उस समय साधक स्वयं निश्चल भाव से आन्तरिक आत्मभाव से भावित रहे ॥७३॥

पराप्रासादबीजन्तु तरुणोल्लाससंयुतः ।
अष्टोत्तरसहस्रन्तु मण्डलं प्रजपेत् सुधीः ॥७४॥

तरुण उल्लास से उल्लसित साधक श्री प्रासाद पराबीज को कम से कम १००८ बार तो अवश्य ही जपे। वही सुधी साधक है, जो इस प्रभामण्डल में मण्डित इस महामन्त्र का जप करता है ॥७४॥

देवदानवगन्धर्वसिद्धकिन्नरगुह्यकान् ।
विद्याधरान्मुनीन् यक्षान् नागानप्सरसः स्त्रियः ॥७५॥
सिंहव्याघ्रोरगेन्द्रादीनन्यान् दुष्टमृगानपि ।
वश्यान् करोत्यसन्देहं किं पुनर्मानवादिकान् ॥७६॥

देव, दानव, गन्धर्व, सिद्ध, किन्नर, गुह्यक, विद्याधर, मुनि, यक्ष, नाग, अप्सराओं, स्त्रियों, सिंह, व्याघ्र, सर्प और अन्य इसी प्रकार के क्रूर हिंसक पशु और मृगवर्ग के जीव-जन्तुओं को यह श्री प्रासाद पराबीज मन्त्र अपने वश में कर लेता है। इन सामान्य मनुष्यों की इनके सामने क्या गिनती ? अर्थात् इनको वश में कर लेना तो मामूली-सी बात है ॥७५-७६॥

महदैश्वर्यमाप्नोति स्वर्गभोगादिकं प्रिये ।
यस्य मूर्ध्नि स्मरन् जप्यात् स वश्यो जायते हठात् ॥७७॥

भगवान् कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति इस मन्त्र का जप करने वाला साधक, महान् ऐश्वर्य का अधिकारी हो जाता है। स्वर्ग सदृश भोगों के उपभोग का सौभाग्य उसे प्राप्त हो जाता है। जिस किसी के मूर्धा में उसका चिन्तन करते हुए इसका जप किया जाय, तो इस जप के प्रभाव से वह व्यक्ति निश्चित ही वशीभूत हो जाता है ॥७७॥

राजसध्यानजं देवि फलमेतदुदीरितम् ।
वश्यकर्माणि सर्वाणि विधिनानेन कारयेत् ॥७८॥

भगवान् कहते हैं कि, देवि ! यह राजस ध्यान मैंने तुम्हें बताया। इसके साथ ही राजस ध्यान का फल भी तुम्हें स्पष्ट ज्ञात हो गया है। सारे वशीकरण के कार्य इसी विधि से करने से उत्तम होते हैं ॥७८॥

सर्ववश्यकरं देवि सर्वैश्वर्यफलप्रदम् ।
अस्मात् परतरं ध्यानं नास्ति सत्यं न संशयः ॥७९॥

हे देवि ! सबको वश में करने और समस्त ऐश्वर्यों के फल प्रदान करने में समर्थ

इस मन्त्र से बढ़कर न कोई मन्त्र है और न कोई ध्यान है। यह बात नितान्त सत्य है ॥७९॥

लिखेत्रिकोणं षट्कोणं अष्टारञ्च महीपुरम्।
मूलमन्त्रं लिखेन्मध्ये साध्यनामसमन्वितम् ॥८०॥

एक दूसरी विधि का निर्देश कर रहे हैं। इसके अनुसार त्रिकोण या षट्कोण की रचना करे। अथवा अष्टकोण या भूपुर की रचना करे। इनके मध्य में इस मूल मन्त्र का लेखन करे। उसके साथ ही साध्य के नाम का भी लेखन करे ॥८०॥

षट्कोणेषु षडङ्गानि विलिखेत् परमेश्वरि।
केशरेषु स्वरानष्टौ वर्गान् पत्रेषु पार्वति ॥८१॥

षट्कोण का निर्माण करने के उपरान्त उसके छहों कोणों पर छः अंगों का उल्लेख कर (हृदय, शिर, शिखा, कवच, नेत्रत्रय और अस्त्र) हे परमेश्वरि ! उसके भीतर केशरों में आठ स्वरों और पत्रों पर अष्ट वर्णों का उल्लेख करे ॥८१॥

भूगृहस्य चतुष्कोणे विलिखेन्मूलमम्बिके।
पञ्चवर्णरजोभिश्च शुभं दृष्टिमनोहरम् ॥८२॥

भूपुर के चारों कोणों में मूलमन्त्र का उल्लेख करे। देवि ! अम्बिके ! पाँच वर्ण के रंगों वाली पहाड़ी धूल का प्रयोग करे। ऐसी सुन्दर रचना करे, जिसे देखकर मन प्रसन्न हो जाय और आँखें खिल उठें ॥८२॥

एवं यन्त्रं समालिख्य विधिवन्मन्त्रवित्तमः।
एकत्रिषड्वसुचतुःकलसान् स्थापयेत् प्रिये ॥८३॥

इस प्रकार यन्त्र लिखकर विधिपूर्वक उसका निर्माण कर मन्त्रविद्या का श्रेष्ठतम ज्ञाता एक, तीन, चार या आठ कलशों की स्थापना करे ॥८३॥

मध्यादिचतुरस्रान्तं द्वात्रिंशत् कलसान् प्रिये।
अथवाष्टादशेशानि सप्त वा दश वा प्रिये ॥८४॥
चतुरो वाप्यथैकं वा कुर्यात् साधकसत्तमः।

मध्य से लेकर चारों कोणों के पर्यन्त भाग तक बत्तीस कलशों की स्थापना भी की जाती है। इतना न हो तो अट्ठारह या सात या दश कलशों की ही स्थापना करे। भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! अधिक नहीं, कम से कम चार या एक ही कलश स्थापित करे। यह कम से कम संख्या है। जितना हो सके करे ॥८४॥

अस्थिरक्तशिरातन्तुमृण्मांसं रुधिरं जलम् ॥८५॥
चर्मवस्त्रशिलाकूर्मनारिकेलफलं शिरः।
मन्त्रप्राणसमायुक्तां यजेत् कलसदेवताम् ॥८६॥

अब कलश देवता की पूजा की प्रक्रिया अपनाये। इसमें कलश में देवत्व का प्रकल्पन करना है। इस कलश शरीर में यह चिन्तन करे कि, इसमें मिट्टी या धातु ही अस्थि है, पानी सोखने वाली शिरायें हैं। इनके लिये तन्तु का प्रयोग करे। मिट्टी ही मांस है। जल ही रुधिर है। वस्त्रावेष्टन ही चर्म है। शिला-कूर्म प्राण है। ऊपर रखा नारिकेल ही इस देवता का शिर है। मन्त्र ही इसका प्राण है। इतना चिन्तन करने के उपरान्त कलश देवता की पूजा करनी चाहिये ॥८५-८६॥

सावित्रीनापराङ्गानि मातरो भैरवान्विताः।
विदिक्षु गुरुविघ्नेशदुर्गाक्षेत्रपतीन् प्रिये ॥८७॥

कलश के सारे अंग सावित्रीमय हैं। उसमें प्रतिष्ठित शक्तियाँ भैरवरूप शक्तिमन्तों से समन्वित हैं। दिशाओं और विदिशाओं में गुरु, विघ्नेश्वर गणेश, दुर्गा, क्षेत्रपाल और दिक्पालों का अस्तित्व मानकर सावित्री भैरव से लेकर दिक्पालों की पूजा करनी चाहिये ॥८७॥

कलसेषु समभ्यर्च्य विधिवन्मन्त्रवित्तमः।
अभिषिञ्चेत् प्रियं शिष्यं सर्वपापप्रशान्तये ॥८८॥

इनके मध्य में ही कुल की पूजा करनी चाहिये। इस तरह विधिपूर्वक मन्त्रतत्त्व के श्रेष्ठ जानकार साधक को कलश के जल से शिष्य के सारे पापों को प्रशान्त करने के लिये शिष्य का अभिषेक करना चाहिये ॥८८॥

आयुःश्रीकान्तिसौभाग्यविद्यारोग्यादिकं भवेत्।
राजाभिषिक्तो लभते चतुःसागरगां महीम् ॥८९॥

आयुष्य, कान्ति, लक्ष्मी, सौभाग्य, विद्या और आरोग्य आदि से सारे सौख्य के साधन उसे उपलब्ध हो जाते हैं। इस जल से यदि राजा का अभिषेक हो, तो उसे चारों ओर लहराते सागरों से घिरी पृथ्वी का राज्य प्राप्त होता है ॥८९॥

अकिञ्चनोऽभिषिक्तश्च महदैश्वर्यमाप्नुयात्।
वन्ध्याभिषिक्ता लभते पुत्रं सर्वगुणान्वितम् ॥९०॥

यदि इस जल से किसी अकिंचन व्यक्ति का अभिषेक कर दिया जाय, तो उसे महान् ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। यदि इस जल से वन्ध्या स्त्री का अभिषेक कर दिया जाय तो यह निश्चित है कि, उसे पुत्र की प्राप्ति हो जाती है। पुत्र भी ऐसा कि, समस्त उत्तमोत्तम गुणों से वह वरिष्ठ होता है ॥९०॥

भूतापमृत्युरोगाद्या विनश्यन्ति न संशयः।
त्रिलौहे वापि भूर्जे वा लिखित्वा यन्त्रमुत्तमम् ॥९१॥

भूलोक में मिलने वाले त्रिविध तापों का इससे नाश हो जाता है। मृत्यु के दोष नष्ट हो जाते हैं। रोग समूल मिट जाते हैं। इसमें संशय नहीं। त्रिलौह (ताँबा, पीतल और रजत) पर अथवा भूर्जपत्र पर इस उत्तमोत्तम यन्त्र का लेखन करना चाहिये ॥९१॥

विधृतं बाहुना देवि सर्वरक्षाकरं भवेत् ।
आयुरारोग्यमैश्वर्यं विद्यालाभं यशो जयम् ॥९२॥
यद् यत् स्वमनसोऽभीष्टं तत्तदाप्नोत्यसंशयः ।

यह यन्त्र को बाहु में धारण करने से सभी प्रकार के अरिष्टों से रक्षा हो जाती है। इससे आयु, आरोग्य, ऐश्वर्य, विद्या, यश और जय लाभ होता है। यही नहीं, जो भी अभीप्सित होता है, मन जिसे चाह लेता है, उसकी अवश्य उपलब्धि होती है ॥९२॥

खड्गवश्यं वयःस्तम्भं यक्षिण्यञ्जनपादुकाम् ॥९३॥
अणिमाद्यष्टसिद्ध्यादि महारसरसायनम् ।
सञ्जीवयोगगुटिकाप्रमुखाखिलसिद्धयः ॥९४॥

युद्धक्षेत्र में चलती हुई तलवार रुक जाती है। उड़ता हुआ पक्षी उड़ना बन्द कर देता है। यक्षिणी सिद्ध हो जाती है। अंजन का प्रयोग सफल हो जाता है। पादुका-सिद्धि हो जाती है। अणिमादि आठों सिद्धियाँ उसे हस्तामलकवत् मिल जाती हैं। महारस और रसायन के प्रयोग सरलता से सफल हो जाते हैं। जीवित करने के सच्चे प्रयोग, गुटिकादिक सिद्धियाँ भी मिल जाती हैं, और भी जितनी प्रसिद्ध सिद्धियाँ हैं, वे इस मन्त्र से उपलब्ध हो जाती हैं ॥९३-९४॥

पराप्रासादमन्त्रज्ञैर्दृश्यन्ते नात्र संशयः ।
षट् कर्माणि प्रयुञ्जीत नान्यथा भवति प्रिये ॥९५॥

श्रीपराप्रासाद मन्त्र के जानने वाले मन्त्रज्ञों के लिये इन सिद्धियों की उपलब्धि सदा देखी जाती है। इसमें संशय के लिये कोई स्थान नहीं होता। षट्कर्म का प्रयोग भी इसी मन्त्र से किया जाना चाहिये। यह निश्चय है कि, इस मन्त्र से किया जाने वाला कोई प्रयोग विफल नहीं होता ॥९५॥

पीतद्रव्यैर्हरिद्राद्यैः समित्पत्रफलादिभिः ।
जुहुयात् पूर्ववन्मन्त्री देवताध्यानतत्परः ॥९६॥

पीले द्रव्य हरिद्रा आदि से, समिधा, पत्र और फल आदि से देवता के ध्यान में तत्पर रहते हुए मन्त्रप्रयोक्ता साधक को हवन कर्म भी सम्पन्न करना चाहिये ॥९६॥

वाक्श्रोत्रगतिदृक्सेनानदीग्रहरिपून् प्रिये ।
नानादुष्टमृगान् देवि स्तम्भयेन्नात्र संशयः ॥९७॥

भवानी को सम्बोधित करते हुए भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! कुछ ऐसी वृत्तियाँ, कुछ ऐसे द्रव्य और कुछ ऐसे लोग होते हैं, जिनका स्तम्भन आवश्यक होता है। जैसे वाणी, कर्ण, गति और दृष्टि इन वृत्तियों के वेग को रोकने से नियन्त्रण रहता है। इसी तरह सेना का, ग्रहों और शत्रुओं का नियन्त्रण भी समाज में जरूरी होता है। अनेक दुष्ट हिंसक जानवरों को भी स्तम्भित करना आवश्यक होता है ॥९७॥

ग्रहवेगादिदुष्टानां विनाशनकरं प्रिये।
अस्मात् परतरं ध्यानं नास्ति सत्यं न संशयः ॥९८॥

ग्रहों के कुप्रभावपूर्ण वेग और दोषपूर्ण क्रोध आदि के वेगों को नष्ट करने वाला उपाय ध्यान से बढ़कर कोई नहीं है। भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति ! इस बीजमन्त्रात्मक ध्यान से बढ़कर कोई ध्यान की प्रक्रिया नहीं होती ॥९८॥

तामसध्यानजं देवि फलमेतदुदीरितम्।
दुष्टमारणकर्माणि विधिनानेन साधयेत् ॥९९॥

हे देवि ! ये तामस ध्यान के फल हैं। इनसे सर्वसाधारण की श्रेयःसिद्धि होती है। प्रेय भी इसी से सिद्ध होता है। जैसे दुष्ट का वध सबको अभीष्ट होता है। वह इसी बीजमन्त्र ध्यान से हो जाता है ॥९९॥

इत्यादि ध्यानभेदेन ज्ञात्वा गुरुमुखात् प्रिये।
षट्कर्माणि प्रयुञ्जीत नान्यथा वीरवन्दिते ॥१००॥

प्रिये ! यह तो ग्रन्थ के माध्यम से होने वाला ज्ञान है। इससे मन्त्रवीर्य प्रकाशन कठिन होता है। इसीलिये इसे गुरुमुख से जानना चाहिये। इन तीनों प्रकार के ध्यानों से शिष्य के जीवन में क्रान्ति आ जाती है। इन ध्यानकर्मों से षट्कर्म की सिद्धि होती है। दूसरे मन्त्रों के प्रयोग से अन्यथा हो सकता है, वीरवन्दिते ! इस मन्त्र से नहीं ॥१००॥

खदिरश्वेतमन्दारसितभानुसमिद्वरैः ।
पलाशोडुम्बराश्वत्थप्लक्षापामार्गसत्वचैः ॥१०१॥

खैर, श्वेत मदार, सितभानु इन समिधाओं में श्रेष्ठ समिधा वर्ग से, इनके साथ पलाश, उदुम्बर (गूलर), अश्वत्थ (पीपल), प्लक्ष (पाकड़) और सत्वच् अपामार्ग आदि से हवन कर्म करना चाहिये ॥१०१॥

नन्द्यावर्त्तसिताम्भोजहयारिकुसुमादिभिः ।
सितैरन्यैः शुभैर्द्रव्यैः समित्पत्रफलान्तरैः ॥१०२॥

नन्द्यावर्त्त एक ऐसा वृक्ष होता है, जिसे भगवद्द्रुम कहते हैं। इसके पुष्प के अन्दर अर्घा में शिवलिंग बना रहता है। नन्द्यावर्त्त राजवेश्म को भी कहते हैं। उसके व्यक्तिगत उद्यान में श्वेतकमल खिलाये जाते हैं। हयारि कनेर को कहते हैं। इसका पुष्प खिला देने पर घोड़े मर जाते हैं। इसके पुष्प पीत, रक्त और श्वेत तीन तरह के होते हैं। इनसे तथा अन्य कुसुमों आदि से पूजा का विधान है। इसी तरह अन्य सित द्रव्यों से तथा समिधा-योग्य वृक्षों के पत्र और आदि से यह कार्य सम्पादित किया जाता है ॥१०२॥

भक्ष्यैश्च पायसैर्दूर्वासहितैस्तिलतण्डुलैः।
मधुरत्रयसंयुक्तैर्मन्त्रवित् कुलनायिके ॥१०३॥

पायस आदि सुस्वादु भोज्य-भक्ष्य पदार्थों, दूर्वा सहित तिलतण्डुल से संसृष्ट पदार्थों, तीन मुलहठी, वच और मधु से समन्वित पदार्थों से भी मन्त्रवित् को पूजन-अर्चन और भोग लगाकर देवों को प्रसन्न करना चाहिये। यह तथ्य कुलनायिका पार्वती से भगवान् शंकर कह रहे हैं ॥१०३॥

एकेन वाथ सर्वैर्वा तत्कार्यगुरुलाघवम्।
ज्ञात्वा देवि सहस्रन्तु जुहुयादथ पञ्च वा ॥१०४॥

या तो किसी भी एक पदार्थ से श्रद्धापूर्वक पूजा करे या सभी द्रव्यों से समन्वित रूप से पूजा करे। श्रद्धा सर्वदा अपेक्षित होती है। यह भी ध्यान देने की बात है कि, कार्य का कितना महत्त्व है ? कितना गौरवपूर्ण कार्य है अथवा लाघवमय हल्का-फुल्का कार्य है। यह सब जानकर ही देवि पार्वति ! या तो सामान्य कार्य से एक हजार आहुतियों का हवन करे या महत्त्वपूर्ण गुरुकार्य में पाँच आहुतियों का हवन-कर्म सम्पादित करे ॥१०४॥

अयुतं नियुतं वापि प्रयुतं वा कुलेश्वरि।
तत्तत्कर्मोदिते कुण्डे संस्कृते हव्यवाहने ॥१०५॥

इससे महत्त्वपूर्ण काम्यकर्म की सिद्धि के लिये दश हजार नियुत अर्थात् एक लाख और प्रयुत अर्थात् इससे भी अधिक दश लाख तक की आहुतियों का हवन करे। भगवान् कहते हैं कि, कुलेश्वरि ! उन-उन काम्य-कर्मों के सम्पादन के अवसर के उदय अर्थात् उपस्थित होने पर संस्कारसम्पन्न कुण्ड में अग्निनारायण को प्रज्वलित करे ॥१०५॥

आवाह्य देवतामस्मिन् ध्यात्वा सावरणां प्रिये।
विधिवज्जुहुयाद्देवि तद्गतेनान्तरात्मना ॥१०६॥

अग्निदेव का उस प्रज्वलित अग्नि में आवाहन करे। पुन: श्रद्धापूर्वक ध्यान करे। तदनन्तर आवरणपूजा करे। सावरण पूजा को सम्पादित कर विधिपूर्वक हवन कर्म सम्पन्न करे। यह ध्यान रहे कि, इस पूजन और हवन में तद्गत अन्तरात्म स्थिति बनी रहनी चाहिये ॥१०६॥

सर्वरोगव्रणोन्मादापस्मारोत्पातयक्ष्मजम्।
सर्वदुःखप्रशमनं तत्क्षणान्नात्र संशयः ॥१०७॥

सभी प्रकार के रोगों जैसे अपस्मार और उन्माद, अन्य उपद्रव या यक्ष्मा सदृश कठिन रोगों का भी उपशमन इस प्रक्रिया से हो जाता है। इस प्रकार के भीषण और दारुण रोगों के शमन में विलम्ब भी नहीं होता, वरन् तत्काल प्रशम हो जाता है। इस कथन में संशय के लिये अवकाश नहीं ॥१०७॥

अनेन सर्वशान्तिश्च ज्ञानं विद्यां लभेत् प्रिये।
कदम्बाशोकवकुलपुन्नागाम्रमधूकजैः ॥१०८॥

इस प्रक्रिया से सभी प्रकार के शान्तिकर्म सम्पादित किये जाते हैं। इससे ज्ञान

और सभी प्रकार की विद्याओं के अर्जन-उपार्जन में भी सफलता प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त वशीकरण आदि में पूजन के लिये कदम्ब, अशोक, बकुल, पुन्नाग, आम्र और मधूक पुष्पों का प्रयोग करना चाहिये ॥१०८॥

चम्पकद्वयपालाशपाटलश्रीकपित्थकैः ।
मालतीमल्लिकाजातिबन्धूकारुणपङ्कजैः ॥१०९॥

इसी क्रम में चम्पक के दोनों प्रकार, पलाश-पुष्प, पाटल अर्थात् गुलाब, श्रीकपित्थ, मालती, मल्लिका, जाति, चमेली आदि बन्धूक और लाल कमल कुसुम भी प्रयोज्य हैं ॥१०९॥

कह्लारारुणमन्दारयूथिकुन्दजवादिभिः ।
सनारिकेलकदलीद्राक्षेक्षुपृथुकैरपि ॥११०॥

इस क्रम में कह्लार, अरुण मन्दार, जूही, कुन्द, जवाकुसुम, नारिकेल-कुसुम, कदली के आकर्षक सुमन, अंगूर, ईख और पृथुक (कृष्णजीर) पुष्पों का भी उपयोग होता है ॥११०॥

चन्दनागुरुकर्पूररोचनाकुङ्कुमादिभिः ।
रक्तैरन्यैः शुभद्रव्यैः समिद्धृतफलोद्भवैः ॥१११॥

इसी क्रम में चन्दन, अगुरु, कपूर, रोचना, कुंकुम आदि तथा अन्य मुख्यरूप से लाल रंग के फूल, शुभ द्रव्यों का प्रयोग कर अपनी पूजा सम्पन्न करते हैं ॥१११॥

पूर्ववज्जुहुयाद्देवि विधिवन्मन्त्रवित्तमः ।
महीपतींश्च पुरुषान् कान्ता यौवनगर्विताः ॥११२॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि ! पूर्ववत् उक्तविधि से पूजन और हवनं करना मन्त्रविद् आचार्य के कर्त्तव्य की श्रेणी में आता है। इससे बड़े-बड़े महीपतियों, पुरुषों, सुन्दर कामिनियों और यौवन से गर्वित नारियों को भी वश में किया जा सकता है ॥११२॥

सिंहान् मत्तान् तथा व्याघ्रान् मृगान् दुष्टान् गजानपि ।
सिद्धदेवाप्सरोयक्षगन्धर्ववनितास्तथा ॥
देवानपि कुलेशानि वशयेन्नात्र संशयः ॥११३॥

केवल यही नहीं, सिंह सदृश हिंसक पशु, पागलों, व्याघ्रों, अन्य जानवरों और बिगडैल हाथियों को भी वश में किया जा सकता है। इसी तरह सिद्धों देवों, अप्सराओं, यक्षों, गन्धर्वों की स्त्रियों और देवों को भी हे कुलेश्वरि ! मन्त्रविद् आचार्य अपने वश में कर सकता है। काम्य-कर्मों की सिद्धि के लिये ऐसा करना भी चाहिये। आवश्यक रूप से यह करणीय है ॥११३॥

वाजीलवणहोमेन स्त्रियमाकर्षयेद् ध्रुवम् ।
विधिनानेन देवेशि सौभाग्यमुत्तमं लभेत् ॥११४॥

भगवान् कह रहे हैं कि, देवेश्वरि ! ध्रुवरूप से किसी स्त्री को आकृष्ट करने के लिये वाजी (सैन्धव) लवण का हवन करना चाहिये। उक्त विधि से पूजा करने के उपरान्त यह प्रयोग करना चाहिये। इससे उत्तम सौभाग्य की प्राप्ति होती है ॥११४॥

बहुनात्र किमुक्तेन त्रिषु लोकेषु मन्त्रिणाम्।
अनेन मन्त्रराजेन नासाध्यं विद्यते क्वचित् ॥११५॥

अधिक कहने की कोई आवश्यकता नहीं। इतना ही कहना पर्याप्त है कि, मन्त्रविदों में उत्तम लोगों के लिये इससे बढ़कर कोई मन्त्र नहीं। यह मन्त्रों का राजा है। इस मन्त्रराज से विश्व में कोई भी कार्य असाध्य नहीं रह जाता ॥११५॥

ऊर्ध्वाम्नायैकनिष्णातः पराप्रासादमन्त्रवित्।
कुलार्णवार्थतत्त्वज्ञो जीवन्मुक्तः कुलेश्वरि ॥११६॥

ऊर्ध्वाम्नाय में एकमात्र निष्णात वही मन्त्रवेत्ता होता है, जो श्रीपराप्रासाद मन्त्र के महत्त्व का ज्ञाता प्राज्ञ पुरुष है। वही कुलार्णवार्थ का विज्ञानवेत्ता और हे कुलेश्वरि ! वही जीवन्मुक्त पुरुष होता है ॥११६॥

सुतीर्थे वाप्यतीर्थे वा जलमध्येऽपि वा वसन्।
पराप्रासादमन्त्रज्ञो मुक्त एव न संशयः ॥११७॥

भले ही वह स्थान सुप्रसिद्ध तीर्थस्थान हो या तीर्थ न होकर सामान्य स्थान हो, भले ही जल के मध्य में किसी टापू का ही रहने वाला हो, वहाँ रहता हुआ भी श्री-पराप्रासाद मन्त्रविद् मुक्त ही माना जाता है। इसमें संशय की कोई बात नहीं ॥११७॥

दिक्पीठक्षेत्रमुद्रादिवृक्षवल्लीमठादिकाः ।
पूरभैरवदेव्यश्च ऊर्ध्वाम्नायस्य पार्वति ॥११८॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! श्रीपराप्रासाद मन्त्रवेत्ता की किस दिशा में कौन पीठ है ? कुलाचार के क्षेत्र कौन हैं ? मुद्रायें, कुलवृक्ष, वल्ली, मठ, पुर, भैरवदेव और ऊर्ध्वाम्नाय में मान्य कितनी देवियाँ हैं, यह सब भी जानना चाहिये ॥११८॥

निम्बकारस्करोन्मत्तकण्टकीविप्रदन्तिभिः ।
अस्थिकण्टकवृक्षाद्यैर्द्रव्यैरशुभसाधनैः ॥११९॥

नीम, कारस्कर (विषबीज), उन्मत्त (जहरीला पौधा), कण्टकी, विप्र और हाथियों से प्राप्त हड्डी, कण्टकवृक्ष आदि अशुभ साधन में प्रयोग किये जाने वाले अन्य साधन ॥११९॥

वटुकैः कृष्णवर्णैश्च समित्पत्रफलान्तरैः ।
गृहधूमचिताङ्गारत्रिकट्वम्लचिताञ्जनैः ॥१२०॥

काले रंग के बटुक पौधे, समिधाओं के विविध प्रकार के पत्र और फल, गृह-धूम, चिता का अंगार, त्रिकटु, अम्ल पदार्थों से पारा हुआ अंजन ॥१२०॥

उन्मत्तरससंसिक्तैः पिष्ट्वा सम्यक् प्रसेचितैः।
साध्यपादरजोभिश्च चिताभस्मसमन्वितैः ॥१२१॥

उन्मत्त के रस से उक्त को भिगोकर आटे की लुगदी की तरह पीस ले। पुनः उन्मत्त के रस से उसे और भी सिंचित कर जिस पर कोई पुरश्चरण करना हो, उसके पैर की धूलि और चिता का भस्म उसमें मिला दे ॥१२१॥

साध्यप्रतिकृतिं कुर्यादेकनक्षत्रवृक्षजाम्।
सम्यक्प्रतिष्ठितप्राणां कुण्डस्योपरि लम्बयेत् ॥१२२॥

इस तरह जो द्रव्य तैयार हो उससे प्रयोज्य पुरुष का पुतला बना ले। एक नक्षत्र अश्विनी या चित्रा में लगाये गये किसी वृक्ष के नीचे निर्मित उस पुतले में उस साध्य की प्राणप्रतिष्ठा करे। जलती आग वाले कुण्ड के ऊपर उसे लटका दे ॥१२२॥

खनेत्तत्प्रतिमां मन्त्री कुण्डस्याधो यथाविधि।
मलीमसेन मनसा चोग्रदृष्टिरमर्षणः ॥१२३॥
चितानले विषतरुसप्तकाष्ठसमेधिते।
तद्द्रव्यैर्जुहुयाद्देवि विधिवन्मन्त्रवित्तमः ॥१२४॥
कुर्याद्विद्वेषणोच्चाटमारणानि न संशयः।

उस लटकती प्रतिमा के नीचे कुण्ड में गहराई तक खोदे। उस समय मन्त्री की दृष्टि उग्र और क्रोधपूर्ण होनी चाहिये। कुण्ड पूरी तरह तैयार होने पर उस चिता की आग से भरे हुए कुण्ड में विषवृक्ष और सात काष्ठों की लकड़ियाँ डालकर उसे प्रज्वलित कर दे और पूर्व द्रव्यों का ही हवन करना शुरू कर दे। यह प्रयोग उस पुतले के पूरी तरह जलकर राख होने तक करता रहे। इससे संकल्प के अनुसार विद्वेषण, उच्चाटन और मारण कार्य सफलतापूर्वक सिद्ध होते हैं। इसमें संशय नहीं करना चाहिये ॥१२३-१२४॥

शान्तिके सात्त्विकं देवि श्वेतवर्णं विचिन्तयेत् ॥१२५॥
वश्ये तु राजसं देवि रक्तवर्णं विचिन्तयेत्।
तामसं क्रूरकार्येषु कृष्णवर्णं विचिन्तयेत् ॥१२६॥

शान्ति के कार्य में सात्त्विक चिन्तन और श्वेतवर्ण का चिन्तन और प्रयोग होना चाहिये। वश्यकर्म में तथा राजस प्रयोग में रक्तवर्ण का प्रयोग करना चाहिये। क्रूरकर्म में तामस कृष्णवर्ण का चिन्तन करना चाहिये ॥१२५-१२६॥

आत्मरक्षां पुरा कृत्वा पश्चात् कर्माणि साधयेत्।
योऽन्यथा कुरुते मोहात् स भवेद्देवतापशुः ॥१२७॥

ऐसे प्रयोगों में पहले आत्मरक्षा का पूरा प्रबन्ध कर लेना चाहिये। इसके बाद ही इन कार्यों में प्रवृत्त होना चाहिये। इसके विपरीत व्यवहार करने वाला देवता का बलि पशु बन जाता है ॥१२७॥

तस्माद्देवि महाषोढान्यासं पूजां बलिं सुधीः ।
कृत्वा कर्माणि कुर्वीत नान्यथा वीरवन्दिते ॥१२८॥

इसलिये भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, वीरों द्वारा वन्दनीय देवि ! सर्वप्रथम महाषोढान्यास, पूजा और देवबलि आदि काम करने के उपरान्त ही ऐसे काम में लगे, अन्यथा नहीं लगना चाहिये ॥१२८॥

मूलाधारसरोजान्तर्वह्निमध्यगतं प्रिये ।
पराप्रासादबीजं तत् कल्पान्ताग्निसमप्रभम् ॥१२९॥

मूलाधार चक्रपद्म में वह्नि की माण्डलिकता में श्रीपराप्रासाद बीजमन्त्र का कल्पान्त अनल के समान प्रज्वलित ध्यान करे, उस भावना से भावित हो जाय ॥१२९॥

प्रतिलोमसु संवीतं दशभिर्व्यापकाक्षरैः ।
स्वयं कालानलसमः सर्वभूतभयङ्करः ॥१३०॥

उस आग की आग्नेयी ऊर्जा से अपने रोम-रोम में अग्नि का जलता उजास कर ले और दश व्यापक अक्षरों से अपने को कवचित कर ले। इस तरह स्वयं को कालानल के समान सभी प्राणियों में भयंकर बना ले ॥१३०॥

दक्षिणाशामुखो भूत्वात्युग्रदृष्टिमलीमसः ।
यौवनोल्लाससहितः पराप्रासादसंज्ञकम् ॥१३१॥
मन्त्रं मण्डलकं जप्यादष्टोत्तरसहस्रकम् ।

दक्षिण दिशा की ओर मुँह कर, अत्यन्त मलीमस और कलुषित क्रोध से काली दृष्टि से भरकर खूब पिये। मद से उन्मत्त तरुण उल्लास में उन्मत्त श्रीपराप्रासाद बीज को अपने चतुर्दिक् मण्डल बनाते हुए एक हजार आठ बार जप कर ले ॥१३१॥

अनिष्टकारिणः सत्त्वान् कलहायासकारिणः ॥१३२॥
वृथा द्वेषकरान् क्रूरान् सपर्याविघ्नकारिणः ।
भूतोपग्रहवेतालान् पिशाचान् यक्षराक्षसान् ॥१३३॥

इस तरह पूरी तरह तैयार होकर जितने अनिष्ट करने वाले जीव हैं, कलह का आयास करने वाले प्राणी हैं, झूठमूठ का द्वेष करने वाले शत्रु हैं, क्रूर लोग हैं, पूजा में विघ्न डालकर खुश होने वाले दम्भी हैं, भूत, उपग्रह, वेताल, पिशाच, यक्ष और राक्षस हैं ॥१३२-१३३॥

इत्यादिदुष्टजन्तूंश्च सदा क्लेशकरान् परान् ।
तद्वह्निमध्यपतितान्निर्दग्धांश्च विचिन्तयेत् ॥
क्षणेन नाशमायान्ति शलभा इव पावके ॥१३४॥

तथा इसी प्रकार की दुष्टता पर उतारू रहने वाले अपने-परायें कहलाने वालों में छिपे दुष्ट हैं और दूसरों को दुःख पहुँचाना ही जिन्होंने अपना पेशा बना लिया है, ऐसे छिपे रुस्तम हैं, इन सबको उसी बढ़ी प्रज्वलित मन्त्रों वाली आग से झुलसी हुई अवस्था में उन्हें जलता चिन्तन करे। इस प्रकार ये सभी उसी तरह नष्ट हो जाते हैं, जैसे जलती लौ वाले दीपक के पास आकर पतंग समुदाय जलकर राख हो जाते हैं ॥१३४॥

यस्य मूर्ध्नि स्मरेद्बीजं स मृत्युमधिगच्छति ।
ध्यानेनानेन देवेशि कालादीनपि नाशयेत् ॥१३५॥

इस अवस्था में कालानल ज्वाल से प्रज्वलित तेजःपुंज अवस्था से भावित होकर जिस किसी शत्रु के मूर्धा भाग में इस श्रीपराप्रासाद बीज का स्मरण साधक करता है, वह व्यक्ति बच नहीं सकता। मस्तिष्क ज्वर से मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। भगवान् कहते हैं कि देवेश्वरि! इस प्रकार के ध्यान से काल को भी कीलित किया जा सकता है ॥१३५॥

इति ते कथितः किञ्चित् काम्यकर्मविधिः प्रिये ।
समासेन कुलेशानि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥१३६॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि प्रिये पार्वति! इस तरह कुछ काम्य-कर्मों की विधि-सहित चर्चा मैंने तुमसे की। यह सब संक्षेप से ही मैंने बताया। अब तुम्हें आगे और भी कुछ जानना हो तो मुझे बताओ। मैं उसे सुनाने और बताने को तैयार हूँ ॥१३६॥

सर्वागमोत्तमोत्तम महारहस्यमय ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकुलार्णवतन्त्रान्तर्गत डॉ. परमहंस-
मिश्रविरचित नीर-क्षीर-विवेक-भाषाभाष्यसंवलित 'काम्यकर्मविधान-
कथन' नामक षोडश उल्लास परिपूर्ण ॥१६॥

॥ शुभं भूयात् ॥

सप्तदश उल्लासः

श्रीदेव्युवाच

कुलेश श्रोतुमिच्छामि गुरुनामादिवासनाम् ।
तत्त्वं कुलपदार्थानां वद मे परमेश्वर ॥१॥

श्रीदेवी पार्वती ने भगवान् शंकर के उन कृपापूर्ण वचनों को सुनकर निम्नलिखित निवेदन किया—कुलेश्वर ! परम ऐश्वर्यसम्पन्न परमेश्वर ! मेरी यही इच्छा है कि, मैं आपके मुखारविन्द से गुरु के नाम और गुरु के प्रति श्रद्धालुओं के हृदय में जो वासनात्मक प्रवृत्ति के भाव होते हैं, उनका तत्त्व अर्थात् निहितार्थ और कुलाचारसमर्थित पदार्थों के तत्त्व को सुनूँ। भगवन् ! आप इसे सुनाने की ही कृपा करें ॥१॥

ईश्वर उवाच

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
तस्य श्रवणमात्रेण कुलज्ञानं प्रकाशते ॥२॥

देवी के इस निवेदन को सुनकर कुलेश्वर शिव ने कहना आरम्भ किया—देवि ! सुनो। तुम जो कुछ मुझसे पूछ रही हो, उसे अवश्य सुनाऊँगा। इस तत्त्व के श्रवण मात्र से कुलदर्शन के मर्म का प्रकाशन स्वाभाविक रूप से होने लगता है ॥२॥

नमस्ते नाथ भगवन् शिवाय गुरुरूपिणे ।
विद्यावतारसंसिद्ध्यै स्वीकृतानेकविग्रह ॥३॥

सर्वप्रथम कुलेश्वर के मुख से गुरुदेव का स्तोत्र सुनाई पड़ा। वह इस प्रकार है—संसार में अनेक शरीरों को स्वयं स्वीकृत कर धारण करने वाले भगवन् सद्गुरुदेव रूप में व्यक्त शिवरूप विद्या (शुद्ध विद्या) के अवतरण और संसिद्धि के लिये आपको शतशः नमस्कार ! ॥३॥

नारायणस्वरूपाय परमात्मस्वरूपिणे ।
सर्वाज्ञानतमोभेदभानवे चिद्घनाय च ॥४॥

आप नारायण रूप हैं। आप स्वयं परमात्मास्वरूप हैं। विश्व के समस्त ज्ञान-विज्ञान के चतुर्दिक् अज्ञान का आवरण पड़ा हुआ है। यह आवरण एक प्रकार का अन्धकार ही है। भगवन् आप इस अन्धकार का विध्वंस करने वाले शिव हैं। आप स्वयं सिद्धनाथ हैं। आपको विनम्र नमन ॥४॥

सर्वज्ञाय दयाक्लृप्तविग्रहाय शिवात्मने ।
परत्रेह च भक्तानां भव्यानां भावदायिने ॥५॥

आप सर्वज्ञ हैं। आपके लिये विनम्र नमस्कार ! आप दया के अमृत से सम्पृक्त शरीर साक्षात् शिव हैं। इस लोक और परलोक में भक्तों के जीवन को भव्यता के भावों से भरने वाले भूत-भावन भैरवदेव हैं। आपको सविनय प्रणाम ॥५॥

पुरस्तात् पार्श्वयोः पृष्ठे नमः कुर्यामुपर्यधः।
सदा सच्चित्तरूपेण विधेहि तव दासताम् ॥६॥

आगे की व्याप्ति, दोनों पार्श्वभाग की विद्यमानता, पृष्ठभाग में, ऊर्ध्व और अधोभाग में भी आपका साक्षात्कार कर प्रणाम कर रहा हूँ। आप शाश्वत सत्य हैं। आप ज्ञान-प्रकाश तत्त्व रूप चित् हैं। भगवन् अपनी देवदिव्य दासता देकर अनुगृहीत करें ॥६॥

गुशब्दस्त्वन्धकारः स्याद् रुशब्दस्तन्निरोधकः।
अन्धकारनिरोधत्वाद् गुरुरित्यभिधीयते ॥७॥

'गुरु' शब्द में विद्यमान 'गु' अंश का अर्थ अन्धकार होता है। इसके आगे वाला 'रु' अंश अन्धकार का निरोधक अर्थात् प्रकाशार्थक है। इसलिये अन्धकाररूप अज्ञान का ध्वंस कर ज्ञान का प्रकाश देने के कारण आपके लिये गुरु शब्द का प्रयोग सर्वथा सार्थक है ॥७॥

गकारः सिद्धिदः प्रोक्तो रेफः पापस्य दाहकः।
उकारो विष्णुरित्युक्तस्त्रितयात्मा गुरुः परः ॥८॥

'ग' अक्षर सिद्धिप्रद माना जाता है। रेफ अग्निबीज होने के कारण समस्त पापों को जला डालता है। गुरु शब्द में प्रयुक्त उकार विष्णु रूप माना जाता है। यह उन्मेष बीज है। इस दृष्टि से गुरु शब्द तीनों रूपों में महत्त्वपूर्ण शब्द है ॥८॥

गकारो ज्ञानसम्पत्ती रेफस्तत्र प्रकाशकः।
उकारः शिवतादात्म्यं गुरुरित्यभिधीयते ॥९॥

गकार ज्ञान-सम्पत्ति का प्रतीक है। रेफ इनका ज्ञापन कर उसका प्रकाशक बन जाता है। उकार शिवतादात्म्य प्रदान करने वाला तत्त्वरूप है। इन तीनों विशेषताओं से विशिष्ट गुरु शब्द है ॥९॥

गुह्यागमात्मतत्त्वान्धनद्धानां बोधनादपि।
रुद्रादिदेवरूपत्वाद् गुरुरित्यभिधीयते ॥१०॥

जितने भी गुह्य रूप तत्त्व हैं, आगमिक और आत्मतत्त्व सम्बन्धी ज्ञान हैं, इनसे जो अपरिचित हैं, वे सचमुच अज्ञान के अन्धकार के आवरण से आवृत अन्ध ही माने जा सकते हैं। वे इस अन्धता से नद्ध हैं। उन लोगों को बोध का प्रकाश प्रदान करने वाले गुरु ही होते हैं। इस प्रकार बोध का प्रकाश देने के कारण और रुद्र आदि देवरूप होने के कारण ही इन्हें 'गुरु' पदवी प्रदान कर शिष्य इनकी पूजा करते हैं ॥१०॥

स्वयमाचरते शिष्यानाचारे स्थापयत्यपि ।
आचिनोतीह शास्त्रार्थानाचार्यस्तेन कथ्यते ॥११॥

स्वयं कुलाचार का आचरण करते हैं। शिष्यों को कुलाचारपरम्परा में स्थापित करते हैं। इसके अतिरिक्त वह शास्त्रों के निहितार्थ का सम्यक् रूप से चयन कर शिष्यों को उसका विज्ञ बना देते हैं। अतः इन्हें आचार्य कहते हैं ॥११॥

चराचरसमासन्नमध्यापयति यः स्वयम् ।
यमादियोगसिद्धत्वादाचार्य इति कथ्यते ॥१२॥

चर और अचर दृष्टि में जितने सूक्ष्म और स्थूल पदार्थ या तत्त्व समासन्न या समाहित हैं, उन सबका यह स्वयं अध्यापन करता है। यम-नियम आदि अष्टांग योग में यह स्वयं सिद्ध होता है। इस दृष्टि से ही गुरु को आचार्य भी कहते हैं ॥१२॥

आत्मभावप्रदानात्तु रागद्वेषादिवर्ज्जनात् ।
ध्यानैकनिष्ठचित्तत्वादाराध्य इति कथ्यते ॥१३॥

विश्वात्मैक्य के महाभाव से भावित गुरु शिष्य को आत्मभाव प्रदान करता है। राग और द्वेष आदि का वर्जन यह स्वयं करता है। इसका चित्त सदैव ध्यानैकनिष्ठ रहता है। इसी दृष्टि से इसे आराध्य कहते हैं ॥१३॥

देवतारूपधारित्वाच्छिष्यानुग्रहकारणात् ।
करुणामयमूर्त्तित्वाद्देशिकः कथितः प्रिये ॥१४॥

देवतामय दिव्यरूप धारण करने के कारण, शिष्यों के ऊपर अपार अनुग्रह करने की शक्ति से सम्पन्न होने के कारण और करुणाविग्रह अर्थात् दयामय स्वभाव के कारण ये देशिकशिरोमणि कहे जाते हैं ॥१४॥

स्वान्तःशान्तिसमुन्मीलत्परतत्त्वार्थचिन्तनात् ।
मिथ्याज्ञानविहीनत्वात् स्वामीति कथितः प्रिये ॥१५॥

स्वान्त में (अन्तःकरण में) इनकी अपार शान्ति का महासागर लहराता है। स्वयं शान्त और विश्व को शान्ति का सन्देश देने के प्रतीक हैं। सर्वदा परतत्त्वार्थ चिन्तन करते रहने के कारण तथा मिथ्या-ज्ञान से विहीन होने के कारण गुरुदेव को स्वामी भी कहते हैं ॥१५॥

मनोदोषादिदूरत्वाद्धेतुवादादिवर्ज्जनात् ।
श्वादिप्राणिषु सादृश्याद् रम्यत्वाच्च महेश्वरः ॥१६॥

मन के समस्त मानसिक दूषित संवेगों को दूर करने के कारण, हेतुवाद आदि वितण्डाओं से दूर रहने के कारण तथा श्वा युवा मघवा के प्रति सादृश्य व्यवहार के कारण और रम्य होने के कारण इन्हें महेश्वर भी कहते हैं ॥१६॥

श्रीमोक्षज्ञानदातृत्वान्नादब्रह्मात्मबोधनात् ।
स्थगिताज्ञानचिह्नत्वात् श्रीनाथः कथितः प्रिये ॥१७॥

श्री, मोक्ष और ज्ञान के प्रदाता होने के कारण, नाद ब्रह्म के माध्यम से आत्मबोधरूप ज्ञान का प्रकाश प्रदान करने के कारण और अज्ञान को स्थगित कर ज्ञान की ऊर्जा की दीप्ति के चिह्न धारण करने के कारण इन्हें श्रीनाथ कहते हैं। इस तरह श्रीनाथ शब्द में श्री से लक्ष्मी आदि, 'ना' से नाद ब्रह्म तथा 'थ' से अज्ञान स्थगन के अर्थ लिये गये हैं। यह भगवान् द्वारा प्रिय पार्वती को सम्बोधित कर दिये गये अक्षरार्थ हैं ॥१७॥

देशकालाविरोधेन वर्त्तमानात् कुलागमे ।
वशीकृतजगज्जीवाद्देव इत्यभिधीयते ॥१८॥

देश और काल में सर्वदा अविरोध के कारण और वर्त्तमान में जागतिक जीववर्ग को अपने व्यवहार से वशीभूत करने के कारण इन्हें 'देव' संज्ञा से विभूषित करते हैं ॥१८॥

भवपाशप्रशमनात् टङ्कारेन्दुकशेखरात् ।
रक्षणात् कमनीयत्वाद् भट्टारक इतीरितः ॥१९॥

संसार के बन्धन में बाँधने वाले सूत्र 'पाश' कहलाते हैं। इनके द्वारा उनका प्रशमन हो जाता है। यह ध्यान देने की बात है कि, बन्धनरूप वज्रग्रन्थि को तोड़ने के लिये 'ट' रूप टंकार (छेनी पर घन की ध्वनि की तरह) चन्द्रशेखर के माध्यम से भक्तों की रक्षा करते हैं। इस तरह 'भ' अक्षर से भक्त और भव तथा 'ट' अक्षर से टंकार का अर्थ लेकर इन्हें 'भट्टारक' की संज्ञा से विभूषित करते हैं ॥१९॥

प्रगुप्तागमवेदान्तरहस्यार्थविभावनात् ।
भुक्तिमुक्तिप्रदानाच्च प्रभुरित्यभिधीयते ॥२०॥

प्रगुप्त आगमिक रहस्य और वेदान्त के रहस्यार्थ का विभावन करने के कारण तथा भुक्ति-मुक्ति को यौगपद्यपूर्वक प्रदान करने की क्षमता के कारण गुरुदेव को 'प्रभु' के विशेषण से उनकी विशिष्टता का बोध करते हैं ॥२०॥

योनिमुद्रानुसन्धानात् प्रस्फुरन्मन्त्रवैभवात् ।
गीर्वाणगणपूज्यत्वाद्योगीति कथितः प्रिये ॥२१॥

गुरुदेव कुछ विषयों के विशेष अनुसन्धान के लिये शिष्य को प्रेरित करते हैं और स्वयं भी अनुसन्धानरत रहते हैं। इसमें मुख्य विषय है—योनि-मुद्रा। यह सर्वोत्कृष्ट मुद्रा मानी जाती है। इस मुद्रा का निरन्तर अनुसन्धान योगी करते हैं। इसी तरह नित्य प्रस्फुरित होने वाले मन्त्रों के वैभव का विस्तार योगी का महत्त्व है। गीर्वाणगण अर्थात् देवसमुदाय द्वारा भी पूज्य होने के कारण योगी का अत्यन्त महत्त्व है। इसीलिये गुरु को भी लोग योगी कहने लग जाते हैं। यह बात भगवान् शंकर ने प्रिय पार्वती को सम्बोधित करते हुए कही ॥२१॥

सङ्गदुःखपरित्यागाद् यत्र कुत्राश्रमाश्रयात् ।
मिथ आत्मनिबन्धत्वात् संयमीत्यभिधीयते ॥२२॥

संग दुःख के परित्याग करने के कारण, जहाँ कहीं भी आश्रमरूप आश्रय ग्रहण करने के कारण तथा परस्पर आत्मनिबन्धन के कारण गुरुदेव को संयमी के विशेषण से विभूषित करते हैं ॥२२॥

तत्त्वस्वरूपमननात् परिवादादिवर्जितात् ।
स्वीकारात् शुभकार्याणां तपस्वीत्यभिधीयते ॥२३॥

तत्त्वस्वरूप का मनन करने के कारण किसी भी प्रकार के परिवाद के परिवर्जन के कारण गुरु तपस्वी रूप से भी अभिनन्दित होता है ॥२३॥

अक्षरत्वाद्वरेण्यत्वाद्धूतसंसारबन्धनात् ।
तत्त्वमस्यर्थसिद्धत्वाद् अवधूतोऽभिधीयते ॥२४॥

स्वयं अक्षर होने के कारण, अत्यन्त वरेण्य और श्रेष्ठ होने के कारण, संसार के बन्धनों को ध्वंस करने के कारण, 'तत्त्वम् असि' इस श्रुतिवाक्य के निहितार्थ में समाहित होने के कारण, गुरुदेव अवधूत संज्ञा से भी विभूषित किये जाते हैं ॥२४॥

वीतरागमदक्लेशकोपमात्सर्यमोहतः ।
रजस्तमोविदूरत्वाद्वीर इत्यभिधीयते ॥२५॥

गुरुदेव वीतराग, वीतमद, वीतक्लेश, वीतकोप, वीतमात्सर्य, वीतमोह और रजोरूप तमस् को भी अर्थात् अज्ञानान्धकार को ध्वंस कर प्रकाशमान होने के कारण 'वीर' संज्ञा से भी विभूषित हैं और वीर कहलाते हैं ॥२५॥

कुलं गोत्रं समाख्यातं तच्च शक्तिशिवोद्भवम् ।
येन मोक्ष इति ज्ञानं कौलिकः सोऽभिधीयते ॥२६॥

कुल ही गोत्र माना जाता है। ऐसा यह कुल शिव और शक्ति से समुद्भूत होता है। इस कुल के आचार से ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है और ज्ञान ही मोक्ष का एकमात्र कारण है। ऐसा 'जीवन्मुक्त' ज्ञानवान् ही सच्चे अर्थों में कौलिक है। उसे ही कौलिक कहते हैं ॥२६॥

अकुलं शिव इत्युक्तं कुलं शक्तिः प्रकीर्त्तिता ।
कुलाकुलानुसन्धानान्निपुणाः कौलिकाः प्रिये ॥२७॥

अकुल साक्षात् परमेश्वर शिव हैं। कुल शिव की शक्ति का उल्लास है। कुल और अकुल के सन्धान में निपुणता के साथ संलग्न साधक ही कौलिक होता है। पार्वती को सम्बोधित करते हुए शिव ने यह कहा है ॥२७॥

सारसंग्रहणाच्चैव धर्ममार्गप्रवर्त्तनात् ।
करणग्राममनियमात् साधकः सोऽभिधीयते ॥२८॥

सार तत्त्व का संग्रहण करने के कारण, धर्ममार्ग के प्रवर्त्तन करने के कारण और करणग्राम अर्थात् इन्द्रिय समुदाय के नियमन में सिद्ध होने के कारण गुरुस्तरीय लोग साधक कहलाते हैं ॥२८॥

भजनात् परया भक्त्या मनोवाक्कायकर्मभिः ।
तरत्यखिलदुःखानि तस्माद्भक्त इतीरितः ॥२९॥

पराभक्ति के द्वारा भगवान् का भजन करने के कारण, इस भगवद्भजन में मन, वाणी और शरीर से समाहित रहने के कारण साधक सम्पूर्ण दु:खों को अतिक्रान्त कर जाता है। इसीलिये ऐसे लोग भक्त कहलाते हैं ॥२९॥

शरीरमर्थं प्राणांश्च सद्गुरुभ्यो निवेद्य यः ।
गुरुभ्यः शिक्षते योगं शिष्य इत्यभिधीयते ॥३०॥

शरीर, धन और अपने प्राणों को भी गुरुदेव के लिये जो अर्पित कर देता है। तदनन्तर गुरुदेव से योग की शिक्षा प्राप्त करता है, वही शिष्य कहलाता है ॥३०॥

योनिमुद्रानुसन्धानाद् गिरिजापादसेवनात् ।
निर्लीनोपाधिविभवाद् योगिनीत्यभिधीयते ॥३१॥

योनिमुद्रा के अनुसन्धान में रत रहने के कारण और गिरिजारूप शक्ति की आराधना में तल्लीन रहने के कारण, उपाधि और विभव आदि से उन्मुक्त रहने के कारण कोई देवी योगिनी कहलाती है ॥३१॥

शतकोटिमहादिव्ययोगिनीप्रीतिकारणात् ।
तीव्रमुक्तिप्रदानाच्च शक्तिरित्यभिधीयते ॥३२॥

शतकोटि दिव्य महायोगिनियों की प्रीति की आधारभूत और तत्क्षण तीव्र भाव से मुक्ति प्रदान करने के कारण इसे शक्ति कहते हैं ॥३२॥

पालनाद्दुरितच्छेदात् कामितार्थस्य वर्द्धनात् ।
पादुकेति समाख्याता मम तत्त्वं तव प्रिये ॥३३॥

पालन करने के कारण, दुरित रूप पापों का क्षय करने के कारण, चाहे हुए कामित अर्थ के संवर्धन के कारण, पा, दु और का अक्षरों के आधार पर गुरुदेव के पास रहने वाली चरणाधार काष्ठिका पादुका कहलाती है। भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! दक्ष पादुका मेरे तत्त्व और वाम पादुका तुम्हारे तत्त्व को ख्यापित करती है, अर्थात् हमारे और तुम्हारे तत्त्ववाद की प्रतीक है ॥३३॥

जन्मान्तरसहस्रेषु कृतपापप्रणाशनात् ।
परदेवप्रकाशाच्च जप इत्यभिधीयते ॥३४॥

जन्म-जन्मान्तरों की हजार-हजार वर्षों की अवधि में सतत रूप से किये हुए पापों

के प्रणाश के कारण और परात्पर देव की प्राप्ति का साधन होने के कारण मन्त्रों की बार-बार क्रमिक रूप से पुनरुक्ति को जप कहते हैं ॥३४॥

स्तोकस्तोकेन मनसः परमप्रीतिकारणात् ।
स्तोतृसन्तारणाद्देवि स्तोत्रमित्यभिधीयते ॥३५॥

आद्यक्षर योग से स्तोत्र शब्दार्थ का आविष्कार करते हुए भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, स्तोक स्तोक कर थोड़े-थोड़े जप से मन में परम प्रीति उत्पन्न करने में सक्षम और स्तोतृवर्ग को असार संसार सागर में संतरण कराने की शक्ति रखने के कारण प्रार्थना-श्लोक को स्तोत्र कहते हैं ॥३५॥

यावदिन्द्रियसन्तापं मनसा सन्नियम्य च ।
स्वान्तेनाभीष्टदेवस्य चिन्तनं ध्यानमुच्यते ॥३६॥

इन्द्रियों के संताप के जितने कारण हो सकते हैं, मन के द्वारा ही उनका नियन्त्रण होता है। इस तरह सब पर नियन्त्रण कर स्वान्त अर्थात् हृदय में इष्टदेव का नित्य चिन्तन ध्यान कहलाता है ॥३६॥

चरितार्थविकाशाच्च रक्षणादपि पार्वति ।
नरनारीस्वरूपाच्च चरणं कथितं प्रिये ॥३७॥

चरित अर्थात् आचरण के माध्यम से पूरे किये गये अर्थ अर्थात् उद्देश्य के विकास के कारण और उसके रक्षण में समर्थ होने के कारण देवि ! पार्वति ! नर और नारी शक्ति से समन्वित गुरु के पदारविन्दों को 'चरण' कहते हैं ॥३७॥

वेदिताऽखिलशास्त्रार्थसद्धर्मार्थनिरूपणात् ।
दर्शनानां प्रमाणत्वाद्वेद इत्यभिधीयते ॥३८॥

अखिल शास्त्रार्थों के वेदिता, सारे सद्धर्मों के अर्थों के निरूपक और दर्शनों के प्रमाण होने के कारण वेदिता के आद्यक्षर 'वे' और दर्शन के आद्यक्षर 'द' के योग से 'वेद' शब्द की निष्पत्ति सम्भव है। इसीलिये श्रुतियों को वेद संज्ञा से विभूषित करते हैं ॥३८॥

पुण्यपापादिकथनाद्राक्षसादिनिवारणात् ।
नवभक्त्यादिजननात् पुराण इति कथ्यते ॥३९॥

पुराण शब्द की निरुक्ति प्रदर्शित करते हुए कह रहे हैं कि, पुण्य शब्द का 'पु', राक्षस शब्द का आद्यक्षर 'रा' और नवभक्ति शब्द का 'न', इन तीनों के योग से 'पुराण' शब्द निष्पन्न है। इसकी तीन विशेषतायें हैं—१. पुण्य और पाप दोनों को पुराण ही परिभाषित करते हैं। २. राक्षसों के राक्षस भाव का निवारण करते हैं और ३. नवधा भक्ति के जनक हैं। यही पुराण शब्द की सार्थकता है ॥३९॥

शासनादनिशं देवि वर्णाश्रमनिवासिनाम् ।
तारणात् सर्वपापेभ्यः शास्त्रमित्यभिधीयते ॥४०॥

इसी तरह शास्त्र शब्द की अर्थवत्ता के आधार को आविष्कृत करते हुए भगवान् कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! वर्णाश्रम व्यवस्था में जीवन-यापन करने वाले समाज पर इनका निरन्तर शासन काम करता है। इसी तरह समस्त पापों से त्राण करने में ये समर्थ हैं। इसलिये शासन के आद्यक्षर 'शास्' और तृ धातु के 'त्र' के योग से निष्पन्न इन अर्थों को सद्गर्भ में रक्षित करने वाले ग्रन्थ ही 'शास्त्र' कहलाते हैं ॥४०॥

स्मरणोत्सुकनिष्ठानां धर्माधर्मनिरूपणात् ।
तिमिरोत्पाटनाद्देवि स्मृतिरित्यभिधीयते ॥४१॥

स्मृति शब्द में भी ऐसे अनूठे अर्थ भरे हुए हैं। जैसे धर्म और अधर्म की परिभाषा का निरूपण कैसे होता है ? इन बातों की स्मृति में तन्मयतापूर्वक निष्ठा रखने वाले लोगों के तिमिर अर्थात् अज्ञानान्धकार को नष्ट करने वाली 'स्मृ' धातु का आद्यक्षर 'स्मृ' और तिमिर का आद्यक्षर 'ति' के योग से 'स्मृति' होती है और कहलाती है ॥४१॥

इष्टधर्मादिकथनात्तिमिराज्ञानभञ्जनात् ।
हरणात् सर्वदुःखानामितिहास इति स्मृतः ॥४२॥

इष्ट का 'इ'कार, तिमिर का 'ति', हारक का 'हा' और सर्वदुःख का 'स' इन चार अक्षरों के योग से 'इतिहास' शब्द निर्मित होता है। इसमें चार अर्थ इस प्रकार हैं—

१. 'इ'—इष्टधर्म का कथन करता है घटनाओं के माध्यम से।
२. 'ति'—तिमिर रूप अज्ञान का नाश करता है।
३. 'हा'—यह हारक है अर्थात् हरण करता है और
४. 'स'—सर्वदुःखों से भरे पुराने सन्दर्भों से जागरूक करता है।

इसीलिये इन समस्त अर्थों का प्रतिपादन करने के कारण इसे इतिहास कहते हैं ॥४२॥

आचारकथनाद्दिव्यगतिप्राप्तिनिदानतः ।
महात्मतत्त्वकथनादागमः कथितः प्रिये ॥४३॥

(१) आचार का कथन करता है। (२) गति की दिव्यता को उजागर कर उसकी प्राप्ति का निदान बतलाता है। (३) महत् आत्मतत्त्व का प्रचार-प्रसार करता है। अतः आचार के 'आ', गति के 'ग' और महदात्म के 'म' अक्षरों के निहितार्थ के कारण इसे 'आगम' कहते हैं ॥४३॥

शाकिनीगणपूज्यत्वात्तारणाद्भववारिधेः ।
परादिशक्तिसान्निध्याच्छाक्त इत्यभिधीयते ॥४४॥

शाकिनियों की पूज्यता का प्रस्थापन कर भवसागर से तरण करने का उपाय अपनाता है। इसका परिणाम यह होता है कि, ऐसा व्यक्ति परा-अपरा-परापरा भावों का जानकार हो जाता है। ऐसे लोग 'शाक्त' कहलाते हैं ॥४४॥

कौमारादिनिरोधत्वात् लयजन्मादिभञ्जनात् ।
अशेषकुलसम्बन्धात् कौल इत्यभिधीयते ॥४५॥

कौल शब्द को परिभाषित करते हुए कह रहे हैं कि, जो 'कौमार' का निरोध कर सृष्टि, स्थिति और संहार का उपसंहार कर देता है। लय और जन्म आदि का भञ्जन करता है तथा कुल-अकुल के सम्बन्धों का तत्त्वार्थ जानता है, उसे कौमार के 'कौ' और लय के 'ल' अक्षरों के योग से कौल कहते हैं ॥४५॥

पाशच्छेदकराद्देवि रञ्जनात् परतेजसः ।
यतिभिश्चिन्त्यमानत्वात् पारम्पर्यमितीरितम् ॥४६॥

पाशों को खण्डित कर देने, परम तेज से स्वात्म का रंजन करने और यतियों द्वारा चिन्त्यमान होने के कारण 'पाश' के 'पा', रंजन के 'रम्', पर के 'पर' और यति के 'य' इन चार अक्षरों के योग से पारम्पर्य शब्द निष्पन्न होता है ॥४६॥

संसारसारभूतत्वात् प्रकाशानन्ददानतः ।
यशःसौभाग्यकरणात् सम्प्रदाय इतीरितः ॥४७॥

संसार का साररूप होने के कारण, प्रकाश और आनन्दप्रद होने के कारण तथा यश एवं सौभाग्य का वर्द्धन करने के कारण, 'सम्प्रदाय' शब्द महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसमें संसार से 'सं', प्रकाश से 'प्र', दाम से 'दा' और यशःसौभाग्य से 'य' शब्द मिलकर 'सम्प्रदाय' बनते हैं ॥४७॥

आदित्वात् सर्वमार्गाणां मनोल्लासप्रवर्द्धनात् ।
यज्ञादिधर्महेतुत्वादाम्नाय इति कीर्त्तितः ॥४८॥

सभी धर्ममार्गों का जो आदि है, मनोल्लास का जो प्रवर्द्धक है और यज्ञादि धर्म का जो हेतु है, इन अर्थों से समन्वित आम्नाय शब्द आदि के 'आ', मनोल्लास के 'म्ना' और यज्ञ के 'य' इन तीन अक्षरों के योग से बनता है ॥४८॥

श्रुतानेकमहामन्त्रयन्त्रतन्त्रादिदैवतात् ।
श्रुतौ यदनवच्छिन्नाच्छ्रौत इत्यभिधीयते ॥४९॥

श्रौत शब्द को परिभाषित करते हुए कह रहे हैं कि, अनेक महामन्त्रों, यन्त्रों, तन्त्रशास्त्रीय रहस्यों के स्वरूप और विभिन्न देवताओं के रहस्य श्रुत कर अर्थात् श्रुति द्वारा श्रवण करके स्मृति के माध्यम से अनवच्छिन्न रूप से आज भी वर्त्तमान रहने के कारण श्रौत शब्द भी बड़ा महत्त्वपूर्ण माना जाता है ॥४९॥

आम्नायतत्त्वरूपत्वाच्चातुर्यार्थनिरूपणात् ।
रागद्वेषादिशमनादाचार इति कीर्त्यते ॥५०॥

आचार कहने का कारण यह है कि, यह आम्नाय के तत्त्व का व्यावहारिक स्वरूप है। दूसरी बात यह है कि, इससे अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष तत्त्वों का भी

व्यावहारिक निरूपण होता है। इसमें चातुर्य का प्रयोग है। इसलिये इसे 'आचार' कहते हैं ॥५०॥

दिव्यभावप्रदानाच्च क्षालनात् कल्मषस्य च।
दीक्षेति कथिता सद्भिर्भवबन्धविमोचनात् ॥५१॥

दीक्षा के विषय में स्पष्टीकरण आवश्यक मानकर उसे भी परिभाषित कर रहे हैं। १. दिव्यता प्रदान करती है। २. जन्म-जन्मान्तर के कल्मषों का क्षालन करती है। इसी हेतु सत्य तत्त्व के वेत्ताओं द्वारा यह दीक्षा कहलाती है। इससे भव के बन्धन का विमोचन होता है। इसलिये दीक्षा जीवन में एक आवश्यक कर्त्तव्य मानी जाती है ॥५१॥

अहम्भावहराद्भीतिमथनात् सेचनादपि।
कम्पानन्दादिजननादभिषेक इति स्मृतः ॥५२॥

अभिषेक के 'अ' का अर्थ है अहंभाव का हरण, 'भि' का अर्थ है भीति का निराकरण, 'षे' का अर्थ सेचन और 'क' का अर्थ है कम्प तथा आनन्द वृत्तियों द्वारा सुख पहुँचाना। इन चार अर्थों से सम्पन्न ये क्रियायें अभिषेक के रहस्यगर्भ में अनुस्यूत हैं ॥५२॥

उल्वणत्वात् परत्वाच्च देवताप्रीतिदानतः।
शक्तिपातनिमित्तादप्युपदेश इति स्मृतः ॥५३॥

उपदेश शब्द के 'उ'कार का अर्थ उल्वण अर्थात् किसी रहस्य का विशुद्ध रूप से प्रव्यक्तीकरण माना जाता है। 'प' का अर्थ परभाव में प्रवेश कराना है। 'दे' का अर्थ देवता की प्रीति प्रदान करने वाला होता है। 'श' का अर्थ शक्तिपात का यह निमित्त है। इन चार अर्थों से भरा हुआ उपदेश शब्द भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है ॥५३॥

मननात्तत्त्वरूपस्य देवस्यामिततेजसः।
त्रायते सर्वभयतस्तस्मान्मन्त्र इतीरितः ॥५४॥

दीप्तिमन्त देव तत्त्व के रूप में मनन करने की प्रेरणा देने वाला और समस्त सांसारिक भयों से त्राण करने वाला तत्त्व ही 'मन्त्र' संज्ञा से विभूषित किया जाता है ॥५४॥

देहमास्थाय भक्तानां वरदानाच्च पार्वति।
तापत्रयादिशमनाद्देवता परिकीर्त्तिता ॥५५॥

भगवान् शंकर कहते हैं कि, भगवति पार्वति ! भक्तों के 'दे'ह भाव में स्थित रहकर 'व'र प्रदान करने तथा 'ता'पत्रय आदि दुःखों के शामक होने के कारण परमात्मा के इस अंश को देवता कहते हैं ॥५५॥

न्यायोपार्जितवित्तानामङ्गेषु विनिवेशनात्।
सर्वरक्षाकराद्देवि न्यास इत्यभिधीयते ॥५६॥

'न्या'य से उपार्जित वित्त का अंगों में विनिवेश करने तथा 'स'र्व प्रकार से रक्षा करने के कारण इसे 'न्यास' कहते हैं। देवि ! यह शब्द साधना और व्यवहार दोनों अर्थों में और पक्षों में महत्त्वपूर्ण माना जाता है ॥५६॥

मुदं कुर्वन्ति देवानां मनांसि द्रावयन्ति च।
तस्मान्मुद्रा इति ख्याता दर्शितव्याः कुलेश्वरि ॥५७॥

मुद्रा के रहस्यगर्भ अर्थ में देवताओं का मुद अर्थात् आनन्द और देवताओं के मन को द्रावित करने की उभयविध सामर्थ्य का उल्लास निहित है। भगवान् कहते हैं कि, देवि पार्वति ! देवताओं को प्रसन्न करने के लिये इनका प्रदर्शन आवश्यक है ॥५७॥

अनन्तफलदानाच्च क्षपिताशेषकल्मषात्।
मातृकात्मतया लाभकरणादक्षमालिका ॥५८॥

अनन्त फल प्रदान करने के कारण और अशेष कल्मषों को क्षपित करने के कारण तथा मातृकावत् लाभ प्रदान करने के कारण इसे 'अक्षमालिका' कहते हैं ॥५८॥

मङ्गलत्वाच्च डाकिन्या योगिनीगणसंश्रयात्।
ललितत्वाच्च देवेशि मण्डलं परिकीर्त्तितम् ॥५९॥

डाकिनी शक्ति के मंगलरूप, अन्य योगिनी शक्तियों के आश्रय स्थान होने के कारण तथा ललित होने के कारण मण्डल शब्द भी महत्त्वपूर्ण शब्द के रूप में विख्यात है ॥५९॥

कमलासनरूपत्वाल्लघुतत्त्वादिनाशनात् ।
शमितापारपापाच्च कलशः परिकीर्त्तितः ॥६०॥

कमलासन रूप होने के कारण, लघु तत्त्वों का नाशक होने के कारण और अनन्त पापों को शमित करने के कारण अतः कमलासन के 'क', लघु के 'ल' और शमित के 'श' के योग से इन्हीं अर्थों में 'कलश' शब्द का प्रयोग होता है ॥६०॥

यमभूतादिसर्वेभ्यो भयेभ्योऽपि कुलेश्वरि।
त्रायते सततञ्चैव तस्माद् यन्त्रमितीरितम् ॥६१॥

'य'म और भूतादि के भयों से हे कुलेश्वरि ! यह सब को मुक्त करता है। साथ ही सबका त्राण करने में भी यह समर्थ है। इसलिये इसे यम् + त्र = यन्त्र संज्ञा से विभूषित करते हैं। इसकी यह विशेषता है कि, यह केवल धारण करने के समय ही नहीं अपितु सतत रूप से अनवरत रक्षा करता है ॥६१॥

आत्मसिद्धिप्रदानाच्च सर्वरोगनिवारणात्।
नवसिद्धिप्रदानाच्च आसनं कथितं प्रिये ॥६२॥

आत्मसिद्धिप्रदाता होने के कारण, समस्त रोगों के निवारण में निमित्त होने के कारण और नवनिधियों तथा नयी-नयी सिद्धियों के साधन होने के आधार पर आत्म, सर्व और नव शब्दों के आद्यक्षरों को लेकर 'आसन' शब्द निष्पन्न होता है। उक्त तीनों अर्थ इस 'आसन' शब्द में निहित हैं ॥६२॥

मायाजालादिशमनान्मोक्षमार्गनिरूपणात् ।
अष्टदुःखादिविरहान्मद्यमित्यभिधीयते ॥६३॥

माया इत्यादि के समस्त जाल आदि का शमन करने, मोक्षमार्ग का निरूपण करने और आठ प्रकार के दुःख आदि को दूर करने के कारण इस द्रव्य को मद्य कहते हैं ॥६३॥

महादानार्थरूपत्वाद् यागभूम्येककारणात् ।
मद्भावजननाद्देवि मद्यमित्यभिधीयते ॥६४॥

महादान आदि अर्थगर्भित, यागभूमि के निर्माण के कारण और देवि पार्वति ! पीने के ऊपर मेरे तादात्म्य भाव को उत्पन्न करने के कारण इसे मद्य कहते हैं ॥६४॥

सुमनसः सेवितत्वाद् राज्यदत्वात् सदा प्रिये ।
सुराकारप्रदानत्वात् सुरेति परिकीर्त्तिता ॥६५॥

सुमनस् (सज्जन और देववर्ग) व्यक्तियों द्वारा सेवन योग्य, प्रिये पार्वति ! इसके द्वारा आनन्द साम्राज्य प्रदान करने के कारण तथा पीने वालों को देवता की आकृति प्रदान करने के कारण इसे 'सुरा' कहते हैं ॥६५॥

अमृतांशुस्वरूपत्वान्मृत्युभीतिनिवारणात् ।
तत्त्वप्रकाशहेतुत्वादमृतं कथितं प्रिये ॥६६॥

अमृतत्व की रश्मियों का यह उत्स है। मृत्यु के भय को यह सदा निवारित करता है और प्रिये पार्वति ! तुम्हारे शाक्त प्रकाश का यह प्रदाता है। इसीलिये इसे अमृत कहते हैं ॥६६॥

पानाङ्गविश्वरूपत्वात्त्रिचतुष्ककलाश्रयात् ।
पतितत्राणनाद्देवि पात्रमित्यभिधीयते ॥६७॥

पात्र शब्द की निष्पत्ति का स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, पान प्रक्रिया का प्रमुख अंग पात्र ही होता है। तीन या चार कलाओं से यह समन्वित होता है। पतित होने से यह बचाने वाला है। इसलिये देवि ! पान और त्राण के दोनों आद्यक्षर से निष्पन्न आवर्त्तित वस्तु को पात्र कहते हैं ॥६७॥

आशुशुक्षणिरूपत्वाद्धातृदेवप्रियादपि ।
रक्षणादपि चाधेयस्याधारं तु विदुर्बुधाः ॥६८॥

आशुशुक्षणि (अग्नि) रूप होने के कारण, धातृदेव (ब्रह्मा) का प्रिय होने के कारण और आधेय की रक्षा के आश्रय को आधार कहते हैं ॥६८॥

माङ्गल्यजननाद्देवि संविदानन्ददानतः ।
सर्वदेवप्रियत्वाच्च मांस इत्यभिधीयते ॥६९॥

मांगल्य को उत्पन्न करने वाला यह संविद् के आनन्द को उपलब्ध करता है । सभी देवताओं को यह अत्यन्त प्रिय है । इसे 'मांस' कहते हैं ॥६९॥

पूर्वजन्मानुशमनाज्जन्ममृत्युनिवारणात् ।
सम्पूर्णफलदानाच्च पूजेति कथिता प्रिये ॥७०॥

पूर्वजन्म का अनुशमन करती है । जन्म-मृत्यु का निवारण करती है । सम्पूर्ण फल प्रदान करने वाली है । भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! इसीलिये इसे पूजा कहते हैं ॥७०॥

अभीष्टफलदानाच्च चतुर्वर्गफलाश्रयात् ।
नन्दनात् सर्वदेवानामर्चनं समुदाहृतम् ॥७१॥

अभीष्ट फल-प्रदान, चतुर्वर्ग रूप धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष के फल-प्रदान और समस्त देववर्ग को नन्दित करने वाला यह कर्म अर्चन कहलाता है ॥७१॥

तत्त्वात्मकस्य देवस्य परिवारवृतस्य च ।
नवानन्दप्रजननात्तर्पणं समुदाहृतम् ॥७२॥

तत्त्वात्मक देव और समस्त परिवार से आवृत महादेव के अभिनव आनन्द को उत्पन्न करने वाली प्रक्रिया को 'तर्पण' संज्ञा से विभूषित किया जाता है ॥७२॥

गम्भीरापारदौर्भाग्यक्लेशनाशनकारणात् ।
धर्मज्ञानप्रदानाच्च गन्ध इत्यभिधीयते ॥७३॥

गम्भीर और अपार दौर्भाग्य से उत्पन्न क्लेशों का विनाश करने के कारण तथा धर्म और ज्ञान को प्रदान करने के कारण इसे 'गन्ध' कहते हैं ॥७३॥

आघ्राणनप्रजननान्मोक्षमार्गप्रदर्शनात् ।
दग्धदुःखादिदमनादामोद इति कथ्यते ॥७४॥

आघ्राणन अर्थात् सूँघने की प्रक्रिया को प्रवर्त्तित करने वाले, मोक्ष मार्ग के प्रदर्शक तथा दग्ध दुःख का दमन करने वाले को आमोद कहते हैं ॥७४॥

अन्नदानात् कुलेशानि क्षपिताशेषकल्मषात् ।
तादात्म्यकरणाद्देवि अक्षताः परिकीर्त्तिताः ॥७५॥

'अक्षत' शब्द की निष्पत्ति के मूल में तीन शब्दों की मुख्य भूमिका है । अन्नदान से 'अ', क्षपित का 'क्ष' और तादात्म्य का 'त' मिलकर 'अक्षत' शब्द निष्पन्न है । 'अ' का अर्थ अन्नदान, 'क्ष' का अर्थ समस्त कल्मषों को क्षपित करना और 'त' का अर्थ तादात्म्य स्थापित करने में यह सहायक होता है ॥७५॥

पुण्यसंवर्द्धनाच्चापि पापौघपरिहारतः ।
पुष्कलार्थप्रदानाच्च पुष्पमित्यभिधीयते ॥७६॥

पुष्प में 'पु' का अर्थ पुण्य का संवर्धन, पाप के समूह का विनाश तथा पुष्कल धन प्रदान और 'प' का अर्थ पापनिराकरण ही है। पुष्कल का 'पुष्' और पाप का 'प' मिलकर पुष्प शब्द बनता है ॥७६॥

धूताशेषमहादोषपूतिगन्धप्रभावतः ।
परमानन्दजननाद् धूप इत्यभिधीयते ॥७७॥

दुर्गन्ध से उत्पन्न महादोषों को धूत अर्थात् कम्पित व ध्वंस करता है। साथ ही साथ परमानन्द का जनक है। अतः धूत का 'धू' और परमानन्द का 'प' मिलकर धूप होता है ॥७७॥

दीर्घाज्ञानमहाध्वान्ताहङ्कारपरिवर्जनात् ।
परतत्त्वप्रकाशाच्च दीप इत्यभिधीयते ॥७८॥

दीर्घ अज्ञान से उत्पन्न घने अन्धकार और झूठे अहंकार को नष्ट करने के कारण तथा परतत्त्व के प्रकाश का हेतु होने के कारण इसे दीप कहते हैं। दीर्घ का 'दी' और परतत्त्व का 'प' इसमें अपना अर्थ व्यक्त करते हैं ॥७८॥

मोहध्वान्तप्रशमनात् क्षयार्त्तिविनिवारणात् ।
दिव्यरूपप्रदानाच्च परतत्त्वप्रकाशनात् ॥
ख्यातो मोक्षो दीप इति मोक्षमार्गैकसाधनः ॥७९॥

मोहान्धकार का प्रशमन, क्षयपूर्ण आर्त्ति (पीड़ा) का विनाश करने के कारण मोक्ष शब्द का बड़ा महत्त्व है। मोहान्धकार-प्रशमन शब्द का 'मो' और क्षयार्त्तिनिवारण का आद्यक्षर 'क्ष' मिलकर मोक्ष शब्द निष्पन्न होता है। इसी तरह दिव्य रूप प्रदान से 'दी' तथा परतत्त्व का 'प' लेकर दीप बनता है। दोनों शब्दों को मिलाकर 'मोक्षदीप' शब्द बन जाता है। मोक्षदीप मोक्षमार्ग का एकमात्र साधन माना जाता है ॥७९॥

चतुर्विधं कुलेशानि द्रव्यञ्च षड्रसान्वितम् ।
निवेदनाद्भवेत्तृप्तिर्नैवेद्यं समुदाहृतम् ॥८०॥

नैवेद्य का अर्थ ही होता है निवेदन के योग्य। अपने इष्ट को जो भोजन निवेदित करते हैं, उसमें चतुरंग भोजन होता है। इसमें जल, अग्नि, दूध और घृतपक्व पदार्थ होते हैं। इसी तरह कट्वम्ल-लवण-तिक्त-कषाय-मधुर रूप षड्रसयुक्त पदार्थ होते हैं। यह सब नैवेद्य कहलाता है ॥८०॥

बहुप्रकारं विचरद्भूतौघप्रीतिकारणात् ।
लिप्तपापप्रशमनाद् बलिरित्यभिधीयते ॥८१॥

बहु प्रकार से विचरण करने वाले भूतसमूह की प्रीति को उत्पन्न करने के कारण शरीर में लिप्त पापों का प्रशमन होता है। यहाँ बहु शब्द का आद्यक्षर 'ब' और लिप्त का आद्यक्षर 'लि' मिलकर बलि शब्द को निष्पन्न कर रहे हैं ॥८१॥

तत्त्वत्रयविशुद्धिः स्यात्त्वत्सेवामात्रतः प्रिये।
तत्त्वप्रकाशहेतुत्वात्तत्त्वत्रयमितीरितम् ॥८२॥

तीन तत्त्व नर, शक्ति और शिव की विशुद्धि का एकमात्र आधार क्या है ? इसका उत्तर भगवान् शंकर देते हुए कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! मात्र तुम्हारी सेवा से ही यह हो जाती है। तीनों तत्त्वों के प्रकाश के हेतु होने के कारण वे तत्त्वत्रय कहलाते हैं ॥८२॥

चतुर्वर्गफलावापात् लुण्ठिताज्ञानबन्धनात्।
कल्याणधर्ममूलत्वाच्चलुकं कथितं प्रिये ॥८३॥

'चलुक' के च से चतुर्वर्ग की फलावाप्ति का अर्थ निकलता है। 'लु' से अज्ञान-बन्धन के लुण्ठन का अर्थ लिया जाता है। इसी तरह 'क' कल्याण धर्म की मूलकता का ख्यापन है। इन्हीं अर्थों में प्रिये पार्वति ! यह 'चलुक' शब्द प्रचलित है ॥८३॥

प्रकाशानन्दजननात् सामरस्यप्रदानतः।
दर्शनात् परतत्त्वस्य प्रसाद इति कथ्यते ॥८४॥

'प्रसाद' शब्द भी ऐसे ही है। 'प्र' से प्रकाश और आनन्द की विशेषता का बोध होता है। 'सा' से सामरस्यप्रदान अर्थ और 'द' से परतत्त्व का दर्शन अर्थ लिया जाता है। 'प्रसाद' शब्द में ये तीनों अर्थ निहित हैं ॥८४॥

पाशसंछेदनाद्देवि नरकस्य निवारणात्।
पावनात् परमेशानि पानमित्यभिधीयते ॥८५॥

देवि परमेश्वरि ! पाश को संच्छिन्न करने के कारण और नरक से निवारण के कारण तथा परम पावन होने के कारण 'पान' शब्द का महत्त्व माना जाता है ॥८५॥

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।
समीपसेवा विधिवद् उपास्तिरिति कथ्यते ॥८६॥

कर्म से, मन और वाणी से सभी अवस्थाओं में सर्वदा समीप रहकर की जाने वाली सेवा 'उपास्ति' कहलाती है ॥८६॥

पञ्चाङ्गोपासनेनेष्टदेवता-प्रीतिदानतः।
पुरश्चरति भक्तस्य तत् पुरश्चरणं प्रिये ॥८७॥

पंचांगों द्वारा उपासना को पंचांगोपासना कहते हैं। इससे इष्टदेवता का प्रसाद प्राप्त होता है। इन सब कार्यों में पुरः अर्थात् अग्रणी होकर भक्त के समक्ष यह व्यक्त होता है। यही पुरश्चरण है। इसी आधार पर साधनात्मक जप आदि में पुरश्चरण का विधान स्वीकार्य है ॥८७॥

आवाहनादिकर्माणि षोडश द्वादशावधि ।
विधिनाचरणं प्रोक्तमुपहारमिति स्मृतम् ॥८८॥

आवाहन आदि सोलह उपचारों या बारह उपचारों से विधिपूर्वक आचरण को, जो कुछ कहा गया है, उसे केवल उपहार ही कहा जा सकता है ॥८८॥

सम्पूज्य सावृतिं देवं षोडशैरुपचारकैः ।
स्वस्थानप्रेषणं प्रोक्तं मुद्रासनमिति प्रिये ॥८९॥

आवरण के साथ देवाधिदेव की सोलहों उपचारों से पूजा के उपरान्त उसे उसके स्वकीय स्वरूप और उसके स्थान की ओर सम्प्रेषण को 'मुद्रासन' कहते हैं। यह पार्वती को सम्बोधित कर भगवान् ने कहा है ॥८९॥

देवपूजार्थमाह्वानमावाहनमिति स्मृतम् ।
आसने सन्निवेशः स्यात् स्थापनं कुलनायिके ॥९०॥

आराध्य की आराधना के लिये उसको अपने पास बुलाना आवश्यक होता है। इस बुलाहट को 'आवाहन' कहते हैं। आराध्य को आसन पर आसीन करने के उद्देश्य से आसन पर उनका जो सन्निवेश होता है, उसे 'स्थापन' कहते हैं। कुलेश्वरी पार्वती को सम्बोधित करते हुए यह परिभाषा की गयी है ॥९०॥

अन्योन्यसम्मुखाकारः सन्निधापनमीरितम् ।
यत्र कुत्राप्यचलनं सन्निरोधनमीरितम् ॥९१॥

साधक और आराध्य का परस्पर सम्मुखीकार 'सन्निधापन' कहलाता है। इसी तरह जहाँ कहीं भी 'अचलन' अर्थात् अगतिपूर्ण स्थिति, जिसमें ठहराव का प्राधान्य हो, उसे 'सन्निरोधन' कहते हैं ॥९१॥

देवताङ्गे षडङ्गानां न्यासः स्यात् सकलीकृतिः ।
आच्छादनं समुद्दिष्टमवगुण्ठनमीरितम् ॥९२॥

देवता के अंगों में छः आंगिक न्यास को 'सकलीकृति' कहते हैं। आराध्य के आच्छादन को ही 'अवगुण्ठन' कहते हैं ॥९२॥

दर्शनं धेनुमुद्राया अमृतीकरणं प्रिये ।
क्षमस्वेत्यञ्जलिर्देवि परमीकरणं प्रिये ॥
स्वागतं कुशलप्रश्नं निगदेद्देवताग्रतः ॥९३॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति ! धेनु-मुद्रा का प्रदर्शन ही अमृतीकरण कहलाता है। क्षमा के उद्देश्य से अंजलि बाँधकर आराध्य के समक्ष भक्ति प्रदर्शन 'परमीकरण' कहलाता है। देवता के समक्ष यह भाव अवश्य व्यक्त करना चाहिये कि, भगवन् ! आप यहाँ पधारे, यह हमारा सौभाग्य है। इसे 'स्वागत' कहते हैं ॥९३॥

पाद्यं श्यामाकदूर्वाब्जविष्णुकान्ताभिरुच्यते ।
जातीलवङ्गकक्कोलैरुक्तमाचमनीयकम् ॥९४॥

पाद्य में साँवाँ, दूब, कमलपत्र और विष्णुकान्ता नामक औषधि का प्रयोग करते हैं। जाती (चमेली), लवंग, कक्कोल इन द्रव्यों से भगवान् को आचमन कराना चाहिये ॥९४॥

अखिलाघप्रशमनाद्धनपुत्रविवर्द्धनात् ।
अनर्घफलदानाच्च अर्घ्यमित्यभिधीयते ॥९५॥

अखिल अघों अर्थात् पापों के प्रशमन और धन-पुत्रादि के संवर्धन के हेतु तथा अनर्थ अर्थात् अमूल्य फल प्रदान करने के कारणरूप भक्त भगवान् को जो वस्तु अर्पित करता है, उसे अर्घ्य कहते हैं ॥९५॥

सिद्धार्थमक्षतञ्चैव कुशाग्रं तिलमेव च।
यवं गन्धः फलं पुष्पमष्टाङ्गार्घ्यं प्रकीर्त्तितम् ॥९६॥

अष्टांग अर्घ्य के सम्बन्ध में भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, अर्घ्य के आठ अंग होते हैं। वे इस क्रम से जानने योग्य हैं—१. सिद्धार्थ (सफेद सरसो का चूर्ण), २. अक्षत (तुषरहित धान्य) इसे चावल कहते हैं। टूटे हुए चावल अक्षत नहीं माने जाते, ३. कुश का अग्रभाग, ४. तिल, ५. यव, ६. गन्ध, ७. फल और ८. फूल। इन आठ वस्तुओं को मिलाकर अर्घ्य का निर्माण होता है। इसे देवपूजा के पहले ही अर्पित करते हैं ॥९६॥

मध्वाज्यदधिभिः प्रोक्तो मधुपर्कः कुलेश्वरि ।
देहप्रक्षालनं स्नानं सुगन्धिसलिलैः सह ॥९७॥

मधुपर्क के विषय में कुलेश्वरी देवी पार्वती को सम्बोधित करते हुए भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, मधु, दही और आज्य घृत इन तीनों पदार्थों के मिश्रण से यह तैयार किया जाता है। देवपूजा में इसका प्रयोग भी करते हैं ॥९७॥

चन्द्रचन्दनकस्तूरीकालागुरुभिरुच्यते ।
अष्टाङ्गप्रणिपातन्तु कथितं वन्दनं प्रिये ॥९८॥

इसी क्रम में 'स्नान' के सम्बन्ध में उनका कहना है कि वस्तुतः देह के प्रक्षालन को ही स्नान कहते हैं। शरीर का प्रक्षालन भी मात्र जल से नहीं, अपितु सुगन्धित जल से होना चाहिये। इसमें कपूर, चन्दन, कस्तूरी और कालागुरु सदृश सुरभित पदार्थों का मिश्रण होना चाहिये। इसी तरह अष्टांग प्रणिपात भी वन्दन के रूप में पहले ही कथित है ॥९८॥

एतच्चराचरं सर्वं क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
तत् क्षेत्रं पालितं येन क्षेत्रपालः स उच्यते ॥९९॥

यह सारा चराचर जगत् ही क्षेत्र माना जाता है। यह क्षेत्ररूपी जगत् जिसके द्वारा पालित होता है, वही 'क्षेत्रपाल' संज्ञा से विभूषित किया जाता है ॥९९॥

इति ते कथिता किञ्चिद् गुरुनामादिवासना।
समासेन महेशानि यो जानाति स पूजकः ॥१००॥

भगवान् कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! यहाँ तक मैंने समास पद्धति से अर्थात् संक्षेप में ही तुमसे 'गुरु' से लेकर क्षेत्रपाल पर्यन्त नामार्थ-निरूपण करते हुए अर्थ सम्बन्धी तुम्हारी वासना अर्थात् इच्छा की पूर्त्ति की है। हे महेश्वरि ! इन बातों को जो जानता है, वही पूजक है ॥१००॥

रहस्यातिरहस्यानां रहस्योऽयं महेश्वरि।
ऊर्ध्वाम्नायः समाख्यातः समासेन न विस्तरात् ॥१०१॥

महेश्वरि ! पार्वति ! यह तन्त्र रहस्यातिरहस्यों का भी रहस्य है। इसे ही ऊर्ध्वाम्नाय कहते हैं। पहले तो यह विस्तारपूर्वक कहा गया था। यहाँ उसे संक्षेप में ही तुम्हें मैंने सुनाया है ॥१०१॥

कुलार्णवमिदं शास्त्रं योगिनीनां हृदि स्थितम्।
प्रकाशितं मया चाद्य गोपनीयं प्रयत्नतः ॥१०२॥

यह 'कुलार्णव' नामक शास्त्र योगिनी शक्तियों के हृदय-समुद्र में ही तरंगित था। आज मैंने तुम्हें इसे प्रकाशित किया है। तुम्हारा यह कर्त्तव्य है कि, इसे अत्यन्त सुगोपनीय रखो। यह श्रीकुलार्णवतन्त्र शास्त्र प्रयत्नपूर्वक गोपनीय है ॥१०२॥

पुस्तकञ्च महेशानि पशुगेहे न निक्षिपेत्।
न दद्यात् पशुहस्ते च न पठेत् पशुसन्निधौ ॥
न पठेदासवोल्लासं ग्रन्थं भूमौ न निक्षिपेत् ॥१०३॥

महामहेशानि ! श्रीकुलार्णवतन्त्र की यह पुस्तक 'पशु' परुष के घर में कभी नहीं रखनी चाहिये। अभी तक यह श्रुत, भावनामय और चिन्तामय रूप में थी। जब लेखकों द्वारा यह लेख का विषय बन जाय, पुस्तकाकार प्रकाशित हो जाय, उस समय इसका समादर आवश्यक है। 'पशु' इसके महत्त्व को न जानकर इसका अनादर कर सकते हैं। अतः उनके घर में निक्षेप ही नहीं करना चाहिये। पशु के हाथ में यह पुस्तक नहीं दी जानी चाहिये। अधिक क्या कहें, पशु के पास इसका पठन भी नहीं करना चाहिये। यह ध्यान देने की बात है कि, इसका आसवोल्लास भाग किसी के सामने न पढ़ें। आदर की दृष्टि से इसके ग्रन्थ-भाग को भूमि पर कभी भी नहीं रखना चाहिये अर्थात् इस रहस्य ग्रन्थ का पूर्ण समादर करना चाहिये ॥१०३॥

नित्यं सम्पूजयेद्भक्त्या जानीयाद् गुरुवक्त्रतः।
नापुत्राय प्रवक्तव्यं नाशिष्याय कदाचन ॥१०४॥

भक्तिपूर्वक इसका नित्य पूजन करना चाहिये। इसे गुरुमुखारविन्द से निष्यन्दित ज्ञानामृत की तरह पीना चाहिये। इसी रूप में गुरुमुख से ज्ञान होता है। जिसकी पुत्र-

पौत्रिकी परम्परा न हो, उसे नहीं देना चाहिये। इसी तरह जो शिष्य न हो, उसे कभी नहीं बताना चाहिये ॥१०४॥

स्नेहाल्लोभाद्भयादुक्त्वा सोऽचिरान्नश्यति ध्रुवम्।
देवि यद्विद्यते प्राज्ञे तत्तत् किञ्चिन्मयोदितम् ॥१०५॥

स्नेह के कारण, किसी लोभ के कारण अथवा किसी प्रकार के भय के कारण जो गुरु इसके रहस्य का प्रकाशन अनधिकारी को कर देता है, वह ध्रुव सत्य है कि, नाश को प्राप्त करता है। भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! यह रहस्य प्राज्ञ पुरुषों की प्रज्ञा में जिस प्रकार से उल्लसित है, उसे मैंने उसी-उसी रूप में तुमसे कहा है ॥१०५॥

साधकानां हितार्थाय भुक्तिमुक्तिफलैषिणाम्।
यश्चोर्ध्वाम्नायमाहात्म्यं पठेत् श्रीचक्रसन्निधौ ॥१०६॥

यह साधकों के लिये और भुक्ति-मुक्ति दोनों का एक साथ लाभ चाहने वाले, फल की आकांक्षा से साधना करने वाले लोगों के लिये भी कल्याणकारी है। यह बात साथ ही जानने की है कि, जो व्यक्ति श्रीचक्र के सान्निध्य में इस रहस्य ऊर्ध्वाम्नाय तत्त्व का प्रतिपादन करता है, सुनता है, स्वयं इसका अनुसन्धान करता है, सच्चे अर्थों में वह कौलिक है ॥१०६॥

भक्त्या परमया देवि यः शृणोति स कौलिकः।
व्रतं स्नानं तपस्तीर्थं यज्ञदेवार्चनादिषु ॥१०७॥

भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, देवि ! परम अर्थात् आत्यन्तिकी अनन्य भक्ति से जो इस रहस्य का कथन करता है, उसी तरह भक्तिपूर्वक जो इसका श्रवण करता है, वही सच्चे अर्थों में कौलिक है। व्रत, दान, स्नान, तप, तीर्थ, यज्ञ और देवार्चन के समय यह कथाव्रत अवश्य होना चाहिये ॥१०७॥

तत् फलं कोटिगुणितं लभते नात्र संशयः।
त्वत्सन्निधौ सन्निवसेन्नात्र कार्या विचारणा ॥१०८॥

ऐसे अवसरों पर इस रहस्य का सुनाना, भक्ति-श्रद्धापूर्वक इसका सुनना अत्यन्त पुण्यप्रद है। इस तरह इन पर्वों और तीर्थादि स्थानों में सुनने से इसका कोटिगुना फल होता है। इसमें संशय की कोई बात नहीं है। भक्त का यह कर्त्तव्य है कि, वह तुम्हारे सान्निध्य में सदा निवास करे। इसमें कुछ भी विचारणा करने की आवश्यकता नहीं। तुम्हारा सान्निध्य साधक को धन्य बना देता है ॥१०८॥

सर्वागमोत्तमोत्तम महारहस्यमय ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकुलार्णवतन्त्रान्तर्गत डॉ. परमहंस-
मिश्रविरचित नीर-क्षीर-विवेक-भाषाभाष्यसंवलित 'गुरुनामादिवासना'
नामक सप्तदश उल्लास परिपूर्ण ॥१७॥

॥ शुभं भूयात् ॥

गुरुस्मरणम्

'हंसः' कुलार्णवमिदं प्रथितं प्रमथ्य,
भाष्यामृतेन कलशं परिपूर्य कौलम्।
पूर्णाभिषेकविधिना जगतीमिदानीम्,
सुस्नापयत्ययमहो कृपया गुरूणाम्॥
काश्मीरिकः प्रथितलक्ष्मणनामधेयः
शश्वत्प्रभाभरितभावमयो मदीये।
अस्तित्वे गुरुः प्रमुदितः सततं विभाति
प्राप्तं क्षणान्नु यदनुग्रहतः शिवत्वम्॥

श्रीकुलार्णवतन्त्रम्
श्लोकानुक्रमणिका

अ

	उ०	श्लो०
अकिञ्चनोऽभिषिक्तश्च	१६	९०
अकुलं शिव इत्युक्तं	१७	२७
अकुलस्थामृताकारे	६	५१
अकृत्वा न्यासजालं यो	१५	४७
अक्रियैव परा पूजा	९	३८
अक्षमाला द्विधा प्रोक्ता	१५	४८
अक्षरत्वाद्वरेण्यत्वाद्	१७	२४
अक्षरात्मा खिलमन्त्राधि	४	७४
अक्षोभ्यानन्दत: पश्चा	७	२१
अक्षोल्केन्द्राणी चेशानी	४	५४
अखण्डमण्डलाकारं	६	२४
अखण्डैकरसानन्दा	६	५०
अखिलाघप्रशमना	१७	९५
अग्रत: पृष्ठत: केचित्	१	९९
अग्रगण्योऽतिगम्भीर:	१३	४३
अग्निप्रभां धूम्रवर्ण	१६	२३
अग्निसूर्येन्दुब्रह्मेन्द्र	६	३६
अग्नौ तिष्ठति विप्राणां	९	४४
अग्नीषोमौ बिन्दुनादौ	३	८९
अर्घ्यं निवेद्य तच्छेषं स्वयं	१०	६०
अङ्गुष्ठो भैरवो देवो	६	९७
अङ्गुष्ठानामिकाभ्याञ्च	६	९८
अङ्गुष्ठेन च मोक्ष:	१५	५२
अङ्गुष्ठगुल्फजंघासु	४	९२
अङ्गुलीभिश्च सर्वाभि	७	३२
अर्चितश्च प्रयत्नेन	१०	१३४
अज्ञातकौलिके प्राप्ते	११	७
अज्ञात्वा कौलिकाचार	५	९४
अज्ञानकरतालान्त	८	७२
अणिमाद्यष्टसिद्ध्यादि	१६	९४
अत एवं शिव: साक्षाद्	१३	५२
अतिदूरस्थितो वापि	९	९६
अतिह्रस्वो व्याधिहेतु	१५	५५
अतिहासकर्माणं	१३	१७
अत्यल्पं हि गुरोर्द्रव्य	१२	७३
अत्याहार: प्रलापश्च	१५	१०७
अत्र जन्मसहस्रेषु	१	१५
अत्रिनेत्र: शिव: साक्षाद्	१३	५७
अथ कार्त्तिकमासस्य	१०	७४
अथवा निष्कलं ध्यायेत्	४	११५
अथवा निष्प्रपञ्चेन	१२	२६
अथवा यौवनारूढा:	१०	३४
अथ वैशाखमासस्य	१०	५५
अदीक्षिता ये कुर्वन्ति	१४	९६
अदीक्षितैरनाचारै	८	८
अदीक्षितां स्त्रियं कुर्यात्	७	३८
अदृष्टपौरुषाणाञ्च	८	१४
अर्द्धयोजनग: शिष्य:	१२	११७
अद्वैतं भावयेन्नित्यं	१२	६३
अधिपायै पराम्बा देव्यै	४	१०७
अधिवासनपूर्वन्तु	१४	१०२
अधीरं दु:खिनं भीरु	१३	१९
अध: स्थिते गुरावूर्ध्वे	१२	१०१
अनर्घ्याणि च रत्नानि	२	१०७
अनधीतोऽप्यशास्त्रज्ञो	५	५७
अनन्तं गतभारूपं	९	७
अनन्तमव्ययं तत्त्वं	३	९३
अनन्तचन्द्रभुवन	४	४
अनन्तफलदानाच्च	१७	५८

अनभिज्ञं गुरुं प्राप्य	१३	१३१
अनभिज्ञा अभिज्ञन्ति	९	५९
अनर्हे कुलविज्ञानं	२	३६
अनर्हे मन्त्रविज्ञानं	१४	१४
अनाचारान् सदाचारान्	११	१४
अनाचार: सदाचार	९	५६
अनाघ्रेयमनालोक्य	२	१२४
अनादिघोरसंसार	८	३३
अनादृत्य गुरोर्वाक्यं	१२	९८
अनाद्यविद्योपहिता	१	९
अनायासेन संसार	२	४०
अनिखातविनिक्षिप्त	९	११७
अनिमित्तं तृणं वापि	५	४६
अनिलेन विना मेघो	३	५१
अनिवेद्य गुरोर्भुङ्क्ते	१२	११५
अनिवेद्य तु य: शक्त्यै	७	४१
अनेककोटिमन्त्राणि	१५	१९
अनुग्रहन्तु य: कुर्यात्	१०	९८
अनुगृह्णन्ति देवेशि	१०	१२३
अनुमन्ता विश्वसिता	२	१३२
अनेन बलिदानेन	७	२९
अनेन सर्वशान्तिश्च	१६	१०८
अन्तर्यागं बहिर्यागं	१३	८७
अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टि:	८	८५
अन्तस्तेजो बहिस्तेज	७	३५
अन्त: कौलो बहि:	११	८३
अन्त: शुद्धिर्बहि: शुद्धि	१४	७९
अन्त:स्थानुभवोल्लासो	५	७३
अन्नदानात् कुलेशानि	१७	७५
अन्नैश्चतुर्विधैर्देवि	१५	११
अन्यथा कौलिके	२	१२१
अन्यथा परमं तत्त्वं	१	९२
अन्यायेन तु यो दद्याद्	१४	१०
अन्योन्यसम्मुखाकार:	१७	९१
अपत्यं मे कलत्रं मे	१	४०
अपमृत्युमहारोग	१६	६०
अपूजितास्तु विघ्नन्ति	१०	१२०
अपेयमपि पेयं स्याद	९	५७
अप्रबुद्धा पशो: शक्ति:	५	१११
अबन्धबन्धनं घोरं	१	६२
अभिज्ञश्चोद्धरेन्मूर्ख	१३	१२५
अभिज्ञा एव जानन्ति	२	८२
अभिज्ञं मन्यमानैश्च	८	९
अभिमानो न कर्त्तव्यो	१२	९४
अभिषेकोऽथ विमली	१५	७२
अभीष्टफलदानाच्च	१७	७१
अभ्यङ्गस्नानशुद्धान्तां	१०	२२
अभ्यर्चयित्वा त्वां देवि	९	१०३
अभ्यर्च्य मण्डलं पश्चा	६	२६
अभ्यस्य सर्वशास्त्राणि	१	१०३
अमदक्रोधदम्भाशा	९	८५
अमावस्यादिने देवि	१०	६३
अमावस्यादिने भक्त्या	१०	८०
अमृताब्धौ मणिद्वीपे	६	१३
अमृता मानदा पूषा	६	३७
अमृतांशुस्वरूपत्वा	१७	६६
अमेध्यानि द्विजातीनां	२	१२५
अमेध्येन तु देहेन	१५	१०३
अम्बादेव्यै नमो ब्रूयादां	४	९६
अम्बादेव्यै नम: प्रोक्तो	७	७५
अयनं वत्सरयुग	४	२७
अयष्ट्वा भैरवं देव	५	९३
अयुतं नियुतं वापि	१६	१०५
अयं सिद्धाभिषेक: स्या	१४	७१
अरिसिद्ध: सुतं हन्या	१५	८४
अरूपं भावनागम्यं	३	९२
अलक्ष्यो हि यथा लोके	९	६८
अलिमांसाङ्गनासङ्गे	९	५०
अलोलुपो ह्यसङ्कल्प	१३	४९
अल्पषोढां कुलेशानि	४	१९

अवरोप्य पुनः शीता ५ १४
अविधानेन यत् पापं ५ २
अविभक्तौ यथा आवां ८ १०६
अविश्वासकरं संश १३ १०
अशास्त्रीयोपदेशश्च १४ १२
अशीतिगुडसम्मिश्रं ५ २३
अशुभानि च कर्माणि १२ ४१
अश्वमेधायुतेनापि ९ १३२
अश्रद्धधाना ये चात्र ११ ५१
अश्रुतं बुध्यते शास्त्रं १६ ६२
अष्टाष्टकार्चनं कुर्यात् १० ८२
अष्टोत्तरसहस्रन्तु १० ७९
असच्छिष्येष्वभक्तेषु १४ १७
असन्त इव भाषन्ते ९ ७०
असाध्यसाधकं १३ २८
असूयामदमात्सर्य १३ १८
असंस्कारी तु यो नौ स्यात् ५ १०५
असंस्कृता सुरा पाप ६ ३१
असंस्कृतोपदेशश्च १४ १३
असंस्कृतं पिबेद्द्रव्यं ५ ९९
अस्नात्वा वाप्यभक्त्या वा ११ १७
अस्नात्वाऽनासनस्थो ११ ९
अस्मात् प्रविततादन्धात् १४ ८४
अस्मात् परतरध्यानं १६ ६७
अस्ति देवि परब्रह्म १ ७
अस्ति चेत्त्वत्समा नारी २ १७
अहम्भावहराद्धीति १७ ५२
अहिते हितबुद्धिः स्याद १ ३४
अहो मोहस्य माहात्म्यं २ १११
अहं गुरुरहं ज्येष्ठ ११ ४२

आ

आकाशे पक्षिणां देवि ९ ६९
आकृष्टस्ताडितो वापि १४ २२
आगमोक्तेन ६ ९५
आगमोक्तेन मार्गेण १५ ४५
आगामोक्तेन विधिना ३ १०२
आगमोत्थं विवेकोत्थं १ १०९
आघ्राणनप्रजननान् १७ ७४
आचार्येण विधानेन १० १२
आचारकथनाद्दिव्य १७ ४३
आजन्ममरणान्तञ्च १ ८२
आजानुभ्यां भवेन्मग्नो २ १२८
आज्येनानामिकास्थूल १० ७६
आज्ञाभङ्गोऽर्थहरणं १२ ७५
आज्ञाभाल तलब्रह्म ४ १०६
आज्ञासिद्धमिदं कौल ११ ९७
आज्ञासिद्धिमवाप्नोति ४ १२८
आणवं कार्मणञ्चैव १३ ८३
आत्मनोऽनुग्रहार्थं वा १० १२४
आत्मभावप्रदानात्तु १७ १३
आत्मरक्षां पुरा कृत्वा १६ १२७
आत्मविच्च कनीयांसं १२ १२२
आत्मविद्याशिवसर्व १३ ७८
आत्मसिद्धिप्रदानाच्च १७ ६२
आत्मस्थानमनुद्रव्य ६ १६
आत्मार्थमानसद्रवैः १२ ६४
आत्मानं भावयेन्नित्यं १६ ५८
आत्मेच्छं पूरयेत् पात्रं ५ ३७
आत्मैकभाविनिष्ठस्य ९ २२
आत्मैव यदि नात्मान १ २२
आदिक्षान्ताक्षवर्णत्वा १५ ४९
आदित्वात् सर्वमार्गाणां १७ ४८
आदिमध्यावसानेषु १४ २७
आदिमध्यावसानेषु १ ६३
आदौ भक्तिर्भवेदेवि १४ २८
आदौ भक्तिविहीना ये १४ ३०
आद्यन्तरहितं कृत्वा १५ ५८
आधारेण विना भ्रंशो ५ ४
आधारं त्रिपदं प्राहुः ५ ५
आनन्दकम्परोमञ्च १४ २४

आनन्दश्चैव कम्पश्चे १४ ६४
आनन्दं ब्रह्मणोरूपं ५ ८०
आनन्दात्तृप्यते देवी ७ १०१
आ ब्रह्मबीजदोषाश्च १५ ६
अभिरूप्याच्च बिम्बस्य ६ ७६
आममांसं सुराकुम्भं ११ ५७
आमिषासवसौरभ्यहीनं ९ ५३
आमूलाधारमाब्रह्मरन्ध्रं ५ १०७
आमोदानाञ्च कस्तूरी ३ २५
आम्नायतत्त्वरूपत्वा १७ ५०
आम्नायमीदृसं देवि ३ ३३
आम्नाया बहवो गुप्त ३ ९
आम्नाया बहवः सन्ति ३ ८
आम्नायभेदं सङ्केतं १६ ३५
आम्नायं यो नरो देवि ३ ३१
आर्योमा चण्डिका दुर्गा ४ २८
आयुरारोग्यमैश्वर्यं ८ ३५
आयै पराम्बोदेव्यै च ४ ९४
आयुः श्रीकान्तिसौभाग्य १६ ८९
आरक्तशुक्लमिश्रा (कृष्णा) १३ ८४
आरम्भस्तरुणश्चैव ८ ४
८ ९४
आराधनासमर्थश्चे ५ ६२
आराध्य समयाचारं २ ३८
आलस्यं जृम्भणं निद्रां १५ १०६
आवयोः परमाकारं ५ ७२
आवाहनादिकर्माणि १७ ८८
आवाह्य देवतामस्मिन् १६ १०६
आवाह्य दवतामेकां ६ ९१
आवाह्य देवतां तस्यां १० ४२
आवृत्तिं गुरुपंक्तिश्च ५ ९२
आशा सूचीविनिर्भन्नं १ ४४
आशुशुक्षणिरूपत्वा १७ ६८
आश्रमाणां यथा भिक्षु ३ २४
आसिकाबन्धनं नास्ति ९ २९
आसनं भोजनं पात्र ८ १७
आसवोच्छिष्टपात्रन्तु ८ २६
आस्तिकं दानशीलञ्च १३ २७
ओं औं तलातलं देवि ४ ४९
अं अः रसातलञ्चैव ४ ४२

इ

इच्छाशक्तिः सुरामोदे ५ ४०
इतः पूर्व मया नात्तो ४ ३
इतः पर्वं मया नोक्तं ३ ४८
इति तत्त्वत्रयोल्लास ८ १११
इति ते कथिता काचिज्जीव १ १२१
इति ते कथता किञ्चिद् १७ १००
इति ते कथितं देवि ४ १३०
५ ११४ ६ २०२
इति ते कथतं किञ्चित् ७ १०४
९ १३४, १० १४४, ११ ११०
१२ १२९, १३ १३३, १४ १०८
१५ ११५
इति ते कथितः किञ्चित् १६ १३६
इति पृच्छन्ति मूर्खास्ते २ १०८
इत्यादिदुष्टजन्तूंश्च १६ १३४
इत्यादिदेवतापूजां १० १०६
इत्यादि ध्यानभेदेन १६ १००
इत्यादि पञ्चमुद्राणां ५ ११३
इत्यादिलक्षणोपेतः ६ ११
इत्यादिलक्षणं ज्ञात्वा ६ १२
इत्याद्याः कथिताः किञ्चि १६ ३९
इत्येतत् कथितं किञ्चित् २ १४२
इदमेव परा दीक्षा ३ ९९
इदमेव परो यज्ञ ३ १००
इदमेव परं ज्ञान ३ ९८
इदमेव परं ब्रह्म ३ १०१
इदं कृतमिदं कार्य १ ४१
इदं ज्ञानमिदं ज्ञेयं १ ९०
१ १०१

इदं पवित्रममृतं ७ ८४
इन्द्राग्निरुद्रग्रहदृग्वेदा १५ ७८
इन्दिरा मा रमा पद्मा ४ २४
इयं प्रोक्ता कुलेशानि १४ ५०
इह भुक्त्वाऽखिलान् भोगान् १० ७३
इहामुत्र फलं दद्याः ५ ५९
इह यत् क्रियते कर्म १ ५३
इहैव नरकव्याधे १ २४
इष्टधर्मादिकथना १७ ४२
इं ईं योगिनीप्रतिष्ठां ४ ८०

ई

ईप्सितानि च सर्वाणि १० १३०
ईशतत्पुरुषाघोर ४ १७
ईं उं ऊं आदि हंसादे ४ ६७

उ

उक्तजात्यङ्गनाभावे ७ ४६
उच्चैर्जपोऽधमः प्रोक्त १५ ५४
उच्छिष्टो न स्पृशेच्चक्रे ११ २२
उच्छिष्टं भक्षयेत् स्त्रीणां ८ २४
उड्डीयानां चतुरस्त्रं ६ २५
उत्तमा तत्त्वचिन्ता स्या ९ ३५
उत्तमा नित्यपूजा स्यात् १० ३
उत्तमा सहजावस्था ९ ३४
उत्तमांश्चाधमे कुर्या १४ २०
उत्पत्तिवासनावर्ण १६ २२
उत्पन्नसहजानन्द ९ १२९
उत्सृष्टं दुर्मुखञ्चापि १३ ५
उद्यानानि विविक्तानि १५ २३
उन्मनाः पतनोत्थाने ८ ८१
उन्मत्तरससंसिक्तै पिष्ट्वा १६ १२१
उपचारेण सन्तिष्ठेद् १२ ८९
उपदेशस्य सामर्थ्यात् १५ १३
उपमन्त्राश्च तावन्तः ३ १२
उपपातकलक्षाणि १४ ८५
उपासनाशतेनापि १४ ८८
उलूकवदना देवी १० १३९
उल्बणत्वात् परत्वाच्च १७ ५३
उष्णीषी कञ्चुकी नग्नो १५ १०८
 ११ १८

ऊ

ऊढा धृता तथा क्रीता ११ ५२
ऊदर्ध्वाम्नायस्य चैतानि ३ ४५
ऊद्र्ध्वाम्नायस्य तत्त्वं हि ३ ६
ऊर्ध्वत्वात् कुलेशानि ३ १८
ऊर्ध्वत्वात् सर्वधर्माणा ३ १७
ऊर्ध्वाम्नायप्रवेशश्च ४ १२९
ऊर्ध्वाम्नायस्य माहात्म्यं ३ ४६
 ३ ४७
 ३ ११७
ऊर्ध्वाम्नायैकनिष्णातः १६ ११६
ऊर्ध्वाम्नायं विजानति ३ ३२
ऊर्ध्वे ब्रह्माण्डतो वा दिवि ८ ४४

ऋ

ऋषिष्छन्दोदेवताङ्ग १६ १५
ऋषिरस्य परः शम्भु ४ १५
ॠं ॠं लं सुतलश्चाति ४ ३९
ॠं ॠं शान्तं तथा शान्तिं ४ ८१

ऌ

ऌं एं ऐं महातलश्च ४ ४०
ऌं एं ऐं चतुर्लक्षं ४ ६८

ए

एकग्रामस्थितः शिष्य १२ ११६
एकतः सकला धर्मा २ ११
एकदापि न सेवेत ११ ५६
एकद्वित्रिचतुः पञ्च ६ ६०
एकपात्रं न कुर्वीत ८ १५
एकपीठे पृथक्पूजां ६ ८९
एकपीठे कुलेशानि ६ ९०
एकभक्तोपवासाद्यै १ ७५
एकस्मिन्निधनं यत्र ११ ७८

किङ्करः क्षुधितः स्तब्धः	१५	६७
क्रियादीक्षाष्टधा प्रोक्ता	१४	४१
क्रियावर्णकलास्पर्श	१४	३९
क्रियायासपराः केचित्	१	७३
किं कार्यं वयमायाताः	८	६९
किं तीर्थाद्यैर्महायासैः	१२	३८
कीर्त्यमाने कुले येषां	९	८६
कुण्डी कम्बुकपालनि	५	८१
कुटुम्बचिन्तायुक्तस्य	१	६५
कुतर्का कुत्सितालापा	७	५१
कुप्यन्ति कुलयोगिन्यो	११	६५
कुमारी च व्रतस्था च	७	४५
कुर्यात् कर्कटके वापि	१०	४९
कुर्यात् पशुप्रसङ्गं वा	११	३७
कुर्यादनिन्द्यकर्माणि	९	१२४
कुर्याद्विद्वेषणोच्चाट	१६	१२५
कुर्यान्नवकुमारीणां	१०	२०
कुलज्ञा एव तुष्यन्ति	२	७९
कुलज्ञानविहीनोऽपि	२	५१
कुलज्ञानिनमालोक्य	९	९८
कुलज्ञानी वसेद् यत्र	९	९७
कुलज्ञो हि च सर्वज्ञो	२	७७
कुलदीपान् प्रदर्श्याथ	१०	५९
कुलद्रव्याणि सेवेत	५	१०१
कुलद्रव्यादिबीभत्सं	१३	२२
कुलद्रव्यैः समभ्यर्च्य	१४	६७
कुलद्रव्यं प्रवक्ष्यामि	५	११
कुलद्रव्यं मुखे पूर्वं	१४	६८
कुलधर्मकथायोगि	१३	३६
कुलधर्मप्रवहणं	२	२०
कुलधर्मप्रसङ्गञ्च	११	८०
कुलधर्ममजानन् यः	२	४७
कुलधर्ममहामार्ग	२	४१
कुलधर्ममिमं ज्ञात्वा	२	९०
कुलधर्मविहीनस्य	२	६२
कुलधर्मं समाश्रित्य	११	९१
कुलधर्मं हि मोहेन	२	१८
कुलधर्मादिकं सर्वं	११	८४
कुलधर्मेण देवत्वं	२	१००
कुलधर्मो हतो हन्ति	२	५२
कुलनिष्ठान् परित्यज्य	९	१११
कुलपूजाधिको धर्मः	१०	११४
कुलपूजाधिको यज्ञः	१०	११२
कुलपूजाधिको योगः	१०	११५
कुलपूजाधिकं दानं	१०	११३
कुलपूजासमं नास्ति	५	५६
कुलपूजां विना यस्तु	५	६०
कुलभक्तान् कुलज्ञानान्	९	८९
कुलमन्त्रमिदं देवि	४	९
कुलमार्गो महादेवि	१	१२०
कुलशाश्त्रमनादृत्य	२	४२
कुलशास्त्राणि सर्वाणि	२	१३९
कुलाकुलाख्यसहज	१६	३०
कुलाकुलाष्टकां देवि	१०	४०
कुलागमरहस्यज्ञो	६	५
कुलाचार्यगृहं गत्वा	११	१५
कुलाचार्येण तच्छक्त्या	११	१६
कुलाचारैकनिरता	१४	७४
कुलार्णवमिदं शास्त्रं	१७	१०२
कुलान्वयं समुत्सृज्य	२	४५
कुलाष्टकमिदं प्रोक्तम्	७	४३
कुलेश परमेशान	१	०३
कुलेश बटुकादीनां	७	१
कुलेश श्रोतुमिच्छामि	२	१
३ १, ४ १,	६	१
८ १, ९ १,	१०	१
११ १, १२ १,	१३	१
१४ १, १५ १,	१६	१
	१७	१
कुलेशाधारपात्राणां	५	१

कुलेशि कुलनिष्ठानां २ ७५
कुलेशि कुलशास्त्रज्ञा: ११ ८७
कुलं गोत्रं समाख्यातं १७ २६
कुर्वन्त्यनुग्रहं देवि १० १०१
कुर्वीत चाङ्गसिद्धर्थ्यं १५ १०
कृत्वाधिकमृणं ज्ञेयं १५ ९३
कृत्वा न्यासमिमं देवि ४ १२२
कृत्वा पुरोदितन्यासान् १० ५७
कृत्वा समयदीक्षाञ्च १४ १५
कृत्वैवं भुवनन्यासं ४ २२
कृपाणधारगमनात् २ १२२
कृष्णाष्टमीचतुर्दश्या १० ७
कृष्णांशुकां कृष्णवर्णा ११ ५५
केशवादि गणेशादि १० ९७
केवलं गुरुशुश्रूषा १२ ६६
कैलासशिखरासीनं १ १
कोटिकोटिमन्त्रजापात् ११ ५
कोटिकोटिमहादानात् ११ ४
कोटिकन्दर्पलावण्यं ४ १११
कोटिकन्दर्पलावण्यं ४ १११
कौमारादिनिरोधत्वात् १७ ४५
कौलज्ञाने ह्यसिद्धो यस्त ५ ९५
कौला: पशुव्रतस्थाश्चेत् ५ १००
कौलिकान् भैरवावेशान् ८ ७६
कौलिकेन्द्रे सकृद्भुक्ते ९ १२०
कौलिकेन्द्रे समायाते ९ १०१
क्वचिच्छिष्ट: क्वचिद्भ्रष्ट: ९ ७४
क्वचित् यदृच्छया प्राप्त ८ २१
कं खं सिद्धि महोच्छुष्मां ४ ८३
कं खं गं चैव षड्लक्षं ४ ६९
क्षणं ब्रह्माहमस्मीति ९ ३२
क्षीयन्ते सर्वपापानि १२ ६७
क्षीरोद्धृतं घृतं यद्व ९ १७
क्षीरवृक्षसमुद्भूतं ५ ३५
क्षीरेण सहितं तोयं ८ ९९
क्षुधितस्य यथा तृप्ति १३ १०३
क्षेत्रपालपदं पश्चात् ७ २२
क्षेत्रं वनाश्रमगुहा ४ २२

ख

खदिरश्वेतमन्दार १६ १०१
खभूमिदिग्जलगिरि १० ११८
खनेत्तत्प्रतिमां मन्त्री १६ १२३

ग

गकारो ज्ञानसम्पत्ती १७ ९
गकार: सिद्धद: प्रोक्तो १७ ८
गच्छतस्तिष्ठतो वापि २ ६३
३ ८५
गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन् जाग्रज्ज १२ ९३
गतं शूद्रस्य शूद्रत्वं १४ ९१
गन्धपुष्पाक्षताकल्प १६ ५
गन्धपुष्पाक्षताद्यैश्च १० ८७
गन्धपुष्पाक्षतै: पूज्य ८ २८
गन्धपुष्पाम्बराकल्पै १० ४१
गन्धपुष्पादिभिर्धूपै १० २३
गन्धपुष्पादिभि: सम्यग १० १२७
गम्भीरापारदौर्भाग्य १७ ७३
गवां सर्पि: शरीरस्थं ६ ७७
गवां सर्वाङ्गजं क्षीरं ६ ७५
गायकी रजकी शिल्पी ७ ४४
गिरौ सर्षपमात्रन्तु ३ ११६
गुञ्जाफलप्रमाणन्तु ५ २७
गुडमिश्रेण तक्रेण ५ ४३
गुणासहिष्णुमहित १३ १४
गुप्तप्रकटसम्भूतं ११ १०३
गुरवो बहव: सन्ति १३ १०५
गुरोरालोकमात्रेण १४ ५६
गुरौ मनुष्यबुद्धिञ्च १२ ४५
गुरौ सन्निहिते यस्तु १५ ५९
गुरोर्यस्यैव सम्पर्कात् १३ ११०

गुरोर्हितं हि कर्त्तव्यं	१२	५०
गुरोः प्रणामत्रितयं	१२	११२
गुरोः श्रीपादुकाभूषा	१२	८२
गुरोः स्थानं सम्प्रदायं	१२	७७
गुरुकारुण्ययुक्तस्तु	२	६८
गुरुकारुण्यसंलभ्य	२	११३
गुरुकार्ये स्वयं शक्तो	१२	९२
गुरुकोपाद्विनाशः स्याद्	१२	७८
गुरुजन्मदिने प्राप्ते	१०	८
गुरुणा कारयेद्देवि	१०	८३
गुरुदैवतमन्त्राणा	७	९०
गुरुदैवतसम्भक्ता	७	४८
गुरुदैवतसम्भक्तं	१३	३२
गुरुद्रव्याभिलाषी च	१२	७४
गुरुबुद्ध्या नमेत् सर्व	१२	१११
गुरुभक्त्यग्निना सम्यग्दग्ध	१२	३०
गुरुभक्त्या यथा देवि	१२	३६
गुरुभक्तिविहीनस्य	१२	२९
गुरुमित्रसुहृद्दासी	१२	८१
गुरुमूलाः क्रियाः सर्वा	१२	१४
गुरुवाक्यप्रमाणज्ञं	१३	३४
गुरुवाक्यं हतं कृत्वा	११	७३
गुरुशक्तिसुतानाञ्च	८	२२
	१४	९९
गुरुस्त्रिवारमाचारं	११	१०८
गुरूक्तानुक्त कार्येषु	१२	९०
गुरूक्तं परुषं वाक्यं	१२	५४
गुरूपदिष्टमार्गेण	१४	५९
गुरूपदेशरहिता	२	११४
गुरुं प्रकाशयेद्धीमान्	११	८८
गुरुं न मर्त्यं बुध्येत	१२	४६
गुरु नाम्ना न भवेत	११	४४
गुरुः पिता गुरुर्माता	१२	४९
गुरुः शिष्याधिकारार्थं	१४	६
गुरुः सदाशिवः साक्षात्	१३	६०
गुर्वग्निप्रेतसंस्कार	१६	३८
गुर्वग्रे न तपः कुर्या	१२	५६
गुर्वर्थं धारयेद्देहं	१२	५३
गुर्वर्थं देवतार्थं वा	११	७६
गुशब्दस्त्वन्धकारः	१७	७
गुह्यागमात्मतत्त्वान्ध	१७	१०
गुह्याद् गुह्यतरं देवि	२	९
गृहारण्यसमा लोके	१	७१
गृहे शतगुणं विद्याद्	१५	२६
गृह्ण	७	२६
गृह्णन्त्येन्योन्यपात्राणि	८	७१
गृह्णंयुग्मं रुरुपदं	७	१८
गोब्राह्मणवधं कृत्वा	१२	९९
गौडी च श्वेतबर्बुरजम्बु	५	१६
गौरीशिवौ रमाविष्णू	१०	५०
ग्रथिताङ्गुष्ठकौ कृत्वा	७	६९
ग्रथित्वा मातृकावर्णै	६	१९
ग्रहवेगादिदुष्टानां	१६	९८
घ		
घृणा शङ्का भयं लज्जा	१३	९०
च		
चक्रपवेशं प्रणति	१६	३२
चक्रमध्ये घटे भग्ने	११	२६
चक्रमध्ये शुचिधिया	११	२४
चक्रमध्ये तु मूढात्मा	८	१०३
चक्रसङ्केतकं मन्त्रं	१३	८१
चक्रेऽस्मिन् योगिनो वीरा	८	६५
चक्रे मदाकुलान् दृष्ट्वा	८	७९
चण्डाली चर्मकारी च	७	४२
चतुर्णामपि वर्णाना	५	५८
चतुरशीतिलक्षेषु	१	१४
चतुराम्नाय वेत्तारो	३	१०
चतुराम्नायविज्ञाना	३	१६
चतुरो वाप्यथैकं वा	१६	८५
चतुर्वेदी कुलाज्ञानी	२	६७

चतुर्वर्गफलावापात् १७ ८३
चतुर्विधं कुलेशानि १७ ८०
चतुर्विधशरीराणि १ १३
चतुः पीठार्चनफलं १२ ४७
चतुःशतं जपेद् यस्तु ३ १०८
चतुः षष्ट्यक्षरैः प्रोक्तः ७ १९
चन्दनागुरुकर्पूर १६ १११
चन्द्राचन्दनकस्तूरी १७ ९८
चन्द्रास्तमयपर्यन्तं १० ६९
चम्पकद्वयपालाश १६ १०९
चर्मवस्त्रशिलाकूर्म १६ ८६
चराचरसमासन्न १७ १२
चराचरसमेतानि ३ ७८
चरितार्थविकाशाच्च १७ ३७
चवर्गं खेचरीं ई लां ४ ९८
चवर्गं भूतलञ्चेति ४ ४४
चर्वणेन युतं पान ७ ९३
चिरायासाल्पफलदं २ ७६
चिरेणैकैकफलदा ३ ८६
चिरं संविदधाते तौ ८ ८२
चितानले विषतरु १६ १२४
चित्ते स्वातन्त्र्यसार ७ ८५
चित्तं तत्त्वे समाधाय १४ ५४
चिन्मयस्याप्रमेयस्य ६ ७२
चुल्लनं सिद्धिदं प्रोक्तं ७ ९१
चैतन्यरहिता मन्त्राः १५ ६१

छ

छं जं झं अष्टलक्षं ४ ७०

ज

जडानार्त्तान्मृतानापद्गतान् १ २९
जनः स्वदेहकण्डूतिं ९ २०
जना यथावमन्यन्ते ९ ७१
जनाः स्तुवन्तु निन्दन्तु २ ५७
जनाः कृत्वेह कर्माणि १ ५२
जन्म सम्पद् विपत् क्षेम १५ ८८
जन्महेतू हि पितरौ १२ ४८
जन्मान्तरसहस्रेषु या २ २८
जपध्यानादिनिरतं १३ ३७
जपध्यानं विनाऽगर्भः १५ ४०
जपात् श्रान्तः पुनर्ध्याये १५ ११४
जपयज्ञात् परो यज्ञो १५ ३
जपेत् पञ्चशतं यस्तु ३ १११
जरा च पालिनी शान्ति ६ ४२
जरादर्शितपन्थानं १ ४३
जल्पो जपफलं तन्द्रा ८ ५९
जवाबन्धूकसिन्दूर १६ ७२
जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्तिश्च १३ ७५
जाड्यं दुःखं तृणच्छेदं १५ १०३
जातसूतकमादौ स्यात्त १५ ५७
जातास्त एव जगति २ ६५
जातिभेदो न चक्रेऽस्मिन् ८ १०१
जातिमानधने गर्व १३ ३५
जाति विद्याधनाढ्यों वा १२ १०८
जानन्ति कुलमाहात्म्यं २ ७८
जानुनोर्नाभिपर्यन्तं १४ ४७
जाम्बूनदस्य कलुषं ११ १०६
जायते देवताभावो १४ ५२
जायते देवताभावः १४ ४५
जायन्ते च म्रियन्ते च ३ ६२
जिह्वा दग्धा परान्नेन १५ ७७
जिह्वोपस्थपरं देवि १३ १६
जित्वाधिव्याधिरहितः १६ ६१
जीर्णदेवालयोद्यान १५ ३०
जीवस्तृणजलौकेव १ ५०
जीवः शिवः शिवो जीवः ९ ४२
जीवेदग्निप्रविष्टो वा १२ ७९
ज्वरोन्मादिरोगेषु १६ ६३
ज्येष्ठस्य च कनिष्ठस्य ११ ६
ज्ञानतोऽज्ञानतो वापि ७ ५६

ज्ञानदा च टङ्कधरा ४ ५८
ज्ञानेन क्रियया वापि १४ ११
ज्ञानिनोऽज्ञानिनो वापि ९ १२२
ज्ञानोपदेशसामर्थ्यं १४ २६

झ

झं ञं गुह्यकशब्दान्ते ४ ८५

ट

टवर्गेण भुवो लोकं ४ ४५
टवर्ग पातालचरीं ऊं ४ ९९

ड

डाकिनी सर्पवदना १० १३८
डं चं साप्सरसं जयां ४ ८४
डं ढं किन्नरवामाञ्च ४ ८६
डं ढं णं दशलक्षञ्च ४ ७१

त

तण्डुलानां चतु:प्रस्थं ५ १२
ततश्चाप्युत्तमं जन्म १ १७
ततस्त्रि: षड् द्वादश वा १२ १०९
ततोऽर्चनादिकं सर्वं ७ ५२
ततोऽधिदेवतायै स्यात् ४ ६६
ततो नमेद् गुरुं वापि १२ ११०
तत्र यद् यत् कृतं कर्म ८ ५८
तत्र योजनसंख्योक्त १२ ११९
तत्रादौ परमेशानि ४ २१
तत्रापि कुलमार्गस्था: ११ ९४
तत: पीठं समभ्यर्च्य ६ ६९
तत: श्रीगुरुरुपाय ७ ६२
तत: सन्दर्शयेन्मुद्रा ४ ११६
तत: स्वीकृत्य च गुरु: ७ ८०
तत् कर्म यत्र बन्धाय १ ११२
तत् फलं कोटिगुणितं १७ १०८
तत्कर्मसूचकैर्वाक्यै १४ २१
तत्कुलं पावनं देवि ३ ३७
तत्त्वज्ञैरुपदिष्टा ये १३ १२३
तत्त्वत्रयश्रीचरण ९ ९०
तत्त्वत्रयविशुद्धि: १७ ८२
तत्त्वत्रयं स्यादारम्भ: ८ ५
तत्त्वन्यासक्रमेणैव १४ ५१
तत्त्वमात्मस्थमज्ञात्वा १ ९६
तत्त्वस्वरूपमननात् १७ २३
तत्त्वहीनं गुरुं लब्ध्वा १३ १०६
तत्त्वात्मकस्य देवस्य १७ ७२
तत्पत्नी चेश्वरस्तस्य ६ ६४
तत्प्रभापटलच्छाया १६ ७३
तत्समीपं ततो गत्वा ११ ४
तत्संख्यादिवसैर्मासै: १२ ११८
तत्संशयनिवृत्तिश्च ज्ञात्वा ६ ३५
तथामृतेश्वेरीत्युक्त्वा ६ ५५
तथैवासनदिग्बन्ध १६ २०
तदर्थं तर्पणं कुर्याद् ६ ८
तदन्ते कन्यकाश्चापि ७ ४०
तदभावे कुलज्ञश्च १० १५
तदारूढेषु वीरेषु ८ ५७
तद्रूपेणैकरस्यञ्च ६ ५२
तद्विधानकृतं कर्म ६ ८३
तद्गोपितं स्याद् यत्नेन १ २२
तद्व्याधिवर्द्धनापथ्यं २ १०४
तन्निष्ठस्तद्गतप्राण १५ ११३
तन्निष्ठस्य च कर्माणि ९ १२८
तन्मण्डपस्थमात्मानं ६ १५
तन्मैरेयं नरछ पीत्वा ५ ७८
तमेवान्वेषयेत्तत्र ३ ३०
तम:परिवृतं वेश्म ५ ७५
तपनी तापिनी धूम्रा ६ ३९
तपांसि तीर्थयात्राद्या १५ ४१
तरवोऽपि हि जीवन्ति २ ६१
तरुणोल्लाससहित: ७ ६६
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन १ ११७
३ ११२, ९ १२१,१० १११
१४ ८, १५ ७६, ५ ६१

तस्मात् सिद्धान्तं सम्प्राप्य १४ ४
तस्मात् सुलक्षणां शक्तिं ७ ३९
तस्मात् संस्कृत्य विधिवत् ६ ३२
तस्मादाचारवान् देवि ११ ९५
तस्मादित्यादिकं कर्म १ ८६
तस्मादुत्पाद्य तान् वर्णान् १४ ४४
तस्माद्देवि महाषोढा १६ १२८
तस्माद्देवेशि जानीहि ३ १९
तस्माद्वदामि तत्त्वन्ते १ १२०
तस्माद् यन्त्रं लिखित्वा वा ६ ८८
तस्माद् गुरुप्रसादेन ३ ४०
तस्मिन् क्रमार्चनपरै ८ १९
तस्मान्मन्त्रमिदं देवि ३ ९४
तस्य चिन्तामणि: काम ३ ७१
तस्य धर्मस्य माहात्म्यं २ २
तस्यार्पिताधिकारस्य १४ ७
तवर्गं दिक्चरीं ॠं सां ४ १००
तवर्गं स्वश्च परम ४ ४६
तामसध्यानजं देवि १६ ९९
ताम्बूलं दक्षिणां दत्त्वा १० ३२
तारत्रयमित: पूर्वं ७ ५३
तारत्रयं ततो देवी ७ ७
तारत्रयं तत: सर्व ७ १०
तारत्रयं वदेत्तारं ७ २०
तारत्रयं वदेत् पश्चाद् ७ २८
तारत्रयं वदेत् सर्व ७ १४
तारत्रयं वदेद्देहियुग्मं ७ १७
तारत्रयं समुच्चार्यं ८ २९
तालजा स्तम्भने शस्ता ५ ३३
तवत्तपो व्रतं तीर्थं १ ११६
तावदाराधयेच्छिष्य: १२ २०
तावदार्त्तिर्भयं शोको १२ १५
तावद् भ्रमन्ति संसारे १२ १६
तावत्र कौलिको देवि ११ १००
तिथिवारञ्च नक्षत्रं १६ १४
तिष्ठन्ति कुलयोगिन्य: ११ ६६
तिस्रो वा पञ्च वा सप्त १० ३८
तीक्ष्णा रौद्री भया निद्रा ६ ४३
तृणं वाप्यविधानेन २ १३६
तृणपर्णोदकाहारा: १ ८१
तृप्यन्तु मातर: सर्वा: ८ ५२
तृप्त्यर्थं पितृदेवानां ५ ८६
तृष्णालोभयुतं दीन १३ २०
तुषेण बद्धो व्रीहि: स्या ९ ४३
तूलकम्बलवस्त्राणां १५ ३३
तेभ्यो द्रोहं न कुर्वीत ८ ७८
ते धन्या: पुण्यकर्माणस्ते २ ७०
तेनाधीतं स्मृतं ज्ञातम् ११ ८
ते वन्द्यास्ते महात्मान: २ ७१
तोयफेनसमे देहे १ ३३
तोषयेद् योगिनीचक्रं १६ ६
त्यक्ताधिव्याधिचापल्य १३ ३१
त्वत्कारुण्यविहीनानां २ ९१
त्वद्भक्तपूजनाद्देवि ९ १०५
त्वमहं देवि कल्याणि २ ३२
त्वयापि गोपितव्यं हि २ ६
तं मेलयित्वा संयोज्य ५ २५
त्रिकपूजान्तु य: कुर्या १० १०४
त्रिकोणान्त:समासीनं ४ ११०
त्रिगन्धं शान्तिके प्रोक्तं १६ ४६
त्रितारमूलमन्त्रान्ते ४ ५१
४ ६४, ४ ६१, ४ ७७
४ ९५
त्रितारमूलसकल ४ ३५
त्रितारमूलं अं आं इं ४ ६५
त्रितारादिनमोऽन्तेन १० ५२
त्रिताराद्यैर्नमोऽन्तैश्च १० २८
त्रिनेत्रेति पदं पश्चा ७ ८
त्रिपञ्चसप्तनवसु १० ४६
त्रिषष्ट्यक्षरसंयुक्त १५ १७

त्रिशतं यो जपेद्देवि ३ १०६
त्रिसन्ध्यां योऽर्चयेदेवं १० ६६
त्रिंशद्भिः स्याद्धनं पुष्टिः १५ ५१

थ

थं दं चं पितृरौद्राम्बां ४ ८७

द

दक्षभागदिवामान्तं ४ ९३
दक्षमल्पाशिनं गूढ १३ २५
दक्षिणाञ्च पृथग् दद्याद्व १० १३३
दक्षिणादुत्तमं वामं २ ८
दक्षिणाशामुखो भूत्वा १६ १३१
दत्तमिष्टं हुतं तप्तं ९ १०९
दत्तात्रेयो रैवतको ६ ६६
दशेन्द्रियेषु यो ध्याये १६ ६५
दर्शनेषु च सर्वेषु २ २१
१४ १०२
दर्शनेष्वखिलेष्वेव २ ८६
दर्शनं धेनुमुद्राया १७ ९३
दशांशं जुहुयाद्देवि १६ ४
दह्यते ध्मार्यमानानां १५ ४३
दाक्षायणी हैमवती ४ २९
दारिद्र्यदुःखरोगाश्च १ ५४
दार्वश्मलौहमृद्रत्न १४ ९३
दिक्पीठक्षेत्रमुद्रादि १६ ११८
दिग्बन्धनञ्चाङ्गयुग्म ४ १४
दिवसे दिवसे सर्वे १० ११९
दिवसे न रमेन्नारीं ११ ६४
दिव्यपानरतानां वै यत् ७ १०२
दिव्यभावप्रदानाच्च १७ ५१
दिव्याम्बरस्रगालेपं ४ ११२
दिर्घत्रययुतं मूलं ४ १६
दीर्घाज्ञानमहाध्वान्ता १७ ७८
दीक्षया मोक्षदीपेन १४ ८०
दीक्षाग्निदग्धकर्मासौ १४ ९०
दीक्षा च द्विविधा प्रोक्ता १४ ७८
दीक्षापूर्वं कुलेशानि १५ १५
दीक्षापूर्वं महेशानि ३ ७७
दीक्षासमयसम्प्राप्ता १४ २९
दीक्षा ह्येताः कर्मसाम्ये १४ ८२
दीक्षितस्य न कार्यं १४ ९५
दीपदर्शनमात्रेण १३ ११६
दीपनाथमयष्ट्वा यो १५ ३१
दीपान् डमरुकाकारान् ७ ३४
दीपे सावरणां देवीं १० ७८
दुराचारपराः केचिद्वा २ ११५
दुराचारे दुरालापे ११ ७
दुर्लभं सर्वलोकेषु ९ ९१
दुर्विचारकुतर्कादि १३ १२
दुष्टवंशोद्भवं दुष्टं १३ ३
दुष्टोग्रा कर्कशा क्रूरा ७ ४९
दुःखमूलो हि संसारः १ ६०
दूतीयागन्तु यः कुर्यात् १० १०२
दृश्यन्ते षड्गुणा ह्येते १४ ६५
दृश्यं विना स्थिरा १३ ७०
दृष्टिमानसवाक्काये ७ ९७
देवतागुरुशास्त्राणां ११ ७२
देवताङ्गे षडङ्गानां न्यासः १७ ९२
देवतानां यथा विष्णु ३ २१
देवताभ्यः पितृभ्यश्च २ १४०
देवतारूपधारित्वा १७ १४
देवदानवगन्धर्व १६ ७५
देवस्य मन्त्ररूपस्य ६ ८४
देवान् पितृन् समभ्यर्च्य ५ ८५
देवान् गुरून् कुलाचार्यान् १२ ११३
देवास्तमेव शंसन्ति १४ ५
देवि तीव्रतरा चापि १४ ६०
देवि दीक्षाविहीनस्य १४ ९७
देवि निन्दाकरं हत्वा ११ ७७
देवीपूजागृहध्यानं ४ १२
देवेशि भक्तिसुलभे ६ ७०

देवं पूजार्थमाह्वान १७ ९०
देशकालाविरोधेन १७ १८
देशिकाकृतिमास्थाय १३ ६२
देशिकागमने पुण्य १० १०
देशं कालं वयो वित्तं ११ १०४
देहदण्डनमात्रेण १ ७६
देहमास्थाय भक्तानां १७ ५५
देहस्थाखिलदेवता गजमुखाः ८ ४६
देहाभिमाने गलिते ९ २३
देहेन्द्रियाणामवशः ८ ८३
देहो देवालयो देवि ९ ४१
द्वादशाधारपद्मेषु १६ ६९
द्वादशावर्त्तयन् तारं १५ ३७
द्वादशावर्त्तयन् बुद्ध्या १५ ३५
द्वादशाहेन पाकः स्यात् ५ २०
द्वारस्था मणिमण्डपस्य ८ ५४
द्विगुणं मकरन्दस्य ५ २१
द्विजो यो दीक्षितः १४ ९८
द्वितीयायां दिवर्षान्ता १० २६
द्विपात्रं वा त्रिपात्रं वा ६ २७
द्विशतं यो जपेद्देवि ३ १०३
द्वे पदे बन्धमोक्षाय १ १११
द्यूतकौतुकमल्लादि १२ ८८

ध

धनार्थं गम्यते तीर्थं १५ १०२
धनाहारार्जने युक्ता १ ७७
धनेच्छाभयलोभाद्यै १४ १८
धनैर्विक्रयिको हन्ति २ १३३
धन्यो मनुष्यलक्षेषु ३ २७
धर्मज्ञानसुपुष्पस्य १ ११८
धर्मार्थकामैः किन्तस्य १२ ३१
ध्रुवाद्याः सत्यसन्धाश्च ७ १६
धूताशेषमहादोष १७ ७७
धूम्रार्चिरुष्मा ज्वलिनी ६ ४०
धं नं पं द्वादशलक्षं ४ ७२
ध्यात्वा सावरणां सम्यक् १० ५८
ध्यात्वैव पूजयेदेता १० १३
ध्यानन्तु द्विविधं प्रोक्तं ९ ३
ध्यानभेदं प्रवक्ष्यामि १६ ५४
ध्यानमूलं गुरोर्मूर्त्तिः १२ १३
ध्यायतां क्षणमात्रं हि ९ ३१
ध्यायंस्तन्मण्डलं देवी १० ६१

न

न कदाचिन्मया प्रोक्त ३ ३
न किञ्चिच्चिन्तनादेव ९ १०
न कुर्यान्नास्तिकैर्वादं १२ ५८
न कुलादधिकं ज्ञानं ३ ११४
न चक्राङ्कं न पद्माङ्कं ८ १०८
न चापि किञ्चिज्जानाति ९ १४
न तुष्याम्यहमन्यत्र ९ १०७
नदीं वक्रामृजुं कर्त्तुं ९ ८२
न दैवं न गुरुर्नात्म ५ १०३
न निन्देन्न हसेत् क्वापि ८ ७७
नन्दन्तु नीतिनिपुणा निरवद्यनिष्ठा८ ३९
नन्दन्तु योगनिरताः कुलयोगयुक्ता८ ४०
नन्दन्तु साधककुला ह्यलमात्मनिष्ठाः ८ ४१
नन्दन्तु साधककुलाद्वयदर्शका ये ८ ३७
नन्दन्तु साधकाः सर्वे ८ ४८
नन्दन्तु सिद्धगुरवस्तदनुक्रमज्ञा ८ ३८
नन्द्यावर्त्तसिताम्भोज १६ १०२
न पद्मासनतो योगो ९ ३०
न पात्रं लंघयेद्धीमान् ११ ३५
न पादुकापरो मन्त्रो १२ १२
न पूरयेत्तु पात्राणि ६ ३०
न ब्रूयात् कुलधर्मं २ ३७
नमस्ते नाथ भगवन् १७ ३
न मे प्रियश्चतुर्वेदी १२ २७
नमोऽन्ते योजयेद्देवि ६ ६८
न योगो न तपो नार्चा १२ ४३

नरवद्दृश्यते लोके	१३	५८
नरा: किमपि जानन्ति	८	८७
नवरात्रं जपेदेको	१०	३१
नवम्यामेकवर्षादि	१०	२७
नवम्यां वार्चयेदेवं	१०	४८
न विधिर्न निषेध: स्या	९	५८
न वियोगं गुरो: कुर्यात्	१२	५७
न विशेदासने देवि	१२	१०७
न वेदाध्ययनान्मुक्ति	१	१०५
न वेदैर्नागमै: शास्त्रैर्न	३	२८
न शृणोति न चाघ्राति	९	१३
नष्टै: पर्युषितोच्छिष्टै	६	२९
न स्मरेद् यदि मूढात्मा	१०	१२२
न स्वपेत् कुलवृक्षाधो	११	६७
न हि ध्यानात् परो मन्त्रो	९	३७
नागरि निर्झराद्यम्बु	८	९८
नानाजन्मार्जितापार	३	२६
नानाविधशरीरस्था	१	४
नान्यधर्ममवेक्षन्ते	२	८०
नान्यैरुपायैर्देवेशि	३	२९
नापि लोभान्न च क्रोधान्न	२	५८
नाप्रियं नानृतं ब्रूयात्	११	६२
नाभिषेको न मन्त्रो वा	११	९८
नाममात्रेण सन्तुष्टा:	१	७४
नामाद्यक्षरमारभ्य	१५	९२
नारायणस्वरूपाय	१७	४
नारायणे महादेवे	१२	३४
नारिकेलञ्च वश्ये स्याद	५	९
नारिकेलप्रसूनं वा	५	१७
नालपेत् पात्रहस्त: सन्	११	३१
नाशयद्वितयं क्षां क्षं	७	२७
नाश्रमा: कारणं मुक्ते	१	१०६
नासवेन विना मन्त्रो न	६	३४
नास्ति गुर्वधिकं तत्त्वं	३	११३
नास्ति नास्ति पुनर्नास्ति	१०	११६
नाहं वसामि कैलासे	९	९४
निग्रहेऽनुग्रहे वापि	१२	९१
निग्रहानुग्रहो मन्त्रे	३	५५
निर्गुणा: सगुणायन्ते	९	६२
नित्यार्चनं दिने कुर्या	११	८
नित्ये नैमित्तिके काम्ये	१३	४६
नित्यं नैमित्तिकं काम्यं	१६	२६
नित्यं नैमित्तिकं द्रव्यं	११	१०२
नित्यं सम्पूजयेद्भक्त्या	१७	१०४
निद्रादिमैथुनाहारा:	१	६९
निद्रातन्द्राजडालस्य	१३	६
निद्रासक्तातिदुर्म्मेधा	७	५०
निधायोद्धृत्य किरणै:	५	२६
निन्दन्तु बान्धवा: सर्वे	२	५३
निबोधिकायामर्द्धेन्दौ	४	७६
निमील्य नयने ध्यात्वा	१४	५५
निर्मन्त्रं न पिबेन्मद्यं	७	८३
निर्मलो नित्यसन्तुष्ट:	१३	४४
निम्बकारस्करोन्मत्त	१६	११९
नियमादतिरेकेण	६	८१
निरस्तपातका यत्र	६	३
निर्विकारेण चित्तेन	१०	४५
निष्ठीवनं मलं मूत्र	११	२५
निष्पन्दकरणग्राम:	९	१२
निवसेन्नरके घोरे	२	१३१
निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च	६	४५
निवृत्तदु:खसन्तुष्टा	९	८४
निस्त्रिंशो निन्दित: क्रूर:	१५	६९
निस्पृहो नित्यसन्तुष्ट:	९	४६
नि:सङ्ग एव मोक्ष: स्याद्	१	५५
नि:सङ्गश्च विसङ्गश्च	९	४०
नि:सङ्गो निर्विकल्पश्च	१३	५०
नि:शङ्को निर्भयो वीरो	५	८२
नीचोऽपि वा सकृद्भक्त्या	१०	११०
नैकहस्तेन दातव्यं	११	३२

नैवेद्यं पुरतो न्यस्तं	९	१०४
नोदेति नास्तमभ्येति	९	६
नृसिंहार्कवराहाणां	१५	९९
न्यायोपार्जितवित्ताना	१७	५६
न्यूनातिरिक्तकर्माणि	६	८२
प		
पङ्क्त्याकारेण वा सम्यक्	८	१०५
पञ्चभूतानि तन्मात्रं	४	३१
पञ्चमुद्रासमुत्पन्न	९	४९
पञ्चशुद्ध्यासनप्राणा	१६	१९
पञ्चशुद्धिं विधायेत्थं	६	२२
पञ्चसु ब्रह्मणि तथैवाङ्ग	४	१८
पञ्चाङ्गोपासनेनेष्ट	१७	८७
पञ्चैते कार्यभूताः स्युः	१३	१२९
पठन्ति वेदशास्त्राणि	१	९४
पठित्वाभ्यर्चनापात्रं	८	५५
पतिर्भूत्वा पशुभ्यश्च	१२	१२७
पदमन्त्रकलायन्त्र	१३	७३
पदवाक्यप्रमाणज्ञाः	८	११
पदार्थैस्तोषयेत् सम्यक्	१०	१०५
पदे पदेऽश्वमेधस्य	१२	६५
पद्मस्वस्तिकवीरादि	१५	३४
पद्मादिचतुरशीति	१३	८९
पदं ताभ्यो डाकिनीभ्यः	७	११
पदं पाशं पशूनाञ्च	१३	८०
परतत्त्वस्वरूपत्वात्	४	७
परस्परजनस्पर्श	१६	५१
परस्परविरुद्धानां	१५	९६
पराप्रासादबीजन्तु	१६	७४
पराप्रासादमन्त्रज्ञै	१६	९५
पराप्रासादमन्त्रज्ञो	३	७९
पराप्रासादमन्त्रज्ञः	३	७४
पराप्रासादमन्त्रस्तु	४	५
पराप्रासादमन्त्रार्थ	३	८०
पराप्रासादमन्त्रोऽयं	३	८७
पराप्रासादमन्त्रेण	३	५२
पराप्रासादमन्त्रेण ये	३	५८
परामन्त्रस्वरूपोऽसौ	८	८४
परामृतरसासेकैः	१६	५२
पराशक्त्यात्ममिथुन	५	११२
परा श्रीपादुकातत्त्व	११	९९
परिहासं प्रलापञ्च	११	२९
परीक्षयेन्न भक्तानां	११	६३
परोक्षफलादानाच्च	४	८
परोक्षे दूषणकरं	१३	१३
परोक्षं को नु जानीते	२	८९
परे ब्रह्मणि विज्ञाते	९	२८
पवर्गञ्च महर्लोकं	४	४७
पर्वतानां यथा मेरु	३	२२
पशुशास्त्राणि सर्वाणि	२	९७
पशुव्रतादिनिरताः	२	१०१
पश्चात्पदेन निर्गच्छे	१२	१०६
पश्चिमाम्नायसङ्केताः	३	४४
पश्चिमे वटुकं देव	७	३०
पश्येदेवम्विधं चक्रं	८	८०
पश्येदेवंविधं चक्रं	१०	९२
पश्यन्नपि न पश्येत्	१	३५
पाणिभ्यां संस्पृशेद्देहं	७	७७
पात्रहस्तो महादेवि	११	३०
पात्राधारालिपिशितं	१६	२९
पादप्रक्षालनं स्नान	१२	८५
पादप्रसारणं वादं	१२	८७
पादुकामात्रसारज्ञः	११	९६
पादुकामासनं वस्त्रं	१२	८४
पादुकास्मरणञ्चैव	४	१३
पाद्यं श्यामाकदूर्वाब्ज	१७	९४
पानञ्च त्रिविधं प्रोक्तं	७	९४
पानभेदं फलोल्लास	१६	३१
पानसं द्राक्षमाधूकं	५	२९
पानाङ्गविश्वरूपत्वा	१७	६७

पापाचारसमायुक्तं	९	११८
पारम्पर्य्यक्रमायातं	२	५
पारावताः शिलाहाराः	१	८४
पाशच्छेदकराद्देवि	१७	४६
पाशच्छेदं वेधदीक्षां	१३	७९
पाशबद्धः पशुर्ज्ञेयः	१३	९१
पाशछेदकराद्देवि	१७	४६
पालनादद्दुरितच्छेदात्	१७	३
पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यं	१३	८८
पिण्डं पदं तथा रूपं	१३	७६
पितृदैवतयज्ञेषु	५	४५
पितृमात्रादिसर्वेषु	१२	१२५
पिबन्तु मातरः सर्वाः	८	५१
पिबन्मद्यं पलं खादन्	९	५२
पिशितं माषमात्रन्तु	७	६५
पिशितं तिलमात्रन्तु	५	५५
पिशुनं परसन्ताप्यं	१३	१५
पीठक्षेत्रागमाम्नायं	११	८१
पीठे देवं प्रतिष्ठाप्य	६	२१
पीतद्रव्यैर्हरिद्राद्यैः	१६	९६
पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा	७	१००
पुण्यक्षेत्रं नदीतीरं	१५	२२
पुण्यपापादिकथना	१७	३९
पुण्यवृक्ष समुद्भूतं	५	७
पुण्यसंवर्द्धनाच्चापि	१७	७६
पुण्यापुण्यपशुं हत्वा	५	१०९
पुत्रबान्धवदाराश्च	१६	१६
पुत्रं शङ्खाभिषेकेण	१४	७३
पुनर्ग्रामाः पुनः क्षेत्रं	१	२०
पुनश्च पूर्ववद्वायुं	१५	३८
	१५	३९
पुरस्तात् पार्श्वयोः	१७	६
पुराकृततपोदान	२	३१
पुस्तकञ्च महेशानि	१७	१०३
पस्तके लिखितान्मन्त्रान्	१५	२१
पुष्पमालावितानाढ्यं	६	१४
पुरुषः पुरुषं मोहा	८	६८
पुलाका इव धान्येषु	२	६०
पुंस्त्रीरूपाणि सर्वाणि	३	९१
पूजागृहप्रवेशादि	१६	२७
पूजाकोटिसमं स्तोत्रं	९	३६
पूजा त्रैकालिकी नित्यं	१५	८
पूजाद्रव्याणि संप्रोक्ष्य	६	२०
पूजामध्ये गुरौ ज्येष्ठे	११	५
पूजाहोमाश्रमाचार	१३	११८
पूजां बलिं गृह्णयुग्मं	७	१२
पूर्णा(दीक्षा)भिषेकहीनो यः	१४	७७
पूर्णा पूर्णामृता चेति	६	३८
पूर्णाभिषेकपूता ये	१४	७५
पूर्णाभिषेकयुक्तानां	७	९९
पूर्णाभिषेकसहितो	६	४
पूर्वोक्तेन विधानेन	१०	८६
	१०	९९
पूर्वजन्मकृताभ्यासात्	२	२७
पूर्वजन्मसहस्रेषु	३	६४
पूर्वजन्मानुशमना	१७	७०
पूर्ववज्जुहुयाद्देवि	१६	११२
पूर्वश्च पश्चिमश्चैव	३	७
पूर्वाम्नायस्य सङ्केता	३	४३
पूर्वाम्नायः सृष्टिरूपः	३	४१
पृथग्वा पूजयेद्देवि	१०	१८
पृथिवी दह्यते येन	१	३९
पृथिव्यां यानि कर्माणि	९	१३३
पेयं मद्यं पलं खाद्यं	२	११२
पैष्टी गौडी च माध्वी च	५	३१
पौर्णमास्यां यथाशक्त्या	१०	७०
पं फं भैरवशब्दान्ते	४	८८
पंवर्ग सहचरीं ल्वं षां	४	१०१
प्रकाशानन्दजननात्	१७	८४
प्रगुप्तागमवेदान्त	१७	२०

प्रचण्डभूतवेताल	४	१२५
प्रज्ञाहीनस्य पठनम्	१	९८
प्रणम्य बहिरष्टाङ्गं	७	६८
प्रणष्टवायुसञ्चारः	९	८
प्रतिक्षणमयं कायो	१	३७
प्रतिजन्म प्रपद्यन्ते	१	११
प्रतिलोमसु संवीतं	१६	१३०
प्रतिवर्षन्तु यः कुर्यात्	१०	५४
प्रत्यक्षग्रहणं नास्ति	१	१००
प्रत्यक्षञ्च प्रमाणाय	२	८८
प्रथमं प्रकृतेर्हंसः	६	४७
प्रदर्श्य देवताबुद्ध्या	१०	४३
प्रपञ्चन्यास एव स्याद्	४	३६
प्रभवं सर्वदुःखाना	१	६१
प्रभाते मलमूत्राभ्यां	१	७०
प्रयोगदोषशान्त्यर्थ	१६	१३
प्रयोगान्ते चक्रपूजां	१६	१२
प्रविश्य कुलयोगीन्द्रं	९	१०२
प्रविशन्ति कुलं धर्म	२	७३
प्रविशन्ति यथा नद्यः	२	१२
प्रवृत्ते भैरवीचक्रे	८	९६
प्रसङ्गेनापि यः कश्चित्	२	७४
प्रसन्नचित्तवश्यत्वात्	४	६
प्रसुप्ते जीवलोके तु	१०	७५
प्रस्थार्द्धान् तण्डुलान्	५	१५
प्राणभेदफलोल्लास	७	८२
प्राणापानौ च वागर्थौ	३	९०
प्राणायामैर्विशुद्धात्मा	१५	४४
प्राप लोभा पटु प्राह्यं	१५	८७
प्रायश्चित्तं भृगोः पातं	११	६९
प्रारब्धव्ये निरुद्योगो	१	३२
प्रेर्यमाणोऽपि पापात्मा	२	९९
प्रेरकान् सूचकांश्चापि	११	६०
प्रेरकः सूचकश्चैव	१३	१२८
प्रौढान्तोल्लासपर्यन्तं	१०	८८
प्रौढान्तोल्लाससहितां	१०	४४
प्रौढान्तोल्लाससंयुक्ताः	१०	३६
प्रौढोल्लासे कुलेशानि	८	२७
प्रौढोल्लासेन सहिता	१०	१९

फ

फट् च पुष्टौ वषट् वश्ये	१६	४३
फलं प्राप्य यथा वृक्षः	९	१३१

ब

बटुकादीन् समर्च्यैवं	७	३३
बटुकं पञ्चवर्षञ्च	१०	२९
बन्धनं योनिमुद्राया	१३	९२
बलिदानेन सन्तुष्टो	७	९
बल्युद्वासनमन्त्रोऽयं	८	३०
बहवः कौलिकं धर्म	२	११६
बहुप्रकारविचरद्	१७	८१
बहुनात्र किंमुक्तेन	१	११९
	२ २२ २ १३७ ३	९७
	८ ९२ ८ १०२ ९	६४
	११ १०७ १६	११५
बहुनेह किमुक्तेन	३	३८
बहुनोक्तेन किं देवि	४	१२७
	५	६६
बान्धवा नवबाणर्काः	१५	८६
बालामलङ्कृतां पश्यन्	१०	२५
बालांश्च यौवनस्थांश्च	१	४५
बाल्ययौवनवृद्धत्वं	१	५१
बीजेऽङ्कुरस्तिले	३	५३
बोधयित्वा गुरुः शिष्यं	२	३९
ब्रह्मध्यानपरानन्दपराः	८	९०
ब्रह्मविष्णुमहेशादि	१०	८९
	१२	२२
ब्रह्महत्याशतं कुर्यात्	१२	१०४
ब्रह्माकारं मनोरूपं	१३	१२०
ब्रह्माण्डखण्डसम्भूत	६	६१
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं	११	४१

ब्रह्मा प्रजापतिर्वेधाः ४ ५९
ब्रह्माविष्णुगुहादीनां २ ४
ब्रह्माविष्णुमहेशादि १ ४६
ब्रह्मा श्रीः शेषदुर्गागुहवटुकगणा
भैरवाः क्षेत्रपाद्या ८ ४५
ब्रह्मा स्यात् पलले विष्णु ५ ५२
ब्रह्मेन्द्ररुद्रविष्णूना ३ ७०
ब्रह्मेन्द्राच्युतरुद्रादि २ २५
ब्राह्मणस्य सदा पेयं ५ ८४
ब्राह्मणो वाऽन्त्यजो वापि ३ ८४
ब्राह्मी वागीश्वरी वाणी ४ ३२

भ

भक्ष्यैश्च पायसैर्दूर्वा १६ १०३
भक्ष्यं हविष्यं शाकादि १५ ७४
भगवन् देवदेवेश १ २
भगिनीं वा सुतां भार्यां ९ ११६
भजनात् परया भक्त्या १७ २९
भद्रकालीवीरभद्रौ १० ५१
भक्तप्रियः सदोदारो १३ ४५
भक्तिश्रद्धादयाशान्ति १३ २१
भक्तिहीनान् दुराचारान् १० १२१
भक्त्या तुष्टेन गुरुणा १२ २३
भक्त्या परमया देवि १७ १०७
भक्त्या वित्तानुसारेण १२ ६९
भिन्नभाण्डे जलं यद्वत् ९ ११२
भवपाशप्रशमनात् १७ १९
भवः शर्वोऽथ रुद्रश्च ४ ५६
भाषणं पाठनं गानं १२ १०३
भिद्यते हृदयग्रन्थि ९ २४
भृगुवारे कुलेशानि १० ३९
भुक्तिमुक्तिप्रदं दिव्यं ७ ९६
भूगृहस्य चतुष्कोणे १६ ८२
भूतभव्यौ तन्त्रमन्त्रौ १३ ७२
भूतापमृत्युरोगाद्या १६ ९१
भूता ये विविधाकारा ७ १५
भैरवोऽहमिति ज्ञानात् ६ १०
भोगमोक्षार्थिनां ब्रह्म १२ ४०
भोगापवर्गसङ्कल्प १५ ५
भोगो योगायते साक्षात् २ २४
भोग्य भोज्यानि वस्तूनि १२ ५५
भोजनान्ते विषं मद्यं ७ ९२
भ्रामिता हि मया देवि २ ९६
भ्रंशमानः प्रनष्टश्च ११ ९३

म

मङ्गलत्वाच्च डाकिन्या १७ ५९
मण्डलं कलसद्रव्य १६ २५
मण्डलेन विना पूजा ६ २३
मथित्वा ज्ञानदण्डेन २ १०
मत्ता जपन्ति ध्यायन्ति ११ २७
मत्ता भ्रमन्ति गर्जन्ति ११ २८
मत्ता स्वपुरुषं मत्वा ८ ६७
मत्कर्म कुर्वतां पुंसां ५ ४९
मत्स्यमांसविहीनेन ५ ५४
मत्स्यमांससुरादीनां ५ ८९
मत्स्य मांसादिविजयां ५ ४२
मत्स्यमांसासवैर्देवि ११ १२
मदप्रच्छादितात्मा च ५ १०२
मदिरा ब्रह्मगाः प्रोक्ताः ५ ४१
मद्रूपे श्रीगुरौ यस्य ३ ६३
मद्यन्तु भैरवो देवो ५ ७७
मद्यपानेन मनुजो २ ११७
मद्यभण्डं समुधृत्य ११ २३
मद्यस्पर्शनमात्रेण ५ ३९
मद्यस्पर्शादिदोषस्य २ १३०
मद्यासक्तो न पूजार्थी ५ १०४
मद्यं मांसञ्च मत्स्यश्च १० ५
मधुकुम्भसहस्रैस्तु ८ १०७
मधुपूर्णे च कलसे १० ७७
मधुलुब्धो यथा भृङ्ग १३ १३२
मधुसूदनसंज्ञश्च ४ ५३

मधूकजा ज्ञानकरी	५	३४
मध्यादिचतुरस्रान्तं	१६	८४
मध्वाज्यदधिभि: प्रोक्तो	१७	९७
मननात्तत्त्वरूपस्य	१७	५४
मनसा चेतसा वाचा	७	५४
मनसा चेन्द्रियगणं	५	११०
मनसापि न काङ्क्षन्ते	१२	२१
मनसा य: स्मरेत् स्तोत्रं	१५	५६
मनुष्यचर्मणा बद्ध:	१३	५४
मनोऽन्यत्र शिवोऽन्यत्र	१५	१००
मनोज्ञे रहसि स्थाने	१०	५६
मनोदीक्षा द्विधा प्रोक्ता	१४	५७
मनोदोषादिदूरत्वा	१७	१६
मनोरथसुखं पूर्णं	८	७४
मनोवाक्तनुभिर्नित्यं	१३	३३
मनोहरामेकवर्षी	१०	२१
मन्त्रजापश्च संप्रोक्त	६	४९
मन्त्रतत्त्वानुसन्धान	१६	२४
मन्त्र त्यागाद्भवेन्मृत्यु	१२	५२
मन्त्रन्यासं विधायेत्थं	४	७८
मन्त्रपूतं कुलद्रव्यं	५	७६
मन्त्रमात्रन्तु यो वेत्ति	३	७५
मन्त्रयोगं विदु: पर्वं	३	४२
मन्त्रयोगेन देवेशि	६	९
मन्त्रविद्याऽभेदरूपं	१६	१७
मन्त्रसिद्धोपदिष्टेषु	१५	९८
मन्त्रसंस्कारसंशुद्धा	५	८३
मन्त्रहीनं क्रियाहीनं	६	११५
मन्त्रागमाद्यमन्यत्र	१२	६१
मन्त्रार्थं मन्त्रचैतन्यं	१५	५९
मन्त्रार्थं स्फुरणार्थाय	५	८७
मन्त्रा: पुरुषदेवा: स्यु	१६	४०
मन्त्रिदोषश्च राजानं	११	१०९
मन्त्री विशुद्धहृदय:	१६	३
मन्त्री सिद्धमनुर्देवि	१७	७
मन्त्रेणानेन चावाह्य	६	७१
मन्त्रेणानेन देवेशि	७	८७
मन्त्रेणानेन निर्माल्यं	७	६०
मन्त्रेणानेन मतिमान्	१६	८
मन्त्रोच्चारे कृते यादृक्	१५	६२
मन्त्रोदकैर्विना सन्ध्यां	९	३९
मन्त्रौषधैर्यथा हन्या	१४	२३
मन्त्रं मण्डलकं जप्या	१६	१३२
मम पञ्चमुखेभ्यश्च	३	७
मलिनाम्बरकेशादि	१५	१०५
मस्तकस्थितसम्पूर्ण	१६	५६
महदैश्वर्यमाप्नोति	१६	७७
म(अ)हन्तापात्रभरित	७	८९
महादानार्थरूपत्वाद्	१७	६४
महापापवशात्रृणां	२	९८
महामुद्रां नभोमुद्राम्	१३	८५
महामोक्षं कुरुयुग्मं	६	५७
महारोगे महोत्पाते	१२	६
महारोगेषु जातेषु	१६	६४
महाषोडशदानानि	५	६४
महाषोढाकृतन्यासं	४	१२६
महाषोढाह्वयं न्यासं	४	१२१
महाषोढोदिताशेष	६	९४
महीसलिलयोर्मित्र	१५	९५
मार्कण्डेयादिमुनयो	३	६७
माघशुक्लप्रतिपदि	१०	६७
माङ्गल्यजननादेवि	१७	६९
मातरं पितरं भार्यां	११	७५
मातृकाजपमात्रेण	१५	१८
मादिपञ्चकमीशनि	१०	६
मादिभि: पञ्चमुद्राभि:	९	११५
मध्याह्ने चार्चयेद्देवं	१०	६५
माध्वी मुक्तिकरी ज्ञेया	५	३२
मानयन्ते हि सारज्ञा:	२	८१
मामनादृत्य यत् पुण्यं	५	४७

मानवा बहवः सन्ति	२	१०२	यजन्ति देव्यो हरपादपङ्कजम्	८	३१
मानवौघे नृसिंहश्च	६	६७	यत् कृतं कुलनिष्ठानां	९	१०६
मानसं वाचिकं पापं	१५	४२	यत् फलं कौलिकेन्द्राणां	९	१०८
मायाजालादिशमना	१७	६३	यत् सुखं कुलनिष्ठानां	७	१०३
मायादिपुरुषान्तैश्च	७	७३	यत्किञ्चिद्द्रव्यसंघातं	७	५
मायाविनं कृतघ्नञ्च	१३	९	यत्तु संवित्तिजननं	१३	७१
मासे वापि त्रिमासे वा	१०	१४	यत्सुखं विद्यते ध्याने	८	८९
मांसन्तु त्रिविधं प्रोक्तं	५	४४	यत्र यत्र गजो याति	९	८१
मांसभक्षणमात्रेण	२	११८	यत्र श्रीगुरुनिन्दा स्यात्	१२	८०
मांसलुब्धो यथा मत्स्यो	१	६७	यत्रैकाम्नायतत्त्वज्ञः	१०	१७
मांससन्दर्शनं कृत्वा	२	१३४	यथाऽऽचरन्ति देवेशि	९	७९
मांसाभावे तु लशुनं	५	५३	यथा कपिश्च शाखायां	१४	३२
मिथुनानुग्रहाष्टाष्ट	१६	३४	यथा कूर्मः स्वतनयान्	१४	३७
मृद्भस्मप्रक्षणाद् देवि	१	८०	यथा क्रतुषु विप्राणां	५	९०
मृत्युर्वैद्यायते देवि	९	६३	यथा गाढान्धकारस्थो	९	१८
मीनस्तु लम्बिका देवि	१४	७०	यथा ग्रामगतं तोयं	९	७८
मुक्तिदा गुरुवागेका	१	१०७	यथा घटश्च कलसः	१३	६४
मुक्तिः स्याच्छक्तिसंयोगः	८	६०	यथाचारण्यजाता	२	१०६
मुक्तोऽपि बालवत् क्रीडेत्	९	७२	यथा जले जलं क्षिप्तं	९	१५
मुखे आपूर्य मदिरां	८	७०	यथा ददाति सन्तुष्टः	१२	१८
मुदं कुर्वन्ति देवानां	१७	५७	यथा दिव्यमणिस्पर्शा	३	७२
मूर्ध्नि श्रीगुरुपङ्क्तीश्च	६	६३	यथा दीप्तानलः काष्ठं	१३	११४
मूलादिब्रह्मरन्ध्रान्त	१३	९४	यथा देवस्तथा मन्त्रो	१३	६५
मूलाधारसरोजान्त	१६	१२९	यथादृष्टं न मन्यन्ते	२	११०
मूलाष्टकन्तु ब्रह्माद्या	१०	८४	यथाधनं यथाश्रद्धं	१०	११
मूलाष्टकोद्भवानीति	१०	८५	यथा ध्यानस्य सामर्थ्यात्	९	१६
मूले प्रासादबीजञ्च	१६	५०	यथानिमीलने काले	९	१९
मेरुसर्षपयोर्यद्वत्	२	१६	यथान्धा नैव पश्यन्ति	२	९३
मोहध्वान्तप्रशमनात्	१७	७९	यथा पङ्ग्वन्धबधिर	९	४८
मं यं क्षेत्रेशशब्दान्ते	४	८९	यथा पक्षी स्वपक्षाभ्यां	१४	३५
मं यं रें चतुर्दशलक्षं	४	७३	यथा पिपीलिका मन्द	१४	३१
म्लेच्छदुष्टमृगव्याल	१५	२७	यथामरतरङ्गिण्या	२	१५
य			यथा महानिलोद्धूतं	१३	११५
यक्षकिन्नरगन्धर्वाः	३	६८	यथामृतेन तृप्तस्य	१	१०४
यक्षिणी रञ्जिनी लक्ष्मी	४	६०	यथा रसानां माधुर्यं	३	२३

यथा रोगातुराः केचिन्मा	२	१०३
यथा वह्निसमीपस्थं	१३	११३
यथा वियद्गमः शीघ्रं	१४	३३
यथाशक्त्या तु यत् किञ्चद्	९	११३
यथास्त्रीपुत्रमित्रादि	११	४०
यथा हसति लोकोऽयं	९	७३
यथा हस्तिपदे लीनं	२	१३
यथेन्द्राजालजा मायाः	२	४६
यथैवान्तश्चरा राज्ञः	५	७०
यदर्चनाच्चतुःषष्टि	१०	९०
यदत्र नात्र निर्भासः	९	९
यदस्ति वेधकाले	१४	६२
यदा जाम्बुनदानाञ्च	२	१४
यदा त्वाचार्यरूपेण	१२	१२६
यदा दद्यात् स्वशिष्याय	१२	१९
यदा पुंसः कृतार्थस्य	६	७
यदा सन्दीपितोल्लासः	११	३६
यदि चेद्दीक्षितो ज्येष्ठः	११	३
यदि तुष्टेन गुरुणात्म	१२	२५
यदृच्छया श्रुतं मन्त्रं	१५	२०
यद् यत् स्वमनसोऽभीष्टं	१६	९३
यद्वन्मन्त्रबलोपेतः	९	८३
यद्येषा भैरवी देवी	८	४९
यन्त्रं मन्त्रमयं प्रोक्तं	६	८५
यन्मुमुक्षोः फलं देवि	२	१३८
यमभूतादिसर्वेभ्यो	१७	६१
यया चोन्मीलितात्मानो	१४	८६
यया दीक्षितमात्रेण	१४	८७
य सद्यः प्रत्ययकरं	१३	१०१
यस्तत्त्वविन्महेशानि	१३	१२२
यस्तिलार्द्ध तदर्द्धं वा	१२	७२
यस्मिन् देशे वसेत् वीरः	९	११९
यस्मिन् द्रव्ये गुरोरस्ति	१२	७१
यस्मिंश्चरन्ति योगीशाः	९	८०
यस्य कस्यापि नैवोक्तं	४	२०
यस्य जन्मान्तरे पाप	२	९२
यस्य देवे परा भक्ति	१२	३३
यस्यमूर्ध्नि स्मरेद्बीजं	१६	१३५
यस्यानन्दो निर्विकार	५	३६
यस्यानुभवपर्यन्तं	१३	१११
यस्यान्नपानपुष्टाङ्ग	१५	७५
यवर्गञ्च जनो गुप्त	४	४८
यवर्ग स्याद्गिरिचिरीं ऐं	४	१०२
या काचिद् योगिनी रौद्र	७	१३
यागज्येष्ठाभिवादेन	१२	१२४
यागज्येष्ठः क्रमज्येष्ठः	१२	१२३
या देव्यः कुलसम्भवाः	८	४३
यावत् प्रयत्नवेगोऽस्ति	१	११४
यावत् कामादि दीप्येत	१	११३
यावतः कुरुते जन्तुः	१	५८
यावदासवगन्धः स्यात्	९	५४
यावदिन्द्रियसन्तापं	१७	३६
यावद्देहाभिमानश्च	१	११५
यावन्नाश्रयते दुःखं	१	२७
यावन्नेन्द्रियवैकल्यं	७	९८
यावन्नो वटुके दद्या	७	३
यावन्तः पांसवो भूमे	३	११
याश्चक्रक्रमभूमिकावसतया	८	४२
यासामाज्ञाप्रभावेण	८	५०
युज्यते वेष्टनं वायो	१	३८
ये गुणाः परमेशस्य	८	९३
ये दत्त्वा सहजानन्दं	१३	९७
येन केनापि वेशेन	९	६५
येन पूजितमात्रेण	१४	९४
येन वा दर्शिते तत्त्वे	१३	९६
यैरेव पतनं द्रव्यैः	५	४८
योगामृतेन निष्ठीवान्म	११	१९
योगिनीकुलशब्दान्ते	४	७९
योगिनीचक्रमध्यस्थं	८	३२
योगिनो मदमत्ताश्च	८	७३

योगिनो विविधैर्वेशै	९	६६
योगिभिर्योगिनीभिश्च	८	२०
योगी चेन्नैव भोगी स्याद्भोगी	२	२३
योगीन्द्रेण यदा प्राप्तं	९	२५
योगी लोकोपकाराय	९	७५
यो गुरुस्थानकं प्राप्तः	१२	१२८
यो जन्तुर्नार्चयेत्त्वान्तु	२	५९
यो देवि स्वयमाहूय	९	११४
यो भवेत् कुलतत्त्वज्ञः	९	८८
यो निन्दास्तुतिशीतोष्ण	९	४५
योनिमुद्रानुसन्धानात्	१७	३१
	१७	२१
यो न्यासकवचच्छन्दो	१५	४६
यो वा कुलाधिकं धर्म	२	१९
यो वान्यदर्शनेभ्यश्च	२	४८
यो वा पराञ्च पश्यन्तीं	१३	७७
यो विलंघ्याश्रमान्	१३	६८
यौवनं मनसः सम्यग्	८	६
यः करोति स पुण्यात्म	१०	३३
यः कौलिक कुलज्ञानं	२	६९
यः क्षणेनात्म	१३	१००
यः पश्येत् सर्वगं शान्त	९	२६
यः प्रसन्नः क्षणार्द्धेन	१३	९९
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य	५	९७
यः शिवः सर्वगः सूक्ष्म	१३	५१
यः शृणोति कुलाचारं	११	५०
यः सेवेत कुलद्रव्य	११	२१
यः सद्यः प्रत्ययकरं	१३	१०१
र		
रक्षेत् सर्वात्मनात्मानम्	१	१९
रत्युद्वासनकालञ्च	८	२
रत्युल्लासनकालञ्च	१६	३३
रसेन्द्रेण यथा विद्ध	१४	८९
रहस्यातिरहस्यानि	३	५
रहस्यातिरहस्यानां	१७	१०१
रहस्यभेदकं वापि	१३	८
राजसध्यानजं देवि	१६	७८
राजानः सचिवा राज्ञां	१५	२९
राजा यः कारयेद्देवि	१०	९३
रोगदारिद्र्यदुःखाद्यैः	२	५६
रोगाणां नाशनार्थञ्च	१०	१३१
रोगेष्वापत्सु दोषेषु	१०	१६
रोदनं भाषणं पातः	८	६४
रिक्तहस्तश्च नोपेया	१२	१२०
रिपवश्चापि मित्रन्ति	९	६०
रिपुणापि न कर्त्तव्यो	११	३९
रुद्धः कूटाक्षरो मुग्धो	१५	६५
ल		
लग्नो धनं भातृबन्धु	१५	९०
लक्षणान्येवमादीनि	१६	४९
लक्ष्मीनारायणौ वाणी	१२	३५
ललाटलोचनं चान्द्रीं	१३	५६
लवस्त्रुटिः कला काष्ठा	४	२५
लाकिनी श्रीकपालाढ्या	१०	१४०
लोकञ्च निलयञ्चैव	४	३७
लोकधर्मविरुद्धञ्च	२	८७
लोकेऽस्मिन् संस्तुतः	१०	१०१
लोके निकृष्टमुत्कृष्टं	९	५५
लौहदारुमयैः पाशै	१	६४
लिङ्गत्रयविशेषज्ञः	५	१०६
लिङ्गस्थण्डिलवह्न्यम्बु	६	७३
लिखेत्रिकोणं षट्कोण	१६	८०
लिखेत् षोडशकोष्ठेषु	१५	७९
लं क्षं सत्यं महागुह्यं	४	५०
लं क्षं जलचरीं अः लां	४	१०४
व		
वज्रपञ्जरनामानमेतं	४	१२४
वञ्चिताशेषचित्तैस्तै	१	६६
वटुकमन्त्रान् वक्ष्यामि	७	६
वटुकादीन् यजेत्तस्माद्	७	४

वटुकैः कृष्णवर्णैश्च	१६	१२०
वटबीजे यथा वृक्षः	३	५६
वर्णदीक्षा त्रिधा प्रोक्ता	१४	४२
वर्णान् शिष्यतनौ न्यस्य	१४	४३
वर्णाश्रमकुलाचार	१३	१०९
वदन्ति हृदयानन्दं	१	८३
वदेत् प्रपञ्चरूपायै	४	३४
वदेद् बटुकनाथेति	७	२४
वदेदाधारशक्त्यम्बा	४	३८
वदेन्मातङ्गि सर्वान्ते	७	५९
वनमालां महामुद्रा	४	११७
वश्ये तु राजसं देवि	१६	१२६
वर्षे वर्षे चतुःषष्टि	१०	१०३
वह्निं त्रिकटुकञ्चापि	५	१८
वाक्श्रोत्रगतिदृक्सेना	१६	९७
वाक्यच्छन्दोनिबन्धेन	१	९१
वाग्भवं पार्श्वगं भूमिः	६	५३
वाग्भवं भुवनेशीञ्च	४	३३
वाग्भवा मूलवलये	१२	३
वाग्भवं वदयुग्मश्च	६	५६
वाजीलवणहोमेन	१६	११४
वाणेतरस्वयम्भ्वाख्य	१३	८२
वादार्थं पठ्यते विद्या	१५	१०१
वामाऽङ्गुष्ठानामिकाभ्यां	७	७०
वामाङ्गुष्ठानामिकाभ्यां	७	७१
वामे प्राणे प्रबुध्यन्ते	१६	४१
वाय्वग्निभूजलाकाशाः	१५	९४
वाह्यव्यापारनिर्मुक्तो	१४	६१
वालं गौरं खुरं शोणं	१५	८९
विकृतिं मनसो हित्वा	८	७५
विचार्याहं पुराणार्थान्	३	६०
विण्मूत्रत्यागशेषादि	१५	१०४
विदिते परमे तत्त्वे	९	२१
विद्धस्तु वेधयेद्देवि	१३	१२४
विद्वानपि च मूर्खोऽसौ	२	६४
विद्यासंसिद्धि बिभ्राणां	४	११३
विधवाया सुतादेशात्	१४	१०५
विधिना सेव्यते दवि	२	१३५
विधृतं बाहुना देवि	१६	९२
विना दीक्षां न मोक्षः स्यात्त	१४	३
विना देहेन कस्यापि	१	१८
विना द्रव्यादिवासेन न	६	३३
विना मन्त्रेण पूजा चे	१०	१०९
विना मन्त्रेण या पूजा	११	१०
विनिक्षिप्तां गतायातां	१३	९३
विप्रः षड्गुणयुक्त	१२	२८
विमुखाः सुमुखाः सर्वे	९	६१
विविक्षुर्देशिकावासं	१२	८३
विश्वासास्तिक्यकरुणा	१५	१११
विश्वासाय नमस्तस्मै	१२	४२
विष्णुर्योनिं कल्पयतु	६	४८
विहाय कुलधर्मं यः	२	४३
विहाय सर्वधर्मांश्च	२	२६
विहितैर्मादिभिर्द्रव्यै	१०	४
वीक्षणं ध्यानमीशानि	८	६१
वीणावाद्यविनोदगीतनिरतां नीलांशुकोल्लासिनीं	७	६१
वीतरागमदक्लेश	१७	२५
वीरहत्या वृथापानं	११	७०
वीरासनं सुदुर्वाक्यं	१२	८६
वृथा द्वेषकरान् क्रूरान्	१६	१३३
वृथा पानन्तु देवेशि	२	१२३
वृथैव यैः परित्यक्तं	९	१३०
वेदशास्त्रपुराणानि	३	४
	११	८५
वेदशास्त्रागमैः प्रोक्तं	२	९५
वेदशास्त्रार्णवे घोरे	१	८८
वेदशास्त्राद्यनभ्यासा	१	४८
वेदशास्त्रोक्तमार्गेण	१०	११७
वेदागमपुराणज्ञः	१	८९

वेदाद्यनेकशास्त्राणि	१	१०२
वेदिताऽखिलशास्त्रार्थ	१७	३८
वेधको बोधकः शान्तः	१३	४२
वेधदीक्षाकरो लोके	१४	६६
वेधविद्धः शिवः साक्षान्न	१४	६३
वेधं पदं विरोधञ्च	१३	७४
व्याघ्रीवास्ते जरा चायु	१	२६
व्याधिराधिर्विषं	१	४९
व्यलीकवादिनं स्तब्धं	१३	७
व्योमपङ्कजनिस्यन्द	५	१०८
वं शं ब्रह्मसर्वेश्वरीं	४	९०
वंशाश्मधरणीदारु	१५	३२
व्रतक्रतुतपस्तीर्थ	९	३३
श		
शक्तिच्छायां सुरच्छायां	१२	१०२
शक्तिपातानुसारेण	१४	३८
शक्तिदेहसमुत्पन्नं	१०	१३७
शक्तिसम्भोगमात्रेण	२	११९
शक्तिसिद्धिसुसिद्ध्यर्थं	१४	९
शक्त्युच्छिष्टं पिबेद् द्रव्यं	८	२३
शङ्कया भक्षितं सर्वं	१३	११२
शङ्काहीना भक्तियुक्ता	७	४७
शङ्खे वेदकलान्यास	१४	७२
शचीन्द्रौ रोहिणीचन्द्रौ	३	८८
शतकोटिमहादिव्य	१७	३२
शतं जीवितमत्यल्पं	१	३१
शनैः पृच्छन्ति पार्श्वस्थान्	८	६६
शब्दे चार्थः शिवे शक्तिः	३	५४
शरीरमर्थं प्राणांश्च	१७	३०
शरीरमिव जीवस्य	६	८७
शरीररक्षणायासः	१	२१
शरीरवित्तप्राणैश्च	१२	५१
शरीरस्य न संस्कारो	१४	८१
शवर्गश्च तपश्चाति	४	४९
शवर्गं स्यात् वनचरीं	४	१०३
शाकिनीगणपूज्यत्वा	१७	४४
शाकिनी त्वञ्जनप्रख्या	१०	१४२
शाणोल्लीढानि शस्त्राणि	१५	७३
शान्तिके लेखनी दूर्वा	१६	४३
शान्तिकर्माणि सर्वाणि	१६	६८
शान्तिके मनवः सौम्या	१६	४२
शान्तिके राजतं ताम्रं	१६	४५
शान्तः शुचिमिताहारो	१५	११०
शासनादनिशं देवि	१७	४०
शास्त्रेषु निष्कृतिर्दृष्टा	११	९०
शिरसा न वहेद्धारं	१२	६०
शिरो वहति पुष्पाणि	१	९५
शिवरूपं समास्थाय	१३	६६
शिवलिङ्गे शिला बुद्धिं	१४	९२
शिवशक्तिमयत्वाच्च	३	९५
शिवशक्तिमयो लोको	२	८३
शिवशक्तिसमायोगो	८	१०९
शिवादिक्रिमिपर्यन्तं	३	५०
शिवादिक्षितिपर्यन्तं	१३	८६
शिवोऽहं नाकृतिर्देवि	१३	५३
शिवोत्कृत्तमिदं पिण्ड	५	५१
शिश्ना च यत् स्मृतं पश्चाद्	७	५५
शिष्येणापि तथा कार्यं	१२	२४
शिष्योऽपि गुरुणाऽऽज्ञप्तं	११	१०५
शिष्योऽपि लक्षणैरेतैः	१४	२५
शिष्यो दीक्षितमात्रश्चेद्	१४	१००
शिष्योपायनमादाय	७	६७
शीतवातातपसहा	१	८५
शीतादिरहिते स्थाने	५	१३
शुक्लपक्षेऽर्चनं	१०	७२
शुक्तौ रजतविभ्रान्ति	२	४९
शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि	१२	१०
शुद्धचित्तस्य शान्तस्य	२	३३
शुद्धद्रव्येण तेनापि	६	६२
शुद्धस्फटिककर्पूर	१६	५७

शुद्धात्मा चातिसंहृष्टः ६ ६
शुद्धाः पूर्णाभिषेकेण १४ ७६
शुद्धैः शिवादिविद्यान्तैः ७ ७४
शूद्रसङ्करजातीना १४ १०३
शृणु देवि प्रवक्ष्यामि १ ६
२ ५, ८ ३
शेष तेरह पटलों में द्वितीय ३-४-६-७-९-१०-११-१२-१३-१४-१५-१६-१७ २
शेषिकायै समर्प्यात्म ७ ५८
शैववैष्णवदौर्गार्क २ २९
३ ८२
शैववैष्णवसौरादि २ ९४
शैवे गुरुत्रयं प्रोक्तं १३ १२७
शैवे तत्त्वपरिज्ञानं ११ ७१
शैवे वा वैष्णवे शाक्ते ५ ६७
शोधयेति पदं दद्यात् ७ ७६
स्रोतोभेदेन वा कुर्यात्कौ ८ १८
श्वः कार्यमद्य कर्त्तव्यं १ ४२
श्लेष्मातकं करञ्जाख्यं ११ ६८
श्रद्धा विनयहर्षाद्यैः २ ३५
श्रीकण्ठादीनि पञ्चाश १० ९४
श्रीगुरुज्येष्ठपूज्यानां ७ ८१
श्रीगुरु लक्षणोपेतं १३ १३०
श्रीगुरोः पादुकां मुद्रा ११ ४५
श्रीगुरोः स्मरणे चापि १४ २३
श्रीगुरौ कुलशास्त्रेभ्यः ५ ९१
श्रीगुरौ कुलशास्त्रेषु २ ३४
श्रीगुरौ निश्चला भक्ति १२ ३७
श्रीगुरुं कुलशास्त्राणि ११ ४३
श्रीगुरुं गुरुपत्नीश्च १४ १०७
श्रीगुरुः परमेशानि १३ ३८
श्रीगुरुं परमं तत्त्वं १३ ५९
श्रीगुरुं प्राकृतैः सार्द्ध १२ ४७
श्रीचक्रकृतवृत्तान्तं ११ ७९
श्रीचक्रमेको वा कुर्या ११ ११
श्रीचक्रस्थं कुलद्रव्यं ११ ३८
श्रीचक्रे नासने तिष्ठे ११ १३
श्रीचक्रं कौलिको मोहाद्वि १० १०७
श्रीनाथचरणाम्भोजं १२ ११
श्रीपादुकां हेसौ (ह्सौ) मिति १० १२८
श्रीप्रसादपरामन्त्र ३ ४९
३ ११५, १६ ५९
श्रीप्रासादपरामन्त्रं ३ ९६
३ ६२, ३ ७३
श्रीप्रासादपरामन्त्रो ३ ८३
श्रीमोक्षज्ञानदातृत्वा १७ १७
श्रीर्माया कमला विष्णु ४ २३
श्रीशास्त्राश्रयमूलञ्च ११ ४७
श्रुतानेकमहामन्त्र १७ ४९
श्रौतविद्याकुलाचारं १६ ३६

ष

षट्कोणेषु षडङ्गानि १६ ८१
षट्त्रिंशत्तत्वसहित ७ ७५
षडध्वानं षडाधारं १३ ६९
षड्दर्शनानि मेऽङ्गानि २ ८४
षडाधारेषु षड्दीर्घ १६ ७०
षवर्गगाश्चतस्त्रः स्युः ६ ४४
षष्ट्येतान् मन्त्रदोषांश्च १५ ७०
षोडशावर्त्तयन् तारं १५ ३६
षोडशैरुपचारैस्तु ६ ९३

स

स आचार्यः स मतिमान् ३ ३५
सककलीकृत्य तत्राणान् ६ ७९
सकृत् श्रीपादुकां देवि १२ ९
सकृत्तर्पणमुत्सृज्य ६ ९६
सकुदुच्चरितेऽप्येवं १५ ६४
सकृन्नैवात्मविज्ञानं ९ ६७
सङ्गदुःखपरित्यागात् १७ २२
सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः १ ५६

सच्छिष्यन्तु कुलेशानि	१३	२३	सम्यक्सिद्धैकमन्त्रस्य	१५	१२
सच्छिष्यायातिभक्ताय	१४	१६	स यत्र वसते देवि	३	३९
सजीवमीनयुक्तेन	१४	६९	स योगी स कृतार्थस्तु	३	३६
स ते लोकमवाप्नोति	१०	१३	सर्वकर्मविहीनोऽपि	२	५०
सत्कुले च प्रसूता वा	८	१२	सर्वकर्माणि संत्यक्तुं	९	१२५
सत्यञ्चेद् गुरुवाक्यमेव पितरो	८	४७	सर्वकामसमृद्धात्मा	१०	८१
सत्सङ्गश्च विवेकश्च	१	५७	सर्वकार्यातिकुशलं	१३	२६
सदक्षवामसिद्धान्ते	५	६८	सर्वज्ञाय दयाक्लृप्त	१७	५
सदा दुःखातुरा देव	१	५	सर्वज्ञो वापि मूर्खो वा	९	९३
सदा मांसासवोल्लासी	९	५१	सर्वदुःखप्रदैः स्वीय	१	१०
सदा यश्चिन्तयेन्मूर्ध्नि	१६	६६	सर्वधर्माधिको लोके	९	८७
सदाशिवस्य देवस्य	१३	६१	सर्वधर्माश्च देवेशि	२	३०
सद्भक्तरक्षणायैव	१३	५५	सर्वपादान् परित्यज्य	१५	४
सन्निमज्जज्जगदिदं	१	३६	सर्व पापविशुद्धात्मा	१०	७१
स पापकञ्चुकान्मुक्तः	३	६५	सर्वप्रकाशगमनं	२	७२
स पुमानुच्यते सद्भिः	२	६६	सर्वप्रतारकं देवि	१३	११
सप्तमोल्लासयुक्तानां	८	९१	सर्वमन्त्रानहं वेद्मि	३	१४
सप्ताहं पूजयेद्देवि	१०	१३२	सर्वरोगव्रणोन्मादा	१६	१०७
सब्रह्माविष्णुरुद्राश्च	३	६६	सर्वलक्षणहीनोऽपि	१३	११७
समर्पयन्ति ये भक्त्या	५	७१	सर्वलोकेषु सर्वेभ्यो	३	२०
समयाख्या विशेषा च	१४	४०	सर्ववश्यकरं देवि	१६	७९
समयाचारहीनस्य	५	९६	सर्वव्रतेषु यत् पुण्यं	३	१०७
समवस्था सुषुप्तिः	८	९५	सर्वशोषी यथा सूर्यः	९	७६
समस्तचक्रचक्रेशि	७	३६	सर्वसिद्धिफलोपेतो	१२	१७
समस्तदेवताप्रीति	१०	९१	सर्वस्पर्शी यथा वायु	९	७७
समाचरन्ति सततं	२	१०५	सर्वस्वमपि यो दद्याद्	१२	७०
समाश्वसन्ति पितरः	९	९९	सर्वागमार्थतत्त्वज्ञः	१३	३९
समुल्लासपरे चक्रे	८	७	सर्वाचारपरिभ्रष्टः	११	८९
सम्पत्तौ च यजेल्लाभे	१०	९	सर्वानुग्रहकर्तृत्वा	१२	६३
सम्पदः स्वप्नसङ्काशा	१	३०	सर्वेभ्यश्चोत्तमा वेदा	२	७
सम्पूजकानां प्रतिपालकानां	८	३६	सर्वेषामपि मन्त्राणां	३	१३
सम्पूज्य सावृतिं दैवं	१७	८९	सर्वेषां दक्षिणां दत्त्वा	१०	१२५
सम्प्राप्ते ज्ञानविज्ञाने	९	२७	सर्वोत्तीर्णा सदाऽहन्ता	८	८६
सम्मार्जनानुलेपाद्यै	६	१८	सर्वं गुर्वाज्ञया कुर्या	१२	१०५
सम्मोदः परमानन्दः	८	६३	स आचार्यः	३	३५
सम्यक् शतक्रतून् कृत्वा	५	६३	स व्रती स तपस्वी च	३	३४

सव्येनोद्धृत्य पात्रन्तु ७ ६४
सशक्तिकः स्वयं देवि १० २४
सशब्दं न पिबेन्मद्यं ११ ३३
स शिवो गुरुरूपेण १२ ३२
सस्कन्धपार्श्वकट्यूरु ४ ६२
सहस्राक्षदयो देवाः ३ ६१
सहस्रदलपङ्कजे सकलशीतरश्मिप्रभम् ४ ११८
सहस्रं प्रजपेन्मन्त्रं १५ १६
सहितायै ततो मङ्गल ४ ९७
साक्षाद् गुरुमये देवि १२ ४४
सार्द्धत्रिकोटितीर्थेषु ५ ६५
सार्द्धेन्दुपलकं दघ्नो ५ २४
साधकानां हितार्थाय १७ १०६
साधनेषु प्रशस्तानि १५ २४
साधारं नोद्धरेत् पात्र ११ ३४
साध्यप्रतिकृतिं १६ १२२
साध्यसाधककर्माणि १६ २१
साध्यसिद्धोऽतिसंक्लेशात् १५ ८२
सामर्थ्यं पूज्यता विद्या ३ ६९
सामान्यतो निषिद्धञ्च १२ ९७
सारसंग्रहणाच्चैव १७ २८
सालोक्यप्रमुखां देवि ३ ११०
सावित्रीनापराङ्गानि १६ ८७
सिद्धमन्त्राद् गुरोर्लब्धो १५ १४
सिद्धसिद्धो जपात् सिद्धो १५ ८१
सिद्धार्णा बान्धवाः प्रोक्ताः १५ ८५
सिद्धार्थमक्षतञ्चैव १७ ९६
सिद्धादीन् कल्पयेन्मन्त्री १५ ८०
सिद्धान्तसारवेत्ताहं १३ ६७
सिद्धिपुत्रपदं चास्मिन् ७ २३
सिद्धौघे सनकश्चैव ६ ६५
सूक्ष्मा सूक्ष्मामृता ज्ञानाऽ ६ ४६
सुगन्धिपुष्पाभरण १५ ११२
सुगुप्तकौलिकाचार ११ ८६
सुताञ्च भगिनीं पौत्रीं ११ ५४
सुतीर्थे वाप्यतीर्थे वा १६ ११७
सुदीप्त भवने को वा १ २५
सुदूरमपि गन्तव्यं ९ ९५
सुपक्वेषु पदार्थेषु ३ ५७
सुप्तबीजाश्च ये मन्त्रा १५ ६०
सप्तस्तिरस्कृतो नीचो १५ ६८
सुमनसः सेवितत्वाद् १७ ६५
सुमुखः सुलभः स्वच्छो १३ ४०
सूर्यस्याग्नेर्गुरोरिन्दो १५ २५
सूर्यार्चनोक्तमार्गेण १० ६८
सुरादर्शनमार्गेण २ १२७
सुरापाने कामकृते २ १२९
सुरा वै मलमन्त्रानां २ १२६
सुरा शक्तिः शिवो मांसं ५ ७९
सुवर्णरौप्यताम्राणि ५ ८
सुषुम्नान्तं विकाशाय ७ ८६
सुसिद्धसिद्धोऽर्द्धजपात्त १५ ८३
सुस्नानभृतसंशुद्धि ६ १७
सृष्टिर्मेधा स्मृतिर्ऋद्धिः ६ ४१
सेविते च कुलाद्रव्ये ५ ७४
सेवेत स्वसुखार्थं यो ५ ८८
सेवे सेवे पुनः सेवे २ ५४
सोपानभूतं मोक्षस्य १ १६
संत्यज्य कुलमन्त्राणि २ ४४
संपूर्य मूलमन्त्रेण ६ २८
संसारभयभीतस्य १३ ९८
संसारमोहनाशाय १ ९७
संसारसारभृतत्वात् १७ ४७
संसारे दुःखभूयिष्ठे १५ ७
संस्कारेण विहीनत्वाद् ११ १०१
संस्मृतः कीर्त्तितो दृष्टो ९ ९२
संहारक्रमयोगेन स्थानात् १४ ४९
संहारभैरवश्चैव ४ १०५
सांसारिकसुखासक्तं १ ७८

सिंहव्याघ्रोरगेन्द्रादी १६ ७६
सिंहान् मत्तान् तथा व्याघ्रान् १६ ११३
स्तम्भितो मूर्च्छितो मत्तः १५ ६६
स्तोकस्तोकेन मनसः १७ ३५
स्त्रीणामन्यतमं स्थानं ८ १०४
स्त्रीद्विष्टैर्गुरुभिः शप्तै ८ १०
स्त्रीद्विष्टं गुरुभिः शप्तं १२ ११४
स्त्रीधनादिष्वनासक्तो १३ ४८
स्त्रीपुत्रमित्रबन्धूनां ८ १३
स्त्री वाथ पुरुषः षण्ड ८ ९७
स्थानान्तरगताचार्ये १२ १००
स्थाने मनोहरे देवि १६ ५५
स्थावराः क्रिमयश्चाब्जाः १ १२
स्थिरार्थमनसः केचित् ९ ४
स्थिरेन्धकेन्दुसंयुक्ता ६ ५४
स्थूलान्तमात्मतत्वं स्यात् ७ ७८
स्नेहाल्लोभाद्भयादुक्त्वा १७ १०५
स्पर्शाख्या देवि दृक्संज्ञा १४ ३४
स्मरणोत्सुकनिष्ठानां १७ ४१
स्यात् प्रासादपरा चान्ते ६ ५८
स्याद्वेदाध्ययने शूद्रो १४ १०६
स्वकार्यफलसिद्ध्यर्थं १० ९५
स्वकार्यमन्यकार्यं वा १२ ९६
स्वकार्येषु प्रवर्त्तन्ते ९ १२६
स्वर्गादिपुण्यलोकेषु ८ १००
स्वगृहे शान्तिकर्म स्या १६ ४८
स्वचर्मस्थं यथा क्षीर ११ ४९
स्वच्छदेहाम्बरं प्रज्ञं १३ २४
स्वर्णरौप्यशिलाकूर्म ५ ६
स्वदारवन्निषेवेत ११ ४८
स्वदेहमपि जीवोऽयं १ ५९
स्वदेशे धार्मिके देशे १५ २८
स्वद्रव्यविनियोगश्च १२ ७६
स्वपात्रस्थितहेतुश्च ८ १६
स्वप्नजाग्रदवस्थायां ९ ११
स्वयमाचरते शिष्या १७ ११
स्वयमेवानुभूयन्ते ८ ८८
स्वयोनिजाङ्गवरितै ३ १०४
स्वयं ज्योतिरनाद्यन्तो १. ८
स्वयं वेद्ये परे तत्त्वे १३ ११९
स्वरवर्णपदद्वित्वं १६ १८
स्वराशेमङन्त्रशश्यन्तं १५ ९१
स्वरैरशुद्धतत्वैश्च ७ ७२
स्वविद्यानुष्ठानरतो १३ ४७
स्वशक्तिं वीरशक्तिं वा ७ ३७
स्वशास्त्रोक्तं रहस्यार्थं १२ ६२
स्वसम्प्रदायसंयुक्तै ७ ६३
स्वस्तुतौ परनिन्दायां १३ ३०
स्वस्ववर्णाश्रमाचार १ ४७
१ ७२
स्वात्ममूलत्रिकोणस्थे ७ ८८
स्वाधिकस्य समन्यून १६ ३७
स्वान्तः शान्तिसमुन्मील १७ १५
स्वापत्यानि यथा मत्स्यो १४ ३६
स्वाभीष्टचेष्टाचरणं ८ ५६
स्वेच्छया पशुवत्पीतं ७ ९५
स्वेच्छया रममाणो यो ५ ९८

ह

हन्यान्मन्त्रेण चानेन ५ ५०
हर्षानन्दस्वयंयुक्ताः १० १२६
हस्ते शिवं गुरुं ध्यात्वा १४ ५३
हाकिनी ऋक्षवदना १० १४३
हितसत्यमितस्मेरभाषणं १३ २९
हिताहितं ना जानन्तो १ ६८
हिरण्यपावाः खादिश्च २ १४१
हीनाधिकविकाराङ्गं १३ ४
हृत्कण्ठग्रन्थिभेदश्च १५ ६३
हृतपद्मकर्णिकामध्ये १६ ७१
हृल्लेखां गगनां रक्तां १० ३५
होमतर्पणमन्त्राद्यै १६ ११
होमतर्पणयोः स्वाहा १६ ४४
हं लं रुद्रसर्वकर्त्रीं ४ ९१

○

लेखक-परिचय

नाम : डॉ. परमहंस मिश्र 'हंस'
पितृनाम : स्व. पं. फौजदार मिश्र
मातृनाम : स्व. पराकाली देवी
जन्म : २० अगस्त, १९२० ई.
श्रावण शुक्ल सप्तमी, १९७७ वै.
जन्मभूमि : मल्लपहरिसेनपुर, मलयनगर, बलिया
प्राथमिक-शिक्षा : ग्रामविद्यालय, नगरा, बलिया
उच्च-शिक्षा : आचार्य (साहित्य), राजकीय संस्कृत कालेज (सं.सं.वि.वि.), वाराणसी।
एम.ए. (हिन्दी), गोरखपुर वि.वि., गोरखपुर।
उपाधि : पी-एच.डी., का.हि.वि.वि., वाराणसी।
भाषा-ज्ञान : हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, अंग्रेजी, बँगला, कन्नड।
पद-अध्यापन : संस्कृत-विभागाध्यक्ष,
आर्य महिला डिग्री कालेज, वाराणसी
लेखन : १. प्रसाद और प्रत्यभिज्ञादर्शन।
२. पी. कहाँ (छायावादी खण्डकाव्य)
३. विश्वामित्र (हिन्दी महाकाव्य)।
४. मधुमयं रहस्यम् (संस्कृत-गीतकाव्य)।
५. स्वतन्त्रशतकम्।

सम्पादन एवं भाष्यलेखन

१. श्रीतन्त्रालोक (आगमिकविश्वकोष) आठ भागों में।
२. तन्त्रसार—दो भागों में (हिन्दी भाष्य के साथ)।
३. मन्त्रयोगसंहिता (बँगला लिप्यन्तर एवं अनुवाद)।
४. अवधूतोल्लास-पद्यानुवाद।
५. श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रम् (हिन्दी भाष्य के साथ)।
६. सौभाग्यरत्नाकरः।
७. श्रीकुलार्णवतन्त्रम् (हिन्दी भाष्य के साथ)।
८. परशुरामकल्पसूत्रम् (हिन्दी भाष्य के साथ)।
९. स्वच्छन्दतन्त्रम् (प्रथम भाग)।

पुरस्कार व सम्मान : १. संस्कृत आकादमी, लखनऊ।
२. सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

सम्पादन : सूर्योदयः (मासिक पत्र, १९७०-१९८१)
संस्कृतप्रतिभा, सारस्वती सुषमा आदि में विभिन्न लेख।
स्वतन्त्रता-संग्राम-सेनानी।

* अन्नदाकल्पतंत्रम् । हिन्दी टीका सहित । एस. एन. खण्डेलवाल
* एकजटातारासाधनतन्त्रम् । हिन्दी टीका सहित । एस. एन. खण्डेलवाल
* कामकला विलास: । 'सरोजिनी' हिन्दी सहित । श्यामकान्त द्विवेदी
* कुलार्णव तन्त्रम् । हिन्दी टीका सहित । परमहंस मिश्र
* तन्त्रालोक । संस्कृत टीका एव राधेश्याम चतुर्वेदी कृत हिन्दी टीका
* त्रिपुरा रहस्यम् । ज्ञानखण्ड एवं महात्म्यखण्ड ।
  डॉ॰ जगदीश चन्द्र मिश्र कृत हिन्दी अनुवाद सहित ।
* नीलसरस्वती-तन्त्रम् । एस॰ एन॰ खण्डेलवाल कृत हिन्दी टीका ।
* भूतडामरतनम् । एस॰ एन॰ खण्डेलवाल कृत हिन्दी टीका ।
* मन्त्रमहोदधि । हिन्दी व्याख्या सहित । व्याख्याकार-डॉ॰ सुधाकर मालवीय
* रूद्रयामलतन्त्र । हिन्दी टीका सहित । टीकाकार–सुधाकर मालवीय
* ललितासहस्रनाम । श्रीभारतभूषण कृत विस्तृत हिन्दी व्याख्या सहित ।
* विद्यावरिस्या । संस्कृत हिन्दी टीका । श्यामाकान्त द्विवेदी 'आनन्द'
* शारदातिलकम् । संस्कृत टीका एवं हिन्दी टीका सहित । 1-2 भाग
* सर्वोल्लास-तन्त्र । हिन्दी-टीका सहित । टीकाकार एस. एन. खण्डेलवाल
* सिद्धनागार्जुनतन्त्रम् । एस. एन. खण्डेलवाल कृत हिन्दी टीका
* सौन्दर्यलहरी । 'लक्ष्मीधरी' संस्कृत एवं 'सरला' हिन्दी व्याख्या ।
  सुधाकर मालवीय

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी